ॐ

परमात्मने नमः

नाटक समयसार प्रवचन

(भाग–1)

अध्यात्म प्रेमी कविवर पण्डित बनारसीदासजी कृत
नाटक समयसार ग्रन्थ पर
अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
शब्दशः प्रवचन उत्थानिका पद 1 से 51,
जीवद्वार पद 1 से 35, अजीवद्वार पद 1 से 7
प्रवचन क्रमांक 1 से 33

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला–भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250
फोन : 02846–244334

: सह–प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द–कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णाकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई–400 056
फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत
2080

वीर संवत
2550

ई. सन
2023

—: प्रकाशन :—

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़।

प्रकाशकीय

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावायभावाय: सर्व भावान्तरच्छिदे॥

सदेह विदेह जाकर महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञ परमदेवाधिदेवश्री सीमन्धर भगवान की दिव्य देशना का अपूर्व संचय करनेवाले, भरतक्षेत्र में सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञानसाम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकाल सर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केली करनेवाले हालते-चालते सिद्ध-सम भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम संवत् 49 के वर्ष में हुए हैं।

भगवान महावीर से प्रवाहित ज्ञान में आचार्यों की परम्परा से श्री गुणधर आचार्य को ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें पूर्व अधिकार के तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। तत्पश्चात् के आचार्यों ने अनुक्रम से सिद्धान्त रचे और परम्परा से वह ज्ञान भगवान कुन्दकुन्द आचार्य को प्राप्त हुआ।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य वि.सं. 49 में सदेह महाविदेह में आठ दिन गये थे, उन्होंने श्री सीमन्धर भगवान के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्मचर्चा का अमूल्य खजाना हृदयगत करके भरतक्षेत्र में आकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें का एक श्री समयसारजी द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है, जो भवरहित अशरीरी होने का शास्त्र है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बाद लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् अध्यात्म के अनाहत प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहरे हार्द को स्वानुभवगत कर श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञान हृदय को खोलनेवाले, सिद्धपद साधक, मुनिवर सम्पदा को आत्मसात करके निज स्वरूप साधना के अलौकिक अनुभव से श्री समयसार शास्त्र की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य श्री अमृतचन्द्र आचार्यदेव को प्राप्त हुआ। उन्होंने 'आत्मख्याति' नामक टीका की रचना की। तदुपरान्त उन गाथाओं पर 278 मार्मिक कलश तथा परिशिष्ट की रचना की। यह टीका वाँचते हुए परमार्थतत्त्व के मधुर रसास्वादी धर्मजिज्ञासुओं के हृदय में नि:सन्देह आत्मा की अपूर्व महिमा आती है, क्योंकि आचार्यदेव ने इसमें परम हितोपदेशक, सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर भगवन्तों का हार्द खोलकर अध्यात्मतत्त्व के निधान ठसाठस भर दिये हैं। अध्यात्मतत्त्व के हार्द को सर्वांग प्रकाशित करनेवाली यह 'आत्मख्याति' जैसी सुन्दर टीका अभी तक दूसरी किसी जैन अध्यात्मग्रन्थ की लिखी हुई नहीं है।

श्री समयसार कलश पर अध्यात्मरसिक पण्डित श्री राजमलजी पाण्डे ने टीका लिखी है, जो वि.सं. सत्रहवीं शताब्दी में हुए हैं। वह उन्होंने राजस्थान के ढूंढार प्रदेश में बोली जानेवाली प्राचीन ढूंढारी भाषा में लिखी है। सामान्यबुद्धि के जिज्ञासु जीव भी सरलता से समझ सकें, इस प्रकार विस्तार से स्पष्टतापूर्वक और जोरदार शैली से स्पष्ट किया है। टीका में स्थान-स्थान पर निर्विकल्प सहज

स्वानुभव का अतिशय महत्त्व बतलाया है और उसकी प्राप्ति करने के लिये प्रेरणा दी है। वे कविवर श्री बनारसीदासजी से थोड़े से वर्ष पहले ही हो गये हों, ऐसा विद्वानों का मानना है।

श्री समयसार कलश की विद्वान् पण्डित राजमलजी ने टीका की और उसके आधार से विद्वान् पण्डित कविवर श्री बनारसीदासजी ने 'नाटक समयसार' की रचना की है। यह ग्रन्थ अध्यात्म का एक उज्ज्वल रत्न है।

पण्डित बनारसीदासजी का जन्म वि.सं. 1943 के माघ महीने में मध्य भारत में रोहतकपुर के पास बिहोली गाँव में हुआ था। उनका कुल श्रीमाण था और गोत्र बिहोलिया था। विद्वान कविवर श्री बनारसीदासजी ने पण्डित राजमलजी रचित 'समयसार कलश' के आधार से 'नाटक समयसार' की रचना की है। उसमें मंगलाचरण तथा उत्थानिका के 51 पद, जीवद्वार के 35 पद्य, अजीवद्वार के 14, कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार के 36, पुण्य-पाप एकत्व द्वार—16, आस्रव द्वार—15, संवर द्वार—11, निर्जरा द्वार—61, बन्ध द्वार—58, मोक्ष द्वार—53, सर्वविशुद्धिद्वार—137, स्याद्वाद द्वार—21+1, साध्यसाधक द्वार—56, चौदह गुणस्थानाधिकार—115, ग्रन्थ समाप्ति और अन्तिम प्रशस्ति के 40 पद की रचना की गयी है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्रायः लुप्त हुआ था। मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था। जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त लुप्तप्रायः हुए थे। परमागम मौजूद होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था। ऐसे में जैनशासन के नभमण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मयुगसृष्टा, आत्मज्ञसन्त, अध्यात्म युगपुरुष, निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावि तीर्थाधिराज परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय हुआ।

भारत की भव्य वसुन्धरा, वह सन्तरत्न पकने की पवित्र भूमि है। उसमें सौराष्ट्र का नाम अग्रगण्य है। अर्वाचीनयुग में अध्यात्मप्रधान जैन गगनमण्डल में चमकते नक्षत्र सम समीप समयज्ञ श्रीमद् राजचन्द्र, अध्यात्म युगसृष्टा आत्मज्ञ सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी और प्रशममूर्ति स्वानुभवविभूषित पवित्रात्मा बहिनश्री चम्पाबेन जैसे असाधारण स्वानुभूति धर्मप्रकाशक साधक महात्माओं की जगत को भेंट देकर, सौराष्ट्र की धरती पुण्यभूमि बनी है। तथा सोनगढ़ में एक ही रात्रि में सम्यग्दर्शन प्राप्त कर श्री निहालचन्द सोगानीजी ने सोनगढ़ से अपनी मोक्षयात्रा शुरु की है।

परम देवाधिदेव चरमतीर्थंकर परम पूज्य श्री महावीरस्वामी की दिव्यध्वनि द्वारा पुनः प्रवाहित और गुरु परम्परा द्वारा सम्प्राप्त जिस परम पावन अध्यात्मप्रवाह को भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 'परमागम समयसार' इत्यादि प्राभृत भाजनों में सूत्रबद्ध करके चिरंजीवी किया है, उस पुनीत प्रवाह के अमृत का पान करके, अन्तर के पुरुषार्थ द्वारा स्वानुभूति समृद्ध आत्मसाक्षात्कार पाकर, जिन्होंने सौराष्ट्र, गुजरात, समग्र भारतवर्ष तथा विदेश में भी शुद्धात्मतत्त्व प्रमुख अध्यात्मविद्या का पवित्र आन्दोलन

प्रसारित कर वर्तमान सदी के विषमय भौतिकयुग में दु:खी जीवों का उद्धार किया है, वे जिनशासन प्रभावक, करुणामूर्ति परमोपकारी परम पूज्य सद्‌गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की शुद्धात्म सुधारस मंगलमय पवित्रता, पुरुषार्थ से धधकता ध्येयनिष्ठ सहज वैराग्य नितरता उत्तम बालब्रह्मचर्यसहित पवित्र जीवन, स्वानुभूतिमूलक वीतरागमार्गदर्शक सदुपदेशों और दूसरे अनेकानेक उपकारों का वर्णन चाहे जितना संक्षिप्तरूप से किया जाये तो भी बहुत पृष्ठ भर जायें, ऐसा है।

पूज्य सद्‌गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने 45-45 वर्षों तक अलौकिक प्रवचनों और तत्त्वचर्चाओं द्वारा मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया। उन्होंने 15 शास्त्रों पर सम्पूर्ण तथा अन्य सात शास्त्रों पर अमुक प्रवचन तथा अमुक शास्त्रों पर बहुत बार प्रवचन किये हैं। लगभग 9400 घण्टे के प्रवचन टेप और सी.डी. में संग्रहित किये गये हैं।

यदि अक्षरश: प्रवचन की पुस्तक बनायी जाये तो उसका बहुत लाभ मुमुक्षुओं को होगा। प्रवचन में आये हुए सन्दर्भ को शान्तचित्त से विशेष घोलन कर सके। न समझ में आये हुए सन्दर्भ पूछ सके, तथा किस अपेक्षा से और न्याय पूज्य गुरुदेव निकालकर देते हैं, उसका अवलोकन भी कर सके इत्यादि। अलग-अलग मण्डलों तथा व्यक्तियों की भावना थी कि सभी शास्त्रों के अक्षरश: प्रवचन प्रकाशित हों तो मुमुक्षुओं को बहुत लाभ का कारण होगा।

हमारे पार्ला मण्डल के ट्रस्टियों के समक्ष मुमुक्षुओं ने अनुरोध करने पर उन्होंने सहर्ष स्वीकारता पूर्वक अनुमोदना दी और पार्ला मण्डल ने श्री नाटक समयसार पर अक्षरश: प्रवचन प्रकाशित करने का निर्णय किया और तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्यवाही श्री पंकजभाई प्राणभाई कामदार को सौंपी गयी। जिससे मुमुक्षुओं से प्रवचन लिखाना, उन्हें जाँचना, कम्पोज कराना, दो बार प्रूफ रीडिंग और भाषा दृष्टि से चैक कराना तथा प्रकाशित कराना इत्यादि गतिविधियाँ सम्मिलित हैं।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज भी लाभ प्राप्त करे, इस भावना से और हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज की विशेष माँग को दृष्टिगोचर करते हुए प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद और सी.डी. प्रवचन से मिलान करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राज.) द्वारा किया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ में नाटक समयसार उत्थानिका, जीवद्वार तथा अजीवद्वार के 1 से 7 पदों के कुल 33 प्रवचन संग्रहित हैं।

सभी आत्मार्थी मुमुक्षुजन प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का भरपूर लाभ प्राप्त करें, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विले पार्ला, मुम्बई

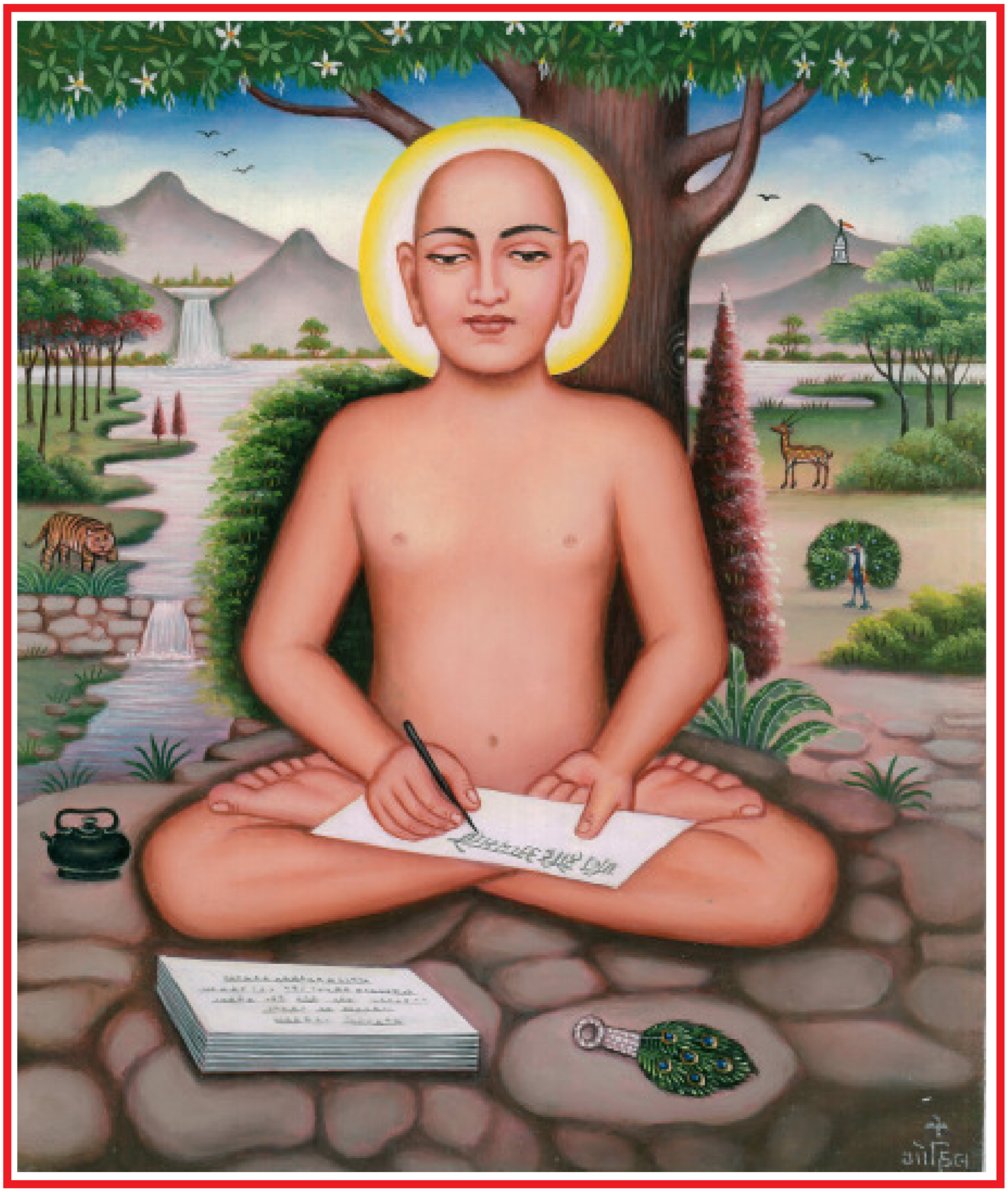

कलिकाल सर्वज्ञ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	अधिकार तथा पद नम्बर	पृष्ठ नं.
१.	मंगलाचरण, काव्य—१-२	१
२.	मंगलाचरण, पद—२, ३, ४, ५	२३
३.	मंगलाचरण, पद—५, ६, ७	४५
४.	उत्थानिका, पद—८, ९, १०, ११, १२	६५
५.	उत्थानिका, पद—१३ से १८	८६
६.	उत्थानिका, पद—१८ से २१	१०९
७.	उत्थानिका, पद—२२ से २६	१२८
८.	उत्थानिका, पद—२८ से ३०	१५०
१०.	उत्थानिका, पद—३१ से ३३	१७०
११.	उत्थानिका, पद—३४ से ३६	१८९
१२.	उत्थानिका, पद—३६	२१०
१३.	उत्थानिका, पद—३७ से ४२	२२९
१४.	उत्थानिका, पद—४३ से ५१	२४८
१५.	जीवद्वार, पद—१, २	२७०
१६.	जीवद्वार, पद—३, ४	२९२
१७.	जीवद्वार, पद—५, ६	३१०
१८.	जीवद्वार, पद—६, ७, ८	३३१
१९.	जीवद्वार, पद—९, १०	३५१
२०.	जीवद्वार, पद—१०, ११	३७१
२१.	जीवद्वार, पद—१२, १३	३८७
२२.	जीवद्वार, पद—१४, १५	४०८
२३.	जीवद्वार, पद—१६, १७, १८	४२६
२४.	जीवद्वार, पद—१९, २०, २१	४४७
२५.	जीवद्वार, पद—२२, २३	४६५
२६.	जीवद्वार, पद—२४ से २८	४८४
२७.	जीवद्वार, पद—२८ से ३२	५०७
२८.	जीवद्वार, पद—३२, ३३, ३४	५३०
२९.	जीवद्वार, पद—३४, ३५	५५२
३०.	जीवद्वार का सार	५७१
३१.	जीवद्वार का सार, अजीवद्वार, पद—१, २	५९१
३२.	अजीवद्वार, पद—२, ३, ४	६१०
३३.	अजीवद्वार, पद—४, ५, ६, ७	६२९

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्वार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से)

आत्मधर्म नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 – फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन

तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज

परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।

2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।

3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।

4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।

5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।

6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।

7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।

8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।

9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।

10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

पूज्य गुरुदेवश्री के सन्दर्भ में बहिनश्री के उद्गार

इस पंचम काल में पूज्य गुरुदेव मिलना मुश्किल है। गुरुदेव मिले, वही बेड़ा पार है। उनके जितने गुणग्राम करें उतने कम हैं। उनकी निरन्तर वाणी और निरन्तर सान्निध्य मिलना मुश्किल है। उनका एक-एक शब्द आत्मा को बतलानेवाला, आत्मा को जगानेवाला और जो पुरुषार्थ करे उसे अनुभूति हो जाये, ऐसी वाणी थी। गुरुदेव ने तो स्वयं चैतन्य को प्रगट किया। 'तरण-तारण' स्वयं तिरकर दूसरे को तारनेवाले थे।

★ ★ ★

शास्त्रों में भरे हुए गहन भावों को खोलने की पूज्य गुरुदेव की शक्ति कोई अजब की थी। उन्हें श्रुत की लब्धि थी। व्याख्यान में निकलते गम्भीर भाव सुनते हुए बहुत बार ऐसा लगता था कि यह तो क्या श्रुतसागर उछला है! ऐसे गम्भीर भाव कहाँ से निकलते हैं? गुरुदेव के जैसी वाणी कहीं सुनी नहीं। उनकी अमृतवाणी की रणकार कितनी मधुर थी मानो कि सुनते ही रहें। अनुभवरस में से रसबसती गुरुदेव की जोरदार वाणी की पडकार कोई अलग ही थी। पात्र जीवों के पुरुषार्थ को प्रेरित करे और मिथ्यात्व का चूरा कर दे ऐसी दैवी उनकी वाणी थी। अपना भाग्य कि गुरुदेव की इस मंगलमय कल्याणकारी वाणी टेप में उतरकर जीवन्त रही। गुरुदेव ने बहुत स्पष्ट करके बताया है। गुरुदेव का परम उपकार है, मैं तो उनका दास हूँ। गुरुदेव ने इस मुमुक्षु समाज पर अपार उपकार किया है।

★ ★ ★

गुरुदेव की श्रुत की शैली गजब है। उसमें निश्चय-व्यवहार, अस्ति-नास्ति, उपादान-निमित्त सब ही उन्होंने समझाया है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का करे नहीं, दिगम्बर धर्म से ही मोक्ष है। सब स्पष्टीकरण किया है। मुक्ति का मार्ग गुरुदेव ने स्पष्ट किया है, श्रीमद् राजचन्द्र के कितने ही अर्थ पूज्य गुरुदेव ने स्पष्ट करके समझाये। तीर्थंकर भगवान की भाँति मार्ग प्रकाशित किया है... श्रुत की धारा अलग ही....

मुझे तत्त्व की झंखना बहुत। अन्दर से पुकार आता था परन्तु मार्ग की स्पष्टता तो गुरुदेव ने ही की। जिनसे उपकार हुआ हो, उनका नाम कैसे भूला जाये!

ॐ

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

नाटक समयसार प्रवचन

(भाग - 1)

कविवर पण्डित बनारसीदासजी कृत **नाटक समयसार** पर
अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
अक्षरशः प्रवचन

प्रवचन नं.१, १७-१-१९७१, रविवार, पौष कृष्ण ६
मंगलाचरण, काव्य—१-२

यह समयसार का अन्तिम कथन है। कहते हैं कि यह समयसार मेरा किया हुआ नहीं है (ऐसा) अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। यह तो शब्द से बनता है। अब कहते हैं कि यदि निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार से कहें (तो ऐसा कहा जाता है कि अमुक कार्य अमुक पुरुष ने किया)। क्योंकि शब्द है—उस शब्द की रचना से शास्त्र बना है। क्योंकि शब्द की रचना परमाणु की पर्याय, रजकणों की अवस्था है। यह परमाणु है, जड़ है, यह अक्षर (की) अवस्था, अक्षररूप से होती है, आत्मा उसे नहीं कर सकता। उस समय, उसी प्रकार भाषा के परमाणु जिस प्रकार अक्षररूप से परिणमने के होते हैं, उस प्रकार से परिणमते हैं। आत्मा उस भाषा को कर सके, ऐसा नहीं है।

यह तो पहले कल कहा था। पहला निशाळ धूली निशाळ में चलता था। '**सिद्धो वर्ण समाम्नायः**' निशाळ में ७० वर्ष पहले की बात है। ७२ (वर्ष) पहले यह शब्द देखा था धूली निशाळ में। '**सिद्धो वर्ण समाम्नायः**' 'अक्षर की आम्नाय अनादि की है। ऐसा इसका अर्थ है। सब चलता था पण्डितजी! तुम्हारे चलता होगा वहाँ। हमारे धूली निशाळ में धूली निशाळ। अपने मोक्षमार्गप्रकाशक में है यह शब्द। अक्षर के रजकण हैं,

उनकी जो अवस्था है, वह तो अनादि की निश्चित हो गयी है। वह अक्षरों से बनती है। आत्मा वाणी को बनावे, ऐसा है (नहीं), ऐसी बात पहले हो गयी है।

अब कहते हैं कि निमित्त-नैमित्तिक से, व्यवहार से कहें, अर्थात् रचनाकाल में किसका निमित्त था, विकल्प और ज्ञान किसका उपस्थित था, उससे यदि बात करें तो ऐसा भी कहा जाता है कि अमुक काल में अमुक पुरुष ने किया, कहा जाता है, हों! किया नहीं है। क्योंकि (उस समय) निमित्त था ऐसा गिनकर... परमाणु की पर्याय तो परमाणु से ही हुई है। उसमें तीन काल में कोई कर्ता-हर्ता नहीं है। परन्तु (उसमें) निमित्तपना किसका था, उससे कहें तो ऐसा भी कहा जाता है कि यह कार्य अमुक पुरुष ने किया, इस न्याय से।

वापस इसका अर्थ ऐसा करते हैं कि निमित्त से, व्यवहार से तो किया जा सकता है या नहीं? एकदम खोटी बात है। परमाणु उसके कारण से परिणमे, और व्यवहार से आत्मा करे, इसका अर्थ क्या हुआ?

मुमुक्षु : अनेकान्त।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनेकान्त अर्थात् क्या? इसकी व्याख्या फुदड़ीवाद है कहीं? जड़, जड़ की अवस्था भी करे और आत्मा भी करे—ऐसी दो बात है? ऐसा नहीं। परन्तु निमित्तरूप से उसका ज्ञान कराने के लिये शास्त्र की रचना हमने की, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। ऐसा नहीं होने पर भी कहना, इसका नाम व्यवहार है। पुरुष ने किया, ऐसा न्याय से 'आत्मख्याति' टीका अमृतचन्द्राचार्यकृत है। इस हिसाब से व्यवहार से (कहा जाता है)।

इसलिए इसे वाँचनेवाले (के लिये) उपकार मानने की अपेक्षा से (कहा गया है)। सुननेवालों द्वारा उनका उपकार मानना भी उचित है। जिसके शब्दों में (उपदेश में) जिसका निमित्त था, उसका उपकार मानना भी व्यवहार से यथार्थ है। क्योंकि उसे वाँचने और सुनने से पारमार्थिक आत्मा का स्वरूप ज्ञात होता है। भगवान आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसा इस वाँचन से, अन्तर की योग्यता से वह समझ में आता है, उसका श्रद्धान और आचरण होता है। वास्तविक आत्मा का ज्ञान होने पर, उसकी श्रद्धा होने पर, उसमें आचरण अर्थात् रमणता का चारित्रपना प्रगट होता है। मिथ्याज्ञान, मिथ्याश्रद्धा,

मिथ्या आचरण दूर होते हैं। (ऐसी) अस्ति—नास्ति की। सत्य समझने से मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, राग-द्वेष मिथ्या आचरण का नाश होता है, परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुमुक्षुओं को इसका निरन्तर अभ्यास करना योग्य है। इस प्रकार श्री समयसार की टीका अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित 'आत्मख्याति' पूरी हुई।

मुमुक्षु : निरन्तर अभ्यास करो तो दूसरा काम कब करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसकी रटन लगाना चाहिए, इसका नाम निरन्तर अभ्यास। वकालत का अभ्यास करते होंगे, तब (लगनी) कैसी लगती होगी वहाँ? ऐसी की ऐसी लगनी लगी होगी? यह रटना और इसका यह करना और इसका यह करना।

मुमुक्षु : कौन सी दलील लागू पड़ेगी, वह सब रटना पड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आहाहा! बारम्बार इसके अभ्यास की (लगन लगनी चाहिए)। वस्तु स्वरूप ऐसा है, तत्त्व ऐसा है। सर्वज्ञ ने देखा हुआ, सर्वज्ञ ने कहा, ऐसा ही स्वरूप वेदन में आवे, ऐसी जाति है। उसे यह अभ्यास द्वारा समझकर, श्रद्धा करना, आचरण करना।

अब, पंडित जयचन्दजी टीका पूर्ण करते हैं।

कुन्दकुन्दमुनि कियो गाथाबंध प्राकृत है प्राभृतसमय शुद्ध आतम दिखावनू,
सुधाचंद्रसूरि करी संस्कृत टीकावर आत्मख्याति नाम यथा तथ्य भावनूं;
देश की वचनिकामें लिखि जयचंद्र पढै संक्षेप अर्थ अल्पबुद्धिकूं पावनूं,
पढो सुनो मन लाय शुद्ध आत्मा लखाय ज्ञानरूप गहौ चिदानंद दासवनूं।

यह १६वीं बार यह समयसार सभा में पूरा होता है। ३६ वर्ष हुए (परिवर्तन को)। १६वीं बार पहले से यह तो (संवत्) २४ के भाद्रकृष्ण एकम से शुरु किया, वह आज पूरा होता है। ढाई वर्ष में। इस प्रकार यह १६वीं बार पूरा होता है। १६वीं बार। यह समयसार नाटक की सभा में वांचन की। भाई नवनीतभाई की माँग थी। इसलिए होता है, हों! .... '**कुन्दकुन्द मुनि कियो गाथा बंध...**' कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में भरतक्षेत्र में सन्त-मुनि आनन्दकन्द के अनुभव करनेवाले थे। उन्होंने प्राकृत गाथायें बनायीं। **प्राभृतसमय,....** समय प्राभृत के साथ सार समयसार **शुद्ध आतम दिखावनू...**

मुमुक्षु : शुद्ध आत्मा दिखाऊँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य-पाप के बिना की वस्तु का जो स्वभाव, उसे दिखाने के लिये समयसार कहा है। **सुधाचन्द्रमुनि....** सुधा अर्थात् अमृत, अमृतचन्द्रसूरि ने टीका की, इसकी (समयसार की) संस्कृत टीका, हों! वह भी प्रधान टीका, अलौकिक टीका, '**आत्मख्याति नाम...**' नाम। इसका नाम आत्मख्याति किया टीका का। आत्मख्याति—आत्मप्रसिद्धि। ऐसा आत्मा है, ऐसा वाणी द्वारा वस्तु को प्रसिद्ध, वाच्य वस्तु को प्रसिद्ध किया है।'**यथातथ्य भावनूं...**' जैसा है, वैसी उसकी भावना की है।'**देशकी वचनिकामें लिखि जयचंद्र...**' जयपुर के (पण्डित) जयचन्द्र थे। उन्होंने प्रचलित भाषा में देश अर्थात् प्रचलित (भाषा) वचनिका में लिखी।

'**पढै संक्षेप अर्थ**' बहुत संक्षिप्त अर्थ लिखा है। **अल्पबुद्धिको पावनूं**'। अल्प बुद्धिवाले भी यह प्राप्त कर सकते हैं। विशेष तो महा गहन वस्तु है। अलौकिक वस्तु है। आत्मा अर्थात् क्या? उसे बताने के लिये महा गहन वाणी है। साधारण बुद्धिवाले को समझने के लिये भी थोड़ा लिखा है। '**पढो सुनो मन लाय**' मन को उसमें रखकर, व्यवस्थित करके, भाव शुद्ध लहाय, '**शुद्ध आत्मा लखाय**'... शुद्ध चिदानन्दस्वरूप, अकेला ज्ञातादृष्टा का सत्त्व—तत्त्व से लखाय, अर्थात् ज्ञात होता है। '**ज्ञानरूप गहो**'... वह तो ज्ञानस्वरूप चैतन्यबिम्ब है, उसमें दूसरा विकल्प या शरीर, वाणी कुछ है नहीं, ऐसा लखो। '**गहौ चिदानंद दरसावनूं**' ज्ञानानन्द को दर्शाने, देखने के लिये ज्ञानरूप है, ऐसा अनुभव करो।

'**समयसार अविकार का वर्णन कर्ण सुनंत, द्रव्य-भाव-नो कर्म तजि, आत्मतत्त्व लखंत**' समयसार का, अविकारी समयसार अर्थात् आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्णनन्द का नाथ, ऐसा निर्दोष आत्मा, उसका **वर्णन कर्ण सुनंत...** वर्णन करनेवाला और सुननेवाला। **द्रव्य-भाव-नो कर्म तजि...** द्रव्यकर्म—जड़, भावकर्म—पुण्य-पाप के विकल्प, नोकर्म—शरीर, तीनों को '**तजि, आत्मतत्त्व लखंत**' भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य है, ऐसा लखन्त अर्थात् जानता है। इस प्रमाण यह '**समयप्राभृत**' नामक शास्त्र की आत्मख्याति नाम की संस्कृत टीका की प्रचलित भाषा में वचनिका लिखी है। संस्कृत टीका का अर्थ भी लिखा है और अति संक्षेप भावार्थ लिखा है। विस्तार नहीं किया।

संस्कृत टीका में तो न्याय से सिद्ध हुए प्रयोग हैं। उनका विस्तार किया जाये तो अनुमान प्रमाण के पाँच अंग हैं। बहुत न्याय के विषय हैं। प्रतिज्ञा करना, फिर हेतु बताना, उदाहरण-दृष्टान्त देना, उसके साथ उपनय मिलाना और अन्तिम योगफल करना। एक-एक बात में पाँच-पाँच बोल उत्पन्न होते हैं। आहाहा! प्रतिज्ञा से हम यह बात कहना चाहते हैं, इसका हेतु यह है, दृष्टान्त यह है, मेल यह है और योगफल यह है। यह पाँच बोल हैं। बहुत लम्बी बात है। जरा साधारण जीव के मस्तिष्क की (बात नहीं)। समझ में आया? ये पाँच अंग स्पष्टता से व्याख्यान लिखते ग्रन्थ बहुत बढ़ जाये; इसलिए आयुष्य थोड़ा, बुद्धि थोड़ी, बल थोड़ा, स्थिरता थोड़ी—ऐसी अल्पता के कारण जितना बन सका उतना संक्षेप से प्रयोजनमात्र लिखा है। आवश्यकता आत्मा को समझने की और आत्मा का अनुभव करने की है, उतना प्रयोजनमात्र लिखा है।

यह पढ़कर भव्य जीवों! हे लायक आत्माओ! पदार्थ को समझना। किसी अर्थ में हीनाधिक—हीन और अधिक दिखाई दे तो टीका के मूल ग्रन्थ में से जैसे हो वैसे यथार्थ समझ लेना। इस ग्रन्थ की गुरु परम्परा का विच्छेद हो जायेगा। महा अध्यात्म श्रुत अलौकिक चीज़ की परम्परा टूट जायेगी। इसलिए जितना बन सके उतना अभ्यास हो सकता है तो भी जो स्याद्वाद जिनमत की आज्ञा मानते हों, वे वीतराग की आज्ञा मानते हैं, उन्हें विपरीत श्रद्धान नहीं होता। कहीं अर्थ का अन्यथा समझना भी हो जाये तो, अर्थ का स्पष्टीकरण विशेष बुद्धिमान का निमित्त मिलने से यथार्थ हो जाता है। जिनमत की श्रद्धावाले हठग्राही नहीं होते। जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा समझने के लिये वे जिज्ञासा रखते हैं। अब अन्त मंगल के लिये पंच परमेष्ठी को नमस्कार करके शास्त्र समाप्त करते हैं:—

मंगल श्री अरहंत नमो घातिया कर्म निवारे,
मंगल सिद्ध महंत कर्म आठों परजारे;
आचारज उवज्झाय मुनि मंगलमय सारे,
दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनिकूं तारे;

मंगल अरिहन्त भगवान चार कर्म का नाश करके परमात्मपद प्रगट किया, सदेह उन्हें अरिहन्त कहते हैं। 'घातिया कर्म निवारे' उसमें घातिकर्म जो आत्मा की दशा हीन

करने में निमित्तपने में कर्म हैं, वे उन्होंने टाले हैं। 'मंगल सिद्ध महंत' सिद्ध परमात्मा ने तो शरीररहित होकर, अकेला आत्मा आनन्दमूर्ति हुए हैं। महन्त अर्थात् बड़ा आत्मा, सिद्ध थे ऐसे हो गये। 'कर्म आठों परजारे', आठों कर्म का उन्होंने नाश किया है। परजारे अर्थात् जलाये हैं। 'आचारज उवज्झाय', वीतरागी सन्त, आत्मा के आनन्द में, वीतरागपने में साधक ऐसे आचार्य, उपाध्याय अर्थात् सच्चे तत्त्व के पढ़नेवाले, मुनि अर्थात् स्वरूप के साधनेवाले। मंगल सब—तीनों मंगलमय सार। तीनों मंगलमय है। 'दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनिकूं तारे' आचार्य है। आचार्य हैं, वे दीक्षा दे, शिक्षा दे। 'देय भव्यजीवनिकूं तारे'।

अट्ठाईस मूलगुण के धारक जो सर्वसाधु अणगार है।
मैं नमूं पंच गुरुचरणकूं, मंगल हेतु करार है॥

अट्ठाईस मूलगुण के धारक, पंच महाव्रत, सामायिक करना इत्यादि, ऐसे अट्ठाईस (मूलगुण धारक) सर्व साधु अनगार। जितने सन्त—आत्मा के आनन्द के साधक हैं, सब ऐसे होते हैं। 'मैं नमूं पंचगुरुचरणकूं' अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को—इनके चरणकमल को नमता हूँ। 'मंगल हेतु करार है', निश्चित ही वे मंगल के कारण हैं। 'मंगल हेतु करार' है। मांगलिक के हेतु, पाप के नाश और पवित्रता की प्राप्ति में निमित्त है, वैसा मंगल हेतु करार निश्चित है।

अब अपना जरा इतिहास कहते हैं। लिखनेवाले, 'जैपुर नगर माही तेरापंथ शैली बड़ी' जयपुर बड़ा नगर है। जैन की बस्ती बहुत है। २०० सो तो वहाँ अपने मन्दिर हैं। २०० मन्दिर। दो बार गये हैं। यह तीसरी बार जाना है। अब वैशाख में। 'तेरापंथ शैली' वहाँ बीस पंथी और तेरापंथी ऐसे दो भाग हैं न? 'तेरापंथ शैली बड़ी'... जयपुर 'बड़े बड़े गुनी जहाँ पढ़े ग्रंथ सार है', महा बड़े-बड़े धर्मात्मा हैं, वहाँ पढ़ते हैं। 'ग्रंथ सार' ग्रंथ का सार पढ़ते हैं। 'जयचन्द्र नाम मैं हूँ' उसमें जयचन्द्र नाम का मैं एक हुआ। 'तिनिमें अभ्यास कछु' मुझे कुछ थोड़ा अभ्यास था 'कियो बुद्धि सारु' मेरी बुद्धि प्रमाण। बुद्धिसारु अर्थात् बुद्धि प्रमाण, मैंने शास्त्र का अभ्यास किया है। 'धर्मराग तें विचार है'। धर्म के प्रेम से मैंने विचारकर 'समयसार ग्रंथ ताकी देश के वचनरूप' समयसार ग्रन्थ की प्रचलित भाषा में भाषा की।

'पढो सुनो, करो निरधार है' पढ़ो, नहीं तो सुनो, करो निर्धार भगवान आत्मा का (कि) कैसा है वह आत्मा।

मुमुक्षु : सुनने से कहीं होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब व्यवहार से ऐसा ही आता है। ऐई! सुना उसे कहा जाता है कि जो है, ऐसा समझा तब उसने सुना कहा जाता है। बातें सब लम्बी करते हों। पूरा न हो तब तक... शुरु करना है न? दूसरा (शास्त्र) नहीं तो एक-एक में बहुत समाहित है। समझ में आया? 'भाषा करि पढो सुनो करो निरधार...' परन्तु यह सुनकर इन्होंने जो कहा है वैसा अन्तर स्वसंवेदन आनन्द का भान हो तब यह पढ़ा और सुना, ऐसा कहा जाता है। ऐसी बात है। नहीं तो सुनकर ऊपर से कुछ निकाल डाला, ऐसा तो अनन्त बार किया।

'**आपा पर भेद जानी हेय त्यागी उपादेय...**' आपा अर्थात् कीमती भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द का धाम और पर अर्थात् पुण्य-पाप विकल्प से लेकर सब पर। '**भेद जानी...**' दोनों की भिन्नता को जानकर अन्तर में दोनों को पृथक्-पृथक् जानकर, हेय पुण्य-पाप आदि भाव हेय है, उसे त्यागकर। '**उपादेय ग्रहो शुद्ध आत्म कूं**' शुद्ध चिदानन्द आत्मा को ग्रहो। आहाहा! '**उपादेय ग्रहो शुद्ध आत्म कूं, यहै बात सार है**' कहो, सेठ! यह सार है... '**संवत्सर विक्रम तणूं अष्टादश सत् और, चौ सठि कार्तिकवदी दशै, पूर्ण ग्रन्थ सुखौ।**' (संवत्) १८६४ कार्तिक कृष्ण दशवीं को यह ग्रन्थ पूरा हुआ। फिर ऊपर लिखा है, श्री कुन्दकुन्ददेव ने 'समयप्राभृत' नामक प्राकृत गाथाबद्ध श्रीमद्अमृतचन्द्राचार्यदेवकृत 'आत्मख्याति' नाम की टीका अनुसार पण्डित जयचन्दजीकृत संक्षेपभावार्थमात्र देशभाषा वचनिका, श्री हिम्मतलाल जेठालाल... अब नाम दिया यह अन्तिम। यहाँ तक नाम भी नहीं डाला था इन्होंने। .... की है। और इतना किसी ने कहा... यह हिम्मतलाल पण्डित... हिम्मतलाल जेठालाल शाह से यह बनाया हुआ, यह गुजराती अनुवाद समाप्त हुआ। लो, यह अन्तिम पृष्ठ।

★ ★ ★

(यहाँ से श्री समयसार नाटक शास्त्र का वाँचन शुरु होता है।)

अब यह 'समयसार नाटक' आज रविवार है। सुमेल भी सब है। (समयसार नाटक सुनने की) नवनीतभाई की भावना, उनकी उपस्थिति में शुरु होता है। कहो, समझ में आया? यह एक बार तो वांचन हो गया है पूरा। पहले भी एक बार वांचन हो गया है परन्तु वह हीराभाई के मकान में। दो बार वांचन हो गया। यह तीसरी बार।

मुमुक्षु : तीसरी बार कुछ अलग निकलेगा।

यह बनारसीदास एक महा(कवि) ३०० वर्ष पहले गृहस्थ हुए। इनके पिता को एक ही पुत्र था। इनकी जवानी में व्यभिचारी हो गये बनारसीदास। इसमें से और कोई संग मिला, सुधरे। जोरदार कवि। इन्होंने विषय सम्बन्धी के शृंगार के शास्त्र बहुत रचे थे। जहाँ आत्मा का भान हुआ और सच्चा संग मिला, (शृंगार के शास्त्र) गंगा नदी में— गोमती में डाल दिये। है न एक फोटो में, दूसरे में नहीं। उसमें है? ... देखो तो सही फोटो। यह निकाला था अभी... यह, लो। यह बनारसीदास हैं। यह इनका व्यक्ति है... गंगा नदी में पृष्ठ डाल दिये। कवि तो कवि जोरदार कवि। शुरुआत में तुलसीदास से मिले। (उन्होंने) रामायण बनायी है न। तुलसीदास और ये (बनारसीदास) इकट्ठे हुए। इनका सुनकर तुलसीदास बहुत सन्तुष्ट हुए। तुलसीदास का सब लेखन है। फिर तुलसीदास ने एक पार्श्वनाथ की स्तुति बनायी, वह इन्हें भेंट की। इन्होंने रामायण की (स्तुति) बनायी, उन्हें भेंट की... यह (शृंगाररस के) पृष्ठ सब नदी में जाते हैं, डालते हैं (नदी में)।

पश्चात् यह शास्त्र बनाया। आत्मभान हुआ है। जवान अवस्था में एकदम परिवर्तन हुआ। ओहोहो! यह चैतन्य वस्तु! अरे! मैं कहाँ रहा? शरीर की जवानी, खिली अवस्था, उसमें शृंगार की-विषय की लम्पटता में चढ़ गये। वापस बदले। आहाहा! अरे! यह क्या हुआ? पश्चात् यह अध्यात्मशास्त्र इस समयसार की (व्याख्या की)। (पण्डित) रूपचन्दजी से मिले, उन्होंने गोम्मटसार बतलाया। उसमें से भाई! समकितदशा में कैसी दशा होती है? उसका कैसा व्यवहार होता है? श्रावक की दशा में कैसा अनुभव होता है? कैसा व्यवहार होता है? ऐसा सब समझाया इसलिए उनकी दृष्टि खिल गयी। पश्चात् उन्होंने यह समयसार नाटक बनाया।

इनको राजमलजी की टीका पहले मिली। टीका है न अपने कलशटीका। उसमें नहीं अभी? .... कलशटीका है न? समयसार कलशटीका। राजमल(कृत) टीका। राजमल भी जोरदार हो गये हैं। उन्होंने यह (अमृतचन्द्राचार्य के) कलश की टीका बनायी है। यह टीका वांचकर यह समयसार नाटक बनाया है। यह सब आयेगा बाद में। यहाँ तो शुरुआत करते हैं अब।

मांगलिक रूप से ॐ पहला अक्षर है। भगवान की वाणी पहली है। 'ओमकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे', सर्वज्ञपद जहाँ प्रगट हो अन्दर तो उन्हें ऐसी (छद्मस्थ जैसी) वाणी नहीं हो सकती। जहाँ अखण्ड दशा प्रगट हुई, वहाँ वाणी एकाक्षरी निकलती है। ॐ ऐसी ध्वनि पूरे शरीर में से आवाज—ध्वनि (निकलती है)। ओमकार (ध्वनि) सुनी अर्थ गणधर विचारे। उसमें से गणधर बारह अंग का तत्त्व खींचते हैं। उसमें से यह शास्त्र बनाया है। पहला ॐ को नमस्कार किया है। ॐ पाँच पद का वाचक है। **श्री परमात्मने नमः** परमस्वरूप ऐसी परमात्मा दशा आत्मा की जिसे पूर्ण आनन्द और ज्ञान प्रगट हुए हैं, ऐसे लक्ष्मीवन्त परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। **पण्डित बनारसीदासविरचित समयसार नाटक भाषाटीका सहित हिन्दी टीकाकार की ओर से मंगलाचरण...** बुद्धिलाल श्रावक दूसरे है, वे यह टीका करना चाहते हैं। इसका यह मंगलाचरण है।

★ ★ ★

हिन्दी टीकाकार का मंगलाचरण

निज स्वरूपकौ परम रस, जामैं भरौ अपार।
बन्दौं परमानन्दमय, समयसार अविकार।।१।।

पुस्तक आयी है न सबके हाथ में? यहाँ अभी थोड़ी हैं, चाहिए हो तो। ऐ जयन्तीभाई! हो गया? ठीक, नहीं तो हैं थोड़े। मंगलाचरण सबके हाथ में चाहिए न? कहते हैं कि इस समयसार नाटक में क्या भरा है? **निज स्वरूपकौ परम रस,...** प्रभु आत्मानन्द का रस कि निज स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द और शान्तरस है, वह जिसमें

भरा है। **जामैं भरौ अपार**। जिसका पार नहीं, ऐसा आनन्दस्वभाव इस समयसार नाटक में जाहिर—प्रसिद्ध करते हैं। **बन्दौं परमानन्दमय,...** कहते हैं कि ऐसा जो आत्मा समयसार शरीर, कर्म और पुण्य-पाप के भावकर्म विकारी मैल, इनसे रहित चैतन्यप्रभु आत्मा ऐसा निज स्वभाव जिसने प्रगट किया, ऐसा समयसार अविकार **परमानन्दमय...** परम अतीन्द्रिय आनन्दमय है, आनन्दवाला भी नहीं, ऐसा। आनन्दमय। प्रभु आत्मा तो परम आनन्दमय है। लोगों को खबर नहीं। आत्मा क्या है? किसे कहना? इसकी खबर भी नहीं। **बन्दौं परमानन्दमय...** अकेला परम अतीन्द्रिय शान्त... शान्त... शान्त अपार अपरीमित, अचल, अतुल, अनन्त, ऐसे परम आनन्दमय भगवान आत्मा, उसको वन्दन करता हूँ। यहाँ तो कहते हैं वंदो सब। ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

कुन्दकुन्द मुनि-चन्दवर, अमृतचन्द मुनि-इन्द।
आत्मरसी बनारसी, बन्दौं पद अरविन्द।।२।।

कुन्दकुन्द मुनि चन्द्र, चन्द्र। मुनि के चन्द्र में भी वर-प्रधान। संवत् ४९ में नग्न मुनि दिगम्बर कुन्दकुन्दाचार्य... यह फोटो है। २००० वर्ष पहले संवत् ४९ में हुए। वे कहते हैं मुनि के चन्द्रमा सम, मुनि चन्द्र, उसमें वर। **अमृतचन्द मुनि-इन्द...** उसके पश्चात् यह टीका करनेवाले अमृतचन्द्र हुए, उनके कलश हैं। इसलिए जैसे मन्दिर के ऊपर कलश होते हैं, उसी प्रकार टीका के ऊपर कलश बनाये हैं। इन कलशों का इसमें अर्थ भरा है। **आत्मरसी बनारसी...** यह बनारसी(दास) हैं, वे आत्मा के रसिक थे। आत्मा के अनुभवी थे। गृहस्थाश्रम में थे। स्त्री, पुत्र थे। हों, उनके साथ... और कुछ सम्बन्ध ही नहीं। उसका रस ही नहीं। आत्मा आनन्दस्वरूप जहाँ भान हुआ, उसका रस है अब, रागादि आवे, उनका रस नहीं। समझ में आया?

बड़े भरत चक्रवर्ती आदि ९६ हजार स्त्रियाँ घर में थीं। ९६ करोड़ सैनिक, (तथापि) आत्मरसी थे। वह मैं नहीं, हों! मैं हूँ वहाँ तो आनन्द है, अतीन्द्रिय आनन्द, वह मैं हूँ। यह (राग) जहाँ है, वहाँ मैं नहीं। ऐसे आत्मा के रसिक जीव बनारसीदास। **बन्दौ पद अरविन्द**। अरविन्द अर्थात् कमल। उनके चरणकमल को वन्दन करता हूँ। **बन्दौ पद अरविन्द**। चरणकमल को वन्दन करता हूँ, यह तो बुद्धिलाल श्रावक का (मंगलाचरण हुआ)। अब स्वयं श्लोक (द्वारा भगवान) पार्श्वनाथ की स्तुति बनाते हैं।

अलौकिक मांगलिक है। बनारसीदास महाकवि जोरदार कवि हैं। जैसे शृंगार में थे, वैसे गुलाँट खाकर आत्मा में हो गये वापस। चौबीस तीर्थंकरों में २३वें पार्श्वनाथ भगवान... क्योंकि (बनारसीदास) काशी में—बनारस में हुए, इसलिए माता-पिता ने उनका नाम (गाँव के) कारण बनारसीदास रखा। पार्श्वनाथ भगवान को भी...

मुमुक्षु : वहीं के हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : काशी है न वहाँ। पार्श्वनाथ (भगवान) की स्तुति लो।

★ ★ ★

काव्य - १

ग्रन्थकार की ओर से मंगलाचरण

श्री पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति

करम-भरम जग-तिमिर-हरन खग,
उरग-लखन-पग सिवमगदरसी[1]।
निरखत नयन भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविकजन-सरसी।।
मदन-कदन-जित परम-धरमहित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी।
सजल-जलद-तन मुकुट सपत-फन,
कमठ-दलन जिन नमत बनरसी।।१।।

शब्दार्थ:-खग (ख=आकाश, ग=गमन)=सूर्य। कदन=युद्ध। सजल=पानी सहित। जलद (जल=पानी, द=देनेवाले)=मेघ। सपत=सात।

अर्थ:-जो संसार में कर्म के भ्रमरूप अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य के

---

१. इस छन्द में अन्त वर्ण को छोड़कर सब वर्ण लघु हैं, मनहर छन्द में 'अंत इक गुरु पद अवशहिं धरिकें' ऐसा छन्दशास्त्र का नियम है।

समान हैं, जिनके चरण में सांप का चिह्न है, जो मोक्ष का मार्ग दिखानेवाले हैं, जिनके दर्शन करने से भव्य जीवों के नेत्रों से आनन्द के आँसू बह निकलते हैं और अनेक भव्यरूपी सरोवर प्रसन्न हो जाते हैं, जिन्होंने कामदेव को युद्ध में हरा दिया है, जो उत्कृष्ट जैनधर्म के हितकारी हैं, जिनका स्मरण करने से भक्तजनों के सब डर दूर भागते हैं, जिनका शरीर पानी से भरे हुए मेघ के समान नीला है, जिनका मुकुट[२] सात फण का है, जो कमठ के जीव को असुर पर्याय में परास्त करनेवाले हैं; ऐसे पार्श्वनाथ जिनराज को (पण्डित) बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।।१।।

काव्य-१ पर प्रवचन

करम-भरम जग-तिमिर-हरन खग,
उरग-लखन-पग सिवमगदरसी।
निरखत नयन भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविकजन-सरसी।।
मदन-कदन-जित परम-धरमहित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी।
सजल-जलद-तन मुकुट सपत-फन,
कमठ-दलन जिन नमत बनरसी।।१।।

यह पहला श्लोक शुरु किया है। शब्द एक-एक लिखा है न वहाँ। वर्ण ३१, छन्द मनहर, चाल झांझर की। होगा कुछ। कहते हैं कि भगवान पार्श्वनाथ २३वें तीर्थंकर कैसे थे? वे मेरे देव हैं। मैं उनका सेवक हूँ, मैं साधक हूँ। वे तो सिद्ध परमात्मा हुए हैं। यह तीर्थंकरपद की स्तुति करते हैं। तीर्थंकर पद में थे, इस प्रकार से (स्तुति की

---

२. जब भगवान पार्श्वनाथ स्वामी की मुनि अवस्था में कमठ के जीव ने उपसर्ग किया था, तब प्रभु की राज्य-अवस्था में उपदेश पाये हुए नाग-नागनी के जीव ने धरणेन्द्र-पद्मावती की पर्याय में उपसर्ग निवारण किया था और सात फन का सर्प बनकर प्रभु के ऊपर छाया करके अखंड जलवृष्टि से रक्षा की थी, उसी प्रयोजन से इन भगवान की प्रतिमा पर सात फन का चिह्न प्रचलित है और इसीलिए कवि ने मुकुट की उपमा दी है।

है)। उस समय तो पार्श्वनाथ भगवान (नहीं थे)। मोक्ष पधारे हैं, परन्तु उनके तीर्थंकर के समय को स्मरण करके स्तुति करते हैं। कैसे हैं भगवान? कर्मरूपी मिथ्याभ्रम... मिथ्याभ्रम... इस जगत में मिथ्यात्वरूपी भ्रमणा, ऐसे तिमिर—अज्ञान का जो अन्धकार, उसे हरण, हरण करनेवाले खग अर्थात् सूर्य हैं। **करम-भरम जग-तिमिर-हरन खग,...** नीचे है। **संसार में कर्म के भ्रमरूप अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान हैं,...**

करम-भरम जग-तिमिर-हरन खग,... ख अर्थात् आकाश, ग अर्थात् गमन, आकाश में गमन करनेवाला ऐसा जो सूर्य। खग—ख अर्थात् आकाश, ग अर्थात् गमन। आकाश में गमन करे, ऐसा जो सूर्य, उसी प्रकार यह जो भगवान भ्रमणारूपी, अन्धकार को नाश करने में जैसे सूर्य हैं, वैसे भगवान अज्ञानरूपी अन्धकार को नाश करने में सूर्य समान हैं। यह तो जोरदार कवि हैं। कैसे शब्द रचे हैं, देखो! पूरी स्तुति ऐसी है। **उरग-लखन-पग** परमात्मा पार्श्वनाथ भगवान की अस्ति में उनके शरीर में सर्प का चिह्न था। **उरग...** उरग अर्थात् सर्प। **लखन** —लक्षण **पग...** पैर में सर्प का चिह्न था पार्श्वनाथ भगवान को। नीचे है देखो। **जिनके चरण में सांप का चिह्न है,...** अर्थ में है नीचे।

उरग-लखन-पग सिवमगदरसी। यह मोक्षमार्ग दिखलानेवाले हैं। वे तो मोक्ष के मार्ग को दिखलानेवाले भगवान हैं। पूर्ण पद प्राप्त किया है। पूर्णानन्द की जाति सर्वज्ञ दशा, इच्छा बिना वाणी—ओम ध्वनि निकली। जिसके कारण मोक्ष का मार्ग जिन्होंने बतलाया, वे मोक्ष के मार्ग के बतलानेवाले हैं। संसार की रीति समझानेवाले नहीं, ऐसा कहते हैं। कैसे तुम्हारे संसार चलता है? कैसे तुमने विद्या पढ़ी? कैसे उसमें आगे बढ़ो? ऐसा भगवान ने बताया नहीं। शिव अर्थात् मूल... आत्मकल्याण। शिव अर्थात् मोक्ष के मार्ग के दर्शी (अर्थात् कि) दिखलानेवाले हैं। (१) इस छन्द में अन्त के वर्ण को छोड़कर सब वर्ण (अक्षर) लघु है। मनहर छन्द में 'अन्त इक गुरु पद अवशहिं धरिकैं' ऐसा छन्द शास्त्र का नियम है। '**सिवमग दरसी**।'

निरखत नयन भविक जल बरखत,... भगवान सर्वज्ञ परमात्मा को देखने से, **जिनके दर्शन करने से भव्य जीवों के नेत्रों से आनन्द के आँसू बह निकलते हैं...** ऐसे पूर्णानन्द वीतराग रस में पूर्ण तल्लीन होकर परमात्मा (पद) प्रगट हुआ है। उसे देखकर देखनेवाले को हर्ष और आनन्द आता है। आहाहा! ऐसे प्रभु पूर्ण शान्त...

शान्त... शान्तरस का पिण्ड हो गये हैं। अविकारी शान्तरस जिनके आत्मा में पूर्ण हो गया है। इसलिए शरीर में भी मानो शान्तरस झलकता हो, ऐसे भगवान को देखने से भव्य जीव की आँखों में से **जल बरखत,** जल बरखत अर्थात् हर्ष के आँसू आते हैं। आहाहा! अरे!

आनन्दघनजी कहते हैं—'देखन दे रे सखी देखन दे, जिन प्रभु मुखचन्द्र सखी रे मने देखन दे।' मैंने एकेन्द्रिय में देखा नहीं, दो इन्द्रिय में, चींटी, कौवे में मैं था। अरे रे! मुझे कहीं परमात्मा कैसे, उनके दर्शन हुए नहीं। कहाँ था मैं? कहाँ निगोद, काई। ओहोहो! यह वह पानी में काई-काई के पिण्ड हैं। (उसका) लोगों को विश्वास आना भारी कठिन है। एक काई की एक कणी में असंख्य तो शरीर हैं। एक शरीर में अनन्त जीव हैं। अरे! भगवान (यह तुझे) कहाँ खबर है? वह जीव कब इन्द्रिय में से निकलकर लट हो? कब मनुष्य हो? ''देखन दे रे सखी देखन दे, चन्द्र प्रभु मुखचन्द्र सखी मने देखन दे।' भगवान वीरनन्द परमानन्द की मूर्ति स्वयं आत्मा, हों! आहाहा! जिसे आनन्दस्वरूप भगवान को देखने से जिसकी दशा में आनन्द के झरने झरें। आहाहा!

'देख्या न नयने हरि।' आता है न? 'मारा नयनने आळसे रे, मारा नयनने आळसे रे, में नीरख्यां न नयने हरि।' हरि ऐसा भगवान आत्मा विकार और अज्ञान का नाश करनेवाला ऐसा स्वयं चैतन्य प्रभु, उसे मैंने नयन के आलस्य से नहीं देखा। दूसरे देखने के अज्ञान में रुकने से मैंने प्रभु को नहीं देखा। समझ में आया? उसे देखने से आनन्द के आँसू आते हैं—आनन्द झरता है। आहाहा!

निरखत नयन भविक... परन्तु (वह) भव्य जीव को, हों! ऐसा कहा है वापस.... पात्र जीव को। अन्य को खबर नहीं भी क्या कहते हैं यह। आहाहा! **निरखत नयन भविक जल बरखत, हरखत अमित भविकजन-सरसी। सरसी...** अर्थात् सरोवर। **भविकजन** रूपी सरोवर में **अमित... अमित हरखत...** मर्यादा बिना—मर्यादा बिना का हर्ष आता है अन्दर। देखो, यह परमात्मा की प्रमुख स्तुति, परन्तु वास्तविक स्तुति तो अपनी है, हों! परमात्मा का बहाना लेकर आत्मा की स्तुति करते हैं। आहाहा! पार्श्वनाथ भगवान मोक्ष में है। **हरखत अमित भविकजन-सरसी...** भविक प्राणी के सरोवर में **हरखत अमित—** मर्यादा बिना का आनन्द प्रगट होता है। परमात्मा सच्चिदानन्द प्रभु, निजानन्दस्वरूप

प्रभु, उसे देखने से भव्य जीव को अन्दर में आनन्द आता है। ऐसे परमात्मा को देखने से भी आनन्द आता है।

मदन-कदन-जित परम-धरमहित,... मदन अर्थात् काम-भोग, उसका कदन (अर्थात्) उसे जीतनेवाले हैं। **जिन्होंने कामदेव को युद्ध में हरा दिया है,...** पार्श्वनाथ भगवान ने। इसी प्रकार आत्मा भी अपने आनन्द के सरोवर में आने से काम की वासना का जिसने नाश किया। वह नाश करनेवाला भगवान आत्मा है। काम और वासना को रखे, वह आत्मा नहीं। समझ में आया? मदन अर्थात् वासना भोग की, उसका कदन—युद्ध, काम-भोग के साथ आत्मा ने युद्ध शुरु किया है। इसी प्रकार परमात्मा पार्श्वनाथ भगवान ने भी विषय की वासनारूपी काम के साथ युद्ध शुरु किया है। अपने आनन्द के सरोवर में स्थित हैं, कहते हैं **परम-धरमहित...** उसे जीतकर **परम-धरमहित...** उत्कृष्ट परम धर्म के हितकारी हुए। वीतरागस्वरूप कैसा है, ऐसा भगवान ने बताया। **परम-धरमहित...** परम वीतराग धरमहित। आहाहा! **सुमिरत भगति...** भक्त जिसे स्मरण करते **भगति सब डरसी...** भक्त जिन्हें ऐसी वीतरागता, निर्विकल्पता, परमात्मदशा का भक्ति अर्थात् स्मरण होने से उन्हें **भय सब नाम डरसी... भय सब** डार—भाग जाते हैं। ऐसे निर्भय, ऐसे भगवान को स्मरण करने से भक्तों को भय नहीं रहता। आहाहा! देखो! एक यह पहली स्तुति शुरु होती है, ऐसे अब। नवनीतभाई! आहाहा! **सुमिरत भगति...** है नीचे देखो। **जिनका स्मरण करने से भक्तजनों के सब डर दूर भागते हैं,...**

सजल-जलद-तन मुकुट सपत-फन, कमठ-दलन जिन नमत बनरसी। कहते हैं। **सजल-जलद...** जिनका शरीर पानी से भरे हुए मेघ के समान नीला था, नीला अर्थात् नीले रंग का। पार्श्वनाथ भगवान का शरीर नीले रंग का था। मोरपंख जैसा। परन्तु कोमल शोभित बहुत। जिनके प्रत्येक अवयव मानो कुदरत ने गढ़े हों, जैसे मोर कला गढ़े, वैसे ऐसा शरीर था। कहते हैं कि **सजल—**जलसहित, **सजल** अर्थात् जलसहित, **जलद** अर्थात् जल का देनेवाला। द अर्थात् देनेवाला। जलसहित, जल का देनेवाला, ऐसा मेघ, ऐसा उनका शरीर नीला था। मेघ के समान शरीर नीला था।

मुकुट सपत-फन... जिनका मुकुट सात फण का है,... ले! मुनिपने में जब ध्यान करते थे पार्श्वनाथ भगवान... पहले सामने कहीं फोटो था। अन्यत्र होगा। यह तो

फोटो ऐसे मानो ऊपर... निकाल डाला होगा। .... भगवान को जब केवलज्ञान नहीं था। (मुनि अवस्था में) ध्यान में थे, तब कमठ (संवर)देव का विमान ऊपर से निकला। (प्रभु) ध्यान में थे। जगत के—कुदरत के नियम प्रमाण ऐसा नियम है कि ऐसे आनन्द के सागर सन्त जहाँ बैठे हों और ऊपर से विमान निकले और नमन नहीं करे तो विमान रुक जाता है, चल नहीं सकता। समझ में आया? (विमान) रुक गया। 'अरे! कौन है यह? (संवरदेव) नीचे उतरता है। क्या मेरे विमान को रोका है तूने?' ऐसा कहकर क्रोध में आता है।

बहुत भव के साथ-साथ भव था कठोर विरोध का। आहाहा! कितने भव का? आठ भव। उसने (संवरदेव ने) वर्षा बरसायी, पत्थर डाले, बिजली के झपकारे, भूत और प्रेत करोड़ों भौं-भौं चिल्लाहट करके (आवाज करे)। प्रभु तो आनन्द में ध्यान में थे। उसमें देव का आसन चलायमान हुआ, नीचे (भवनवासी में) धरणेन्द्र और पद्मावती का आसन कम्पित हुआ। है इसमें? देखो! **जब भगवान पार्श्वनाथ स्वामी की मुनि अवस्था में कमठ के जीव ने उपसर्ग किया...** उपसर्ग अर्थात् इस प्रमाण। **तब प्रभु की राज्य अवस्था में उपदेश पाये हुए...**

भगवान जब राज्य में थे, तब (कमठ का पूर्व) भव उसका (-तापस का) था। उनका नाना था। ऐसा कुछ है। लकड़ी में दो सर्प थे। एक सर्प और एक सर्पणी। लकड़ी की धुनी तापता था। उनका नाना था, नहीं? इनकी माँ का पिता। माँ का पिता, कहा न। माँ का पिता। मामा बुआ के... अपने को बहुत इतिहास (याद) नहीं, भाव का देखो। उसमें भगवान निकले हाथी के हौदे। अभी तो गृहस्थाश्रम में थे। साधु नहीं हुए थे। उसमें अवधिज्ञान में देखा कि लकड़ी में सर्प है, नीचे उतरे। अरे! क्या करता है तू यह? नीचे सर्प है।

अरे! तू और कौन है? चतुर हुआ। मेरी लड़की का लड़का तू और बड़ा चतुर हो गया? परन्तु यह (सर्प) जलता है अन्दर। नहीं होगा इसमें। मार लकड़ी, क्या कहा जाता है उसे?

मुमुक्षु : कुल्हाड़ी।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुल्हाड़ी मारी वहाँ दो निकले, नाग-नागिन अन्दर से निकले। भगवान ने णमो अरिहंताणं... णमोकार मन्त्र सुनाया। नाग मरकर धरणेन्द्र हुआ, अभी है। नागिन मरकर उसकी स्त्री (पद्मावती) रानी हुई, अभी है। (भवनवासी स्वर्ग में) नीचे है। दोनों देव-देवी हैं।

वह जब भगवान को कमठ का (संवरदेव का) उपसर्ग हुआ तब दोनों आये। वह (संवरदेव) राज्यावस्था में, मुकुट में गृहस्थाश्रम में... आये नीचे और (उपसर्ग टाला)। धरणेन्द्र ने (कमल) के ऊपर उठाया। पानी बहुत आया, इसलिए ऊपर उठाया। धरणेन्द्र और उसकी स्त्री ने। धरणेन्द्र ने फण मांडकर ऊपर, वर्षा न पड़े इसलिए। उस समय की बात है, लो। **नाग-नागिन के जीव ने धरणेन्द्र-पद्मावती की पर्याय में उपसर्ग निवारण किया था और...** सात फण का सर्प बनाया, सात फण का। **प्रभु के ऊपर छाया करके अखण्ड जलवृष्टि से रक्षा की थी, उसी प्रयोजन से इन भगवान की प्रतिमा पर सात फन का चिह्न प्रचलित है...** प्रचलित है, कहते हैं। ऐसे तो हजार-हजार फणवाले बारीक-बारीक सर्प भी होते हैं। **और इसीलिए कवि ने मुकुट की उपमा दी है।** सर्प का फण यह मुकुट था, ऐसा भाई ने कहा। मुकुट कहा न ?...

सजल-जलद-तन मुकुट सपत-फन,... उनका मुकुट था.... साधुपद में निर्विकारी, वस्त्ररहित, ध्यान-आनन्द में थे। अभी केवलज्ञान-सर्वज्ञपद नहीं हुआ था। तब उन्हें, कहते हैं कि नाग ने सात फणवाला मुकुट सिर पर किया था मुकुट। आहाहा! **कमठ-दलन जिन नमत बनरसी।** कमठ (-संवरदेव) नाम का जो असुरदेव, उसका दलन किया। **कमठ के जीव के असुर पर्याय में परास्त करनेवाले...** परास्त किया। ....**जिन,** ऐसे वीतराग परमात्मा, **नमत,** उन्हें यह समयसार नाटक बनाने से पहले मैं ऐसे परमात्मा को बनारसीदास स्वयं नमता हूँ। समयसार नाटक देखा है या नहीं सेठ ? पढ़ा नहीं कभी ? लो!

मुमुक्षु : आज मंगल मुहूर्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बनारसीदास का मूल तो... अमृतचन्द्राचार्य की टीका है। उसमें कलश हैं कलश, उसमें से राजमलजी ने टीका बनायी है। उसमें से यह बनाया है। समझ में आया ? नहीं यहाँ, अभी नहीं, अभी नहीं। बनारसीदास का है न ? राजमल

टीका अपने है। हजारों पुस्तकें प्रकाशित हो गयी हैं। प्रकाशित होकर बाहर आ गयी हैं। उसमें से यह बनाया है (ऐसा) आगे कहेंगे। कहते हैं, ऐसे **पार्श्वनाथ जिनराज को... जिन** है न **जिन ? पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।** आहाहा! देखो, कितना भरा है इतने में तो। कैसे भगवान होते हैं ? छद्मस्थ में, अल्पज्ञान में केवली नहीं थे, तब कैसा उपसर्ग था ? धरणेन्द्र को (सर्प को)णमोकार सुनाते हैं। उसके बाद यह हुआ (– उपसर्ग हुआ)। धरणेन्द्र और (पद्मावती) आये, उपसर्ग निवारण किया इत्यादि–इत्यादि बहुत बात थोड़ी स्तुति में भर दी है। यह पहली स्तुति की, लो। यह मंगलाचरण की स्तुति। मांगलिक का अर्थ ऐसा है कि मंगल शब्द है न तीन अक्षर... यही कहा है। मंग अर्थात् पवित्रता, ल अर्थात् लाती। जिससे पवित्रता प्राप्त हो, उस भाव को मंगल कहा जाता है अथवा मम् अर्थात् पाप और गल अर्थात् गाले। भगवान आनन्दस्वरूप में आकर अज्ञान और राग–द्वेष को टाले, ऐसे भाव को मांगलिक कहा जाता है।

पुत्र हो मांगलिक कहे, पैसा दो–पाँच लाख कुछ पैदा हो, मांगलिक कहे। धूल भी मांगलिक नहीं, सब नाशवान है।

मुमुक्षु : उस दिन लापसी बनवावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : लापसी बनाये। मर जाये। तब नहीं कहा था ? रायबहादुर का इलकाब आया और यहाँ मरने की तैयारी। (संवत्) १९९० के वर्ष। एक प्रेमचन्दभाई थे। हम वहाँ सदर में थे ९० के वर्ष में। म्युनिसिपलटी का वह सेक्रेट्री था। उसमें अब कोई विवाह होगा और गये होंगे और खाई होगी जलेबी–फलेबी और बर्फियाँ। विवाह में तो दे और उसमें फिर कुछ उस वर के साथ जीमे, उसे बहुत दे। पंचोळुं। खाया होगा उसमें...

शरीर सोने की अँगूठी जैसा, ऐसा लठ्ठ जैसा। अन्त में मरने की तैयारी। तब कहे, महाराज को बुलाओ। मन्दिरमार्गी थे, हों! परन्तु यहाँ है—महाराज है तो मांगलिक सुनाओ। बेचारे का श्वास निकल जाये, उससे पहले। उसमें साईकिल आयी। रावसाहेब का इलकाब। यहाँ मरने के इलकाब की तैयारी। पहिचानते हो भाई रतिभाई ? प्रेमचन्दभाई के भाई हीराभाई... म्युनिसिपलटी में बड़े बकरा–बकरा मारना हो तो उसे पूछकर मारे जायें, सड़ा हुआ न हो। तब अब खबर है न। ऐसे धन्धे अब। वेतन मिले २००–५००।

धूल भी नहीं मिलती उसमें। उसका हस्ताक्षर लेना पड़ कि यह बकरा मारने जैसा है या नहीं मारने जैसा। अररर!

मुमुक्षु : सीख, बीमार बकरा हो तो नहीं मारने दिया जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : सड़ा हुआ हो... सुना था तब सुना था। ...

वहाँ पुलिस आयी साईकिल लेकर। रावसाहब का इलकाब सरकार की ओर से मिलता है न। यहाँ मरने का इलकाब तैयार है। मर गया तत्पश्चात्। मैं आया उपाश्रय में से, वहाँ देह छूट गयी थी। रात्रि में देह छूट गयी। क्या धूल करे? बाहर का इलकाब उसमें क्या करे? सेठ! समाजभूषण का इलकाब (सम्मान) दे। क्या कुछ है उसमें? यहाँ सेठ है और सेठिया है सब समाजभूषण। आहाहा! कहते हैं, ऐसे भगवान को स्तवन करने से मांगलिक होता है। पवित्रता होती है और जिसका पाप गलता है, उसके लिये यहाँ मांगलिक शुरु किया है।

दूसरा कलश पद। यह भी अब स्तवन है।

★ ★ ★

काव्य - २

सकल–करम–खल–दलन,
कमठ–सठ–पवन कनक–नग।
धवल परम–पद–रमन,
जगत–जन–अमल–कमल–खग।।
परमत – जलधर – पवन,
सजल–घन–सम–तन समकर।
पर–अघ रजहर जलद,
सकल जन–नत भव–भय–हर।।

जमदलन नरकपद–छयकरन,
अगम अतट भवजलतरन।
वर–सबल–मदन–वन–हरदहन,
जय जय परम अभयकरन।।२।।

शब्दार्थ:–कनक–नग (कनक=सोना, नग=पहाड़)=सुमेरु। परमत=जैनमत के सिवाय दूसरे सब मिथ्यामत। नत=वन्दनीय। हरदहन=रुद्र की अग्नि।

अर्थ :– जो सम्पूर्ण दुष्कर्मों को नष्ट करनेवाले हैं, कमठ की वायु के समक्ष मेरु के समान हैं, अर्थात् कमठ के जीव की चलाई हुई तेज आँधी के उपसर्ग से जो नहीं हिलनेवाले हैं, निर्विकार सिद्धपद में रमण करते हैं, संसारी जीवोंरूप कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य के समान हैं, मिथ्यामतरूपी मेघों को उड़ा देने के लिये प्रचण्ड वायुरूप हैं, जिनका शरीर पानी से भरे हुए मेघ के समान नीलवर्ण है, जो जीवों को समता देनेवाले हैं, अशुभकर्मों की धूल धोने के लिये मेघ के समान हैं, सम्पूर्ण जीवों के द्वारा वन्दनीय हैं, जन्म–मरण का भय हरनेवाले हैं, जिन्होंने मृत्यु को जीता है, जो नरक गति से बचानेवाले हैं, जो बड़े और गम्भीर संसार सागर से तारनेवाले हैं, अत्यन्त बलवान कामदेव के वन को जलाने के लिये रुद्र की[१] अग्नि के समान हैं, जो जीवों को बिलकुल निडर बनानेवाले हैं; उन (पार्श्वनाथ भगवान) की जय हो!!।।२।।

काव्य-२ पर प्रवचन

सकल–करम–खल–दलन,
कमठ–सठ–पवन कनक–नग।
धवल परम–पद–रमन,
जगत–जन–अमल–कमल–खग।।
परमत – जलधर – पवन,
सजल–घन–सम–तन समकर।

१. यह वैष्णवमत का दृष्टान्त है। उनके मत में कथन है कि महादेवजी ने तीसरा नेत्र निकाला और कामदेव को भस्म कर दिया। यद्यपि जैनमत में यह वार्ता अप्रमाण है, तथापि दृष्टान्त मात्र प्रमाण है।

पर–अघ रजहर जलद,
सकल जन–नत भव–भय–हर।।
जमदलन नरकपद–छयकरन,
अगम अतट भवजलतरन।
वर–सबल–मदन–वन–हरदहन,
जय जय परम अभयकरन।।२।।

'सकल-करम-खल-दलन,' सम्पूर्ण दुष्टकर्मों को नष्ट करनेवाले... **'सकल-करम-खल'** अर्थात् दुष्ट, सकलरूपी कर्मरूपी दुष्ट को दलन अर्थात् नष्ट करनेवाला। आहाहा! ऐसा सिद्ध किया कि कर्म पहले थे, परन्तु स्वभाव के भान और आनन्द द्वारा जिन्होंने (कर्म) नाश किये हैं। उसमें आया था करम भरम। भ्रान्ति नाश की थी। आहाहा! **'सकल-करम-खल' 'खल'** अर्थात् दुष्ट कर्म, **दलन** अर्थात् नाश करनेवाले **'कमठ-सठ-पवन कनक-नग' कमठ की वायु के समक्ष मेरु के समान....** कमठ नाम का असुर, उसने पवन—इतनी वायु की। वह अग्नि, हवा, पत्थर सब। यह उसे उपमा दी है। उसे **'कमठ-सठ-पवन'** कर्मरूपी सठरूपी जो पवन, उसे **'कनक-नग'** स्वयं तो स्वर्ण के मेरुपर्वत जैसे थे। डिगाने से डिगे नहीं, हिलाने से हिले नहीं। आनन्द में लवलीन थे। अमृतरस के घूँट पीते थे अन्दर। आहाहा! समझ में आया?

कमठ की वायु के समक्ष.... यह तो उपमा है। कमठ ने तो किया, वह पानी डाला, पत्थर डाले, अग्नि डाली। कमठरूपी वायु के समक्ष भगवान पार्श्वनाथ प्रभु अन्तर में... अभी सर्वज्ञपद हुआ न, उससे पहले की यह बात है। **'कनक-नग...** कनक अर्थात् सोने का मेरु है न। कनक अर्थात् सोने का मेरु है यह। ऐसे मेरु के समान थे। **'कनक-नग' नग** अर्थात् पर्वत। सोने का विशाल पहाड़ था। सोने का पहाड़ जैसे पवन से हिलता नहीं, उसी प्रकार परमात्मा के साधक अन्दर स्वरूप में साधते थे। आनन्द में अन्दर लवलीन थे। उन्हें कमठरूपी पवन जरा भी हिला नहीं सकी। इतिहास भी साथ ही कहते जाते हैं कि ऐसा हुआ है। आहाहा! **'धवल परम-पद-रमन'** कहते हैं कि **निर्विकार सिद्धपद में रमण करते हैं,...** आहाहा! धवल अर्थात् उज्ज्वल, निर्मल **परम-पद**—आनन्दस्वरूप भगवान में रमण करते थे।

'जगत-जन-अमल-कमल-खग' जगत के जन को निर्मल कमल के खिलने के लिये खग अर्थात् सूर्य समान थे। **'जगत-जन-अमल-कमल-खग' संसारी जीवोंरूप कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये... संसारी जीवोंरूप कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये...** खग—ख अर्थात् सूर्य, आकाश, ग अर्थात् गमन करनेवाला। उसमें खग आया था। संसारी जीवोंरूप कमल को खिलने के लिये सूर्य के समान हैं। सूर्य समान। कमल जैसे खिले, उसी प्रकार भगवान ऐसे थे कि जिनकी वाणी और जिन्हें देखे और सुने, उसका कमल अन्दर खिल जाये। आत्मा का कमल खिल जाये, ऐसे वे भगवान थे, ऐसा कहकर स्तुति की है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २, पौष कृष्ण ७, सोमवार, दिनांक १८-१-१९७१
मंगलाचरण, पद—२, ३, ४, ५

बनारसीदास समयसार कलश का पद बनाने से पहले पार्श्वनाथ भगवान जो २३वें तीर्थंकर हुए, उनकी यह स्तुति करते हैं। पहला एक भाग हो गया है, यह दूसरा भाग है। खग तक आया है, देखो। फिर से देखो थोड़ा। दूसरा भाग।

सकल-करम-खल-दलन,
कमठ-सठ-पवन कनक-नग।
धवल परम-पद-रमन,
जगत-जन-अमल-कमल-खग।।

यहाँ तक आया है। जो भगवान पार्श्वनाथ परमात्मा सम्पूर्ण दुष्कर्मों को नष्ट करनेवाले हैं। '**सकल-करम-खल-दलन**', दूसरा भाग (काव्य)। सकल कर्मरूपी **खल** अर्थात् दुष्ट उसे **दलन** अर्थात् नाश करने को समर्थ हैं। और **कमठ-सठ...** भले नाम नहीं दिया परन्तु इसका न्याय आ गया है। कमठ जो सठ था, वह असुरकुमार देव, उस रूपी पवन के समक्ष '**कनक-नग**' सोने का मेरु जैसे डिगता नहीं, उसी प्रकार जो आत्मा के ध्यान में स्थिर होकर डिगे नहीं। सब एकाक्षरी हैं न, इसलिए पार्श्वनाथ का नाम नहीं आया, परन्तु वस्तु तो वही है न। कमठ और पहले आ गया था। नीला, नीला जिनका शरीर है।

'**धवल परम-पद-रमन**' परम पवित्र पद पूरा चैतन्यस्वरूप, उसमें रमण करनेवाले हैं। **निर्विकार सिद्धपद में रमण करते हैं, ऐसा।** '**जगत-जन-अमल-कमल-खग**' संसारी जीवोंरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य समान हैं। आहाहा! पूर्ण स्वरूप, जिसे चैतन्य की चमत्कारदशा पूर्ण प्रगट हुई है, वह निमित्तरूप से पर को भी ऐसा कर सकता है, ऐसा कहा जाता है। है तो स्वयं अपना करनेवाला, परन्तु उसका निमित्त वह है, वह भी इसमें कमल को प्रफुल्लित करनेवाले सूर्य समान हैं। यहाँ तक तो कल आया था। '**परमत-जलधर-पवन**' मिथ्यामतरूपी मेघों को उड़ाने में प्रचण्ड वायु है। प्रचण्ड वायु। '**परमत-जलधर-पवन**' अज्ञानरूपी... अज्ञानी एकान्त मतवाले,

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने जो मार्ग कहा, उससे (विरुद्ध) एकान्त मत के कल्पना करनेवाले अपनी कल्पना से मार्ग स्थापित किया, ऐसे सब जीवों को उड़ाने के लिये मेघ समान प्रचण्ड वायु है। अन्यमति में धर्म का एकान्तपना उड़ाने में अनेकान्त भगवान स्वभाव समर्थ है।

'**सजल-घन-सम-तन समकर**' जैसे मेघ पानी से भरा हुआ होता है, उसी प्रकार जिनका शरीर नीलवर्ण है। आ गया नाम, भले नाम न हो। नीलवर्ण पार्श्वनाथ भगवान का शरीर था। है न? '**सजल-घन-सम-तन समकर**' जिनका तन ऐसा था और **समकर**—जीवों को समता देनेवाले। समता वीतरागपना, क्योंकि उन्हें वीतरागता अमृत समता जिन्हें पूर्ण प्रगट हुई थी। ऐसे अमृतस्वरूप आत्मा जो दूसरे को समझाने में, देने में भी समर्थ है। 'ददाति इति देव।' पण्डितजी! ऐसा आता है अष्टपाहुड़ में। दे, (वह) देव। यह निमित्त के कथन हैं न! जो समझे उसे प्राप्त होता है, उसे 'दिया' कहा जाता है, ऐसा। समझ में आया?

'**सजल-घन-सम-तन**' यहाँ तक लिया। '**समकर**' पृथक् किया। समता के देनेवाले हैं। '**पर-अघ रजहर जलद**' अशुभकर्मों की धूल धोने के लिये सूर्य के समान हैं, मेघ के समान हैं। धूल जो बहुत उड़ती हो, परन्तु उसमें बहुत वर्षा आवे तो धूल बैठ जाती है, उड़ नहीं सकती। उसी प्रकार भगवान की वाणी सुने और भगवान को जो जाने—पूर्णानन्द पवित्र आनन्द की मूर्ति को जाने, उसे कर्मों के रज, मेघ (रज को) जैसे टाले, वैसे कर्म के रज टाले हैं। मेघ समान है न! और '**सकल जन-नत भव-भय-हर**' '**सकल जन।**' सम्पूर्ण जीवों द्वारा वे वन्दनीक हैं। '**सकल जन-नत**' जिन्हें नमे हैं, ऐसा। '**सकल जन-नत**' सर्व जीव-प्राणी, आत्मार्थी जिन्हें नमे हैं। '**भव-भय-हर**' वह भव के भय के हरनेवाले हैं। चौरासी के अवतार, दु:खरूपी योनि के अवतार के हरनेवाले परमात्मा को पहिचाने, उसकी बात है, हों! परमात्मा कहीं टाल नहीं देते, कहीं किसी के कर्ता नहीं। उन्हें पहिचाने और उस प्रमाण जानकर अनुभव करे, तो वे भव के टालनेवाले हैं, ऐसा कहने में आता है। और कैसे हैं?

'**जमदलन... जम**' अर्थात् मृत्यु के दलनेवाले हैं, नाश करनेवाले हैं। पार्श्वनाथ भगवान २३वें तीर्थंकर... कहीं भाई को हाथ नहीं आया? '**जमदलन**' है। मृत्यु, जम अर्थात् मृत्यु के दलनेवाले हैं, जलानेवाले अर्थात् नाश करनेवाले हैं। '**नरकपद-छयकरन**', नरक

के पद को तो मूल में से नाश करनेवाले हैं। जो परमात्मा ऐसा वीतरागी निर्दोष अमृतस्वरूप जिसे (पर्याय में) प्रगट हुआ, उसका जो शरण ले (और) अन्तर में स्वभाव का शरण ले, उसे नरकपद नहीं हो सकता। '**अगम अतट भवजलतरन**' लो। कहते हैं कि **बड़े और गम्भीर संसार सागर...** अहो! चौरासी के अवतार, बड़े और गम्भीर। जहाँ एकेन्द्रिय के जीव, चींटी और कौवे, कुत्ते, ऐसे अनन्त-अनन्त योनि के भव बड़े-बड़े और गम्भीर, ऐसा संसारसागर को तिरनेवाले हैं। चौरासी के अवतार में एक-एक योनि में अनन्त-अनन्त बार जन्मा और मरा, ऐसा गम्भीर और विशाल संसार जल समुद्र, उसे तिरने को परमात्मा समर्थ है। अर्थात् उन्होंने (परमात्मा ने) जो किया, ऐसा जानकर करे, वह (जीव) समर्थ है ऐसा। भगवान कहीं तिरा नहीं देते। समझ में आया? '**अगम अतट**' ऐसा। अगम नाम, कहा न? महा और गम्भीर। '**अगम अतट**' जिसका छोर नहीं, छोर नहीं। ऐसा अगम गम्भीर '**भवजल**' चौरासी के अवतार को तिरने में त्रिलोकीनाथ परमात्मा ने आत्मा का स्वरूप जो कहा, ऐसा जाने, स्थिर हो, उसे भवसागर नहीं हो सकता। '**वर-सबल-मदन-वन-हरदहन**' कहते हैं, '**वन**' का अर्थ अत्यन्त किया। **बलवान कामदेव के वन को जलाने के लिये रुद्र की अग्नि के समान हैं,...** यह उपमा दी, उपमा। यह वैष्णवमत में दृष्टान्त है। **उनके मत में कथन है कि महादेवजी ने तीसरा नेत्र निकाला और कामदेव को भस्म कर दिया। यद्यपि जैनमत में यह वार्ता अप्रमाण है, तथापि दृष्टान्तमात्र...** इससे एक दृष्टान्त देकर (समझाया है)। वस्तु से कुछ बन सकता नहीं। समझ में आया?

जिन्होंने '**सबल-मदन**' महा कामदेव वासना उग्र अनादि की जिसमें प्राणी जलहल जल रहे हैं। ऐसा जो वन, उसे '**हरदहन**'... अग्नि, जैसे शंकर का तीसरा नेत्र कामदेव को जला डालता है, उसी प्रकार यह अग्नि जला डालती है। '**जय जय परम अभयकरन**' जय हो! जय हो! परम अभय के देनेवाले वीतरागस्वरूप परमात्मदशा जिन्हें प्रगट हुई है, ऐसे परमात्मा की जय हो! ऐसा कहकर स्तुति और मांगलिक किया है। अब तीसरी स्तुति। पार्श्वनाथ भगवान अब इसमें और इसी में आयेंगे। वे सब एकाक्षरी शब्द थे न, (इसलिए) उनमें नाम नहीं दिया। है तो पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति। यह तो बड़े कवि हैं न आशुकवि हैं।

★ ★ ★

काव्य - ३

जिन्हिके वचन उर धारत जुगल नाग,
भए धरनिंद पदुमावति पलकमैं।
जाकी नाममहिमासौं कुधातु कनक करै,
पारस पखान नामी भयौ है खलकमैं।।
जिन्हकी जनमपुरी-नामके प्रभाव हम,
अपनौ स्वरूप लख्यौ भानुसौ भलकमैं।
तेई प्रभु पारस महारसके दाता अब,
दीजै मोहि साता दृगलीलाकी ललकमैं।।३।।

शब्दार्थ:-कुधातु=लोहा। पारस पखान=पारस पत्थर। खलक=जगत। भलक=प्रभा। महारस=अनुभव का स्वाद। साता=शान्ति।

अर्थ :- जिनकी वाणी हृदय में धारण करके साँप का जोड़ा क्षण भर में धरणेन्द्र-पद्मावती हुआ, जिनके नाम के प्रताप से जगत में पत्थर भी पारस के नाम से प्रसिद्ध है जो लोहे को सोना बना देता है, जिनकी जन्मभूमि के नाम के प्रभाव से हमने अपना आत्मस्वरूप देखा है-मानों सूर्य की ज्योति ही प्रगट हुई है; वे अनुभव-रस का स्वाद लेनेवाले पार्श्वनाथ जिनराज अपनी प्यारी चितवन से (दृष्टि से) हमें शान्ति देवें।।३।।

काव्य-३ पर प्रवचन

जिन्हिके वचन उर धारत जुगल नाग,
भए धरनिंद पदुमावति पलकमैं।
जाकी नाममहिमासौं कुधातु कनक करै,
पारस पखान नामी भयौ है खलकमैं।।
जिन्हकी जनमपुरी-नामके प्रभाव हम,
अपनौ स्वरूप लख्यौ भानुसौ भलकमैं।

तेई प्रभु पारस महारसके दाता अब,
दीजै मोहि साता दृगलीलाकी ललकमैं।।३।।

'**जिन्हिके वचन उर धारत जुगल नाग**' पार्श्वनाथ भगवान गृहस्थाश्रम में थे और वनक्रीड़ा करने हाथी के हौदे निकले थे। उसमें उनके नाना—उनकी माता के पिता बाबा–साधु हुए थे और तप करते थे। उसमें लकड़ी में दो नाग और नागिन सुलगते थे। '**जिन्हि के वचन उर धारत जुगल नाग**' नाग और नागिन—दोनों। जुगल अर्थात् दो। '**भए धरनिंद पदुमावति पलकमैं**' क्षण में धरणेन्द्र इन्द्र हुए नीचे भवनपति में और उनकी पद्मावती रानी हुई। जिन्हें अन्त में मरते समय वचन सुनाये। जल गया थोड़ा तो शरीर, थोड़ा रहा था। ॐ शब्द। ॐ शब्द पाँच परमेष्ठी का वाचक है। दोनों की देह छूट गयी। देव और देवी हुए नीचे, धरणेन्द्र और पद्मावती।

'**जाकी नाममहिमासौं कुधातु कनक करै**' पारस पत्थर होता है न पारसमणि, वह लोहे को भी सोना करता है। लोहा यथार्थ, जंग बिना का हो तो। उसी प्रकार पार्श्वनाथ भगवान पूर्णानन्द परमात्मदशा, अमृतरस के पूर्ण प्रगट समुद्र; यह कहते हैं कि जो उनका स्पर्श करे, उन्हें जो सुने और समझे, वह पारस जैसे लोहे को सोना करे, उसी प्रकार इनके जैसा बनावे। समझे? लोहे को **पारस पखान...** पारस पत्थर होता है। '**कुधातु कनक करै, पारस पखान नामी भयौ है खलकमैं**' ऐसा पारस पत्थर होता है। वह खलक में, कहते हैं कि प्रसिद्ध है; उसी प्रकार भगवान तो इस प्रकार से प्रसिद्ध हैं। '**जिन्ह की जनमपुरी-नाम के प्रभाव हम' जिनकी जन्मभूमि के नाम के प्रभाव से हमने अपना आत्मस्वरूप देखा है...** बनारसीदास कहते हैं, हमने आत्मा का अनुभव, आत्मा का स्वाद जिनके नाम बनारसी (ऐसी) काशी में आया है। बनारस है न?

'**जिन्ह की जनमपुरी-नाम के प्रभाव हम, अपनौ स्वरूप लख्यौ भानुसौ भलकमैं।**' आत्मस्वरूप **मानों सूर्य की ज्योति ही प्रगट हुई है;...** आहा! क्या कहते हैं? सर्वज्ञ परमात्मा के (जन्मधाम का) नाम है वहाँ, कहते हैं, बनारस—काशी, उनका नाम—इस शरीर का नाम भी बनारस दिया। उनके नाम के उसी भव में मैं आत्मा के आनन्द में अनुभव को पाया हूँ। बनारसीदास कवि कहते हैं। भानु **मानों सूर्य की ज्योति**

ही प्रगट हुई है;... पुण्य और पाप के मैल के अन्धकार में भगवान चैतन्यसूर्य आग में पड़ा था, उसे हमने बनारस में अन्तर स्वरूप में अन्तर स्पर्श होकर मानो कि सूर्य तेजस्वी जागृत हुआ हो, वैसे हमारा चैतन्यस्वरूप चैतन्य चमत्कार से जागकर आत्मा का स्वाद हमको आया। कहो, समझ में आया? देखो! यह अपनी आत्मज्ञान की प्राप्ति भी बनारस में बताते हैं। पण्डितजी!

'**जिन्हकी जनमपुरी-नाम के प्रभाव हम,**' बनारस में जन्म हुआ था न पार्श्वनाथ भगवान का। पार्श्वनाथ भगवान का जन्म बनारस में था। उनके नाम के प्रभाव से, **अपनौ स्वरूप लख्यौ...** लख्यो अर्थात् जाना। है न अर्थ में, देखो न! आत्मस्वरूप देखा निर्विकल्पस्वरूप... अभी तो गृहस्थाश्रम में हैं, स्त्री है, सब था। कहाँ अवरोधक, वे तो एकरूप पड़े हैं उनके घर में। भगवान आत्मा के स्वरूप में जहाँ अन्दर डुबकी मारता है, तो आत्मा का स्वरूप निर्विकल्प वीतराग शान्त आनन्द का भान होता है। यह कहते हैं कि हमको बनारस में हुआ है। कहो, समझ में आया? भान हुए को खबर पड़ती होगी या नहीं? कितने ही ऐसा कहते हैं, खबर नहीं पड़ती। भगवान जाने।

मुमुक्षु : भगवान दे तो भगवान को खबर पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान केवली हैं, जो होता है, उसे जानते हैं। ऐसे के ऐसे। आत्मा अज्ञान में पड़ा है, उसमें से अन्दर में (दृष्टि बदलकर) भान हो, उसका अनुभव हो। यह तो अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु है। राग और द्वेष के पुण्य-पाप के विकल्प की वृत्तिरहित प्रभु है, ऐसा हमको, कहते हैं, सूर्य की ज्योति की भाँति आत्मा जागृत हुआ। कहो, समझ में आया? (बनारसीदास) दशाश्रीमाली दशा थे, श्रीमाली।

कहते हैं, '**तेई प्रभु पारस महारस के दाता अब**' अब तो हमारा आनन्दरस पूरा हो जाओ। महारस, है न? **अनुभव-रस का स्वाद देनेवाले...** निमित्त से कथन तो ऐसा ही आवे न! अनुभवरस का स्वाद देनेवाले। '**तेई प्रभु पारस महारस के**' लो, इसमें नाम आया, 'पारस' नाम आया इसमें। बहुत सवैया इकतीसा है न? वे लघु अक्षर थे, इसलिए नाम नहीं आया था। यह तो नीला शरीर, कमठ, वे सब पारसनाथ के नाम। पारसनाथ भगवान की पहली तीन तो स्तुतियाँ कीं। **जिनराज अपनी प्यारी चितवन से (दृष्टि से)**

हमें शान्ति देवें। 'दीजै मोहि साता दृगलीला की ललकमैं।' आँख मींचकर उघाड़ें उसमें— क्षण में हमारा पूर्णानन्द प्राप्त होओ, ऐसी उनको प्रार्थना है। आहाहा! समझ में आया?

'जागकर देखूँ वहाँ जगत दिखे नहीं, नींद में अटपटे खेल देखे।' भगवान आत्मा के अन्तर स्वरूप में सच्चिदानन्द प्रभु, उनका अन्तरभान हो तो, कहते हैं, मुझमें जगत के पुण्य-पाप, शरीर, वाणी कुछ है ही नहीं। मैं तो शुद्ध आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु हूँ, ऐसा अनुभव सम्यग्दर्शन होने पर गृहस्थाश्रम में भी हो सकता है। कहो, समझ में आया? सवेरे यह चलता है न कि ऐसे भान बिना के साधु हों, तो भी सब भटक मरनेवाले हैं। सवेरे यह चलता है, लिंग। लिंग धारण करे दिगम्बर आदि, परन्तु आत्मा क्या चीज़ है, उसका तो भान नहीं, अनुभव नहीं, आत्मा के आनन्द का जिसे स्वाद आया नहीं। आत्मा जागकर देखा नहीं कि मैं कौन हूँ? ऐसे अज्ञानी बाहर वेश धारकर नग्न वेश धारण करे, उन्हें कहीं आत्मा का लाभ है नहीं। नुकसान गिनो वहाँ तो बहुत।

यहाँ तो कहते हैं **दीजे मोहि साता...** साता अर्थात् हमको हमारा अनुभव, ऐसा। चिन्तवन, हमारा चिन्तवन '**साता**' अर्थात् अनुभव। चिन्तवन, अन्तर के आनन्द का चिन्तवन, आनन्द का चिन्तवन सिद्ध होकर पूर्ण हो जाना। '**ललक में**' विचारमात्र में शान्ति प्रगट हो, ऐसी हमारी प्रार्थना है। प्रार्थना तो आत्मा से है, परन्तु यह तो निमित्त से ऐसा ही बोला जाये न! (पहले) गरीब व्यक्ति हो और फिर पैसे बहुत हुए हो, पाँच, पचास लाख, करोड़, दो करोड़। तब ऐसा कहे न, भाई! बुजुर्गों का पुण्य है। बुजुर्गों का पुण्य कहाँ बुजुर्गों के पास था? ऐई! तुम्हारे पास पैसे हैं, इतने चिमनभाई के पास नहीं थे। ऐई चिमनभाई! परन्तु बोला ऐसा जाता है। व्यवहार से तो ऐसा ही कहे न कि भाई! बड़ों से प्राप्त हुआ है... माँ-पिताजी का पुण्य है। पाँच-पचास लाख कमावे तो बुजुर्गों का पुण्य है, ऐसा बोले। भाषा में क्या कहे? विनय का, निर्मान का, यह वचन है।

इसी प्रकार वीतराग तीर्थंकर को कहते हैं, क्षणमात्र में हमारी लीला हमको आनन्द की प्राप्ति होओ। भगवान को कहते हैं, 'आप बड़े, आप बड़े हो देव में, आपके पुण्य प्रताप से हमको ऐसा हो जाओ' ऐसा विनय से नम्रता के वचन हैं। कोई देता नहीं और किसी से मिलता नहीं। विनय के वाक्य ऐसे ही बोले न! लो! **चिन्तवन (दृष्टि से)**

हमें शान्ति देवे। प्यारी अपनी प्यारी चिन्तवन अनुभव... उससे हमारा परमात्मपद, परमात्मा! आपको जो हुआ वैसा हमको हो जाओ। हम परमात्मा के होने के योग्य हैं। पूर्णता प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थना है, लो! आहाहा!

चौथा पद। अब सिद्ध स्तुति। यह पार्श्वनाथ भगवान की—अरिहन्त की थी। हो गये हैं वे सिद्ध, परन्तु अरिहन्तपद में थे, ऐसा स्मरण करके कहते हैं। अब साधुपद से (स्तुति) मांडी है न! अब सिद्ध भगवान शरीररहित जो आत्मा हुए। (अरिहन्त) तो शरीरसहित थे। जब तक वाणी आदि थी, वे अरिहन्त कहलाते हैं। (सिद्ध) शरीररहित हो गये, अकेला आत्मा, उनकी स्तुति करते हैं। पहले णमो अरिहंताणं आता है न, उनकी स्तुति की; पश्चात् णमो सिद्धाणं दूसरा पद है। सिद्धपद का अर्थ शरीररहित दशा। अकेला आत्मा अनन्त-अनन्त गुण की शक्ति से भरपूर तत्त्व प्रगटरूप दशा के अनुभव में होता है। अनुभव दशा पूरी हो जाये, उसे सिद्धदशा कहते हैं। वह अकेला आत्मा होता है, उन्हें दूसरा कुछ शरीर, वाणी, सम्बन्ध होता नहीं।

★ ★ ★

काव्य - ४

श्री सिद्धस्तुति

अविनासी अविकार परमरसधाम हैं।
समाधान सरवंग सहज अभिराम हैं।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत हैं।
जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत हैं।।४।।

शब्दार्थ:-सरवंग (सर्वांग)=सब आत्मप्रदेश। परमसुख=आत्मीय सुख। अभिराम =प्रिय।

अर्थ :- जो नित्य और निर्विकार हैं, उत्कृष्ट सुख के स्थान हैं, साहजिक शान्ति

१. जिनका प्रत्येक आत्मप्रदेश विलक्षण शान्ति से भरपूर है।

से सर्वांग सुन्दर[1] हैं, निर्दोष हैं, पूर्ण ज्ञानी हैं, विरोधरहित हैं, अनादि–अनन्त हैं; वे लोक के शिरोमणि सिद्ध भगवान सदा जयवन्त होवें।।४।।

काव्य-४ पर प्रवचन

अविनासी अविकार परमरसधाम हैं।
समाधान सरवंग सहज अभिराम हैं।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत हैं।
जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत हैं।।४।।

जो अविनाशी नित्य वस्तु है, भगवान आत्मा तो अनादि–अनन्त नित्य है। कहीं सत् की उत्पत्ति नहीं होती। अविनाशी है, वस्तु का कभी नाश नहीं होता। **उत्कृष्ट सुख के स्थान हैं,...** सिद्ध तो उत्कृष्ट सुख को प्राप्त हो गये हैं। अनादि है, अविनाशी है और उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति हो गयी, इसका नाम मुक्ति। संसार के दुःख का नाश और अनन्त आनन्द की प्राप्ति, इसका नाम मुक्ति। चार गति में भटकते हुए मात्र दुःख थे। उस दुःख का व्यय अर्थात् अभाव होकर आत्मा में पूर्ण आनन्द जो है, ऐसा प्रगट पूर्ण आनन्द हो जाना, इसका नाम मुक्ति, इसका नाम सिद्धपद, इसका नाम अशरीरी दशा है। कहो, समझ में आया?

'परमरसधाम' उत्कृष्ट सुख का स्थान है। परमरस अर्थात् परम सुख, समाधान। **साहजिक शान्ति से सर्वांग सुन्दर है। जिनका प्रत्येक आत्मप्रदेश विलक्षण शान्ति से भरपूर है।** ओहोहो! सिद्ध परमात्मा... आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं यहाँ। उन असंख्य प्रदेशों में शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति। जैसे बर्फ की शिला होती है। पाँच मण, दस मण की होती है मुम्बई में। बड़ी दस–दस मण की शिला होती है। यह भी एक शान्तरस की शिला है देह में भिन्न। कैसे बैठे? देह के रजकण, मिट्टी से भिन्न और पुण्य–पाप के विकल्प के मैल और दुःख से भिन्न अकेली शान्तरस की शिला, शान्तरस की शिला है, अरूपी शिला है। ऐसी अरूपी शान्तरस की दशा असंख्य प्रदेश में जिन्हें प्रगट हो गयी है, उन्हें परमात्मा और सिद्ध और अशरीरी कहा जाता है।

एक बार प्रश्न किया था, वे कैसे नहीं? वढवाणवाले। क्या कहलाते हैं? टी. जी. शाह। वढवाण, वढवाण शहर। टी.जी. शाह आये थे... कहे—सिद्ध भगवान अशरीरी हो तो किसी का करे या नहीं? क्या करें वे? कहा। कहा, कुछ नहीं करे किसी का। अपने स्वरूप का पूर्ण आनन्द जो था, वह प्रगट होकर अनुभव करते हैं। ऐसे हमारे किस काम के? हम यहाँ हैं तो किसी का करते हैं, (ऐसा) कहे। ऐई चिमनभाई! सब अभिमान के पुतले। कर देते हैं। धूल में भी करता नहीं, सुन न! कहे, कुछ करते नहीं? कहा, कुछ नहीं करते। यहाँ क्या करता है तू? यहाँ करे तो अज्ञान से राग, द्वेष और विकार करे। शरीर को, जड़ को हिला सकता है आत्मा? वह तो मिट्टी है। आहाहा!

वे सिद्ध भगवान किसी का कुछ नहीं करते? हम भी यहाँ ऐसे (सामान्य) होवे तो पच्चीस-पचास लोगों का ध्यान रखते हैं, रोटियाँ देते हैं इत्यादि-इत्यादि। ऐसा कहते हैं न लोग। करते होंगे या नहीं कुछ? यह तुम्हारी सब मशीनें चलें, रोटियाँ नहीं पूरी पाड़ते हो तुम सेठियाओं?

मुमुक्षु : बहुत मजदूर हों, जैसा कारखाना। १०० लोग।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी कौन देता था धूल को? वह तो पुण्य प्रमाण उसे मिलती है। दे कौन उसे?

मुमुक्षु : सेठिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल परन्तु सेठिया किसका? वह तो उसके स्वभाव का सेठ है, या विकार का सेठ है। या विकार करे, उसका सेठ और या विकार टालकर स्वभाव का भान करे, वह स्व का सेठ। बाकी हराम बात दूसरी हो तो। सेठ! उसकी सत्ता के बाहर में वह कहाँ जाता है? आहाहा!

सात-आठ हजार लोगों का निर्वाह करते हैं। धूल भी नहीं करता, सुन न अब। पावर चढ़ जाये मस्तिष्क में। पोपटभाई ने कहा था। दो अरब और चालीस करोड़। फट जाये न मस्तिष्क।

मुमुक्षु : कुछ नहीं फटता। छह खण्ड हो तो भी नहीं फटता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह छह खण्डवाला तो समकिती और ज्ञानी होते हैं कितने

ही... दो अरब... दो सौ चालीस लाख (करोड़), दो सौ चालीस करोड़, दो सौ चालीस करोड़। जीभ फट जाये अन्दर से बोलने में। धूल है, सुन न! वह तेरी कहाँ थी? वह तो जगत के पत्थर हैं। सबका निभाव कर देते हैं। फलाना करते हैं। एक व्यक्ति ने पूछा उसके बहनोई से, —अब किसलिए कमाते हो? परन्तु इतने पैसे हैं न? (वह) कहे, क्या हम कमाने के लिये करते हैं? सात, आठ, दस-दस हजार लोगों का पोषण होता है। बहुत अच्छी बात है। तू पोषता होगा? ऐसे वह कोई। कहो, सेठ! तुम्हारे तो बहुत हो न वहाँ बीड़ीवाले और वे बहुत दुकानें और बहुत लोग रखते होंगे। धूल भी रखता नहीं, कहते हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि आहाहा! परम समाधान। सिद्ध भगवान को सहज शान्ति से सर्वांग सुन्दर है। पुण्य, पाप के विकल्प हैं, राग है, वह अशान्ति है, आकुलता, कषाय है। समझ में आया? चिड़िया आदि होती है न? देखा है? बैठे हों तो भी ऐसे... ऐसे... पूरा शरीर कंपे। बहुत चपल होते हैं। कषाय है इतना अन्दर बहुत। छोटे में छोटा चिड़ा होता है न, उसके पैर कंपाते ही रहते हैं। चपल, चपल, चपल। वैसे ही बन्दर यूँ ही बैठा-बैठा बन्दर चपल... चपल आँखें और सब हाथ और सब ऐसे, ऐसे हुआ करते हों। ऐसे-ऐसे हुए करते हों। इसका अर्थ कि अन्दर कषाय, इतनी कषाय है अन्दर राग और द्वेष, कि जिसकी चेष्टा शरीर में भी बाहर दिखती है। इसी प्रकार जिन्हें कषाय टल गयी है। शान्त, सर्वांग-शान्त, असंख्य चैतन्य के प्रदेश में निज क्षेत्र से असंख्य प्रदेश में समाधान, **सहज अभिराम है...** शान्ति है। सर्वांग सुन्दर... सुन्दर... सुन्दर... आत्मा के अंग, हों! शरीर के, जड़ के, जड़ के नहीं। आहाहा!

घड़ीक में हो जाता है, घड़ीक में हो जाता है। कल बेचारे आये थे न, देखो न! वे भाई। आहाहा! भावनगर से। ३०-३२ वर्ष की उम्र होगी। बहुत चल सके नहीं। क्षय (टी.बी.) का असर हो गया लगता है बाई को। शरीर कितना रूपवान और कितनी जवान अवस्था। दस-बारह वर्ष हुए होंगे विवाह को। सब होकर हाय.. हाय... हाय! वह तो परमाणु की पर्याय होनेवाली हो वह हुए बिना रहती ही नहीं। तेरे रखने से क्या रहते थे? हम बहुत ध्यान रखते हैं न! वह रखे न अलमारी, अलमारी अनेक दवायें हों। अमुक तो ऐसा, फलाना तो ऐसा, फलाना तो ऐसा। बिच्छू काटे तो वह क्या? ढेले का टुकड़ा।

मुमुक्षु : ढेले का टुकड़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब कहते हैं, सुना हुआ है, अपने कहाँ वहाँ... अमुक दवा यह है, उसके ऊपर ऐसा, उसके ऊपर ऐसा है। गोली काम नहीं करती, सुन न! परमाणु (स्वतन्त्ररूप से) बदलेंगे।

ऐसे देखो न! कल देखने पर, आहाहा! बेचारे कैसे हो गये। भायाणी भावनगर, नहीं? हीरालाल का पुत्र आया था यहाँ बेचारा। बाई बेचारी... मुश्किल से उठाकर लाये। अरे बहिन! उलझो नहीं। बापू! क्या हो कहा इसमें? आहाहा! उसे ऐसा हुआ मानो हाय... हाय! क्या होगा? मुश्किल-मुश्किल से ... शरीर जीर्ण हो गया एकदम। मुश्किल से उठाकर लाये। बैठे थे तो मांगलिक सुनने को खड़े न हो सके। ३२ वर्ष की जवान महिला है। यह शरीर बदले तब कहीं तेरा विचारा हुआ नहीं होता वहाँ धूल भी। यह तो मिट्टी है और परवस्तु है। परवस्तु को कैसे रहना, वह तेरी सावधानी से रहती होगी?

मुमुक्षु : बिल्कुल नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : समाधान अन्तर में... आहाहा! देखो, क्या भाषा प्रयोग की है!

समाधान सरवंग सहज... शान्ति... शान्ति... शान्ति... असंख्य प्रदेश में। 'उपशमरस बरसे रे प्रभु तेरे नयन में...' आता है न? 'उपशमरस बरसे रे प्रभु तेरे नयन में।' अन्दर में शान्त शिला, अविकारी दशा प्रगट हो गयी है। शीतलता... शीतलता... शीतलता... शीतलता। जैसे बर्फ शीतल शिला होती है, उसी प्रकार आत्मा विकाररहित की दशा परमात्मा की हुई, ऐसी शीतल शिला हुई, ऐसा ही मेरा स्वभाव है और उसे मैं प्रगट करके तुम्हारे जैसा होऊँ, इसलिए मैं स्तुति करता हूँ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सर्वांग सुन्दर शान्ति है, हों! स्वाभाविक शान्ति से, ऐसा। कृत्रिम शान्ति ऊपर की करे, ऐसा हमको मजा है और धूल है। कुछ नहीं होता। होली (सुलगती है)। अन्तर में शान्ति, अकषाय के अंकर फूटने पर जहाँ आत्मा रेलमछेल शान्ति से भर गया। हे प्रभु! आप सर्वांग सुन्दर हो गये हैं। आहाहा!

सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध... आप तो महा शुद्ध हो, निर्दोष हो, बुद्ध हो, पूर्णज्ञानी हो, अविरोध हो—विरोधरहित है। विकल्प में राग की वृत्ति—दूसरे को तिराना, ऐसा

विकल्पमात्र भी जिन्हें नहीं है, ऐसी दशा जहाँ प्रगट हुई है, उसे परमात्मा और उसे भगवान कहा जाता है। समझ में आया? जिसे-तिसे भगवान और परमात्मा मानकर सिर फोड़ता है, उसके सामने यह वर्णन करते हैं कि परमात्मा ऐसे होते हैं। '**सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि-अनन्त हैं।**' अनादि अनन्त वह तो आत्मा है। वह वस्तु अनादि-अनन्त है। पर्याय प्रगट हो तब भी ऐसी की ऐसी वापस सादि-अनन्त रहती है। यहाँ समुच्चय सिद्ध की बात है न? सिद्ध भी अनादि-अनन्त हैं जगत में।

मुमुक्षु : जगत अनादि-अनन्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैसे संसारी अनादि के हैं, वैसे सिद्ध भी अनादि के हैं, शरीररहित आत्मायें भी अनादि के हैं। पूरा गाडा जैसे हो... पीछे के भाग को क्या कहा जाता है वह?

मुमुक्षु : ठाठुं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठाठुं और मुख का भाग। वह गाड़ा कहने पर दोनों साथ ही होते हैं। इसी प्रकार जगत कहने पर अशरीरी जीव और शरीर सहित संसारी वे अनादि के साथ ही होते हैं। पहले-पश्चात् होते (नहीं)। आहाहा!

अब जरा सूक्ष्म बात डाली। अनादि-अनन्त है। सिद्ध भी अनादि-अनन्त है। भटकनेवाले प्राणी भी अनादि के हैं और कितने ही तो अनन्त काल ऐसे के ऐसे भटकेंगे। सिद्ध भगवान शरीररहित हुए, सर्वांग शान्ति प्रगट हुए जीव भी अनादि-अनन्त हैं। समझ में आया? **वे लोक के शिखामणि सिद्ध भगवान सदा जयवन्त होवें।** '**जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवन्त हैं।**' लोक के अग्र में विराजमान हैं। चौदह ब्रह्माण्ड है, उसके अग्र में ऊपर लोक में। पश्चात् खाली जगह है। पश्चात् खाली... खाली... खाली... खाली... खाली... खाली... खाली... खाली का अन्त नहीं कहीं। चौदह ब्रह्माण्ड असंख्य योजन में है।

मुमुक्षु : धर्मास्तिकाय नहीं, इसलिए क्या करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्मास्तिकाय नहीं, इसलिए क्या करे? यह तो इनका स्वभाव ही ऐसा है। खाली भाग आकाश होता है न! यह तो अमुक क्षेत्र असंख्य योजन में है

चौदह राजू में। ऐसे एक राजू है, ऐसे चौदह राजू हैं। फिर खाली जगह है। खाली... खाली... खाली... खाली... खाली। अपार, जिसका कहीं पार नहीं होता। ऐसे का ऐसा आकाश... आकाश... आकाश... आकाश... आकाश चलता जाता है। उसमें सिद्ध भगवान लोक के अग्र में हैं। चौदह ब्रह्माण्ड है, उसके अग्र में है, इसलिए उन्हें जगत में शिरोमणि कहा है। लो! लोक का शिखामणि है शिखामणि। आहाहा!

मणि, मणि नहीं रखते? बड़े कलैयां। राजा-माजा विवाह करे तब बड़े रखते हैं न तुर्रा मोटा। क्या कहलाता है? लाखों के किये हुए मणिरत्न की कलगी। ऐसे जगत के कलगिरी हैं वे सिद्ध। चौदह ब्रह्माण्ड लोक में ऊपर है, ठेठ अन्त में। जैसे धुँआ होकर ऊँचा ही जाता है, उसी प्रकार शरीर रहित आत्मा की पूर्णा दशा हुई वे ऊपर ही जाते हैं। खाली जगह में वहाँ आनन्द, अपने पूर्ण आनन्द में रमते हैं। वहाँ कोई सेवक-सेविका नहीं है। वहाँ रोटियाँ, दाल और...

मुमुक्षु : रांधण....

पूज्य गुरुदेवश्री : रांधण। रांधण भी है वहाँ।

मुमुक्षु : जानने के लिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा था वहाँ वे लालन पण्डित... पण्डित लालन थे न। ९५ वर्ष में गुजर गये। १६ वर्ष से ९५ वर्ष तक अभ्यास ही किया शास्त्र का। यह सब शास्त्र का क्या, कुशास्त्र का सब ही। १६ वर्ष की उम्र से ९५ वर्ष। लालन थे श्वेताम्बर के एक पण्डित। अपने यहाँ रहते थे। १२ महीने रहे। (संवत्) २००९ में गुजर गये। २००९ के वर्ष में। १६ वर्ष की उम्र से ९५ वर्ष तक शास्त्र पढ़े। अकेले शास्त्र,... शास्त्र,... शास्त्र,... शास्त्र,... दस हजार और कितने ही। एक बार विचार आया उन्हें कि... भगवान होकर परमात्मा तो रांधण चाहिए है गर्म-गर्म। चावल और मूँग की दाल हो लचका। वह क्या कहलाता है? यह चूलो तुम्हारा... नाम भूल गये। चूल्हे के अडोल में नीचे अग्नि को वह। ओसामण (रांधण) गर्म-गर्म, गर्म-गर्म रखे तो गर्म-गर्म दे। रांधण की आदत पड़ गयी है। रांधण मिले या नहीं भगवान में (मोक्ष में)? तो अपने भगवान होना है।

मश्करी (मजाकिया) थे न, मजाकपसन्द थे। ९५ वर्ष की उम्र। फिर कहे,

...ठीक, वहाँ तो रांधण है। किस प्रकार? कि जगत और तीन काल, तीन लोक का ज्ञान उन्हें है। उन्हें रांधण का ज्ञान तो वहाँ है, इसलिए रांधण है वहाँ, चलो। यहाँ भी क्या रांधण खाता है कहीं? पत्थर, मिट्टी, जड़, धूल है। परन्तु देखता है इतना कि ज्ञान होता है। अच्छी-बुरी कल्पना करे, बाकी गर्म रांधण खाता है? रांधण छूता है आत्मा को? आत्मा तो अरूपी है। ठीक, रांधण है सही तब तो। ठीक, अब भगवान होने में दिक्कत नहीं, जाओ। सेठ! एक पण्डित थे। गुजर गये (संवत्) २००९ के वर्ष में। यहाँ बारह महीने रहे थे। बहुम मजकिया थे।

अनादि-अनन्त सिद्ध भगवान लोक के शिखामणि सदा जयवन्त हो, सदा जयवन्त रहो। अब साधु की स्तुति। अरिहन्त की स्तुति की, पहली पार्श्वनाथ भगवान की। दूसरी सिद्ध भगवान की स्तुति। पहिचान कराते हैं, देखो! ऐसे अरिहन्त और ऐसे सिद्ध होते हैं। ऐसे सच्चे अरिहन्त और सच्चे सिद्ध इन्हें कहते हैं। (अन्यमति) नाम दे भगवान का और अन्न खाये और वापस खाये-पीये और मजा करे, घोड़ियाँ हो और स्त्री हो और कहे यह सिद्ध भगवान है। ऐसा नहीं होता। समझ में आया?

★ ★ ★

काव्य - ५

श्री साधुस्तुति

ग्यानकौ उजागर सहज-सुखसागर,
सुगुन-रतनागर विराग-रस भर्‌यौ है।
सरनकी रीति हरै मरनकौ न भै करै,
करनसौं पीठि दे चरन अनुसर्‌यौ है।।

---

१. जो आत्मजनित है, किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं होता।

२. यह कर्मों की लड़ाई क्रोध आदि कषायों के उद्वेग रहित होती है।

३. हृदय में दर्शन करने का अभिप्राय है।

धरमकौ मंडन भरमको विहंडन है,
परम नरम ह्वैकै करमसौं लर्‌यौ है।
ऐसौ मुनिराज भुवलोकमैं विराजमान,
निरखि बनारसी नमसकार कर्‌यौ है।।५।।

शब्दार्थ:-उजागर=प्रकाशक। रतनागर (रत्नाकर)=मणियों की खानि। भै (भय)= डर। करन (करण)=इन्द्रिय। चरन (चरण)=चारित्र। विहंडन=विनाश करनेवाला। नरम= कोमल अर्थात् निष्कषाय। भुव (भू)=पृथ्वी।

अर्थ :- जो ज्ञान के प्रकाशक हैं, साहजिक आत्मसुख[1] के समुद्र हैं, सम्यक्त्वादि गुणरत्नों की खानि हैं, वैराग्य-रस से परिपूर्ण हैं, किसी का आश्रय नहीं चाहते, मृत्यु से नहीं डरते, इन्द्रिय-विषयों से विरक्त होकर चारित्र पालन करते हैं, जिनसे धर्म की शोभा है, जो मिथ्यात्व का नाश करनेवाले हैं, जो कर्मों के साथ अत्यन्त शान्तिपूर्वक[2] लड़ते हैं; ऐसे साधु महात्मा जो पृथ्वीतल पर शोभायमान हैं, उनके दर्शन[3] करके पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।।५।।

काव्य-५ पर प्रवचन

साधु की स्तुति

ग्यानकौ उजागर सहज-सुखसागर,
सुगुन-रतनागर विराग-रस भर्‌यौ है।
सरनकी रीति हरै मरनकौ न भै करै,
करनसौं पीठि दे चरन अनुसर्‌यौ है।
धरमकौ मंडन भरमको विहंडन है,
परम नरम ह्वैकै करमसौं लर्‌यौ है।
ऐसौ मुनिराज भुवलोकमैं विराजमान,
निरखि बनारसी नमसकार कर्‌यौ है।।५।।

देखो, साधु के ऐसे गुण होते हैं, उनकी पहिचान कराते हैं।

मुमुक्षु : इसमें २८ मूलगुण तो कहीं आये नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : अब उसकी बात भी नहीं इसमें, यह तो अन्तर गुण की बात है। २८ गुण तो राग है। वे वन्दनीय हैं? पंच महाव्रत के विकल्प उठे, वह वन्दनीय है? वह तो राग है। वन्दनीय तो अन्तर की दशा अमृत का रेला अन्दर से निकले हैं, प्रगट हुए हैं। साधु—स्वरूप को साधे, वह साधु। राग को साधे? संयोग को साधे? वह तो अज्ञानी है। भगवान सच्चिदानन्द आनन्द का धाम प्रभु अनन्त, अनन्त शान्ति और शुद्धता के स्वभाव का समाज का सागर भगवान स्थित है। उसके स्वरूप को निर्विकल्प शुद्धता से साधे, उसे साधु कहते हैं। आहाहा!

'ग्यान कौ उजागर' ओहोहो! **जो ज्ञान के प्रकाशक हैं,...** ज्ञान का प्रकाशक, आत्मा परम पवित्र शुद्ध, उसका वह प्रकाशक है। दया पालनेवाला है और बोध देनेवाला है, ऐसा नहीं कहा इसमें। वह तो जड़ की क्रिया है भाषा, वह तो (जड़ की क्रिया है)। ज्ञान का उजागर है, वह तो ज्ञान को प्रकाशित करता है। कहो, समझ में आया? ज्ञान का उजागर—प्रकाशक है, ऐसा कहते हैं। चाहे तो विकल्प हो या न हो, वह तो ज्ञान का प्रकाश करनेवाला साधु है। चैतन्यबिम्ब चैतन्यचमत्कार प्रकाशित करनेवाले हैं। शुद्ध उपयोगी होते हैं न मुनि। **सहज-सुखसागर...** आहाहा! देखो तो सही! साधु को ही ऐसे... **साहजिक आत्मसुख के समुद्र हैं,...** साहजिक का अर्थ किया नीचे। **जो आत्मजनित है, किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं होता।** यह पर से सुख की कल्पना जो करता है, इस पैसे में, स्त्री में, परिवार में, वह तो धूल की पर में कल्पना करता है। वह सुख नहीं है, वह तो दु:ख है। भगवान साहजिक सुख, स्वाभाविक आनन्द का धाम भगवान, उसमें से प्रगट हुआ सुख है। देखो यह साधु! आहाहा!

साहजिक आत्मसुख का समुद्र है। समुद्र के मध्य बिन्दु में से जैसे पानी उछलकर किनारे ज्वार आता है, उसी प्रकार साधु अन्तर स्वरूप के ध्येय को पकड़ता हुआ, अन्तर के आनन्द के हुलास वर्तमान दशा में किनारे आते हैं। वर्तमान दशा के—पर्याय के किनारे हुलास सुख का सागर आता है। आहाहा! देखो तो व्याख्या! समझ में आया? **सहज-सुखसागर...** स्वाभाविक सुख का सागर है। आहाहा! समुद्र प्रस्फुटित हुआ है,

कहते हैं। **सुगुन-रत्नाकर...** अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुण के रत्नाकर, रतन का आकर—समुद्र है। अरे! ऐसा आत्मा लोगों को सुना जाये नहीं।

एक लड़का कहे, परन्तु (आत्मा) दिखता तो नहीं। बापू! दिखता नहीं, परन्तु वह ही दिखता है।

मुमुक्षु : चौबीसों घण्टे दिखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जहाँ हो वहाँ वह अपनी अस्ति न हो तो यह... यह... यह... यह... यह—ऐसा निश्चित कौन करे? और जाने कौन? अपनी जहाँ मुख्यता आनन्द और ज्ञान की न हो तो यह राग है, यह शरीर है—ऐसा किसने जाना? किस भूमिका में ज्ञात हुआ? जहाँ-तहाँ आत्मा ही ज्ञात होता है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु उसके सामने नजर नहीं होती। पर के सामने नजर, इसलिए इसे ऐसा लगता है कि यह ज्ञात होता है, यह ज्ञात होता है।

यहाँ तो कहते हैं, **सुगुन-रत्नाकर**—अनन्त-अनन्त गुणों का रत्नाकर। है न? आहाहा! **सम्यक्त्वादि गुणरत्नों की खानि हैं,...** अर्थ किया है। सम्यक्त्व दर्शन, आत्मदर्शन की प्रतीति, आत्मा का ज्ञान, आत्मा की रमणता, आत्मा की शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान—ऐसे गुणों की खान आत्मा है। आनन्द का कर्ता, आनन्द का कर्म, आनन्द का साधन, आनन्द का दान स्वयं दे, ऐसी गुण की शक्ति से भरपूर भगवान साधु हैं। आहाहा! धन्य अवतार है न, देखो न यह! यह सफल अवतार कहलाता है जन्मकर। मनुष्य अवतार धारण किया और वापस वह का वह ढ़ोर के जैसा लक्षण। 'मनुष्य स्वरूपे मृगा चरंति' मनुष्य के रूप में मृग है। साधु तो ऐसे होते हैं, आहाहा! जिनका जन्म सफल हुआ। जिन्होंने अनन्त जन्म-मरण को अफल कर दिये। आहाहा!

कहते हैं, अरे! समकित आदि गुणरत्नों की तो खान है। अनन्त-अनन्त शान्ति रत्न, सम्यक्त्व निकाला ही करे तो निकला ही करे, ऐसी खान आत्मा है, ऐसे साधु हैं, कहते हैं। आहाहा! देखो! यह अकेले गुण से वर्णन किया है। ऐ चेतनजी! पाँच महाव्रत पाले, २८ मूलगुण पाले, ऐसा लिखा है इसमें? (२७ वर्ष हुए), उसमें भी कहीं ठिकाना

नहीं। आहाहा! भाई! इसने ऐसा साधुपद सुना नहीं। ऐसा साधुपद वीतरागमार्ग में होता है। वीतरागी चैतन्यप्रभु, उसके गुणरत्न का सागर प्रभु प्रस्फुटित हो निकला है अन्दर। समझ में आया? गुण का रत्नाकर, खान है। आहाहा!

और वैराग्यरस भरा है। देखो! यह गुण की अस्ति से बात की। वैराग्य.. वैराग्य... पूरे जगत से उदास हैं। वैराग्य रस... है न? **वैराग्य-रस से परिपूर्ण हैं,...** उदास... उदास... पूरी दुनिया से उदास। किसी चीज़ में मैं नहीं। कोई चीज़ मुझमें नहीं। मुझमें है वह पर में नहीं। पर से उदास, उदास। किसी से प्रसन्न नहीं होता। किसी से मुरझाता नहीं। आहाहा! कमलातो नहीं समझ में आया? कुम्हला जाना, यह भाषा करमावुं, करमावुं।

मुमुक्षु : ढीला पड़ जाये, मुरझाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुरझाना। वह हरी सब्जी होती है न, मुरझा जाये, कुम्हला जाये। इसी प्रकार मुनिराज वीतराग दशा जहाँ प्रगट हुई है। केवलज्ञान भले अभी हुआ नहीं। किसी से मुरझाता नहीं अर्थात् दु:खी नहीं होता, किसी से प्रसन्न नहीं होता—ऐसे वैराग्यरस से भरपूर है। आहाहा!

जिनकी देह में अमृतरस दिखाई दे, जिनकी वाणी में अमृत झरे। आता है न भाई? 'मुखचंद्रतै अमृत झरे...' छहढाला। भाई को पूरा मुखाग्र है। 'मुखचंद्रतै अमृत झरे...' आहाहा! अमृत तो वाणी को कह दिया, परन्तु वह अमृत है न भान, (इसलिए) उस वाणी को अमृत कह दिया। आहा! देखो! ऐसे साधु की हम स्तुति करते हैं। समयसार नाटक बनाने से पहले ऐसे अरिहन्त, सिद्ध और साधु—उन्हें हम याद करके समयसार कहेंगे, ऐसा कहते हैं।

विवाह के प्रसंग में भी प्रिय पुत्र हो या प्रिय पुत्र की बहू हो या न हो? याद करे न। अरे! इसमें आये नहीं, हों! बहुत दूर पड़ा। क्या कहलाता है वह? अफ्रीका बहुत दूर पड़ा। अरे! विवाह में नहीं पहुँचे, हों! बेचारे आनेवाले थे, क्या हुआ होगा? याद करते हैं या नहीं उसमें?

मुमुक्षु : माँ बहुत करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत करे। अरे! लड़का आया नहीं, हों!

मुमुक्षु : अच्छा खाने को मिले, गले उतरे नहीं, याद आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : याद आवे, सच्ची बात। वह तो राग के लक्षण हैं, सब। ऐई!

यह तो वीतराग, आहाहा! प्रभु! हम समयसार नाटक लिखते हैं। प्रभु! आपको याद करके लिखते हैं, हों! आपके गीत इसमें आयेंगे, इसलिए आपकी स्तुति करके लिखते हैं। विवाह में लिखते हैं या नहीं? तुम्हारे आने से यहाँ मण्डप की शोभा बढ़ेगी। नहीं लिखते? इसलिए जल्दी पधारना। रमणभाई! सब गप्प-गप्प स्वार्थ के पुतले। यह तो निस्वार्थ हो। हे नाथ! हमारे स्वरूप का विवाह लगा, इसमें प्रभु! आप पधारो यहाँ। हम उसकी लगन लगाकर यह शास्त्र रचते हैं। पधारो... पधारो... पधारो, प्रभु! कहते हैं, यह तो वैराग्य के रस से परिपूर्ण हैं।

किसी का आश्रय नहीं चाहते,... 'सरन की रीति हरै' वे किसी का शरण नहीं लेते। आहाहा! अपना आत्मा आनन्दस्वरूप शरण जहाँ है, उसे शरण किसका है? श्रावक माता-पिता जैसे हैं। अच्छे आहार-पानी दे तो निभे। —ऐसा शरण-बरण धर्मी किसी का चाहते नहीं।

मुमुक्षु : निःकांक्षितपना।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! **'सरन की रीति हरै'** ऐसा कहते हैं। **किसी का आश्रय नहीं चाहते।** भाई! ऐसा मुनिपना है। कुछ हमको सहायता देना, आहाहा!

एक व्यक्ति ने दीक्षा ली थी। बहुत वर्ष की बात है। (संवत्) १९६७ की बात है। दीक्षा ली, थोड़ा बहुत पैसा... ओखली—दस्ता रखने अपने। कहे, उसमें पैसा डालना। किसी दिन बाद में काम आयेंगे साधुपना में। खांडणी समझे न? यह खांडनेवाली चीज़ नहीं? नहीं समझते? लोहे की ओखली और दस्ता। साधु हो तो सोंठ चाहिए हो तो कहाँ लेने जाना? भावनगर में (संवत्) १९६७ की बात है। १९६७। भाई ने दीक्षा ली थी। ऐसा करना साथ में, हों! पैसा है, कहे, उन्हें उपाश्रय में रख देना। अपने हो तो काम आवे। अभी एकान्त में दस्ता रखना और ऐसे साधु। उन्हें भी माननेवाले मिलते हैं न सब।

मुमुक्षु : भूत को पीपल मिल जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं कि यहाँ तो किसी का शरण नहीं। शरण आनन्दकन्द

प्रभु सच्चिदानन्द आत्मा, उसकी शरण ली, अब व्यवहार विकल्प का शरण भी नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! देखो तो एक... बनारसीदास श्रृंगार के (काव्य) बनाते थे तब ऐसे बनाये और वैराग्य के (काव्य) बनाये तब ऐसे बनाये। गुलांट खा गये। कहते हैं, किसी का आश्रय नहीं। किसी का शरण नहीं, शरण अपना है। '**मरन कौ न भय करै**' उस मृत्यु का जिन्हें भय नहीं। **मृत्यु से नहीं डरते**। आहाहा! मृत्यु किसकी? अनादि-अनन्त भगवान आत्मा का नाश नहीं होता। उसकी पर्याय में निर्मलता है, उसका नाश नहीं होता। मृत्यु किसकी?

देह तो संयोग से है, देह छूट जाती है। समझ में आया इसमें कुछ? मृत्यु किसकी? मरण से डर नहीं। काला नाग आवे, सिंह ऐसा केसरिया सिंह, जहाँ सामने देखे वहाँ हाय... हाय... हाय... हाय! किसे खाये? अरूपी सच्चिदानन्द आत्मा को कौन खाये? उसे कौन स्पर्श करे? मृत्यु को जिसे डर नहीं। समझ में आया? भय नहीं। निर्भय। निःशंक में वह आता है न? 'निर्भय' पहला, समकित का पहला गुण है। मृत्यु से डरते नहीं। निर्भय है न! मरण का... मरण भय नहीं।

मुमुक्षु : सात भय में मरण भय।

पूज्य गुरुदेवश्री : सात भय आते हैं न? मरण भय नहीं (जिसे), उसे मुनि कहते हैं। आहाहा!

इन्द्रिय-विषयों से विरक्त होकर चारित्र पालन करते हैं,... देखो! क्या कहते हैं? '**करन सौं पीठी दे**' '**करन**' अर्थात् इन्द्रियाँ। करण अर्थात् इन्द्रियाँ, उन्हें पीठ दे। पीठ देते हैं। अनादर—उनका आदर नहीं करते। '**चरन अनुसरयौ है**' चारित्र, आत्मा की शान्ति को उन्होंने अनुसरण किया है। ...भाषा है न!

'**करन सौं पीठी दे चरन अनुसरयौ है। धरम कौं मंडन भरम को विहंडन है**' धर्म को तो स्थापित करनेवाले हैं। **जिनसे धर्म की शोभा है,...** आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के रस में झूलते सन्त, वे जगत की शोभा है, कहते हैं। समझ में आया? उनके कारण धर्म की शोभा है। आहाहा! मकान में श्रृंगार करते हैं न? सींग और हिरण बड़े, अमुक, ढींकणा, वह शोभावाला घर कहलाता है। धूल में भी नहीं शोभा। वहाँ जब मरे न

ऐसे... ऐसे, हाय... हाय... ! एक व्यक्ति २५-३०वर्ष का जवान था। मरता था। आहाहा! देखा था, वहाँ पालेज में दुकान के साथ में था। बहुत जोर, शरीर में इतना जोर कि दूसरे पच्चीस लोग-व्यक्ति हों... ऐसा जोर था। मित्र था पाटीदार का लड़का। मरने पड़ा, आहाहा! मकान और बँगला देखकर हाय... हाय! विवाहित था पाटीदार। यह संसार, कहते हैं।

यहाँ कहते हैं, वह तो धर्म की शोभा, मुनि तो शोभा। आहाहा! '**धरम कौं मंडन**' मण्डन—स्थापित करनेवाला, ऐसा। वह मण्डन अर्थात् शोभा... '**धरम कौं मंडन**' और '**भरम को विहंडन**'।

मुमुक्षु : भ्रमणा का नाश करनेवाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : भ्रमणा का तो नाश करनेवाला, मिथ्यात्व का नाश करनेवाला है। भ्रमणा कैसी ? इन्द्र में सुख है, यह पुण्यवाले हैं इसलिए अच्छे हैं, ऐसी भ्रमणा कैसी उन्हें ? आहाहा! भ्रमणा का तो नाश करनेवाले हैं। ऐसे साधु को, बनारसीदास कहते हैं कि मैं समयसार नाटक रचने में स्तुति करके यह शुरुआत मंगलाचरण करता हूँ।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३, पौष कृष्ण ८, मंगलवार, दिनांक १९-१-१९७१
काव्य—५, ६, ७

समयसार (नाटक) मंगलाचरण चलता है। पाँचवाँ है। पाँचवाँ है, पाँचवाँ पद। साधु की स्तुति। पहले अरिहन्त भगवान की स्तुति की, पश्चात् सिद्ध भगवान की स्तुति की। अब साधु की।

ग्यानकौ उजागर सहज-सुखसागर,
सुगुन-रतनागर विराग-रस भर्‌यौ है।
सरनकी रीति हरै मरनकौ न भै करै,
करनसौं पीठि दे चरन अनुसर्‌यौ है।
धरमकौ मंडन भरमको विहंडन है,
परम नरम ह्वैकै करमसौं लर्‌यौ है।
ऐसौ मुनिराज भुवलोकमैं विराजमान,
निरखि बनारसी नमसकार कर्‌यौ है।।५।।

ऐसे साधु को यह समयसार नाटक रचना करने से पहले मैं नमस्कार करके स्तुति करता हूँ और फिर साधुपना कैसा होता है, यह भी बतलाते हैं। **ग्यानकौ उजागर...** आत्मा ज्ञानानन्द है, उसका प्रकाश—उद्योत करनेवाले हैं। चैतन्यसमुद्र ज्ञायकस्वभावभाव, उसका वे प्रकाशन करनेवाले—उद्योत करनेवाले, उन्हें साधु कहते हैं। अन्तर चैतन्य भगवान पूर्ण ज्ञानस्वभाव से भरपूर है, उसे ज्ञान का वे प्रकाश करनेवाले—उद्योग करनेवाले हैं। राग की क्रिया या पर की प्ररूपणा करते हैं, यह बात यहाँ नहीं ली है, क्योंकि वह कोई वन्दनीय नहीं। वह तो यह चीज़ बाह्य (उपाधि) हो। उसे साधु कहते हैं कि जो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्य का पूर, उसे प्रकाशित करते हैं, विकसित करते हैं, उद्योत करते हैं, अर्थात् कि अन्तर में एकाग्र होकर उस ज्ञान को विशेष उज्ज्वलित करते हैं, निर्मल करते हैं, ऐसा कहते हैं। **सहज सुखसागर...** ज्ञान और आनन्द दो पहले लिये। स्वाभाविक आत्मा आनन्द का सागर है, उसे वे स्वयं अनुभव करते हैं और उसे वेदते हैं। उसे साधु कहते हैं।

संसारी उसे कहते हैं कि जो राग को, द्वेष को, अज्ञान को वेदे, वह संसारी। पुण्य-पाप के भाव, विकारी मलिन भाव को वेदे, अनुभव करे, वह संसारी, अज्ञानी।

मुमुक्षु : दुःखसागर है वह तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख का सागर ही है। धूल में भी नहीं कहीं सुख। मूढ़ मानकर बैठा है। समझ में आया? दुःख के सागर में डूबा है अज्ञानी, संसारी प्राणी। भगवान आनन्दस्वरूप है, इसकी उसे खबर नहीं। यह तो स्वाभाविक आत्मा जो अन्दर में आनन्दस्वरूप है, उसका तो समुद्र—सागर जिसकी वर्तमान पर्याय अर्थात् अवस्था में किनारे सागर उछल गया है, ऐसा कहते हैं। दो मुख्य (गुण) कहे।

फिर '**सुगुन-रतनाकर....**' ऐसे अनन्त-अनन्त सम्यग्दर्शन आदि गुणों का रत्नाकर अर्थात् समुद्र आत्मा है, उसे साधु कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? '**सुगुन-रतनाकर....**' समकित, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्शान्ति, स्वच्छता, वीतरागता—ऐसी जो शक्तियाँ हैं, उन्हें जिसने अन्दर प्रगट किया है, ऐसे सुगुणों का रत्नाकर है। आहाहा! ऐसा आत्मा! आत्मा की खबर नहीं होती कि आत्मा कैसा है? कौन है? कैसे है? होओ साधु, होओ धर्मी। कहाँ से धर्मी होता होगा? वस्तु स्वभाव में अनन्त चैतन्य रत्नाकर से भरपूर भगवान आत्मा, उससे प्रगट करके जिसने अनेक रत्न प्रगट किये हैं, पर्याय में—हालत में—किनारे दशा में। यह अस्ति से बात की।

वैराग्यरस भरा है। पर से उदासरूप से, वैराग्य के रस से सन्त भरे हुए हैं, जिन्हें इन्द्र की इन्द्राणियाँ आवे तो भी जिन्हें विकल्प नहीं उठता, ऐसा आनन्दरस और वीतराग रस में स्थित हैं। यह साधु। '**सरनकी रीति हरै**'... शब्द है न? किसी का आश्रय नहीं। परआश्रय... स्वरूप भगवान आत्मा, अपरिमित—मर्यादा रहित अनन्त गुणों का सागर है। उसकी जिसने शरण ली है, उसे कोई बाह्य के शरण की आवश्यकता नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह गृहस्थ तो जिस-तिस की शरण ले, पैसेवाले हों, उनकी नौकरी करने के लिये, यह करने के लिये, धूल करने के लिये। यह तो कहते हैं कि जिसे कोई बाह्य शरण नहीं, बाहर का आश्रय चाहनेवाले नहीं। अन्तर स्वरूप जिसे आनन्द की खिलावट हो गयी है। कमल की कली जैसे खिले, वैसे जिसे आत्मा आनन्द और अनन्त

गुण से खिलकर शरणभूत प्रगट हुआ है। लो, यह शरण। आहाहा! बाकी बाहर के सब अशरण है।

'अरिहंता शरणम्, सिद्धा शरणम्' आता है न? 'साहू शरणम्, केवलीपण्णत्तो धम्मो शरणम्।' अन्तर स्वरूप की शरण जिसे प्रगट हुई है, जिसका पूरा खजाना अनन्त गुण का, संख्या से अनन्त गुण का खजाना खिलकर प्रगट हुआ है, उसे पर शरणभूत नहीं। अपना स्वभाव शरण है। पर की जिसे चाहना नहीं, उसे साधु कहते हैं। समझ में आया? '**मरणकौ न भै करे...**' मरण का डर नहीं। देह आज छूटे या चाहे जब छूटे। वह छूटी हुई चीज़ दूसरी ही है, उसे और मुझे कुछ लेना-दना नहीं। वह तो जड़ है, मिट्टी है। जगत के अजीवतत्त्व जड़रूप होकर रहे हुए हैं। उसकी स्थिति पूरी हो, उसके साथ मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

'**मरणकौ न भै करे...**' श्रीमद् में भी आता है न? —

'एकाकी विचरूँगा कब श्मशान में
अरु पर्वत में बाघ सिंह संयोग जो
अडोल आसन अरु मन में नहीं क्षोभ हो,
परम मित्र का मानो पाया योग जो।

श्रीमद् राजचन्द्र गृहस्थाश्रम में आत्मा के भान—अनुभवी, वे भी साधुपद की भावना भाते हैं। 'अडोल आसन अरु मन में नहीं क्षोभ हो...' सिंह आया और शरीर ले जाये। मुझे चाहिए नहीं, उसे चाहिए तो वह मेरा मित्र है। आहाहा! समतारस में झूलते सन्त ऐसे होते हैं। समझ में आया? 'परम मित्र का मानो पाया योग जो, अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा।' ऐसी सन्त की दशा हमको कब प्रगट होगी, ऐसी धर्मी गृहस्थाश्रम में रहे होने पर भी भावना भाता है। यहाँ तो कहते हैं कि जिसे साक्षात् ऐसी दशा प्रगट हुई है। जिन्हें मरण का डर नहीं।

'**करण सौं पीठी दे...**' करण अर्थात् इन्द्रियाँ। पाँचों इन्द्रियों को जिसने पीठ दे दी है। वहाँ से विमुख हो गया है। आहाहा! और '**चरण अनुसरयो है...**' अतीन्द्रिय आनन्द का, शान्तिस्वभाव का चारित्र जिसने आदर किया है। आहाहा! यह इन्द्रियाँ जड़, मिट्टी, अन्दर खण्ड-खण्ड इन्द्रिय, एक-एक इन्द्रिय के अंश से एक-एक विषय ज्ञात हो, वह

भी पर है। उसे छोड़कर '**करण सौं पीठी दे...**' इन्द्रियों को तो पीठ दी है, पीठ दी है, कहते हैं। आहाहा! '**चरण अनुसरयो है...**' भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, उसकी रमणता को अनुसरण किया है। देखो, यह साधु! इसमें कहीं २८ मूलगुण, २७ मूलगुण नहीं आये। ऐ चेतनजी! २८ मूलगुण पालन करे और पंच महाव्रत पाले। पाले, राग को पालते होंगे? आहाहा! (व्रतादि का विकल्प) होता है, जहाँ तक वीतरागता (पूर्ण) न हो। ऐसे विकल्प भी वह कहीं गुणरूप नहीं।

यह तो '**चरण अनुसरयो है**'... स्वरूप आनन्द का धाम वीतराग शान्तरस से भरा प्रभु, उसे अनुसरकर जहाँ स्थिरता जम गयी है, आहाहा! उसे साधु कहा जाता है। उसे स्मरण कर वन्दन करते हैं। कल यहाँ तक आया था। '**धर्मकौ मंडन...**' यह आत्मा की शान्तिरूपी धर्म का तो शोभावाला है, उसका उसे शृंगार है। धर्म का जिसे शृंगार है। आहाहा! शरीर में टापटीप करते हैं न? बाल करे और यह करे। सवेरे देखो यह कसूदा में देखे—दर्पण में ऐसा करे, बन्दर जैसा लगे... यह कहते हैं, यह शोभा तो मेरे आनन्द की है। **धर्मकौ मंडन**—चारित्ररूपी धर्म है, उसकी शोभावाला है, कहते हैं। '**भरमकौ विहंडन**'... भ्रमणा का तो वि-हंडन—विशेष नाश करनेवाला है। कहीं सुखबुद्धि, कहीं शरण या आश्रय, उस बुद्धि का तो जिसने नाश किया है। आहाहा! समझ में आया?

'**धरमकौ मंडन भरमको विहंडन है...**' कवि है न! भाषा कैसी है, देखो न! '**धरमकौ मंडन भरमको विहंडन है, परम नरम ह्वैके करमसौं लर्‌यौ है।' परम नरम...** अकषायस्वभाव करके, अकषायस्वभाव से कर्म के साथ जिसने लड़ाई / युद्ध किया है। आहाहा! (कविवर बनारसीदासजी जब) शृंगारी (कवि) थे, तब शृंगार के (काव्य) बनाये थे, धर्म प्राप्त करने के पश्चात् यह (नाटक समयसार) बनाया। आहाहा! जवान अवस्था। ५५ वर्ष की तो उनकी स्थिति वर्णन की है। अर्धकथानक स्वयं ने वर्णन किया है। ५०-५५ वर्ष का इतिहास स्वयं का। अर्धकथानक अर्थात् अर्ध शतक। आयुष्य की अर्ध स्थिति का वर्णन है। ५५ (वर्ष) बाकी होंगे न? आयुष्य ११० हो तब... ३०० वर्ष हो गये न, ३५० वर्ष। '**परम नरक ह्वैकै...** रहकर। परम नरम होकर, ऐसा। अत्यन्त अकषायस्वभाव, ऐसे होकर कर्म के साथ युद्ध मांडा है। विकल्प को उत्पन्न होने नहीं देता, ऐसी जिसने लड़ाई अन्तर में... आहाहा! भगवान की भेंट हुई है न अन्दर में!

उसकी साक्षी की शरण में जाकर राग और कर्म के साथ लड़ाई युद्ध माँडा है, उसे हरावे और अपनी जीत है। आहाहा!

ऐसौ मुनिराज भुवलोकमैं विराजमान... ऐसौ मुनिराज... ऐसे मुनिराज सन्त शरण नग्न दिगम्बर बाह्य में, अभ्यन्तर में ऐसी दशा, यहाँ तो वही वर्णन की है। वह दशा वर्णन ही नहीं की। आहाहा! देखो! ऐसे साधु होते हैं। सेठ! यह सेठ ने माँडी न मूढ़ को माना यह साधु। अरे भगवान! बापू! यह तो साधु को कलंक लगाता है, ऐसे ही सब साधु होंगे? भाई! साधुपद तो परमेश्वर पद है। 'मनुष्य होना मुश्किल है तो साधु कहाँ से होय, साधु हुआ तो सिद्ध हुआ कहनी न रही कोई।' आहाहा! जिसकी अन्तर / अभ्यन्तर दशा अतीन्द्रिय शान्ति और आनन्द से उछल रही है, ऐसे मुनिराज **भुवलोक—** पृथ्वीलोक में, कहते हैं, यहाँ पृथ्वीलोक में विराजते हैं, विराजमान हैं। **निरखी बनारसी नमसकार कर्यो है...** ऐसे सन्त को अन्तर में देखकर मैं नमस्कार करता हूँ, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'भू' (अर्थात्) पृथ्वी किया न नीचे। **ऐसे साधु महात्मा जो पृथ्वीतल पर शोभायमान हैं।** आहाहा! जिससे पृथ्वी—दुनिया उनसे शोभती है। यह सब पैसेवाले और रूपवान और... इनसे पृथ्वी नहीं शोभती, कहते हैं। आहाहा! धन्य... धन्य!

मुमुक्षु : उनकी दृष्टि अलग है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तुस्थिति ऐसी है। दृष्टि अलग है, इसका अर्थ यह कि वस्तुस्थिति ऐसी है। आहाहा! चैतन्य के ओप से आत्मा शोभ रहा है। उसे बनारसीदास कहते हैं, नमस्कार करता हूँ। अरिहन्त को नमस्कार किया, सिद्ध को किया और साधु को भी किया। आहाहा! साधु में तीनों आ गये—आचार्य, उपाध्याय और साधु। पंच परमेष्ठी नमस्कार में आ गये।

अब समकिती। गृहस्थाश्रम में भले हो, परन्तु समकिती धर्मी कैसे होते हैं, निचली श्रेणीवाले चौथे गुणस्थानवाले, धर्म की पहली शुरुआतवाले जीव कैसे होते हैं, उसका वर्णन करते हैं। आहाहा!

★ ★ ★

काव्य - ६

सम्यग्दृष्टि की स्तुति

(सवैया छन्द, ८ भगण)

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट,
सीतल चित्त भयौ जिम चंदन।
केलि करैं सिव मारगमैं,
जग माहिं जिनेसुरके लघु नंदन।।
सत्यसरूप सदा जिन्हकै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।
सांतदसा तिन्हकी पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वंदन।।६।।

शब्दार्थ:-भेदविज्ञान=निज और पर का विवेक। केलि=मौज। लघुनंदन=छोटे पुत्र। अवदात=स्वच्छ। मिथ्यात-निकंदन=मिथ्यात्व को नष्ट करनेवाला।

अर्थ:-जिनके हृदय में निज-पर का विवेक प्रगट हुआ है, जिनका चित्त चन्दन के समान शीतल है अर्थात् कषायों का आताप नहीं है, जो निज-पर विवेक होने से मोक्षमार्ग में मौज करते हैं, जो संसार में अरहन्तदेव के लघु पुत्र हैं अर्थात् थोड़े ही काल में अरहन्त पद प्राप्त करनेवाले हैं, जिन्हें मिथ्यादर्शन को नष्ट करनेवाला निर्मल सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है; उन सम्यग्दृष्टि जीवों की आनन्दमय अवस्था का निश्चय करके पण्डित बनारसीदासजी हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं।।६।।

काव्य-६ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि की स्तुति।

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट,
सीतल चित्त भयौ जिम चंदन।

केलि करैं सिव मारगमैं,
जग माहिं जिनेसुरके लघु नंदन।।
सत्यसरूप सदा जिन्हकै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात–निकंदन।
सांतदसा तिन्हकी पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वंदन।।६।।

आहाहा! वन्दन करते हैं, मंगलाचरण में स्तुति करते हैं और सच्ची पहिचान भी साथ में (देते) हैं। सच्चे धर्मी सम्यग्दृष्टि शुरुआत में कैसे होते हैं? गृहस्थाश्रम में भी समकिती... भरत चक्रवर्ती भगवान ऋषभदेव के पुत्र थे। ९६ हजार स्त्रियाँ, ९६ करोड़ सैनिक थे। वह कुछ हम नहीं, वह हम नहीं। यह कहते हैं, देखो! पहले से '**भेदविज्ञान**' शब्द प्रयोग किया है। स्व-पर की भिन्नता का भान अन्दर में है। '**भेदविज्ञान**' है न? **निज-परका विवेक प्रगट हुआ है।**

ओहो! यह आत्मा तो सच्चिदानन्द प्रभु, वह मैं और दया, दान, व्रत का विकल्प उठे, उससे लगाकर राजपाट, स्त्रियाँ—यह सब पर सब भिन्न। मेरे नहीं, मुझमें नहीं, उनमें मैं नहीं। ऐसी सम्यग्दृष्टि की दशा गृहस्थाश्रम में भी होती है। पहला शब्द यह प्रयोग किया है '**भेदविज्ञान**'। चैतन्य और जड़ को भिन्न जाना है जिसने। निजस्वरूप भगवान चैतन्य आनन्द ज्योति और पुण्य-पाप का विकल्प, वह विकारी राग और जहर। स्त्री, कुटुम्ब, शरीर आदि पर जड़।—ऐसे स्व और पर को जिसने अन्तर में भिन्न जाना, उसे समकिती और उसे धर्म की शुरुआतवाला कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया?

भेदविज्ञान जग्यौ... उत्पन्न हुआ, नया हुआ, ऐसा कहते हैं। अनादि का तो राग और शरीर, वे मेरे थे—ऐसा माना था। थे नहीं। उसे कहते हैं, **भेदविज्ञान जग्यौ...** विवेक प्रगट हुआ। शरीर, वाणी, मन, कर्म आदि वे सब परचीज़ें हैं। मेरे अस्तित्व में उनकी गन्ध नहीं और उनके अस्तित्व में मेरी गन्ध नहीं। आहाहा!

९६-९६ हजार स्त्रियाँ जिसे—चक्रवर्ती के घर में हो, जो पद्मिनी जैसी हो महा

(रूपवान)! एक (मुख्य) स्त्री की तो एक हजार देव सेवा करते हैं, ऐसी तो एक (मुख्य-पटरानी) स्त्री होती है। वह क्या कहलाती है? स्त्रीरत्न। रत्न का अर्थ यह कि वह स्त्री उत्कृष्ट, ऐसा। एक हजार देव जिसकी सेवा करे, ऐसी तो ९६ हजार में एक (मुख्य) स्त्री होती है। यह धान का ढोकला जैसा नहीं होती। उसकी तो देव सेवा करे, ऐसी स्त्री होती है। परन्तु समकिती जिसे अन्तर में भान हुआ है। अरे! हम जहाँ हैं, वहाँ यह नहीं, ये हमारे नहीं, हमारे में नहीं, हम वहाँ नहीं, हमारे में से आये नहीं, उनसे आकर उनके कारण से उनमें रहे हैं। मुझे और उन्हें कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

'**जिन्हके घट...**' घट है न? जिसके हृदय में—जिसके अन्तरज्ञान में... हृदय अर्थात् ज्ञान। अन्दर ज्ञान-भान में जिसने स्व और पर के भेदविज्ञान द्वारा, करवत द्वारा जैसे भिन्न हो जाये, लकड़ी के दो टुकड़े जैसे करवत द्वारा होते हैं, उसी प्रकार भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ एक ओर तथा एक ओर दया, दान आदि का या पाप का विकल्प—वह सब चीज़ ही पर है। मेरी हो, वह अलग पड़े नहीं और अलग रहे, वह मेरी नहीं। आहाहा! देखो! यह सम्यग्दृष्टि की पहली दशा। '**जिन्हके घट**'... जिसके ज्ञान में, हृदय में अर्थात् ज्ञान में, स्व और पर की भिन्नता का जिसे अन्तर में... जैसे स्व और पर है, वैसा जिसे भान हो गया है। आहाहा! **सीतल चित्त भयौ जिम चंदन।** जिसका मन चन्दन के समान शीतल है। **कषायोंका आताप नहीं है...** विकल्प से भिन्न है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

पुण्य-पाप की वृत्तियाँ जो उठती हैं, वे तो आताप हैं, कषाय का आताप है। भेदज्ञान हुआ है, इससे कषाय के आताप से धर्मी जीव भिन्न है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! अरे! कहाँ के कहाँ लोग मानकर बेचारे धर्म मानकर। जिन्दगी-काल चला जाता है। समय-समय में देह की स्थिति पूरी होने के योग्य होती जाती है। चला जाता है एक समय-समय की यह स्थिति, उसमें ऐसा मानता है कि हम सब आगे बढ़े... धूल भी बढ़े नहीं। पाप में बढ़े हैं, भाई! तुझे यह खबर नहीं। जो तेरे नहीं, उन्हें तेरा माना, जो तेरे हैं, उन्हें तूने पहिचाना नहीं। कहते हैं, '**सीतल चित भयौ...** शान्त अकषायस्वभाव। अनन्तानुबन्धी की कषाय गयी है न? सम्यक् के साथ शीतल चित्त। कषाय के चार भेद

हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार भेद हैं और वापस क्रोध के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रमन्द आदि के चार भेद हैं। उनमें पहला कठोर अनन्तानुबन्धी—संसार में भटकने की कषाय का जिसने नाश किया है। शान्त... चैतन्य में से शीतला प्रगट हुई है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

सीतल चित्त भयौ जिम चंदन... लो, चन्दन की भाँति कहा। चन्दन के समान शीतल... शीतल... यह तो चन्दन की उपमा दी जाती है। कहाँ चन्दन और कहाँ आत्मा की शीतलता? दोनों को कहीं मिलान नहीं खाता। अच्छी में अच्छी चीज़ के साथ—शीतलता उत्कृष्ट, उसके साथ—मिलान करते हैं। आहाहा! यह जाति ही अलग है, वहाँ उसके साथ मिलाना क्या? चन्दन के समान जिसे अन्तर में कषायों का आताप नहीं। और **केलि करैं सिव मारगमैं,...** लो, यहाँ तो मोक्षमार्ग आया है, भाई! समकित में मोक्षमार्ग लिया। ऐई! वह इनकार करते हैं। अरे भगवान! क्या करता है? अंश है, यह तो स्वीकार कर न, प्रभु! आहाहा! यह चौथे गुणस्थान में केलि करे शिवमार्ग में, ऐसा लिया है। सम्यक् अर्थात् क्या, इसकी कुछ लोगों को चीज़ की कीमत ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : बाह्य के त्याग की कीमत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाह्य के त्याग की कीमत। पूरा हिन्दुस्तान उसमें भरमा गया है।

मुमुक्षु : धर्म के नाम पर ठगा गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म के नाम से ठगा गया है। ओहोहो! बाह्य का त्याग और यह वस्त्र बदले (छोड़े) और यह हुए (साधु)। कुछ गाये, भजन करे और ठगा गया। अन्तर वस्तु भगवान आत्मा अनन्तानुबन्धी के कषाय रहित ऐसा जो आत्मा, ऐसा जिसे भान हुआ, भेदज्ञान हुआ। कहते हैं कि **निज पर विवेक होने से मोक्षमार्ग में मौज करते हैं**। आहाहा! उसे रागादि आवे, उसे उनका प्रेम नहीं। धर्मी को रागादि आवे, ऐसा कहना, वह भी एक व्यवहार है। उसे तो मोक्षमार्ग है। आहाहा! कठिन बात, भाई! ए जयन्तीभाई! यह योग और यह साधन और यह योग, यह ध्यान और यह योग है। ऐसा का ऐसा मर जाये ॐ... ॐ... कर-करके।

यहाँ तो कहते हैं कि **निज पर विवेक होने से मोक्षमार्ग में मौज करते हैं।** आहाहा! यह खाते-पीते दिखते हैं, सोते दिखते हैं, तथापि इन्हें, कहते हैं, मोक्षमार्ग में ही उनकी मौज चलती है। आहाहा! समझ में आया? मोक्षमार्ग—शिवमार्ग कहा न? शिव अर्थात् मोक्षमार्ग में जिसे मौज है, केलि करते हैं। आहाहा! दुनिया को ऐसा लगे कि यह देखो, यह खाते हैं, पीते हैं। हमारे खाने का साधन न हो, वैसा तो यह खाते हैं। भरत चक्रवर्ती का आहार बत्तीस ग्रास का। (उसे) छियानवें करोड़ सैनिक पचा न सकें। छियानवें करोड़ सैनिक न सकें, ऐसा उनका एक आहार (ग्रास) होता है। बत्तीस ग्रास जिसमें अकेली सोना की, ताँबे की, लोहे की, मोती की भस्म। ऐ वजुभाई!

मुमुक्षु : वह तो झेल न सके।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा खाये तो मर जाये।

श्री कृष्ण वासुदेव, उन्हें सिंह केसरिया लड्डू होते हैं। उन्हें दूसरा पचा नहीं सकता। श्रीकृष्ण वासुदेव ही पचा सकते हैं। वासुदेव थे न? बहुत बल था अन्दर में। लोगों ने दूसरे प्रकार से माना है, जगत के कर्तारूप से, ऐसा नहीं है। वे स्वयं अपने स्वरूप के कर्ता होकर आनन्द में रहते थे, इसका नाम भेदज्ञानी—ज्ञानी कहा जाता है, इसकी उन्हें मौज थी। आहाहा! बाह्य से चाण्डाल हो, परन्तु जैसे अग्नि में... राख से ढँकी हुई जैसे अग्नि हो, वैसे वह चाण्डाल भी धर्म प्राप्त हुआ राग से भिन्न होता है। बाहर का शरीर और राग से ढँका हुआ चैतन्यमूर्ति अग्नि दिखाई दे, अन्दर पड़ी है। उसे देव कहा है, चाण्डाल हो तो भी (देव कहा है)। जिसे भेदज्ञान प्रगट हुआ है। भेदज्ञान का अर्थ (कि) दो है उसे दोरूप से भिन्न-भिन्न रखे हैं। एकरूप से माना है, उसे अज्ञानी कहते हैं। दोनों हैं भिन्न-भिन्न, उन्हें दो भिन्न करके आत्मा की दृष्टि का भान हुआ है, उसे भेदज्ञानी कहते हैं। समझ में आया?

'**केलि करैं सिव मारगमैं, जग मांहि जिनेसुरके लघु नन्दन**' है तो, कहते हैं, जगत—संसार में अभी दिखता है, परन्तु वह अरिहन्तदेव का लघु पुत्र है। वह छोटा पुत्र है। उसे उत्तराधिकार मिलने में देरी नहीं। साधु है, वे बड़े पुत्र हैं। पहले साधु की व्याख्या की। वे तो उत्कृष्ट अन्तर में आनन्द और शान्ति वेदते हैं। वन में बसे आनन्द के

धाम में, वे तो भगवान के उत्कृष्ट पुत्र हैं। परन्तु यह एक सर्वज्ञ का छोटा पुत्र है। लघुनन्दन है। आहाहा! छोटा लड़का।

'जग मांहि'... संसार में... अरहन्तदेव, यहाँ अरहन्त शब्द प्रयोग किया है। लघु पुत्र है—छोटे पुत्र है। साधु, आर्यिका, श्रावक और श्राविका चार (तीर्थ) होते हैं न? उसमें यहाँ समकिती लिये हैं न! पाँचवें गुणस्थानवाले को नहीं लिया यहाँ। चौथे गुणस्थानवाले (लिये हैं)। श्रावक जो हैं सच्चे, वे तो समकित के उपरान्त शान्ति बढ़ गयी हो, उसे श्रावक कहते हैं। वह तो देशसंयम अन्तर शान्ति प्रगट हुई है। इसे (सम्यग्दृष्टि को) संयम नहीं, परन्तु अन्तर में राग से भिन्न पड़ा हुआ भाव, उसमें शान्ति उस प्रकार की प्रगट हुई है। इसलिए कहते हैं, वह वीतराग के लघु पुत्र हैं—छोटे नन्दन हैं, छोटे नन्दन।

साधु सर्वज्ञ के बड़े नन्दन—पुत्र कहे हैं, गौतमस्वामी को। धवल में कहा है। जिसे अन्तर में केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ, परन्तु केवलज्ञान प्रगट होने की तैयारी के साधनवाले हैं, उन्हें सर्वज्ञ के पुत्र कहा है। आहाहा! क्योंकि सर्वज्ञ की पूर्णदशा का पद—उत्तराधिकार अब अल्पकाल में उन्हें अन्तर से मिलनेवाला है। वह भी एक उत्तराधिकार लेनेवाले। **थोड़े काल में अरहन्त पद प्राप्त करनेवाले हैं...** देखो, अर्थ किया है। थोड़े काल में भेदज्ञानी जीव, जिसने दो भिन्न किये हैं अन्तर से, राग का भाग और स्वभाव का भाग—दो भिन्न किये हैं। अर्थात् अब भिन्न पड़े हुए वे... पूर्ण भिन्न होने के लिये तैयारी है, कहते हैं। केवलज्ञान और परमात्मा होने की तैयारी है। आहाहा!

'सत्यसरूप सदा जिन्हकै, प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।' मिथ्यादर्शन को नष्ट करनेवाला निर्मल सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है। सत्यस्वरूप है न यह? सम्यग्दर्शन, सम्यक् अर्थात् सत्यदर्शन, सत्यदर्शन अर्थात् जैसा निर्विकारी रागरहित आत्मा है, वैसा जिसे अन्तर दर्शन—प्रतीति हुई है। सम्यक् सत्यदर्शन अर्थात् पुण्य-पाप के राग और विकल्प रहित जैसा शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द का धाम है, ऐसा जिसे सत्यदर्शन हुआ है। सत्यदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन। ऐसे **'सत्यसरूप सदा जिन्हकै'**, जिनके ज्ञान में सदा ही सत्यस्वरूप की प्रतीति—अनुभव वर्तता है, उसके कारण मिथ्यात्व का नाश करनेवाले हैं। **मिथ्यात-निकंदन...** भ्रमणा और भ्रान्ति... कैसे होगा? कैसे होगा? ऐसे सन्देह

आदि का नाश करनेवाले हैं। समझ में आया? मिथ्यात्व का तो निकन्दन करनेवाले हैं।

'**सांतदशा तिन्हकी पहिचानि**' उन रूपचन्दजी ने और सन्तदशा, इतना लिखा है जरा। '**सांतदशा तिन्हकी पहिचानि**' सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से है न? **उन सम्यग्दृष्टि जीवों की आनन्दमय अवस्था का निश्चय करके...** शान्तदशा की व्याख्या की। जिसे शुद्धदशा प्रगट हुई है, आहाहा! शान्त अर्थात् शुद्धदशा—अकषायदशा जिसकी पहिचानकर... उसे जानकर '**करै कर जोरि बनारसी वंदन।**' बनारसीदास कहते हैं कि कर जोड़कर—हाथ जोड़कर मैं वन्दन करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। **निश्चय करके...** ऐसा। **आनन्दमय अवस्था का निश्चय करके...** '**सांतदशा तिन्हकी पहिचानि**' है न? **पहिचानि** अर्थात् निश्चय करके। '**करै कर जोरि बनारसी वंदन।**' देखो, यह कवि भी कैसे! ज्ञानी हैं और कवि हैं—दो। आहाहा! नीचे अर्थ किया है। कोई सुखसागर होगा न... **जो आत्मजनित है, किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं होता, वो सुख...** ऐसा। सुख का सागर। **यह कर्मों की लड़ाई क्रोध आदि कषायों के 'उद्वेग रहित होती है...'** शान्त, ऐसा। **हृदय में दर्शन करने का अभिप्राय है।** यह समकिती की बात की।

देखो! एक व्याख्या। सादे पद और भाव सादे भरे हुए। बहुत संस्कृत और व्याकरण की जिसमें समझने के लिये आवश्यकता नहीं। प्रचलित-प्रचलित हिन्दी भाषा में यह पद बनाये हैं। विशेष उसकी—समकिती की स्तुति करते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ७

(सवैया इकतीसा)

स्वारथके साचे परमाथके साचे चित्त,
साचे साचे बैन कहैं साचे जैनमती हैं।
काहूके विरुद्धि नाहि परजाय-बुद्धि नाहि,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं।।

सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घटमैं प्रगट सदा,
अंतरकी लच्छिसौं अजाची लच्छपती हैं।
दास भगवन्तके उदास रहैं जगतसौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।।७।।

शब्दार्थः-स्वारथ (स्वार्थ[1] स्व=आत्मा, अर्थ=पदार्थ)=आत्मपदार्थ। परमारथ (परमार्थ[1])=परम अर्थ अर्थात् मोक्ष। परजाय (पर्याय)=शरीर। लच्छि=लक्ष्मी। अजाची= नहीं माँगनेवाले।

अर्थः-जिन्हें निज आत्मा का सच्चा ज्ञान है और मोक्ष पदार्थ से सच्चा प्रेम है, जो हृदय के सच्चे हैं और सत्य वचन बोलते हैं तथा सच्चे जैनी[2] हैं, किसी से भी जिनका विरोध[3] नहीं है, शरीर में जिनको अहंबुद्धि नहीं है, आत्मस्वरूप के खोजक हैं, न अणुव्रती हैं न महाव्रती हैं[4], जिन्हें सदैव अपने ही हृदय में आत्महित की सिद्धि, आत्मशक्ति की रिद्धि और आत्मगुणों की वृद्धि प्रगट दिखती है, जो अन्तरंग लक्ष्मी से अजाची लक्षपति अर्थात् सम्पन्न हैं, जो जिनराज के सेवक हैं, संसार से उदासीन रहते हैं, जो आत्मीय सुख से सदा आनन्दरूप रहते हैं; ऐसे गुणों के धारक सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं।।७।।

काव्य-७ पर प्रवचन

स्वारथके साचे परमाथके साचे चित्त,
साचे साचे बैन कहैं साचे जैनमती हैं।
काहूके विरुद्धि नाहि परजाय-बुद्धि नाहि,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं।।

१. जैनधर्म में धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष ये चार पदार्थ कहे हैं, उनमें मोक्ष परम पदार्थ है।
२. जिनराज के वचनों पर जिनका अटल विश्वास है।
३. समस्त नयों के ज्ञाता होने से इनके ज्ञान में किसी भी सम्यक् विवक्षा का विरोध नहीं भासता।
४. यहाँ असंयत सम्यग्दृष्टि को ध्यान में रखके कहा है, जिन्हें 'चरितमोहवश लेश न संयम, पै सुरनाथ जजै हैं।'

सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घटमैं प्रगट सदा,
अंतरकी लच्छिसौं अजाची लच्छपती हैं।
दास भगवन्तके उदास रहैं जगतसौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।।७।।

कवि है न! भाषा भी कैसी! '**स्वारथके साचे**' स्व-अर्थ—स्व आत्मा पदार्थ। अपना स्व आत्मा, उसका सच्चा (जाननेवाला) वह भेदज्ञानी समकिती है। स्वार्थ अर्थात् कि स्व अर्थ। स्व-अर्थ अर्थात् अपना आत्मा। पुण्य-पाप के तत्त्व से भिन्न भगवान आत्मा, ऐसे स्वपदार्थ को सच्चा हुआ है। स्वपदार्थ की बराबर पहिचान करके ज्ञानी हुआ है। देखो! यह समकिती की ऐसी व्याख्या है। गृहस्थाश्रम में रहे हो, देव में हो, नारकी में भी होते हैं समकिती, पशु में भी होते हैं। चारों गति में होते हैं। आहाहा!

समकित की व्याख्या साधारण (कर डाली कि) देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करो, भगवान को मानो, वह समकित। समकित की व्याख्या की अभी खबर नहीं होती। वस्तु तो नहीं होती परन्तु समकित क्या कहलाता है, कैसे होता है और किस प्रकार उसकी पद्धति है—इसकी खबर नहीं होती। भगवान सच्चे अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु। श्रद्धा—हमको भगवान की है, वह समकित। ऐसी श्रद्धा तो अनन्त बार की है। पर की श्रद्धा राग है, वह विकल्प है। भगवान आत्मा पूर्ण, उसके ज्ञान में आकर आत्मा ऐसा है, ऐसे भास में आकर जो श्रद्धा-अनुभव से करे, उसका नाम सम्यग्दर्शन—धर्म की पहली सीढ़ी कहा जाता है। यह धर्म का पहला सोपान। आहाहा! ऐसा धर्म गजब, भाई!

यहाँ जीवदया मण्डली करे और अमुक करे और कुछ झाँझर बजावे और भगवान की सेवा करे और पूजा करे, जाओ हो गया धर्म। धूल भी धर्म नहीं, सुन न! भगवान को भोग चढ़ाओ, अनाज दो, फलाना करो, ढींकणा करो, दुखिया के आँसू पोंछो पैसा-बैसा देकर। ऐई! कुछ तो होगा न उसमें धर्म? धूल में भी धर्म में नहीं, सुन न! और धर्म तुझमें से होता होगा या पर से होता होगा? यह यहाँ कहते हैं। स्वार्थ के सच्चे हैं। अपने स्वपदार्थ को वे साध रहे हैं। आहाहा! भले वे गृहस्थाश्रम में हों, मुझे और राग को, स्त्री को, कुटुम्ब को कुछ सम्बन्ध नहीं। समझ में आया?

जैसे धायमाता बालक को दूध पिलावे... उसे विश्वास है कि यह कहीं मेरा पुत्र नहीं है। 'धाय खिलावे बाळ' आता है। 'सम्यक्दृष्टि जीवडा करे कुटुम्ब प्रतिपाळ।' वह अन्तर से भिन्न है, ऐसा कहते हैं। भिन्न स्वरूप है अन्दर। 'धाय खिलावे बाळ'। वैसे तो धायमाता को वेतन देते हों न वे (अपने पुत्र) जैसा सम्हाले, लो, ऐसा सम्हाले। उसे तो खबर है कि यहाँ मेरा पुत्र नहीं। बड़ा होगा तो हो गया, मुझे यहाँ छुट्टी दे देंगे। इसी प्रकार धर्मी बाहर में—परिवार में दिखाई दे (परन्तु) उसे धायमाता जैसा लगता है। मैं किसी का नहीं, (कोई) मेरे नहीं। मैं उसे पालता नहीं, उसकी मैंने सेवा की नहीं, उसे मैं रखता नहीं। आहाहा! कठिन बात, भाई!

'**स्वारथके साचे परमारथके साचे**' लो! परमार्थ के सच्चे चित्त हैं। **मोक्षपदार्थ से सच्चा प्रेम है**। परमार्थ अर्थात् यह। स्व अर्थ और परम अर्थ। परम पदार्थ ऐसी मोक्षदशा। जिसकी पूर्ण आनन्द की और पूर्ण ज्ञान की दशा हो, उसका नाम मोक्ष। ऐसा परम पदार्थ मोक्ष। नीचे (फुटनोट में) अर्थ किया है परमार्थ का। **जैनधर्म में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पदार्थ कहे हैं**। धर्म अर्थात् पुण्य, अर्थ अर्थात् पैसा, काम अर्थात् विषय-भोग, मोक्ष अर्थात् आनन्ददशा। **उसमें मोक्ष परम पदार्थ है**। आहाहा!

आत्मा की पूर्ण शान्त, आनन्ददशा, वह परमपदार्थ है। मुक्तदशा। संसारदशा की विकृत अवस्था का नाश होकर निर्विकृत, निर्विकारी पूर्णानन्द की दशा की प्राप्ति, वह जगत में परमपदार्थ कहा जाता है। पुण्य, लक्ष्मी और भोग में भी मोक्षपदार्थ परम है। वे तो सब नीच पदार्थ हैं, वे परमपदार्थ नहीं हैं। आहाहा! '**स्वारथके साचे परमारथके साचे चित्त**' चित्त, हों! वापस वहाँ। जिसे प्रेम है। मोक्ष के प्रति ही प्रेम, लगन लगी। '**साचे-साचे वैन कहे**' सत्य वस्तु कहे। वह हृदय के सच्चे हैं। **सत्य वचन बोलते हैं**। जैसा स्वरूप है, जैसा भाव है, वैसा बोलते हैं। धर्मी समकित—पहली श्रेणी की शुरुआतवाला धर्मी, उसे भी ऐसी दशा अन्दर होती है। आहाहा!

'**साचे-साचे वैन कहे**' सत्य वस्तु कहे। वह हृदय का सच्चा है, कहते हैं। वह सत्य बोलता है। सच्चे जैनी हैं। '**साचे जैनमति**' जैनमति अर्थात् आत्मा के वीतरागस्वभाव के साधनेवाले, वे सच्चे जैनमति हैं। वाडा में रहे हुए हम जैन हैं, जैन हैं। वे जैन नहीं,

(ऐसा) यहाँ कहते हैं। परमपदार्थ आत्मा का मोक्ष, उसका प्रेम है और स्व अर्थ के साधनेवाले हैं। ऐसा सच्चा कहते हैं और वह सच्चा, वह वीतराग का दास है। सच्चा जैनमति है। **जैनी हैं...** है न नीचे ? **जिनराज के वचनों पर जिनका अटल विश्वास है।** यह तो व्यवहार की बात कही। जैनमति का अर्थ किया है न यह। परमार्थ का अर्थ किया और फिर... **जैनमति हैं...** 'जिनराज के वचनों से हित साधा' ऐसा अर्थ किया है। परन्तु जिनराज का वचन अर्थात् वीतरागभाव। वह वीतराग ने बतलाया है, ऐसे भानसहित जिसे वीतरागभाव का विश्वास है।

'काहूके विरुद्धि नाहि' किसी से भी जिनका विरोध नहीं। यहाँ तिगड़ा (३) किया है। **समस्त नयों के ज्ञाता होने से इनके ज्ञान में किसी भी सम्यक् विवक्षा का विरोध नहीं भासता।** सच्ची बात हो उसमें कोई विरोध नहीं होता। कोई नय ज्ञान का अंश कोई सत्य हो, उस सत्य के अंश में उसे कहीं विरोध नहीं लगता। **'काहूके विरुद्धि नाहि परजाय-बुद्धि नाहि।'** शरीर की बुद्धि और एक समय की पर्याय की बुद्धि जिसे नहीं होती। आहाहा! **शरीर में जिनको अहंबुद्धि नाहि...** शरीर तो मिट्टी, जड़ है, वह तो धूल। श्मशान की राख होकर उड़ जायेगी। वह कहाँ इसकी चीज़ है ? इसकी है ? इसमें है ? उस पर बुद्धि नहीं, शरीर मैं हूँ—ऐसा नहीं। मैं तो आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ।

दूसरी भाषा से लें तो, एक समय की पर्याय का अंश हूँ, ऐसी बुद्धि धर्मी को नहीं होती। पर्यायबुद्धि नहीं, द्रव्यबुद्धि होती है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! कठिन, भाई, हों! ऐसा मार्ग जगत को—साधारण प्राणी को मिला नहीं। ऐसी झपट मारे न व्यवहार की! लोग और मनुष्य इकट्ठे हों, दस-दस हजार, बीस-बीस हजार। आहाहा! चींटियों के नगर बहुत होते हैं, इसलिए कहीं मनुष्य हो जाये चींटियाँ ? इसी प्रकार अज्ञान सुननेवाले और अज्ञान कहनेवाले बहुत हों, इससे कहीं सत्य वस्तु हो जाये ? आहाहा! मार्ग कोई दूसरा ही है।

कहते हैं, '**काहूके विरुद्धि नाहि-परजाय-बुद्धि नाहि**' एक समय की दशा की बुद्धि जिसे उड़ गयी है। पर्यायबुद्धि अनादि की थी। मैं शरीर हूँ, राग हूँ, उस राग को

जाननेवाली जो वर्तमान व्यक्त—ज्ञान का अंश इतना मैं हूँ—यह मिथ्याभ्रम तो अनादि का है। ऐसी बुद्धि जिसकी नाश हुई... '**परजाय-बुद्धि नाहि**' पर्यायवान द्रव्यबुद्धि होती है, ऐसा कहते हैं। पण्डितजी! आहाहा! '**आतमगवेषी**' है। आहाहा! अन्तर भगवान आनन्द को शोधनेवाला है, वह अन्दर शोधता है। शोधकर शुद्धता प्रगट करता है। आहाहा! **आत्मस्वरूप के खोजक हैं।** '**गवेषी**' है न गवेषी? वह राग का गवेषी और उसका गवेषी—खोजनेवाला नहीं। आहाहा! कठिन बात!

'**आतमगवेषी**' समकिती **न गृहस्थ है न जती है।** क्योंकि अन्तरभान हुआ है, इसलिए वास्तव में गृहस्थपना उसमें रहा नहीं, तथा साधु नहीं। गृहस्थाश्रम में है, ऐसा दिखता है, तथापि गृहस्थपना उसमें नहीं, उससे रहित भिन्न भान है, ऐसा कहते हैं। वह अणुवृति भी नहीं और महाव्रति भी नहीं। दूसरी भाषा ऐसी की है। देखो! **यहाँ असंयत सम्यग्दृष्टि को ध्यान में रखके कहा है।** जिन्हें '**चरितमोहवश-लेश न संयम पै-सुरनाथ जजै हैं**' छह ढाला में आया है। नीचे लिखा है। '**चरितमोहवश-लेश न संयम पै-सुरनाथ जजै हैं।**'

सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा का भान है। राग से भिन्न है, आत्मा का मोक्षस्वभाव पूर्ण, उसका प्रेम है, परनतु अभी जो अणुव्रत आदि जो स्थिरता का भाग अभी आया नहीं, महाव्रत हुए नहीं, मुनि हुआ नहीं। कहो, समझ में आया? न गृहस्थ है, न जति है। जति अर्थात् साधु। वे जति नहीं, जतडा की बात नहीं। यहाँ जति अर्थात् आत्मा के आनन्द की यतना—जतना करे, वह जति। राग और अज्ञान की जतना करे, वह अजति। आहाहा!

खोजक है, न अणुव्रती हैं, न महाव्रती हैं... देखो, लिखा है न चौकड़ी करके फिर। '**चरितमोहवश लेश न संयम**' अर्थात् अन्दर अभी चारित्रमोह के आधीन हो जाता है। जरा राग-द्वेष आते हैं, इसलिए उसे संयम नहीं। अभी अतीन्द्रिय की वीतरागता विशेष प्रगट नहीं हुई। '**पै-सुरनाथ जजै हैं**—इन्द्र जिसे मानते हैं। इसमें भी विवाद सब। इन्द्र तो समकिती हैं वे इसे कैसे पूजैं? भाई! मान देते हैं, कहते हैं। सुन न! इसमें बहुत अधिक चर्चा। चर्चायें अभी बहुत चली हैं यहाँ। नर भेड़ जगे हैं धीरे-धीरे खलबलाहट करते हुए। ऐसे के ऐसे पड़े थे उल्टे रास्ते।

यहाँ तो कहा है कि संयम नहीं, गृहस्थाश्रम में है। ना, उसमें भी नहीं, वह तो आत्मा में है। संयम में भी नहीं तथापि **सुरनाथ जजै हैं**—इन्द्र जिसे बहुमान देते हैं, इन्द्र जिसकी प्रशंसा करते हैं। समझ में आया? इसका नाम भेदविज्ञान और समकित कहने में आता है। आहाहा! अभी तो सुना भी न हो। ऐ टोलियाजी! जय भगवान महावीर सच्चे, अपने समकिती, लो। जाओ, देव-गुरु-धर्म सच्चे। ऐसा स्वरूप जाने, उसे समकिती कहा जाता है, ऐसा कहते हैं।

'**आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं**' क्योंकि गृहस्थाश्रमपना जो है बाहर से, वह आत्मा में है नहीं और महाव्रत, मुनि(पना) तो है नहीं। गृहस्थाश्रम... आहाहा! ऋद्धि... उसमें ऋद्धि सिद्धि, यहाँ सिद्धि ऋद्धि ऐसा लिखा है। मुखाग्र ऐसा है कि '**रिद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घटमैं प्रगट सदा**' सिद्धि... **जिन्हें सदैव अपने ही हृदय में आत्महित की सिद्धि...** लो। यह सिद्धि, आत्मा की ऋद्धि सिद्धि है। कहीं सिद्धि प्रगटी है? ऐसा आया है न? वचनलब्धि। भाई! वचन दो (कि) पैसे हों, बाँझपना टले, पुत्र हो, अकेली लड़कियाँ हैं। धूल भी सिद्धि नहीं और सुन न अब! यह ऋद्धि सिद्धि में क्या धूल थी? आत्मा के हित की जिसे सिद्धि प्रगट हुई है। **हृदय में आत्महित की सिद्धि...** पूर्ण शुद्ध कैसे होऊँ? पूर्ण शुद्ध कैसे होऊँ? यह उसकी सिद्धि है। इस सिद्धि की लब्धि प्रगट हुई है, ऐसा कहते हैं।

इसमें पैसेवालों की सब कीमत उड़ जाती है। चिमनभाई! हल्का पड़ जाये इसमें। मुख के सामने मुख के तेज होकर बैठे हों, ऐसे पैसेवाले ऐसा। दो करोड़ है, पाँच करोड़ है, दस करोड़ है, धूल करोड़ है। मूढ़ हो जाये। आया है इसके पिता को देखने। नहीं कहा भाई ने? अभी भाई आया है पूनम। मलूकचन्दभाई को देखने आया है न? अहमदाबाद आया था। परन्तु बापूजी को ऐसा हो गया और वहाँ उसे ब्लडप्रेशर बढ़ गया। उसके पास तीन करोड़ रुपये हैं। धूल में क्या वहाँ अब तीन करोड़? बापूजी को ऐसा हुआ है, उसे देखकर... ऐसा मुख हुआ है लकवा का... दिल्ली गया था, वह आया है। यह रहे उसके काका। देखकर आये हो या नहीं तुम? लो! बापूजी को यह हुआ, (ऐसा) कहे, वहाँ उसका ब्लडप्रेशर बढ़ गया। एक दिन के लिये आये थे और तीन दिन रहना पड़ेगा। अभी नहीं निकला जाता, ऐसा डॉक्टर कहते हैं।

लो, यह रुपये। रुपये तो जड़, मिट्टी, धूल है।

मुमुक्षु : वे रुपये समुद्र में डाल दिये जायें?

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये उसके थे कहाँ कि डाले या डाले जायें? उनके द्वारा जड़ की क्रिया होती है तो उसके कहलाते हैं। इसके द्वारा जड़ की क्रिया नहीं होती। वह तो जड़ जब जानेवाले हों, तब जाते हैं और रहनेवाले हों, तब रहते हैं। क्षेत्रान्तर होने का हो तो उसमें क्रियावर्ती गुण है, उसके कारण से जाते हैं। आत्मा दे सके और ले सके, यह मान्यता अज्ञानियों का भ्रम है। समझ में आया? अरे अरे! ऐसा धर्म महँगा भाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : डाले कौन? दे कौन? ममता रखे और छोड़े, दूसरा क्या? आहाहा!

कहते हैं कि **सिद्धि,...** यह धर्मी को आत्मा की सिद्धि प्रगट हुई है। आत्मा सिद्ध हो गया है उसे कि यही आत्मा। अब पूर्ण होने में देरी है (नहीं)। **ऋद्धि,...** लो है न? आत्मशक्ति की ऋद्धि प्रगट हुई है, वह ऋद्धि है। पैसा और स्त्री, पुत्र और बड़ा बँगला—यह ऋद्धि नहीं। धर्मी की ऋद्धि तो आत्मा की शान्ति और ज्ञानानन्द, वह उसकी ऋद्धि है। जयन्तीभाई! यह ऋद्धि है धर्मी के पास। आहाहा!

मुमुक्षु : सब लौकिक ऋद्धि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लौकिक अर्थात् क्या? लौकिक अर्थात् परन्तु इसकी कब थी? यह तो इसकी अपनी है। **सिद्धि ऋद्धि वृद्धि...** देखो! क्षण-क्षण में **आत्मगुणकी वृद्धि प्रगट दिखती है...** आहाहा!

आत्मा परम आनन्द और ज्ञानस्वभाव वस्तु, उसका जहाँ अन्तरभान होकर अन्तर में है, अर्थात् शुद्धता वहाँ बढ़ती जाती है। अशुद्धता टलती जाती है और शुद्धता बढ़ती जाती है, यह उसकी वृद्धि है। दुनिया में तो कोई पाँच-पचास लाख या करोड़, दो करोड़ मिले तो चढ़ती कमाई तोड़ना नहीं। अभी सब अपने चढ़ता है, सब ऐसी बातें करे। चढ़ती देगड़ी समझे न? देगड़ी ऐसे चढ़ाना। एक के बाद एक चढ़े न! अपनी काठियावाड़ी भाषा है। देगड़ी अर्थात् एक के ऊपर (एक) बर्तन चढ़ावे, लो न! एक

बर्तन पर दूसरा, दूसरे पर तीसरा और तीसरे पर चौथा। ऐसे पुण्य की चढ़ती देगड़ी हो उसे तोड़ना नहीं, ऐसी और बातें करे। बढ़ने दो, बढ़ने दो अर्थात् तुझसे बढ़ता था? पुण्य के पूर्व के रजकण हों, (वे) जले और यह बाहर से दिखाई दे और चढ़ती देगड़ी तोड़ना नहीं, ऐसा और कहे।

यहाँ तो '**वृद्धि दीसै**'... कहते हैं। अपने शान्ति और धर्म की वृद्धि। '**घटमैं प्रगट सदा...** लो, **वृद्धि प्रगट दिखती है।** ठीक। घट में सब ले लेना। '**सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घटमैं प्रगट सद**'... अन्तर में ऋद्धि, सिद्धि और वृद्धि है धर्मी को तो। बाहर में ऋद्धि, सिद्धि, वृद्धि है नहीं। '**अंतरकी लच्छिसौं अजाची लच्छपती हैं**'... अन्तर का लक्ष्मी का अजाची लक्षपति है, लो। **जो अन्तरंग लक्ष्मी से अजाची लक्षपति अर्थात् सम्पन्न....** अजाची—माँगे बिना की लक्ष्मी है। आहाहा! अन्तर की अजाची लक्षपति, लक्षपति है। लक्षपति अर्थात् सम्पन्न अथवा अपना आनन्द का, शुद्ध का लक्ष्य है। अपने द्रव्य का लक्ष्य उसका पति है। '**दास भगवंतके उदास रहैं तगतसौं**'.... वह वीतराग का दास है। जगत से उदास है, संसार से उदास रहता है, लो। **सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं...** लो। समकिती जीव सदा सुखी है, आनन्द में है। जहाँ हो वहाँ आत्मा के आनन्द में समकिती होता है। समझ में आया? **सदा आनन्दरूप (रहते हैं) ऐसे गुणों के धारक सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं।** उसे स्मरण कर मंगलाचरण किया है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४, पौष कृष्ण ९, बुधवार, दिनांक २०-१-१९७१
उत्थानिका, पद—८, ९, १०, ११, १२

यह समयसार नाटक का मंगलाचरण होता है अभी तो। आठवाँ श्लोक। पहले अरिहन्त की स्तुति की, पश्चात् सिद्ध की की, पश्चात् साधुमात्र में वे आ गये—आचार्य, उपाध्याय और साधु। पंच परमेष्ठी की स्तुति की। पश्चात् समकिती की स्तुति। पहले आ गया है। भेदविज्ञान और स्वारथ के साँचे—यह दो (पद) आ गये हैं, यह तीसरा है।

★ ★ ★

काव्य - ८

(सवैया इकतीसा)

जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ,
हिरदै हरखि महामोहकौं हरतु है।
साचौ सुख मानै निजमहिमा अडौल जानै,
आपुहीमैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है।।
जैसैं जल-कर्दम कतकफल भिन्न करै,
तैसैं जीव अजीव विलछनु करतु है।
आतम सकति साधै ग्यानकौ उदौ आराधै,
सोई समकिती भवसागर तरतु है।।८।।

शब्दार्थः-कर्दम=कीचड़। कतकफल=निर्मली। विलछनु=पृथक्करण। सकति = शक्ति।

अर्थः-जिसके हृदय में गणधर जैसा निज-पर का विवेक प्रगट हुआ है, जो आत्मानुभव से आनन्दित होकर मिथ्यात्व को नष्ट करता है, सच्चे स्वाधीन सुख को

सुख मानता है, अपने ज्ञानादि गुणों का अविचल श्रद्धान करता है, अपने सम्यग्दर्शनादि स्वभाव को आप ही में धारण करता है, जो अनादि के मिले हुए जीव और अजीव का पृथक्करण जल कर्दम[1] से कतकफल के समान करता है, जो आत्मबल बढ़ाने में उद्योग करता है और ज्ञान का प्रकाश करता है; वही सम्यग्दृष्टि संसार-समुद्र से पार होता है।।८।।

काव्य-८ पर प्रवचन

जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ,
हिरदै हरखि महामोहकौं हरतु है।
साचौ सुख मानै निजमहिमा अडौल जानै,
आपुहीमैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है।।
जैसैं जल-कर्दम कतकफल भिन्न करै,
तैसैं जीव अजीव विलछनु करतु है।
आतम सकति साधै ग्यानकौ उदौ आराधै,
सोई समकिती भवसागर तरतु है।।८।।

देखो! यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप और उसकी स्तुति। उसका स्वरूप और उसकी स्तुति। '**जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ**' जिसके हृदय में गणधर जैसा निज-पर का विवेक प्रगट हुआ है। क्योंकि दो चीज़ न हो तो भूल कैसे हो? जो अपना स्वरूप है, वैसा जानने में न आवे तो कुछ दूसरी चीज़ हो, उसमें अपना माने। अर्थात् द्वैत हो, वहाँ भूल होती है और उसमें से भिन्न पड़े, तब भूल टलती है। समझ में आया? '**जाकै घट प्रगट विवेक**' ऐसा। विवेक अर्थात् भेदज्ञान—स्व-पर की भिन्नता। आत्मा आनन्दस्वरूप है और विकल्प राग है, वह आकुलतास्वरूप इससे लेकर सब पर—ऐसी गणधर जैसी जिसे भेदज्ञान की शक्ति प्रगट हुई है, ऐसा कहते हैं, देखो।

चाहे तो तिर्यंच हो, नारकी हो, देव हो, मनुष्य तो है ही वह।

१. गन्दे पानी में निर्मली डालने से कीचड़ नीचे बैठ जाता है और पानी साफ हो जाता है।

मुमुक्षु : देवी हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : देवी हो। तिर्यंच को होता है, मनुष्य को तो होता ही है। उसमें मनुष्य को मनुष्यपना... हृदय में अर्थात् ज्ञान में **प्रगट विवेक**—राग और चैतन्यस्वभाव, विभाव और स्वभाव का प्रगट भेदज्ञान (अर्थात्) पृथक्ता। जिसे गणधर जैसी भेदशक्ति प्रगट हुई है। कहो, कहाँ गणधर १४ पूर्व की रचना करनेवाले, बारह अंग को अन्तर्मुहूर्त में रचे, तीर्थंकर के पुत्र, वजीर—दीवान और कहाँ समकिती? कहते हैं, श्रद्धा में विवेक तो दोनों का एक सरीखा है, उसमें कुछ (अन्तर नहीं)। कहो पण्डितजी! गणधर जैसी विवेकशक्ति है। उस विवेक (में) भी विकल्प है, उसे गणधर भी पर जानते हैं और सम्यग्दृष्टि भी विवेक में विकल्प से भिन्न स्वरूप को जानते हुए विकल्प पर है। कहो, समझ में आया?

'**जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ**' गणधर जैसी जिसे भेदज्ञान शक्ति प्रगट हुई है। कहाँ गणधर, कहाँ समकित, कहाँ तिर्यंच, कहाँ नारकी? वस्तु तो ऐसी है। सम्यक्त्व में कुछ अन्तर (नहीं इसलिए) भेदज्ञान में अन्तर नहीं, ऐसा कहना है। भिन्न किया है, उसमें अन्तर (नहीं)। '**हिरदै हरखि महामोहकौ हरतु है**' आत्मानुभव से आनन्दित होकर... भिन्न किया है न? राग, शरीर और कर्म से चैतन्यस्वरूप अत्यन्त भिन्न है, ऐसा जहाँ अन्तर में भान हुआ है, इसलिए उसके ज्ञान में, हृदय में अर्थात् ज्ञान में आत्मानुभव से हर्ष हुआ है। हर्ष अर्थात् सुख, यहाँ सुख के अर्थ में है। समझ में आया? हर्ष अर्थात् दुनिया का हर्ष, वह नहीं। दुनिया का हर्ष, वह तो पापभाव है। यह तो आत्मा का हर्ष अर्थात् आनन्द। आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका अनुभव होने पर आनन्द आवे, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

'**हिरदै हरखि महामोहकौ हरतु है**' मिथ्यात्व को नाश करता है, मिथ्यात्व को नष्ट किया है, भ्रमणा को जिसने नाश किया है। इन्द्रियों में, राग में सुख है, उस बुद्धि का नाश हो गया है। भले गृहस्थाश्रम में हो, तथापि आत्मा और जड़ और राग, विभाव और स्वभाव, जीव और अजीव—इनकी भिन्नता के भान में ज्ञान में आनन्द आया है, अनुभव करके आनन्द आया है। उसके कारण महामोह मिथ्यात्व का नाश करता है। देखो! यह मिथ्यात्व का नाश होने का यह एक उपाय है। समझ में आया? भ्रमणा का नाश करने

का उपाय, राग से भिन्न करके आत्मा का अनुभव करना यह (है)। ज्ञान साथ में आया न! फिर... आ गया न ज्ञान... '**महामोहकौ हरतु है**', लो।

भेदज्ञान... यह विवाद चलता है न? ऐई हिम्मतभाई! हिम्मतभाई... मुम्बई में तुम्हारे चलता है न! भेदज्ञान में फिर मिथ्यात्व साथ में कहाँ से आया? यह तो वह की वह बात है। अन्तर्मुख जहाँ राग से भिन्न पड़कर चैतन्यस्वरूप में आरूढ़ हुआ, उसे आनन्द आया तो मिथ्यात्व नाश हो गया। मिथ्यात्व की उत्पत्ति ही नहीं, वहाँ फिर क्या? ऐसा कि समकित द्वारा मिथ्यात्व का नाश होता है, ऐसा। कुछ भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व का नाश होता है? (ऐसी अज्ञानी की दलील है)।

मुमुक्षु : वे गुण अलग।

पूज्य गुरुदेवश्री : भले गुण अलग। यह तो अपेक्षा से बात है। वहाँ गुण का भान होने पर मिथ्यात्व का नाश होने से समकित भी हुआ और अज्ञान भी टला। दोनों टले हैं। दोनों साथ में टलते हैं। समझ में आया?

'**हिरदै हरखि महामोहकौ हरतु है**' ऐसा तो यहाँ कहा, देखो न! विवेक हुआ है राग और स्वभाव (के बीच)। परमात्मा स्वयं आनन्द की मूर्ति आत्मा है और रागादि, वह दुःखरूप और आकुलता है। चाहे तो शुभराग हो, सेठ! भगवान की भक्ति का राग, णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं... आहाहा! यह विकल्प की आकुलता और आत्मा की आनन्दता—ऐसे दो की जिसे अन्दर से विवेक(रूप) भिन्नता भासित हुई है, इससे आत्मा में राग की एकता थी, वहाँ दुःखी था; राग की एकता टूटने पर आनन्द के झरने छूटे हैं, (ऐसा कहते हैं)। आहाहा! देखो! यह समकित, इसका नाम भेदविज्ञान।

'**महामोहकौ**'... महामोह अर्थात् मिथ्यात्व। '**साचौ सुख मानै**'... और सुख तो, मेरा आनन्द मुझमें है, ऐसे सत्य आनन्द को मानता है। समकिती धर्म की शुरुआतवाला जीव, जन्म-जरा-मरण के भाव को जिसने नाश किया है, ऐसा धर्मी (जीव) शुरुआत का समकिती '**साचौ सुख मानै**'... स्वाधीन आत्मा का आनन्द, उसे सुख मानता है। पुण्य और पाप के राग में और स्त्री, कुटुम्ब, शरीर में, राजपाट और इन्द्रासन में धर्मी सुख मानता नहीं, क्योंकि वे (उसमें) है नहीं। मानता नहीं क्योंकि उसमें नहीं। समझ

में आया ? बहुत श्लोक संक्षिप्त में बहुत भर दिया है। **'साचौ सुख मानै निज महिमा अडोल जानै'** अपने अनन्त गुण की श्रद्धा में अडोल महिमा, अपने गुण की महिमा के समक्ष किसी की महिमा ज्ञानी को—धर्मी को आती नहीं। आहाहा! शुभभाव कि जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उसकी भी ज्ञानी को महिमा नहीं है। आहाहा!

'साचौ सुख मानै निज महिमा' 'निज महिमा'—अपने गुण की—आनन्द, ज्ञान आदि गुणों की महिमा **'अडोल जानै'...** नि:शंक। डिगे नहीं, डोले नहीं, हिले नहीं इस प्रकार से। आहाहा! आठ वर्ष की कन्या हो और समकित पावे तो ऐसी हो। समझ में आया ? समकित कहाँ किसी की चीज़ है ? वह तो अपनी चीज़ है। स्वयं शुद्ध चैतन्यबल आनन्दकन्द वस्तु अस्तित्व ऐसा है, ऐसा अन्तर में विवेक होने पर उसे अपने गुण की ही महिमा अडोलरूप से भासित होती है। उसे शुभ-अशुभ परिणाम और बाह्य के चक्रवर्ती के राज हो मनुष्य समकिती को, उनकी महिमा उसे भासित नहीं होती। आहाहा! समझ में आया ?

शरीर की सुन्दरता, वाणी की कोमलता, सुरीली वाणी निकले कण्ठ की—इन सबकी महिमा धर्मी को अन्तर में होती नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : अन्तर में होती नहीं तो बाहर में होती है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर में होती नहीं अर्थात् बाहर में बोले कोई कि इसका कण्ठ अच्छा, लो। हमारे उनको कहा था। प्रवीणभाई का लड़का है न वह मनीष, नहीं ? लिखता है। भावनगर। हिम्मतभाई के साथ प्रवीणभाई आते हैं न, उनका पुत्र मनीष, उसकी माँ का कण्ठ बहुत सुरीला... बहुत सुरीला। वहाँ गाया था न! थे तुम ? भावनगर। सब गायनवाले बैठे थे न स्वयं। बहुत सुरीला कण्ठ। कण्ठ का ढंग और देशी और ऐसा कुछ कण्ठ है उनका। लाठी (के) प्रेमचन्दभाई की पुत्री और यहाँ प्रवीणभाई के साथ। मनीष को कहा, तेरी माँ का कण्ठ कितना सुरीला! देखा, ऐसे सब हजार, पाँच-पाँच हजार लोग स्थिर हो जाये। ऐई..! कण्ठ की तो जिसकी छटा निकली मानो, ऐसी है।

अभी भाई आये थे भावनगर पंच कल्याणक में ? ....बैठे थे वे सब गवैया। खबर

नहीं थी कौन है, गवैया में बहिन थीं, प्रवीणभाई के घर से। मनीष लड़का लिखता है न, आता है, लिखता है। कहा, कण्ठ कैसा तेरी माँ का? वह तो भाषावर्गणा है। ऐई! होशियार लड़का है। ग्यारह वर्ष हुए होंगे या नौ, नौ हुए या ग्यारह? ग्यारह वर्ष चलते हैं। लड़का लिखता है साथ में। तेरी माँ का कैसा कण्ठ, कहा, ऐसे सब स्थिर हो जाये ऐसे। सत्ता का रतजगा होकर ऐसा कण्ठ धुजे। वह तो कहे, भाषावर्गणा है। लो, ग्यारह वर्ष का लड़का ऐसा बोले। वह कहे कि तेरा बाप बोलता है यह? और ऐसा कहे। भगवान!

वह लड़का ऐसा मुख बराबर रखकर... यह कण्ठ तो भाषावर्गणा है, उसमें आत्मा क्या है? तेरी माँ का कण्ठ गजब! वह तो भाषावर्गणा है। भाषा कौन बोले महाराज? यहाँ सुनकर गया होगा, वहाँ पूछा एक व्यक्ति ने कि भाषा कौन बोले? तेरा बाप बोलता है? खबर नहीं यह? कौन बोलता है (भाषावर्गणा या आत्मा) ऐसा। अभी उत्तर देने की भाषा का ठिकाना न हो।

मुमुक्षु : उसमें सभ्यता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी होती है, ऐसी भाषा हो? भाई! भाषा है, वह आत्मा बोलता है? आत्मा न हो तो भाषा बोले? ऐसा भले कहा जाये। आत्मा न हो तो भाषा होगी? ऐसा कहकर आत्मा बोलता है, ऐसा कहे व्यवहारनय से। वह तो आत्मा कहाँ बोलता था? वह तो जड़ की अवस्था है। आहाहा! देखो! **'निज महिमा अडोल जानै'** यह कण्ठ और रूपवान शरीर और सुन्दर और कोमलता—इसकी महिमा ज्ञानी को होती नहीं। समझ में आया?

'आपुहीमैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है' 'आपुहीमैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है' देखो! अपने दर्शन, ज्ञान आदि स्वभाव को आत्मा धारण करता है। आहाहा! जानने का भाव, श्रद्धा का भाव, स्थिरता का भाव, आनन्द का भाव, वह अपना भाव है। रागादि को अपने में धारता नहीं। कहो, यह सब मशीन-बशीन कहीं रह गयी। चिमनभाई!

मुमुक्षु : मुम्बई रह गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुम्बई रह गये और यहाँ है न एक जोरावरनगर में। **जो अपने**

सम्यग्दर्शनादि स्वभाव को आप ही में धारण करता है। भाषा क्या है? कि आत्मा अपना स्वभाव अनन्त-अनन्त शान्ति, आनन्द आदि है, ऐसा भान हुआ, इससे अपने स्वभाव को ही धारता है, ऐसा कहते हैं। व्यवहार को, दया, दान, व्रत और विकल्प को अपने में धारता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? गृहस्थाश्रम में हो या मुनि हुआ हो, अपना स्वभाव शान्त और ज्ञान और आनन्द और श्रद्धा जो अपनी निर्मल वीतरागी पर्याय, ऐसे अपने स्वभाव को स्वयं धारता है। समझ में आया?

'**आपुहीमैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है**' ऐसा है न? '**सुभाउ ले धरतु है**' पर्याय प्रगट करके स्वयं अपने को धारता है। राग आदि, पुण्य आदि अपने में समकिती धारता-रखता / रक्षक है नहीं। कहो, ज्ञानी राग का रक्षक नहीं, ऐसा कहते हैं। धारता में आ गया न वह? श्रीमद् में भी आता है। स्वद्रव्य को धारता है। स्वद्रव्य के धारक शीघ्रता से होओ, परद्रव्य की धारकता शीघ्रता से तजो। यह भाषा अनेक प्रकार की कथनशैली है न! आहाहा! समझ में आया? '**सुभाउ ले धरतु है**' अविचल... अपने आपमें धारण करता है। 'लईने' भाषा तो ऐसी है। '**आपुहीमैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है**' निर्मल-निर्मल पर्याय प्रगट करके स्वयं अपने में रखता है, उसका रक्षक है। पुण्य-पाप को, व्यवहार को धारता ही नहीं, कहते हैं। उसका रक्षक भी नहीं, उसका भक्षक भी नहीं, भोगनेवाला भी नहीं। आहाहा! गजब बात, भाई!

ऐसे पड़े हों तो संसार में दिखाई दे इन्द्र आदि चक्रवर्ती। ऐई...वैभव... वैभव... वैभव... वैभव... अभी तो धूल में भी वैभव नहीं, ऐसा उनका वैभव होता है। चक्रवर्ती को तो देव आकर पाँच बँगले बनावे। पाँच बँगले, हों! विशाल अलौकिक। आहाहा! चारों ओर हीरा-माणेक भरे हों अन्दर। एक-एक हीरा की अरबों की कीमत होती है। ऐसा वैभव वह मेरा नहीं, मैं उसे रखता नहीं, मैं उसे धारता नहीं, मैंने उसे प्रगट किया नहीं और प्रगट करके मेरा वह रक्षक नहीं। आहाहा! कहो, पैसा-बैसा धूल में गये। पैसे कहाँ आते थे यहाँ? यह देखो, पैसा है तो क्या करते हैं कुछ? ऐसे ऐं... अकेले पड़े रहना पड़े। सुनने के लिये आये हैं, यह कहीं घर में बैठने नहीं आये। इनकार करते हैं... रात्रि में जाना नहीं अभी। बहुत चलना नहीं, पैर थकान न खाये। ठीक, भाई चलो।

सोओ। नहीं तो यहाँ घर में सोने आये हो ?.... ऐसा है पराधीन शरीर ऐसा... वह पर है, उसे कैसे रहना, वह आत्मा के आधीन (नहीं है), आत्मा उसका रक्षक, धारक नहीं है। आहाहा!

'जैसैं जल-कर्दम कतकफल भिन्न करै' गजब! जल और कादव बीच में कतकफल अर्थात् निर्मली औषधि डालने से जैसे दोनों भिन्न पड़ जाते हैं। आहाहा! ऐसे राग-विकल्प और निर्विकल्प भगवान आत्मा—दोनों भेदज्ञान से भिन्न पड़ जाते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया? यह करना है और यह किया हो तो ऐसा हो, तो ऐसा होगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जहाँ कहो वहाँ कि भाई! हमारा यह काम... परन्तु ऐसा करने का, तब समकित होता है। इसके बिना समकित हो और सम्यग्ज्ञान हो नहीं। समझ में आया?

'जैसैं जल-कर्दम'—जल और कादव **कतकफल.... निर्मली डालने से**—औषधि डालने से **कीचड़ नीचे बैठ जाता है और पानी साफ हो जाता है।** इसी प्रकार आत्मा निर्मली औषधि अर्थात् भेदज्ञान द्वारा—प्रज्ञाछैनी द्वारा, बहिर्मुखी वृत्तियाँ और अन्तर्मुखी स्वभाव दो को भिन्न करके शुद्धता अनुभव करता है। आहाहा! **'तैसैं जीव अजीव विलछनु करतु है'** लो! जल और कादव में निर्मली औषधि डालने से जैसे पानी निर्मल साफ स्वच्छ हो जाता है, इसी प्रकार जीव-अजीव **'विलछनु करतु है'**—दोनों को भिन्न करता है, पृथक्करण। अजीव शब्द से रागादि सब अजीव है। आहाहा! समझ में आया?

चैतन्य भगवान ज्ञायकस्वभाव का दल, आनन्द की मूर्ति आत्मा और रागादि अजीव—दो की विलक्षण... विलक्षण—पृथक्, पृथक् करता है। **'विलछनु करतु है'** देखो! पृथक् करता है। कर्म के कारण पृथक् होते हैं और पर के कारण होते हैं, ऐसा है नहीं। आहाहा! यह क्रिया अन्दर में होती है। **'तैसैं जीव अजीव विलछनु करतु है'** **'आतम सकति साधैं'** सकति, वह मिलान करना है न इसलिए, वरना शक्ति है वह। पद का मेल करना है शब्द का इसलिए **'आतम सकति'** कहा। नीचे अर्थ किया है। **'सकति'** अर्थात् शक्ति, ऐसा। उसके शब्दार्थ में। **'सकति'** अर्थात् शक्ति, ऐसा। **'आतम सकति साधैं'** ज्ञान, दर्शन और आनन्द को साधे। चाहे तो युद्ध आदि में खड़ा हो। आहाहा!

'**आतम सकति साधैं ग्यानकौ उदौ आराधै**' ज्ञान की उजागर दशा जागृत करता है, ज्ञान का प्रगट प्रकाश करता है। ज्ञान शब्द से पूरा आत्मा। पूरा आत्मा को उजागर—प्रकाश करता है। आहाहा! देखो! यह एक कवि और स्वयं ज्ञानी है। कैसा वर्णन करते हैं! गृहस्थाश्रम में है, हों स्त्री, पुत्र, परिवार। तीन बार विवाह किया था, नौ बालक हुए थे। सबके रास्ते सब। यह दुनिया के साथ जगत के हैं, उनके कारण से आते और जाते हैं। आहाहा!

एक व्यक्ति कहता था ८१ में। राजकोट चातुर्मास था न? गढडा। कामदार का दामाद था। भावनगर। ४२, कितने वर्ष कुछ कहे। ४२ वर्ष पहले... कौन है गढडा का कोई नहीं, नहीं? ४२ वर्ष पहले मैं अकेला गया था। वहाँ व्यापार-धन्धा सुपारी का, बड़ी दुकान हुई, पैसे हुए, बारह व्यक्ति हुए। स्त्री, पुत्र, पुत्रियाँ बारह व्यक्ति घर में। समझ में आता है? बारह व्यक्ति। बारह-बारह। 'बार जणा' समझते नहीं। परन्तु यों ही अनुमान हो न बारह व्यक्ति कहा तो कुछ संख्या कहते हैं, ऐसा तो अनुमान हो न? बारह व्यक्ति हुए थे। एक के बारह। व्यापार लाखों का सुपारी का धन्धा। ऐसा का ऐसा, गया वैसा आया हूँ, कहे। सब पैसे गये।

एक कामदार थे, भाई! गढ़डावाले। ... बड़ी दुकान थी सुपारी की। जैसा गया था वैसा आया हूँ वापस, कहे। पैसे गये, स्त्री, पुत्र, परिवार सब मर गया। चिमनभाई! वे कामदार हैं। ...हाँ, यह सच्चा। कामदार। लाल पगड़ी बाँधते थे। भावनगर की। (संवत्) १९८१ में आये थे। हाँ, दुकान थी। मुम्बई में दुकान थी। कहे, जैसा अकेला गया, वैसा अकेला आया हूँ। ...परन्तु वह परचीज़ है, उसके साथ सम्बन्ध क्या है? आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, '**ग्यानकौ उदौ आराधै**' अपने ज्ञान की दशा का आराधन करता है। धर्मी बाहर तो व्यापार-व्यापार में दिखाई दे धर्मी, परन्तु उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है।

'**सोई समकिती भवसागर तरतु है**' लो, वह समकिती भवसागर—चौरासी के अवतार भवजल को तिर जाता है। तिरने का... अल्पकाल में उसे केवल (ज्ञान) होकर मोक्ष होनेवाला है। लो, आठवाँ बोल हुआ। '**सोई समकिती...**' ऐसा कि ऐसे समकिती

भवसागर को तिरे। दूसरे माने कि हम क्रिया करते हैं और महाव्रत पालते हैं और धूल करते हैं न, इसलिए भवसागर को तिर जायेंगे, संसार को पार होवेंगे। आत्मा के भान बिना, हराम है एक भी भव घटे तो। वस्तु की अन्तर चीज़ क्या है, उसकी दृष्टि और अनुभव बिना एक भी भव नहीं घटता। यह आठ (काव्य पूरा हुआ)। यह तीन श्लोक समकिती के कहे। अब, मिथ्यादृष्टि का लक्षण और इसके सामने (कहते हैं)। विपरीत दृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि कैसा होता है, यह पहिचान कराते हैं। पहले (सम्यग्दृष्टि की) स्तुति की और अब (सम्यग्दृष्टि की) पहिचान कराते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ९

मिथ्यादृष्टि का लक्षण। (सवैया इकतीसा)

धरम न जानत बखानत भरमरूप,
ठौर ठौर ठानत लराई पच्छपातकी।
भूल्यौ अभिमानमैं न पाउ धरै धरनीमैं,
हिरदैमैं करनी विचारै उतपातकी।।
फिरै डांवाडोलसौ करमके कलोलिनिमैं,
व्है रही अवस्था सु बघूलेकैसे पातकी।
जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी,
ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी।।९।।

शब्दार्थः-धरम (धर्म)=वस्तुस्वभाव। उतपात=उपद्रव।

अर्थः-जो वस्तुस्वभाव से अनभिज्ञ है, जिसका कथन मिथ्यात्वमय है और एकान्त का पक्ष लेकर जगह-जगह लड़ाई करता है, अपने मिथ्याज्ञान के अहंकार में भूलकर धरती पर पाँव नहीं टिकाता और चित्त में उपद्रव ही सोचता है, कर्म के झकोरों से संसार में डाँवाडोल हुआ फिरता है अर्थात् विश्राम नहीं पाता सो ऐसी दशा हो रही

है जैसे बघरूड़े में पत्ता उड़ता फिरता है, जो हृदय में (क्रोध से) तप्त रहता है, (लोभ से) मलिन रहता है, (माया से) कुटिल रहता है, (मान से) बड़े कुबोल बोलता है; ऐसा आत्मघाती और महापापी मिथ्यात्वी होता है।।९।।

काव्य-९ पर प्रवचन

धरम न जानत बखानत भरमरूप,
ठौर ठौर ठानत लराई पच्छपातकी।
भूल्यौ अभिमानमैं न पाउ धरै धरनीमैं,
हिरदैमैं करनी विचारै उतपातकी।।
फिरै डांवाडोलसौ करमके कलोलिनिमैं,
व्है रही अवस्था सु बघूलेकैसे पातकी।
जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी,
ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी।।९।।

देखो कवि है न! आहाहा! '**ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती**' मैल सब घाति और पाति सब शब्द। ऐई पण्डितजी! यह तो मानो इसमें। थोड़ा-थोड़ा जानते होंगे न! यह और बड़े कवि हुए कहलाते हैं। एक-एक शब्द को ऐसे मिलान खाये, देखो ऐसा। '**ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी।**'

'**धरम न जानत**' अज्ञानी धर्म तो जानता नहीं कि वस्तु का क्या स्वभाव है? भगवान आत्मा ज्ञायक का-चैतन्य का दल है। आत्मा धर्मी और उसका धर्म तो ज्ञान और आनन्द और शान्ति है, उससे अज्ञानी अनभिज्ञ है। अनभिज्ञ अर्थात् जाननेवाला (नहीं)। आहाहा! वस्तुस्वभाव से तो अज्ञानी है। क्या वस्तुस्वभाव है? वस्तु का क्या काम है हमारे भाई? ऐसा कहे। अन्धेरे में भी गुड़ खाये तो मीठा लगता है, ऐसा कहता है। गुड़ मीठा लगे। और जानना आत्मा है तो ऐसा काम क्या है? हम तो यह करते हैं, करते हैं, अन्दर लाभ होगा। ऐई! ऐसा बोलता है। अन्धेरे में गुड़ मीठा नहीं लगता? अब मर जायेगा परन्तु जहर आ जायेगा तो अन्धेरे में, गुड़ के बदले। आहाहा!

देखो न! बेचारी मणिबेन यहाँ आयी थी न प्रेमचन्दभाई की बहिन। उनके वर बेचारे नीचे पड़ी थी एक शीशी... किसकी यह? हरडे की या हिमेज की, जो हो वह। और एक सोमल (जहर) पड़ा था। दोनों शीशी साथ में थी। हरड़ की लेने गये वहाँ सोमल आ गया। साथ में दोनों शीशी थीं। बहिन नहीं गुजर गयी सर्प काटकर? प्रेमचन्दभाई की बहिन। वळा के उतारा में सर्प काटा, नहीं? वहाँ सर्प रहता था, वे सो रहे थे, उसकी उसमें आ गया, शैय्या में। वे मानो कि चुभन है। ऐसे छुआ और काटा। काटा और जहर चढ़ गया। वळा के उतारा में। वहाँ रहते हैं न भाई यह कोठारी। वह न? वजुभाई रहते थे कुँआ के पास।

उनके वर के हाथ में चढ़ी, हाथ में चढ़ी सोमल की शीशी, सोमल। हरड़ की फाकी लेनी थी। हरड़ की। हरड़ की फाकी नहीं समझते? हरड़ नहीं समझते? हरड़े कहो या हरड़ कहो, यह तो एक भाषा हुई। शब्द... हरड़े, हरड़े कहो या यह हिमेज कहो, लो न। ....ली। जरा ऐसे जगे तो अरे! यह क्या हुआ? .... वृद्ध चला वृद्ध। डाक्टर आवें उससे पहले समाप्त हो गये। लट्ठ जैसा जवान शरीर था। स्वामीनारायण थे बोटाद के। जैसे अनजाना कहीं का कहीं खा जाता है, उसी प्रकार आत्मा के स्वभाव के अनजान कहीं का कहीं मान बैठते हैं, ऐसा कहते हैं। राग का अभाव (मन्दता) और विकल्प का अभाव, वह आत्मा—ऐसा अज्ञानी जाने, वह जहर खाता है जहर। आहाहा!

'धरम न जानत बखानत भरमरूप' जिसका कथन मिथ्यात्वमय है... उल्टी श्रद्धा के अभिप्राय। कोई भी बोले वाणी, उल्टी श्रद्धा और उल्टे भाव हों उसके। कषाय से रंग गया है न। आहाहा! कषय के चार बोल अलग आयेंगे **'बखानत भरमरूप'** मिथ्यात्व की भ्रमणा, उसकी महिमा करे, लो। **'ठौर ठौर ठानत लराई पच्छपातकी'** एकान्तनय का कथन करके जगह-जगह लड़ाई खड़ी करता है। आहाहा! **एकान्त का पक्ष लेकर जगह-जगह लड़ाई करे...** नहीं ऐसा होता, नहीं ऐसा होता है। अरे भगवान! शान्त हो न, प्रभु! वह तो मिथ्यात्वी के—अधर्मी के लक्षण ही ऐसे होते हैं। समझ में आया? **'ठौर ठौर ठानत... धरम न जानत, ठौर ठौर ठानत'** यहाँ भी रख, यहाँ भी रख सब। **'लराई पच्छपातकी, भूल्यो अभिमानमैं'** बस मैं जानता हूँ (ऐसा) अभिमान में

उसका पैर कहीं ठहरता नहीं, कहते हैं। हिलते हुए भी पैर वह तो तुम्हारा अभिमान में डोले, डोलता हो। आहाहा!

'भूल्यो अभिमानमैं' अहंकार में भूलकर धरती पर पाँव नहीं टिकाता... ऊँचा ऐसा कूदे मानो कि ओहोहो! हम मानो हम हैं, हम हैं। **'न पाउ धरै धरनीमैं, हिरदेमैं करनी विचारै उतपातकी'** हृदय के अन्दर तो उपद्रव, चित्त में उपद्रव सोचे। उसका ऐसा करूँ, ऐसा करूँ... आकुल-व्याकुल... आकुल-व्याकुल... आकुल-व्याकुल। वह अन्दर में, कहते हैं, **'विचारै उतपातकी।' 'उतपात'** अर्थात् उपद्रव। सब उपद्रवी भाव करे अन्दर तूफान... तूफान... तूफान... तूफान... आहाहा! **'फिरै डांवाडोलसौ'** डाँवाडोल फिरे **'कर्मके झकोरोंसे'** ऐसा है न? **'फिरै डांवाडोलसौ करमकै कलोलिनिमैं'** कर्म के उदय में जुड़ने से डाँवाडोल... डाँवाडोल... कहीं ठिकाना नहीं होता। आहाहा!

बड़ा ताबूत हो न कागज का बड़ा ऊँचा, एक बार हिले तो हिला ही करता हो ऐसे... ऐसे... देखे हैं न ताबूत बड़े। हमारे उमराला में बहुत होते थे बड़े। बड़े ताबूत। ताबूत अर्थात् यह डोला, ताजिया। ऐई... बड़े ऊँचे अण्डे बड़े हों, इतने इतने कागज में से बनाये हों। चार ओर चार रखे हों। डाँवाडोल। डोला हिला मानो... सिर का ठिकाना नहीं, पैर का ठिकाना नहीं, हिलने का ठिकाना नहीं। वह तो कषाय की इतनी उग्रता हो अन्दर... **'फिरै डांवाडोलसौ करमकै कलोलिनिमैं, व्है रही अवस्था सु बघूले कैसे पातकी'** समझ में आया? **विश्राम नहीं पाता...** कहीं विश्राम नहीं, स्थिर नहीं, स्थिर का अन्दर ठिकाना नहीं होता। **सो ऐसी दशा हो रही है, जैसे बघरूड में पत्ता उड़ता फिरता है...** क्या कहलाता है? हवा की आँधी। उस आँधी में तिनका उड़े, वैसे फिरा फर फिरा फर फिरा फर करे। कषाय का जोर है न अन्दर? मिथ्यात्व के जोर के कारण वह तो मानो, ऐसा कर दूँ और ऐसा कर दूँ और इसे कर दूँ और इससे करूँ और इसे प्रसन्न कर दूँ और इसे नाराज कर दूँ.....

'व्है रही अवस्था सु बघूले कैसे पातकी' आहाहा! उड़ता-फिरता है, बधूले में जैसे पत्ता उड़ता फिरता है। पात-पात अर्थात् पत्ता। पात-पात की अर्थात् पत्ता, ऐसा।

‘**बघूले कैसे पातकी**’ जैसे पत्ता उड़े आँधी में... डाँवाडोल... डाँवाडोल... कहीं स्थिरता नहीं होती। ‘**जाकी छाती**’ देखो, अब चार शब्द प्रयोग करते हैं। जिसके हृदय में ‘**छाती ताती**’ कर्म की क्रोध हो क्रोध। घड़ीक में अन्दर इसका ऐसा हो जाये, इसका ऐसा हो जाये। ‘**जाकी छाती**’ जिसका हृदय क्रोध से तप्त हो। ‘**कारी**’ लोभ से मलिन है। कारी अर्थात् काली। कारी अर्थात् काली। मैल हृदय में लोभ का मैल। किसी भी काम में उसे अन्दर में लोभ... लोभ... लोभ... लोभ... कुछ भी आशा हो। यहाँ कुछ, यहाँ कुछ, यहाँ कुछ। आहाहा!

‘**जाकी छाती ताती कारी**’ अर्थात् काली। कुटिल माया। चारों समाहित कर दिया है। माया से कुटिल... कुटिल। और ‘**कुवाती**’ मान से कुवाती। बड़े कुबोल बोले। ठिकाना नहीं होता भाषा का। आहाहा! चार बोल को समाहित कर दिया है। ‘**ताती कारी कुटील कुवाती भारी**’ इसमें कहते हैं कि भारी हो गया है, लो। **मान से कुवचन बोलता है, ऐसा आत्मघाती...** आहाहा! पर का घात करे, न करे, उसके साथ सम्बन्ध है नहीं। आत्मघाती अपने ज्ञान आनन्द का घात क्षण-क्षण में करता है। ‘**ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी**’ महापापी मिथ्यात्वी होता है, लो।

यह तो एक स्वरूप बताया है, हों! वरना यहाँ मंगलाचरण में इसका काम नहीं। यह मंगलाचरण। मंगलाचरण में है। ऐसे होते हैं, ऐसा जरा बताया है, जनाया है। मंगलाचरण है न ऊपर। मंगलाचरण है, फिर उत्थानिका आयेगी। ऊपर मंगलाचरण है। उत्थानिका उस ओर आयेगी ग्यारहवें पृष्ठ पर। मंगलाचरण है सर्वत्र। मंगलाचरण है। यह मंगलाचरण चला आता है। परन्तु यह... भूमिका, भूमिका। उसकी भूमिका स्थापित करते हैं कि ऐसे अज्ञानी होते हैं। अब सिद्ध को स्मरण करते हैं। इतना ज्ञान कराया, हों! मात्र मिथ्यात्वी का।

★ ★ ★

काव्य - १०

(दोहा)

बंदौ सिव अवगाहना, अरु बंदौं सिव पंथ।
जसु प्रसाद भाषा करौं, नाटकनाम गरंथ।।१०।।

शब्दार्थ:-अवगाहना=आकृति।

अर्थ:-मैं सिद्ध भगवान को और मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) को नमस्कार करता हूँ, जिनके प्रसाद से देशभाषा में नाटक समयसार ग्रन्थ रचता हूँ।।१०।।

काव्य-१० पर प्रवचन

बंदौ सिव अवगाहना, अरु बंदौं सिव पंथ।
जसु प्रसाद भाषा करौं, नाटकनाम गरंथ।।१०।।

आहाहा! '**बंदौं सिव अवगाहना**' मोक्ष सिद्ध भगवान की आकृति को मैं वन्दन करता हूँ। देखो, भाषा कैसी की है। कोई कहे, भाई! सिद्ध को आकृति होती है या नहीं? इसलिए अवगाहना डाली है। सिद्धप्रभु अपने असंख्य प्रदेश की आकृति में है। उन्हें आकार होता है। आत्मा है न? इसलिए आकार होता है। आहाहा! असंख्य प्रदेशी पूर्ण निर्मल शुद्ध आनन्दघन का जिसे अवगाहन होता है। चीज़ चौड़ी होती है या नहीं? जो कोई चीज़ हो उसे चौड़ाई होती है या नहीं? (चौड़ाई) कि इतनी चौड़ी। वह अवगाहन नाम लेकर उन्हें वन्दन करते हैं। '**बंदौं सिव अवगाहना**' शिव अर्थात् मोक्ष। सिद्धालय। सिद्ध भगवान को मैं वन्दन करता हूँ। '**अरु बंदौं सिव पंथ**' मोक्षमार्ग को मैं वन्दन करता हूँ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को भी वन्दन करता हूँ। मोक्ष और मोक्ष का मार्ग दोनों इसमें आ गये। देखो! यह रत्नत्रय, सम्यग्दर्शन को भी नमस्कार, सम्यग्ज्ञान को नमस्कार, सम्यक्चारित्र को नमस्कार। '**जसु प्रसाद भाषा करौं**' जिसकी मेहरबानी-प्रसाद से... यहाँ तो इतना कि निर्मान हूँ। आहाहा! जिसके प्रसाद से भाषा करते हैं... **नाटकनाम गरंथ..** इसका नाम नाटक। यह 'समयसार नाटक' नाम का ग्रन्थ है।

अब स्वयं कवि स्वरूप... अपना वर्णन करते हैं, अपना वर्णन, हों! मैं रचनेवाला ऐसा कवि हूँ।

★ ★ ★

काव्य - ११

कविस्वरूप का वर्णन।

(सवैया मत्तगयन्द। वर्ण २३)

चेतनरूप अनूप अमूरति,
सिद्धसमान सदा पद मेरौ[1]।
मोह महातम आतम अंग,
कियौ परसंग महा तम घेरौ[2]।।
ग्यानकला उपजी अब मोहि,
कहौं गुन नाटक आगमकेरौ।
जासु प्रसाद सधै सिवमारग,
वेगि मिटै भववास बसेरौ।।११।।

शब्दार्थ:-अमूरति (अमूर्ति)=निराकार। परसंग (प्रसंग)=सम्बन्ध।

अर्थ:-मेरा स्वरूप सदैव चैतन्यस्वरूप, उपमारहित और निराकार सिद्ध सदृश है। परन्तु मोह के महा अन्धकार का संग करने से अन्धा बन रहा था। अब मुझे ज्ञान की ज्योति प्रगट हुई है, इसलिए नाटक समयसार ग्रन्थ को कहता हूँ, जिसके प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है और जल्दी संसार का निवास अर्थात् जन्म-मरण छूट जाता है।।११।।

---

१. यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा कथन है।
२. यहाँ व्यवहारनय की अपेक्षा कथन है।

काव्य-११ पर प्रवचन

चेतनरूप अनूप अमूरति,
सिद्धसमान सदा पद मेरौ।
मोह महातम आतम अंग,
कियौ परसंग महा तम घेरौ।।
ग्यानकला उपजी अब मोहि,
कहौं गुन नाटक आगमकेरौ।
जासु प्रसाद सधै सिवमारग,
वेगि मिटै भववास बसेरौ।।११।।

'**चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरौ**' निश्चय। नीचे कहा है। निश्चय क्यों है? नीचे अर्थ है। '**मोह महातम आतम अंग कियौ परसंग महातम घेरौ**' ऐसा मैं हूँ, तथापि मोह के माहात्म्य में आतम के अंग में... मोह का माहात्म्य आतम के अंग में लगा दिया है। असंख्य प्रदेश में मिथ्यात्व का अंग (रंग) लगा दिया है। '**मोह महातम आतम अंग कियौ परसंग महातम घेरौ**' परन्तु मैंने परसंग किया, ऐसा कहते हैं। कर्म के उदय का, राग का मैंने संग किया है। मैंने संग किया है। कर्म ने कुछ कराया नहीं। सिद्ध समान मेरा पद है, तथापि पर्याय में... पहला द्रव्यदृष्टि से द्रव्य की बात की। अब पर्याय की बात अर्थात् व्यवहार। मेरी अवस्था में मोह के माहात्म्य के कारण आतम के अंग में मैंने पर का संग किया।

'**महातम घेरौ**' महा अन्धकार का घेरा। लो, यह व्यवहार का कथन। पर्याय में राग का घेरा लगा है, अन्धकार का घेरा। भगवान सिद्ध समान, वस्तु तो सिद्ध समान शुद्ध है, तथापि पर्याय में राग का अन्धकार का एकताबुद्धि का घेरा लगा है। '**महातम**' नीचे (अर्थ) किया है **मेरा स्वरूप सदाय चैतन्यस्वरूप उपमारहित निराकार सिद्ध सदृश है...** निश्चय। '**परन्तु मोह के महा अन्धकार का संग करने से...** देखो, मोह का—महा अन्धकार का संग करके **अन्धा बन रहा था...** अन्ध हुआ था। मेरे स्वरूप की मुझे खबर नहीं थी।

ग्यानकला उपजी अब मोंकू, '**ग्यानकला उपजी अब मोहि, कहौं गुन नाटक आगमकेरौ। ज्ञानकी ज्योति प्रगट हुई।** मैं तो चैतन्यज्योति हूँ, अब ऐसा भान हुआ। राग, पुण्य और शरीर जो (मेरे) माने थे, वह भ्रमणा टल गयी। मैं ज्ञानज्योति चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा मेरी चीज़ तो यह है, ऐसी ज्ञानकला उपजी। कला कही है न? '**अब मोहि**' मुझे ज्ञानदशा पर्याय प्रगट हुई, ऐसा कहते हैं। अज्ञान टलकर सम्यग्ज्ञान आनन्दसहित का हुआ। '**कहौं गुन नाटक**' मैं अब कहूँगा, कहते हैं। प्रगट 'नाटक समयसार' ग्रन्थ को कहता हूँ, लो। '**कहौं गुन नाटक आगमकेरौ**' आगम है न यह समयसार, आगम अर्थात् ग्रन्थ कहा।

'**जासु प्रसाद सधै सिवमारग**' जिसकी प्रसादी से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। जो ज्ञानकला, सम्यक्कला, शान्ति की कला, राग से भिन्न भाव की कला से '**सिवमारग सधै**' मोक्ष का मार्ग ज्ञानकला द्वारा सधता है। देखो! यह मोक्ष का मार्ग सधे, ऐसा कहते हैं। '**ग्यानकला उपजी अब मोहि, कहौं गुन नाटक आगमकेरौ**' समयसार के मैं गुण कहूँगा, समयसार की व्याख्या कहूँगा, ऐसा कहते हैं। आत्मा के स्वभाव का वर्णन समयसार नाटक में करूँगा। '**जासु प्रसाद सधै सिवमारग**' ज्ञानकला के प्रसाद से मेरा मोक्ष का मार्ग सधता है। '**वेगि मिटै भववास बसेरौ।' जल्दी संसार का निवास अर्थात् जन्म-मरण छूट जाता है।** लो, जन्म-मरण छूट जाये, ऐसी ज्ञानकला प्रगटी, जिससे मैं अल्पकाल में संसार से छूट जाऊँगा, ऐसा कहते हैं। लो, यह विश्वास देता है आत्मा। कहो, समझ में आया?

'**वेगि मिटै**' ऐसा वापस। वेग से अर्थात् जल्दी। जल्दी संसार का अन्त आ जायेगा इसमें। जिसमें भव नहीं, भव का भाव नहीं, ऐसे भाव का भान हुआ, अब भव कैसा? ऐसा कहते हैं। आहाहा! इस भव में तो यह है, देखो न! है कहीं चैन? कितनी दवायें लेना और कितनी गोलियाँ। लड़का हो तो, कहे, ख्याल नहीं रखते यहाँ। आहाहा! आ जाये एकाध-दो दिन के लिये। हो-हा कर जाये। .... अब, तुम यहाँ और हम वहाँ। परन्तु वह परचीज़ क्या करे? नजदीक हो तो भी करे क्या वहाँ? अपना भगवान आत्मा, कहते हैं कि विकार और शरीर से भिन्न पड़ा, ज्ञानकला जगी, उससे हमारा शिवपना सधेगा। हम अल्पकाल में संसार से मुक्त होंगे। किसी की उसमें

सहायता की—मदद की आवश्यकता नहीं। संसार का निवास—जन्म-मरण छूट जाता है। भववास कहा है न? '**वेगि मिटै भववास**'—इस भव में निवास किया है अनादि से। धूल में शरीर और यह और यह... आहाहा! अनादि-अनादि भववास में निवास। भववास का निवास अल्पकाल में छूट जायेगा। लो, ११वाँ काव्य कहा। अब लघुता वर्णन, अपनी स्वयं की लघुता वर्णन करते हैं।

★ ★ ★

काव्य - १२

कवि लघुता वर्णन

(छन्द महनर । वर्ण ३१)

जैसैं कोऊ मूरख महा समुद्र तिरिवेकौं,
भुजानिसौं उद्यत भयौ है तजि नावरौ।
जैसैं गिरि ऊपर विरखफल तोरिवेकौं,
बावनु पुरुष कोऊ उमगै उतावरौ।।
जैसैं जलकुंडमैं निरखि ससि-प्रतिबिम्ब,
ताके गहिबेकौं कर नीचौ करै टाबरौ।
तैसैं मैं अलपबुद्धि नाटक आरंभ कीनौ,
गुनी मोहि हसैंगे कहैंगे कोऊ बावरौ।।१२।।

शब्दार्थः-विरख (वृक्ष)=पेड़। बावनु (बौना)=बहुत छोटे कद का मनुष्य। टाबरौ[१]=बालक। बावरौ=पागल।

अर्थः-जिस प्रकार कोई मूर्ख अपने बाहुबल से बड़ा भारी समुद्र तैरने का प्रयत्न करे, अथवा कोई बौना मनुष्य पहाड़ के वृक्ष में लगे हुए फल को तोड़ने के लिये जल्दी से उछले, जिस प्रकार कोई बालक पानी में पड़े हुए चन्द्रबिम्ब को हाथ से पकड़ता है,

१. यह शब्द मारवाडी भाषा का है।

उसी प्रकार मुझ मन्दबुद्धि ने नाटक समयसार (महाकार्य) प्रारम्भ किया है, विद्वान् लोग हँसी करेंगे और कहेंगे कि कोई पागल होगा।।१२।।

काव्य-१२ पर प्रवचन

जैसैं कोऊ मूरख महा समुद्र तिरिवेकौं,
भुजानिसौं उद्यत भयौ है तजि नावरौ।
जैसैं गिरि ऊपर विरखफल तोरिवेकौं,
बावनु पुरुष कोऊ उमगै उतावरौ।।

'**तजि नावरौ**' इसका अर्थ नहीं हुआ। नाव को छोड़कर, ऐसा चाहिए न? यह अर्थ नहीं आया। '**भुजानिसौं उद्यत भयौ है तजि नावरौ**' ऐसा। नाव-बाव छोड़कर भुजा से तिरना चाहता है। यह शब्दार्थ नहीं आया, नहीं? रह गया है। नहीं, अर्थ में भी नहीं। अर्थ में भी नहीं। नीचे कठिन शब्द में भी नहीं और अर्थ में भी नहीं। **जिस प्रकार कोई मूर्ख अपने बाहुबल से बड़ा भारी समुद्र नाव छोड़कर तैरने का प्रयत्न करे...** ऐसा चाहिए। नाव है, उसे छोड़कर भुजा से तिरना चाहे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'**जैसे गिरि ऊपर विरखफल तोरिवेकौ**' जैसे पहाड़ के ऊपर एक वृक्ष हो, पहाड़ के ऊपर वृक्ष, वापस ऐसा, नीचे वृक्ष हो तो और कुछ... पहाड़ के ऊपर वृक्ष, उसका फल तोड़ने में—तोड़ने को बावना पुरुष—छोटे कदवाला। **बावनु—**बावनिया पुरुष। है न? वामन, वामन, '**बौना**'। वामन, वामन, ढींचको, बहुत छोटा हो, बहुत छोटा। वहाँ मैसूर में साठ वर्ष का है। साठ वर्ष का है, लड़का ऐसा लगे। नामा लिखता है। यह कहते हैं कि पहाड़ के ऊपर वृक्ष, उसका फल ऊँचे, उसे तोड़ना चाहे। ऐसा यह मैं करना चाहता हूँ, यह शास्त्र। निर्मानपना बताते हैं। '**जैसे गिरि ऊपर विरखफल तोरिवेकौ, बावनु पुरुष कोऊ उमगै उतावरौ**' वापस पहाड़ के ऊपर लगे फल को तोड़ने के लिये जल्दी से उछले ऐसा। '**उतावरौ**' कहा न। '**उमगै उतावरौ**' उत्साह करके उतावल करे, ऐसा कहते हैं।

'**जैसैं जलकुंडमैं निरखि ससि प्रतिबिंब।' कोई बालक पानी में पड़े हुए चन्द्रबिम्ब**

को हाथ से पकड़ता है.... सरोवर में चन्द्र दिखे और हाथ में पकड़ने जाये, वहाँ कहाँ चन्द्र है कि पकड़ेगा? **'जैसैं जलकुंडमैं निरखि'** जल के कुण्ड में निरखी-देखकर **'ससि'** अर्थात् चन्द्र। उसका प्रतिबिम्ब, **'ताके गहिबेकौं कर नीचौ करै टाबरौ।' 'टाबरौ'** अर्थात् बालक। टाबरो नहीं आता? उसे ग्रहण करने को हाथ नीचे करे, ऐसे हाथ डाले अन्दर। **चन्द्रबिम्ब को हाथ से पकड़ता है...** देखो, निर्मानता वर्णन करते हैं। उसी प्रकार यह 'समयसार' अलौकिक शास्त्र, उसे मैं एक मन्दबुद्धि बालक करना चाहता हूँ, ऐसा कहकर... आहाहा! देखो, समझ में आया?

'तैसैं मैं अलपबुद्धि' उसकी भाँति मैं अल्पबुद्धि, नाव छोड़कर भुजा से समुद्र तिरे—ऐसा मैं; वामन पुरुष पहाड़ के वृक्ष के फल को तोड़ने के लिये उतावला होकर उत्साहित हो, पानी में चन्द्रमा का बिम्ब है, उसे पकड़ने के लिये जैसे बालक जाये, वैसे ऐसा मैं उसकी भाँति मैं अल्पबुद्धि कहता हूँ। **'तैसैं मैं अलपबुद्धि नाटक आरंभ कीनौ'** समयसार नाटक का मैंने आरम्भ किया है। मन्दबुद्धि के अर्थ में ऐसा कहा है। अल्पबुद्धि अर्थात् मन्दबुद्धि ऐसा शब्द किया है। अल्पबुद्धि है। कहते हैं कि मेरी बुद्धि अल्पबुद्धि है, ऐसा कहते हैं। मेरे कार्य बड़ा है, मेरी बुद्धि थोड़ी है। समयसार। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य जैसे बड़े आकाश के स्तम्भ जैसे धर्म के धुरन्धर जिन्होंने (समयसार) रचा, उसे मैं अब पद्य में रचना चाहता हूँ। मेरी बुद्धि तो अल्प है। **नाटक समयसार (महाकार्य) प्रारम्भ किया है।** कार्य बड़ा। **'नाटक आरंभ कीनौ।'**

'गुनी मोहि हसैंगे' गुणी तो मुझे हँसेंगे। गुणी शब्द में विद्वान, ऐसा अर्थ करना है न यहाँ। विद्वान लोग तो हँसेंगे। गुणी हैं उन्हें तो कुछ नहीं, परन्तु विद्वान जो बहुत बुद्धिवाले गिने जाते हैं, ऐसा कहते हैं, वे मुझे हँसेंगे, हँसेंगे। हँसी करेंगे कि ऐसा काम यह क्या तू लेकर बैठा है? तेरा काम है यह? महान अमृतचन्द्राचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य जैसे धर्म के स्तम्भ, धर्म के धुरन्धर जिन्होंने (समयसार) बनाया, उसका अर्थ तू पद्य में तू ऐसा मनुष्य। भाई! हँसो। विद्वान हँसो। कोई पागल कहेगा। **'कहैंगे कोऊ बावरौ'** पागल है, कहते हैं यह, ऐसा करके... तथापि मैं भक्ति से करना चाहता हूँ, ऐसा कहते हैं। चाहे जैसा मुझे कहे, परन्तु मैं तो समयसार नाटक रचना चाहता हूँ। कहेंगे कि कोई पागल होगा। ऐसा कहो तो कहो, परन्तु मैं तो उसे लिखना चाहता हूँ। अब इसका न्याय देंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५, पौष कृष्ण १०, गुरुवार, दिनांक २१-१-१९७१
उत्थानिका, पद—१३ से १८

काव्य - १३

(सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू रतनसौं बींध्यौ है रतन कोऊ,
तामैं सूत रेसमकी डोरी पोई गई है।
तैसैं बुध टीकाकरि नाटक सुगम कीनौ,
तापरि अलपबुद्धि सूधी परिनई है।।
जैसैं काहू देसके पुरुष जैसी भाषा कहैं,
तैसी तिनिहुंके बालकनि सीख लई है।
तैसैं ज्यौं गरंथकौ अरथ कह्यौ गुरु त्योंहि,
हमारी मति कहिवेकौं सावधान भई है।।१३।।

शब्दार्थ:–बुध=विद्वान्। परनई (परणई)=हुई है।

अर्थ :– जिस प्रकार हीरा की कनी से किसी रत्न में छेद कर रक्खा हो तो उसमें रेशम का धागा डाल देते हैं, उसी प्रकार विद्वान् स्वामी अमृतचन्द्र आचार्य ने टीका करके समयसार को सरल कर दिया है, इससे मुझ अल्पबुद्धि की समझ में आ गया। अथवा जिस प्रकार किसी देश के निवासी जैसी भाषा बोलते हैं, वैसी उनके बालक सीख लेते हैं; उसी प्रकार मुझको गुरु-परम्परा से जैसा अर्थज्ञान हुआ है, वैसा ही कहने को मेरी बुद्धि तत्पर हुई है।।१३।।

काव्य-१३ पर प्रवचन

काव्य - १३

जैसैं काहू रतनसौं बींध्यौ है रतन कोऊ,
तामैं सूत रेसमकी डोरी पोई गई है।

तैसैं बुध टीकाकरि नाटक सुगम कीनौ,
तापरि अलपबुद्धि सूधी परिनई है।।
जैसैं काहू देसके पुरुष जैसी भाषा कहैं,
तैसी तिनिहुंके बालकनि सीख लई है।
तैसैं ज्यौं गरंथकौ अरथ कह्यौ गुरु त्योंहि,
हमारी मति कहिवेकौं सावधान भई है।।१३।।

बनारसीदास कहते हैं कि '**जैसैं काहू रतनसौं**' हीरा से '**बींध्यौ है रतन**' किसी एक रतन को... हीरा की कणी से एक रतन को जैसे बींधा हुआ हो, तार पाड़ा हुआ हो, '**तामैं सूत रेसमकी डोरी पोई गई है**' तैयार छिद्र हो, उसमें रेशम की डोरी पिरोवे। है न? **हीरा की कनी से किसी रत्न में छेद कर रक्खा हो...** ऐसा। हीरा की कणी से रत्न में छिद्र किया हुआ तैयार है, मात्र उसमें डोरा पिरोना है। **तो उसमें रेशम का धागा डाल देते हैं... 'सूत'** है न? सूत—रेशम। धागा। रेशम का धाग उसमें डालते हैं। **उसी प्रकार विद्वान स्वामी अमृतचन्द्र आचार्य ने... 'तैसैं बुध टीका'** बुध का अर्थ इतना किया यहाँ, अमृतचन्द्राचार्य। दूसरे में जरा दूसरा अर्थ एक थोड़ा किया है। राजमल कवि, टीका बहुत अच्छी की है। अमृतचन्द्राचार्य ने कलश बनाये, उसमें राजमलजी ने टीका की। **समयसार को सरल कर दिया है...** सादी भाषा में समयसार का स्वरूप सरल किया है।

'जैसैं काहू देसके पुरुष, तापरि अलपबुधि सूधी परिनई है' इससे मुझ अल्पबुद्धि की समझ में आ गया... ऐसा कहते हैं। सरल किया, इसलिए समझ में आ गया। जैसे हीरा की कणी से रत्न का छिद्र किया हो तो डोरी पिरोयी जाये, उसी प्रकार सरल किया है, इसलिए मेरी समझ में आ गया। अमृतचन्द्राचार्य ने बहुत सरल (किया) और उसमें राजमलजी की टीका, उससे मेरी अल्पबुद्धि '**अलपबुधि सूधी परिनई**'—सम्यक्‌रूप से परिणमित हुई है। '**जैसैं काहू देस**' अब दूसरा अर्थ करते हैं कि गुरु ने जैसा कहा, वैसा मैंने सीख लिया। यह ऐसे (अर्थ) करते हैं। दूसरा, पहले यह कहा। '**जैसैं काहू देसके पुरुष जैसी भाषा कहैं**'—देश के पुरुष जैसी वचनवाणी कहे, '**तैसी तिनिहूंके बालकनि सीख लई**' बालक ने उस प्रमाण सीख ली। '**तैसैं गरंथकौ अरथ कह्यौ गुरु**' अमृतचन्द्राचार्य... समयसार का अर्थ अलौकिक समयसार... और भरतक्षेत्र का अद्वितीय

नेत्र। अजोड़... अजोड़... समयसार। उसकी कहते हैं कि टीका '**गरंथकौ अरथ कह्यौ**' हमारे गुरु ने—अमृतचन्द्राचार्य ने (कहा)। वरना तो एकदम समझ में यह बात आवे नहीं। (समझ में आये) इतना सरल कर दिया टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य ने।

'**हमारी मति कहिवेकौं सावधान भई**' जैसे वह बालक सीख ले और कहे, वैसे मेरी मति कहने को सावधान हुई है, लो। **बालक सीख लेते हैं, उसी प्रकार मुझको गुरु परम्परा से जैसा अर्थज्ञान हुआ है, वैसा ही कहने को मेरी बुद्धि तत्पर हुई है...** दो अर्थ किये। सरल किया, इसलिए सम्यक् ज्ञान में समझ में आ गया और गुरु ने जैसा कहा, वैसी भाषा मैंने सीख ली। इस प्रकार से कहना, ऐसी कथनी ऐसे करना, ऐसा सीखकर अब मैं तत्पर होकर यह समयसार कहता हूँ।

अब कहते हैं कि भगवान की भक्ति से हमें बुद्धिबल प्राप्त हुआ है।

★ ★ ★

काव्य - १४

अब कवि कहते हैं कि भगवान की भक्ति से हमें बुद्धिबल प्राप्त हुआ है।

(सवैया इकतीसा)

कबहू सुमति व्है कुमतिकौ विनास करै,
कबहू विमल ज्योति अंतर जगति है।
कबहू दया व्है चित्त करंत दयालरूप,
कबहू सुलालसा व्है लोचन लगति है।।
कबहू आरती व्है कै प्रभु सनमुख आवै,
कबहू सुभारती व्है बाहरि बगति है।
धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारै भगवंतकी भगति है।।१४।।

शब्दार्थः-सुभारती=सुन्दर वाणी। लालसा=अभिलाषा। लोचन=नेत्र।

अर्थः—हमारे हृदय में भगवान की ऐसी भक्ति है जो कभी तो सुबुद्धिरूप होकर कुबुद्धि को हटाती है, कभी निर्मल ज्योति होकर हृदय में प्रकाश डालती है, कभी दयालु होकर चित्त को दयालु बनाती है, कभी अनुभव की पिपासारूप होकर नेत्रों को थिर करती है, कभी आरतीरूप होकर प्रभु के सन्मुख आती है, कभी सुन्दर वचनों में स्तोत्र बोलती है, जब जैसी अवस्था होती है, तब तैसी क्रिया करती है।।१४।।

काव्य-१४ पर प्रवचन

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : लो, इसमें आयेगा सब। यह तो भगवान की भक्ति और भगवान, यह (चैतन्य) भगवान और उसकी भक्ति, साथ में भगवान की भक्ति—दोनों है। बात तो ऐसी ही आवे न! निर्मानपने वह कैसे बोले? सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव सर्वज्ञदेव की भक्ति से मेरी बुद्धि में सम्यक्रूप से बात समझ में आ गयी है, ऐसा कहते हैं। भक्ति है न, भक्ति? भक्ति है, ऐसा कब कहलाये यथार्थरूप से? कि अपने चैतन्य की भक्ति जगी है, उसे व्यवहार भगवान की भक्ति है, ऐसा कहा जाता है। अकेली भक्ति भगवान की, ऐसा कहाँ होता है यहाँ? समझ में आया? देखो! भगवान की भक्ति से हमें बुद्धि (प्राप्त हुई) है। ऐसा ही बोले न भाषा।

'**कबहू सुमति व्है कुमतिकौ विनास करै**' यह भक्ति। '**कबहू सुमति व्है कुमतिकौ विनास करै, कबहू विमल जोति अंतर जगति है**' देखो, आया। भगवान की भक्ति से... है अर्थ। **हमारे हृदय में भगवान की ऐसी भक्ति है, जो कभी तो सुबुद्धिरूप होकर कुबुद्धि को हटाती है।** सम्यग्ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश होता है। आहाहा! **कभी निर्मलज्योति होकर हृदय में प्रकाश डालती है...** लो। है? चैतन्यस्वभाव का प्रकाश होता है अन्दर में। स्वसन्मुख होने पर... समझ में आया? है, आयेगा, देखो।

'**कबहू विमल जोति अंतर जगति है**' सर्वज्ञदेव परमगुरु की जहाँ भक्ति अन्तर में उछलती है, तब हमारा चैतन्यप्रकाश भी प्रकाश में आता है, कहते हैं। सर्वज्ञस्वभावी, मैं भी सर्वज्ञस्वभावी हूँ। ऐसे भगवान परिपूर्ण सर्वज्ञ है—ऐसा जहाँ भान हुआ, वहाँ मैं

भी सर्वज्ञ होने के योग्य हूँ, ऐसी चैतन्य की ज्योति अन्तर में से जगती है, कहते हैं। सेठ! आहाहा! '**कबहू विमल जोति**' चैतन्य निर्मल शुद्ध आनन्द और ज्ञान निर्मल, ऐसी ज्योति अन्तर जगती है—अन्तर में जगती है। समझ में आया? '**कबहू दया व्है चित्त करत दयालरूप**' भक्ति में कोमलता-करूणा आज जाती है, तब दयालु चित्त हो जाता है। कषाय की मन्दता से दयालु परिणाम—सभी प्राणियों के प्रति अविरोधभाव आता है। समझ में आया? है तो विकल्प, परन्तु अविरोधभाव करुणा में आता है। **दयालु होकर चित्त को दयालु बनाती है...** इतना अर्थ किया है।

'**कबहू सुलालसा व्है लोचन लगति है**' लो। यह आया। अन्तर भक्ति चैतन्य की आयी। '**कबहू सुलालसा**'—अभिलाषा कर '**लोचन लगति है**' अन्दर नेत्र अन्दर में स्थिर हो जातो हैं। **कभी अनुभव की पिपासारूप होकर नेत्रों को थिर करती है...** अन्तर में ज्ञानचक्षु द्वारा चैतन्य के सर्वज्ञस्वभाव को देखने से अन्तर ज्ञानचक्षु सर्वज्ञस्वभाव में स्थिर हो जाते हैं। कहो, समझ में आया? '**कबहू सुलालसा व्है**' अनुभव की पिपासा—लालसा अर्थात्। अन्तर की पिपासा होने पर, भगवान ऐसे हैं तो मैं भी ऐसा हूँ, ऐसा अन्तर्मुख होने से, लालसा अर्थात् अभिलाषा होने से, पिपासा होने से '**लोचन लगति है**' अन्तर ज्ञान के नेत्र अन्तर में स्थिर होते हैं। कहो, समझ में आया? यह तो अध्यात्म कवि हैं और अध्यात्मग्रन्थ के अर्थ हैं।

'**लोचन लगति है**' अन्तर के नेत्र अन्दर में स्थिर होते हैं। 'शुद्धता विचारे ध्यावे'... आयेगा न आगे। उसमें आयेगा। 'शुद्धता विचारे ध्यावे, शुद्धता में केलि करे, शुद्धता में मगन रहे, अमृतधारा बरसे।' शुभ-अशुभ परिणाम तो विकल्प और राग है, दया-दान आदि वह तो राग है, कषाय है। उनसे रहित आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप... त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा की जहाँ भक्ति उगी, ऐसे सर्वज्ञस्वभाव की अस्ति का जहाँ स्वीकार अन्दर हुआ तो अन्तर में स्वभाव-सन्मुख जाकर नेत्र आँख के अन्तर्नेत्र स्थिर होते हैं, कहते हैं। समझ में आया? 'जो जाने अर्हंत...' आता है न? जो कोई अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, उसके मोह का क्षय होता है। जो कोई अरिहन्त भगवान के आत्मा को, उसकी शक्ति को, उसकी दशा को जाने, वह अन्तर में झुककर—अन्तर में मुड़कर, उस मोह का क्षय करता है, मिथ्यात्व का नाश करता है। राग की एकता... सर्वज्ञस्वभावी

आत्मा की दृष्टि होने से, सर्वज्ञस्वभावी दृष्टि होने से राग की एकता टूट जाती है। समझ में आया? सूक्ष्म तो सब सूक्ष्म है न यह! सवेरे भी सूक्ष्म था। पूरा चैतन्य द्रव्य—वस्तु है। सर्वज्ञ तीर्थंकर केवली ने देखा हुआ आत्मा, ऐसा आत्मा जिसके ख्याल में आया, कहते हैं, वह तो सर्वज्ञस्वरूपी की भक्ति होने से ज्ञान उसमें स्थिर होता है। समझ में आया? बाहर में विकल्प है, इतनी उसे कषाय की मन्दता (है और) अशुभ टलता है।

'कबहू आरती व्है कै प्रभु सनमुख आवै' लो! इसके भी दो अर्थ हैं। आरती अन्दर में... रति। आ—मार्यादा से रति। समस्त प्रकार से स्वरूप में रति होने पर अन्तर्मुख आनन्दस्वरूप में रति—प्रेम होने पर प्रभु-सन्मुख गति जाती है। समझ में आया? **'प्रभु सनमुख आवै'** बाहर में देखो तो भगवान के सामने आरती उतारने में ऐसा विकल्प होता है। भगवान की आरती उतरती है। राजा-महाराजा होते हैं न बहुत बड़े, (पर) देश से वापस आवे न, तो उनकी आरती उतारे। वांकानेर में होता था तुम्हारे। वनेचन्द सेठ कहते थे। सोने की उससे... क्या कुछ कहते हैं? उसे कुछ दूसरी भाषा है।

मुमुक्षु : गौर।

पूज्य गुरुदेवश्री : गौर... गौर। वे गौर कहते थे, गौर कहते थे। कहते थे न सेठ। स्वयं नगरसेठ थे न?

मुमुक्षु : स्वयं करते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : करते थे ऐसे। सोने की वह लेकर, क्या कहलाती है तुम्हारी? गिन्नी, गिन्नी। सोने की लाकर ऐसे कुछ... गौर करे गौर राजा को, इसी प्रकार आत्मा को गौर करता है। (अर्थात् आरती उतारता है।)

अनन्त आनन्द का कन्द प्रभु चैतन्यमूर्ति वारी जाऊँ तुझे, ऐसा इसका अर्थ है, हों, यहाँ। गौर में 'वारि जाऊँ' का अर्थ। ऐसा वनेचन्द सेठ जरा बताते थे, कहते कि ऐसा हम करते थे। राजा आवे न दरबार। दरबार थे, कहो, ऐसा दिखाव सब जमींदार का दूसरा था, दिखाव में। वांकानेर दरबार। आये थे न, व्याख्यान में आये थे। (संवत्) १९९१ में आये थे।

मुमुक्षु : वे और कुँवर दोनों।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों व्याख्यान में आये थे। राज बीज दिखाई दे। राज गया वहाँ रोये। वह राज नाशवान, उसमें क्या था? अविनाशी चैतन्य के राज की जहाँ सम्हाल करे, उसकी जहाँ आरती उतारकर वारि जाऊँ तेरे आत्मा को—मेरे स्वभाव को। अन्दर में शान्ति और जागृति वीतरागता की हो, उसका नाम आत्मा के सन्मुख होकर आरती कहा जाता है। समझ में आया?

तुम्हारे यह सब गिन्नी भी वारि जाये, ऐसे उतार डाला, ऐसा कहते हैं। सोने की गिन्नी डालकर, ऐसा कि डालकर, परन्तु सोने की गिन्नी की गिनती क्या? ऐसा कहते होंगे। उतारकर डाल दे अर्थात् ले लेवे लोग।

मुमुक्षु : हजुरिया ले जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : हजूर ले जाये। दूसरा कौन ले जाये? उसका हजूर व्यक्ति हो न हजुरिया, गिन्नी ले लेवे। गिन्नी से आरती उतारे। लोक में तो ऊँचा गिने, वह उसे गिने न? यहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान और शान्ति से आत्मा की आरती उतारे। समझ में आया?

मुमुक्षु : गिन्नी का...

पूज्य गुरुदेवश्री : गिन्नी क्या थी? गिन्नी में तो गुनाह है। गिन्नी अपनी माने तो गुनाह है।

यह तो आत्मा चैतन्यरत्न महा भगवान पूर्णानन्द का नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकर ने कहा, ऐसे आत्मा का अन्तर में ज्ञान-सन्मुख होने पर आत्मा की अन्दर में लीनता हो जाती है, ऐसा कहते हैं। प्रभु सन्मुख आवे, देखो। दृष्टि भी जहाँ सन्मुख जाती है, स्थिरता भी सन्मुख होती है। बाहर में भगवान की भक्ति में आरती उतारते हुए भी प्रभु पर लक्ष्य जाता है, दूसरा लक्ष्य छूट जाता है।

'कबहू सुभारती व्है बाहरि बगति है' लो। **कभी आरतीरूप होकर... कभी सुन्दर वचनों में स्तोत्र बोलती है।** भारती... भारती।

मुमुक्षु : भारती अर्थात् भाषा।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा। **'कबहू सुवांग'** ऐसी वाणी-वचन भगवान की ऐसी

स्तुति करे। तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ की वाणी द्वारा गणधर स्तुति करे। १००८ नाम द्वारा इन्द्र स्तुति करे। गणधर करे, इन्द्र करे, दूसरे साधारण सन्त भी (करे)। १००८ नाम आते हैं। चार-पाँच स्तुति है। बनारसीदास ने की है। आती है न उसमें भी 'स्तवन मंजरी', स्तवन मंजरी में आती है। बनारसीदास के भगवान के १००८ नाम आते हैं। आया है न उसमें। हाँ, है। स्तवन मंजरी है न अपने पुस्तक? उसमें १००८ नाम। बनारसीदास तो बहुत जोरदार, गृहस्थाश्रम में थे, स्त्री, पुत्रवाले थे। परन्तु वह उसके घर में रहा और यह रुचि अन्दर दृष्टि उड़ गयी थी पूरी। आसक्ति का नाम हो, वह उपाधि है, ऐसा जानकर उसे त्यागना चाहते हैं। यह सवेरे आया था।

'**कबहू सुभारती व्है बाहरि बगति है**' भगवान की स्तुति करते हैं, ऐसा। बोलती है, भक्ति बोलती है बाहर। '**बगति है**'... भाषा तो उसे पद में... करे न। '**धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी**' भगवान की भक्ति... **जब जैसी अवस्था होती है, तब वैसी क्रिया करती है।** बाहर की भक्ति का आवे तो वह उस प्रकार से किया जाये, अन्दर में आनन्द की भक्ति आवे तो अन्दर में स्थिरता हो। ऐसी जहाँ-जहाँ जिस प्रकार से क्रिया हो, तत्प्रमाण वह क्रिया बनती होती है।

'**हिरदै हमारै भगवंतकी भगति है**' लो। आहाहा! परन्तु यह भगवन्त, हों! सर्वज्ञदेव केवलज्ञानी परमात्मा, जिन्हें एक समय में तीन काल—तीन लोक ज्ञात हुए हैं। आहाहा! लोगों को नाम की खबर नहीं होती कि अरिहन्त किसे कहना? अरिहन्त क्या है? अरिहन्त भगवान एक हो गये हमारे तीन काल के जाननेवाले। क्या परन्तु तीन काल के जाननेवाले? जिन्हें तीन काल एक समय में झपट में ले लिया है। यह वह कितना ज्ञान और कितना बड़ा और कितनी महिमा उसकी। ऐसे सर्वज्ञदेव को... ऊपर कहते हैं, हमारे हृदय में भगवान की भक्ति है। श्रीमद् में एक आता है। तुम्हारे ऐसा कि माला गिनना। किसकी? 'सर्वज्ञदेव परमगुरु' उसमें आता है। देव और गुरु दोनों डाले साथ में। ऐसी शैली से डाला है न! सर्वज्ञदेव परमगुरु... सर्वज्ञदेव परमगुरु... सर्वज्ञदेव परमगुरु... सर्वज्ञ शक्ति की दिव्यता प्रगट हुई, वे ही परमगुरु हैं। ऐसा जिसे अन्तर में भान में आता है, उसे आत्मा के सन्मुख में जाकर शान्ति होती है, ऐसा कहते हैं। '**भगवंतकी भगति है**' लो। तब तैसी क्रिया होती है। '**हिरदै हमारै भगवंतकी भगति है**' लो।

अब नाटक समयसार की महिमा वर्णन करते हैं। देखो अब। समयसार की महिमा। कवि भी जोरदार है न!

★ ★ ★

काव्य - १५

अब नाटक समयसार की महिमा वर्णन करते हैं:-

(सवैया इकतीसा)

मोख चलिवेकौ सौन करमकौ करै बौन,
जाके रस-भौन बुध लौन ज्यौं धुलत है।
गुनको गरन्थ निरगुनकौ सुगम पंथ,
जाकौ जसु कहत सुरेश अकुलत है।।
याहीके जु पच्छी ते उड़त ग्यानगगनमैं,
याहीके विपच्छी जगजालमैं रुलत है।
हाटकसौ विमल विराटकसौ विसतार,
नाटक सुनत हिये फाटक खुलत है।।१५।।

शब्दार्थ:-सौन=सीढ़ी। बौन=वमन। हाटक=सुवर्ण। भौन (भवन)=जल।

अर्थ :- यह नाटक मोक्ष को चलने के लिये सीढ़ी स्वरूप है, कर्मरूपी विकार का वमन करता है, इसके रसरूप जल में विद्वान् लोग नमक के समान लीन हो जाते हैं, यह सम्यग्दर्शनादि गुणों का पिण्ड है, मुक्ति का सरल रास्ता है, इसकी महिमा वर्णन करते हुए इन्द्र भी लज्जित होते हैं, जिन्हें इस ग्रन्थ की पक्षरूप पंखे प्राप्त हैं, वे ज्ञानरूपी आकाश में विहार करते हैं और जिसको इस ग्रन्थ की पक्षरूप पंख प्राप्त नहीं हैं, वह जगत के जंजाल में फँसता है, यह ग्रन्थ शुद्ध सुवर्ण के समान निर्मल है, विष्णु के विराटरूप के सदृश विस्तृत है, इस ग्रन्थ के सुनने से हृदय के कपाट खुल जाते हैं।।१५।।

काव्य-१५ पर प्रवचन

'मोख चलिवेकौ सौन' भगवान आत्मा को मोक्ष जाने का यह पहला शकुन है। जिसे समयसार मिला, जिसे समयसार ग्रन्थ मिला, ऐसा कहते हैं यहाँ तो, भाई! आहाहा! देखो! सीढ़ी स्वरूप है समयसार। निमित्तरूप से शास्त्र, भावरूप से आत्मा को समयसार (कहा)। समझ में आया? **'मोख चलिवेकौ सौन'** शकुन हुआ पहला। शकुन हुआ कि मोक्ष तुम्हारा अब तैयार है। जिसने समयसार का पक्ष किया। समयसार भरतक्षेत्र का अलौकिक, केवलज्ञानी को भुलावे ऐसा शास्त्र है। केवलज्ञानी की आवश्यकता न पड़े, ऐसा यह शास्त्र है। केवलज्ञानी की ही वाणी है। सीधी परम्परा से आयी हुई, ऐसी यह बात अन्यत्र कहीं है नहीं। आहाहा! **'मोख चलिवेकौ सौन'** शकुन... शकुन। अथवा सीढ़ी। अर्थ सीढ़ी किया है। बाकी शकुन है यह। वास्तव में तो यह मोक्ष जाने का शकुन हुआ इसे। समयसार कान में पड़ा और सुनने में मिला। यहाँ तो यह ही है। सुनने को मिला, वह तो शकुन हो गया इसका, कहते हैं। ऐई! आहाहा!

'मोख चलिवेकौ सौन करमकौ करै बौन' कर्म का तो नाश कर दे। विकार का तो वमन। **'बौन'** अर्थात् वमन। वमन करना, वमन करना। उसे (आत्मा को) प्राप्त होना और (विकार का) वमन करना। भाषा देखो! समयसार शास्त्र अलौकिक ग्रन्थ। उसकी मुख्यता से बात करते हैं, परन्तु उसका वाच्य आत्मा (और वाचक)—दोनों, कहते हैं कि जिसे लक्ष्य में आया, उसे तो अब मोक्ष का शकुन हो गया और अब चढ़ने की सीढ़ी हो गयी। पूर्णानन्द की प्राप्ति होने की वह श्रेणी मिल गयी।

'करमकौ करै बौन' कर्म का तो वमन कर डालता है। कर्मरूपी विकार... भगवान आत्मा निर्विकारी आनन्दमूर्ति अतीन्द्रियस्वरूप का जिसे लक्ष्य हुआ, वह समयसार जिसे अन्तर में प्राप्त हुआ, वह तो कर्म के विकार का वमन कर डालता है, उल्टी कर डालता है, उल्टी। फिर से लेने का... ले सकता (नहीं)। वमन का अर्थ यह है। वमन कर डाला, उसे फिर से नहीं लिया जाता। इसी प्रकार जिसने समयसार ऐसा आत्मा और समयसार ऐसी वाणी समयसार की मिली, उसे विकार का वमन हो जाता है, उसे फिर से विकार नहीं होता। ऐसा अप्रतिहतभाव कहते हैं यहाँ। आहाहा!

यह आत्मा चैतन्यस्वरूप भगवान पूर्ण आनन्द का रत्नाकर, उसका जिसे श्रवण मिला और श्रवण करके जिसने स्व-सन्मुख की रुचि की, कहते हैं कि उसने कर्म के विकार को तो वमन अर्थात् व्यय कर दिया और पूर्णानन्द की प्राप्ति की श्रेणी उसने मांडी। उसका शकुन हुआ। आहाहा! कहो, समझ में आया? कहते हैं कि यह पंचम काल है तो उसे मोक्ष के लिये क्या? कि जिसे समयसार मिला, उसे मोक्ष का शकुन हो गया और मोक्ष की सीढ़ी मँड गयी। पण्डितजी! आहाहा!

समयसार शास्त्र एक-एक गाथा, उसकी टीका, ओहोहो! अकेला रस भरा है। सत् का-सत् का-सत्य का ही अन्दर अकेले अमृत के घूँट भरे हैं अन्दर। ऐसा यह समयसार। '**जाके रस-भौन बुध लौन ज्यौं घुलत है**' जिसके रसरूपी '**भौन**' अर्थात् पानी—जल। जिसके रसरूपी जल में बुध '**लौन**' पानी में जैसे नमक गल जाये... लवण—नमक। '**जाके रस भौन**'—भवन। फिर जल कहा है, मूल तो जल कहना है। जल कहा है न पीछे? भौन का अर्थ भवन करके जल, मूल तो जल में नमक मिल जाता है। '**जाके रस भौन**'... जिसका आत्मरस, जैसे पानी में नमक मिल जाता है, वैसे बुध का आत्मज्ञान उसमें एकाकार हो जाता है। '**घुलत**'—एकाकार हो जाता है। बहुत संक्षिप्त भाषा में... और कवि है न, अध्यात्म कवि है। उपमा भी थोड़ी देकर बहुत बड़ा समझाते हैं अन्दर।

कहते हैं, जिसका—आत्मा का रस आया और समयसार अनुभवरस को बताता है। समझ में आया? लाख बात की बात करो करोड़-अरब सब, परन्तु वह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ पूर्णानन्द प्रभु का अनुभव, ऐसा रस, पानी में जैसे नमक—लवण '**घुलत**' है—एकमेक हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा की दशा आनन्द की, आत्मा के साथ एकमेक हो जाती है। आहाहा! समझ में आया? '**बुध लौन**' बुध हों, ज्ञानी—तत्त्वज्ञानी, ऐसा। '**रसरूप जलमें विद्वान लोग। बुध**' है न? वास्तविक तत्त्व को समझनेवाला, समयसार के वास्तविक तत्त्व को पकड़नेवाला ऐसा बुध अर्थात् ज्ञानी, विद्वान लोग, '**नमकके समान लीन**' पानी में जैसे नमक एकमेक हो जाता है, आहाहा! वैसे अपनी वर्तमानदशा अन्तर में लीन होती है, उसे समयसार प्राप्त हुआ और उसे समयसार की वाणी मिली। कहो, इतनी महिमा है इसकी।

'गुनको गरन्थ निरगुनकौ सुगम पंथ' गुण का तो ग्रन्थ है। सम्यग्दर्शन आदि गुणों को तो पिण्ड आत्मा है। समयसार अर्थात् कि आत्मा और आत्मा वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जीवत्व, चैतन्यशक्ति आदि आती है न, उन सब गुणों की गठड़ी है। आहाहा! गुण का भण्डार। वह तो सम्यग्दर्शन आदि गुणों का पिण्ड है। पिण्ड पड़ा, पिण्ड पूरा है। आहाहा!

'गुनकौ गरन्थ निरगुनकौ सुगम पंथ... निरगुन' अर्थात् मुक्ति का तो सरल रास्ता है। जिसमें राजस, तमस प्रकृति आदि, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि नहीं। विकारी गुण नहीं, ऐसा निर्गुण, ऐसी मुक्ति, उसका वह सरल रास्ता है। लो, यह रास्ता है। आहाहा! शुद्ध चैतन्यस्वभाव समयसार द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरहित ऐसा जहाँ अन्तर भान हुआ, उसे कहते हैं कि मोक्ष का तो सरल पंथ हाथ आ गया। सरल रास्ता आ गया, सरल। आहाहा! क्रिया करके दु:ख भोग-भोगकर आत्मा प्राप्त होगा, मोक्ष होगा, मर गया अनन्त काल से, कहते हैं। यह तो सरल... जैसा उसका स्वरूप है—चैतन्य, आनन्द का साक्षात्कार होने पर उसे सरलरूप से मुक्ति होती है। सरल रास्ता हाथ आ गया। जिसने देखा, उसमें अब रमने की रीति उसे हाथ आ गयी। समझ में आया? ऐसा कहते हैं।

धवल में आता है न? 'दिठमग्गि' ऐसा आता है। 'अदिठमग्गि, दिठमग्गि।' मिथ्यात्वी ने मार्ग कभी देखा नहीं और समकिती ने दिठमग्गि—मार्ग देखा है कि यह आत्मा यह पवित्र शुद्ध चैतन्य। ऐसा ऐसे हो—एकाग्र हो, यह मार्ग देखा है। 'दिठमग्गि' लीन होता है। उसे मार्ग—रास्ता हाथ आ गया, उसे मार्ग का सरलपना मिल गया, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! **'गुनकौ गरन्थ निरगुनकौ सुगम पंथ'** सुगम है न! सुगम की व्याख्या की सरल, ऐसा। सुगम अर्थात् सरल। सु-गम।

'जाकौ जसु कहत सुरेश अकुलत है' समयसार के यश कहते हुए इन्द्र अकलाते हैं। है न? **इसकी महिमा वर्णन करते हुए इन्द्र भी लज्जित होते हैं।** अरे! किसका कहा? क्या कहूँ इसका? ओहो! भगवान आत्मा समयसार वाचक और समयसार वाच्य, उसकी बात करते हुए इन्द्र भी लज्जित होते हैं। अरे! छोटे मुख से बड़ी बात करता हूँ यह, ऐसा अन्दर हो जाता है। ऐसा यह सुगम पंथ है। यह कभी वाँचा नहीं हो ऐसा।

सेठ! कहो, वाँचा नहीं। अब यह वाँचना अब, रखा तो है। बहुत सरस है यह। इसमें तो 'घर-घर में आता है न उसमें। आता है न, अन्त में कहीं नहीं आता? पीछे। क्या आता है? ऐसा कुछ आता है। हाँ, आता है ऐसा, हों!

'पांडे राजमल्ल जिनधर्मी' स्वयं (बनारसीदास) लिखते हैं। यह कलशटीका। यह कलशटीका, उसमें से यह बनाया है। **'पांडे राजमल्ल जिनधर्मी, समैसार नाटक के मर्मी'** राजमल मर्मी थे। और तब अभी के कितने ही पण्डित कहते हैं कि उसमें से भूल निकालो, भूल निकालो, सुधारो। बनारसीदास कहते हैं कि समयसार के तो मर्मी थे। **'तिन गरंथकी टीका कीनी, बालबोध सुगम कर दीनी'** देखो, यहाँ सुगम आया। **'तिन गरंथकी'** उनका ग्रन्थ वाँचकर टीका की बालबोध—साधारण लोग समझ सकें, ऐसी टीका। है न यह कलशटीका। यह देखा है या नहीं? कलशटीका है या नहीं, कलशटीका है? यह बाहर प्रकाशित होने का पहला नवनीतभाई से हुआ है। यह भी नवनीतभाई से हुआ। यह नहीं? हम जंगल में गये और तुम आये सामने। कोई था इनके साथ? यह तब यह याद आया। तब और आया। कितने वर्ष से याद... ? रास्ते में, नहीं? कि यह एक है। राजमल की टीका बहुत बहुत ऊँची। उसका गुजराती हो तो बहुत... लो।

'बालबोध सुगम कर दीनी, इहि विधि बोध-वचनिका फैली' यह ज्ञान की वचनिका फैली। ज्ञान (आत्मा) समझाते हैं। **'समै पाय अध्यातम शैली। प्रगटी जगमांही जिनवानी घर घर नाटक कथा बखानी'** पण्डितजी! ऐसा लिखते हैं, देखो! घर-घर नाटक की चर्चा होने लगी। नाटक की चर्चा घर-घर होने लगी। कहे, ऐसा समयसार साधारण? अरे! सुन न अब। लड़कों को—बालक को यह तत्त्व हाथ में आना (सरल नहीं)। यह मनुष्यदेह मिला... **'घर घर नाटक कथा बखानी'** देखो, स्वयं ने लिखा है। पीछे है पीछे।

मुमुक्षु : उस समय बहुत प्रचार हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रचार हुआ है। अभी यह प्रचार का युग है। समयसार के प्रचार का युग है, सेठ! **'जाकौ जसु कहत सुरेश अकुलत है'** सुर अर्थात् देव, उसका ईश अर्थात् इन्द्र भी **अकुलत है**। अरे! मैं किसकी बात करूँ? जहाँ गणधर और सर्वज्ञों

की वाणी में भी जिसकी पूरी बात नहीं आती, उसमें मैं एक इन्द्र, कहते हैं कि समयसार की महिमा करते... आत्मा और वाणी दोनों, हों! इन्द्र अकुलाता है।

'**याहीके जु पच्छी ते उड़त ग्यानगगनमैं**' जो कोई इस समयसार का पक्षी होता है, जैसे पक्षी आकाश में उड़ता है... वह पक्षी अर्थात् पंखी कहा वापस। '**याहीके जु पच्छी**' यह समयसार त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने कहा हुआ आत्मा और उसकी जो वाणी, उसका जो पक्ष करे, वह '**उड़त ग्यानगगनमैं**' वह पक्षी जैसे गगन में उड़े, वैसे यह समयसार का पक्ष करनेवाला सम्यग्ज्ञान में उड़कर आगे ऊर्ध्व में चला जाता है। आहाहा! दुखो न, कितनी बात है।

मुमुक्षु : परन्तु आप तो ऐसा कहते हो कि आत्मा का अनुभव किये बिना पक्ष ऐसा होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो अनुभव हुआ, उसकी ही यहाँ बात है। उसका पक्ष किया, इसका अर्थ यह है। लो, यह चेतनजी याद आये और इसमें। ऐई चेतनजी! कहाँ गये? शुद्धनय का पक्ष, देखो यहाँ यह आया। पक्ष का अर्थ यह कि उसे—आत्मा को जिसने पक्ष में लिया, उसका पक्ष किया। करवट बदली, राग और पर्यायबुद्धि बदलकर स्व का पक्ष किया, वह ज्ञानगगन में उड़ता है। अब अवसर-अवसर में सब याद आना चाहिए न सब। आहाहा!

यह यहाँ है न! यहाँ लिखा। देखो! इसकी महिमा होने से... **जिन्हें इस ग्रन्थ की पक्षरूप पंखे प्राप्त...** हुई। देखो! जिसे इस ग्रन्थ की, हों! पक्षरूप पंखे प्राप्त हुई... देखो! इसके पक्ष का पंखी, पंख है वह पक्ष का पंख है। ऐसी वस्तु है, वस्तु ऐसी है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का यह सार है। समझ में आया? कहते हैं, जिसे **ग्रन्थ की पक्षरूप पंखे प्राप्त हैं, वे ज्ञानरूपी आकाश में विहार करते हैं।** पंखी आकाश में सहज-सहज विहार करे। कुछ भवन आड़े आवे नहीं, पानी आड़े आवे नहीं, समुद्र आड़े आवे नहीं, रेत आड़े आवे नहीं, आँधी आड़े आवे नहीं। ऐई! इसी प्रकार जिसने समयसार का पक्ष किया, उसे आगे बढ़ने को कोई विघ्न आड़े नहीं आता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब किया, भाई! यह तो अभी भूमिका करते हैं। समझ में आया?

'**याहीके विपच्छी**' पक्षी अर्थात् पक्षकार। पक्षकार का अर्थ यह कि आत्मा के अनुभव का जिसने पक्ष किया, '**ते उड़त ग्यानगगनमैं**' वह ज्ञानरूपी आकाश जो अपरम्पार ज्ञान है, ऐसी ज्ञान की दशा में वह आगे बढ़ जाता है।'**याहीकै विपच्छी**' लो। पक्षी और विपक्षी। जिसे यह समयसार के पंख मिले नहीं और विपक्षी—उसका अनादर करनेवाला है। '**याहीकै विपच्छी जगजालमैं रूलत है**' चौरासी की गति में नरक और निगोद में जानेवाला है। आहाहा! समझ में आया? ...परन्तु गजब! अर्थात् यह टीका... समयसार... कौन कहता था? भाई! अभी रामजीभाई कहते थे। गजब कवि, कहे, गजब कवि! नहीं रामजीभाई? कवि, ये जोरदार कवि हैं। परन्तु देखो न! और पुस्तक भी ऐसी सरस बनी है। शब्द अलग, छूटे या वे... बहुत सरस पुस्तक बनी है। वह तो ऐसा छोटा लगे ऐसा, ग्रन्थ जैसा लगे। यह कहीं बड़ा सिद्धान्त जैसा लगे। लोगों को बाहर की महिमा है न। उड़ाई (सत्य के) पक्ष को।

मुमुक्षु : सत्य का मुकाबला करना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुकाबला करना... तब ऐसा हो न कि आहाहा!

चाँदी में मँढ़ा था। समयसार चाँदी में... वह तो मिला नहीं, नहीं तो यह सोना में डालना था इसका। टीका मिली और यह तो मूल अक्षर मिले नहीं। कुन्दकुन्दाचार्य के मूल श्लोक उनके हाथ के मिले नहीं। है न, २००० के है न? ताड़पत्र पर बनाये थे, ताड़पत्र पर। उनके हस्तक के हों तो सोना से मँढना थे उनके ४१५ श्लोक सोना में तब, हों! अब तो फिर पैसे बढ़ गये हैं। ऐई, सेठ! यह तो उस दिन पहले की बात है, हों! तब तो पैसा पाँच हजार दे तो ऐसे लोग प्रसन्न-प्रसन्न हो जाते थे। अब यहाँ पाँच हजार तो कुछ गिनती नहीं होती। अब २५-२५ हजार, ५०-५० हजार देनेवाले सहज साधारण लोग-साधारण लोग होते हैं। है क्या? पैसे की कीमत क्या परन्तु उसमें? आहाहा!

मुमुक्षु : पैसे की कीमत घट गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : घट गयी। बात सच्ची। एक आना, एक रुपये का एक आना हो गया अभी। एक आना की कीमत जितना एक रुपया। अब उसकी कीमत क्या? आहाहा!

ऐसा समयसार... आता है न? 'ओमकार (ध्वनि) सुनि अर्थ गणधर विचारे...'

द्रव्यभाव ऐसा आता है नहीं उसमें? अपने भी द्रव्य... नहीं, वह छपाया है न? छपाया है न पृष्ठ। यह लो एक बनारसीदास का। 'द्रव्यभाव ओम।' द्रव्य अर्थात् ओमकार अक्षर, भाव अर्थात् आत्मा। ऐसा जिसे पक्ष हुआ और ओंकार अन्दर से आया। अन्दर से जगा, कहते हैं वह, ऐसा कहते हैं। वह तो **उड़त ग्यानगगनमैं...** अमाप, अपरिमित ज्ञान में वह तो चला, गति करके चला जाता है। आहाहा! उसकी गति को जगत में कोई रोक नहीं सकता। और वह रुकने के लिये निकला नहीं। वह तो चढ़ने के लिये निकला है, कहते हैं। आहाहा! देखो न, एक शैली बनारसीदास की भी।

'**याहीकै विपच्छी जगजालमैं रूलत है**' लो! उसके जो ग्रन्थ की पक्षरूप पंख नहीं, ऐसे समयसार अमृतस्वरूप का जिसे पक्ष नहीं, वह जिसे मिला नहीं, उसका जिसे लक्ष्य नहीं, उसका जिसे दक्ष नहीं, उसे प्रत्यक्ष होता नहीं। इसलिए वह जगत जंजाल में फँसते हैं। चौरासी लाख अवतार में जगत के जंगल में फँसते हैं। विकल्प से लेकर सब जंजाल, उसका जिसके पक्ष है, इसका (समयसार का) जिसे विपक्ष है। आहाहा! समझ में आया?

यह वह कहता है कि यह समयसार गुरु की वाणी है। एक मुझे कहता था। साधु आया था एक बार वह तुम्हारा कौन? दर्शनविजय।

मुमुक्षु : त्रिपुटी।

पूज्य गुरुदेवश्री : त्रिपुटी। ऐई! थे या नहीं यहाँ? यहाँ आये थे। कहे, यह समयसार तो गुरु की वाणी है। देव की वाणी हमारे होती है। सच्ची बात है, कहा। भव्य हो या अभव्य तुम, कहा? दर्शनविजय है न नाम? तुम्हारा नाम क्या? कहा। कहे, दर्शनविजय। यह (संवत्) १९९९ की बात है। १९९९ के पौष महीने की बात है। फिर यहाँ से निकले विहार में। फिर वहाँ मिले थे कांप (वढवाण) में। वहाँ मिले थे।

मुमुक्षु : ढीले पड़ गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ढीले पड़ गये हैं। देखो, वह पुण्यविजय गया, पुण्यविजय क्या?

मुमुक्षु : पूनमचन्द।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूनमचन्द। कहे, अपने दो पक्ष करके कहते हैं। अब रहने दो।

यह वहाँ मुझे पकड़ा था एक शब्द में। अब इस प्रकार से पूछा कि तुम्हारा नाम? मैं दर्शनविजय। भव्य हो या अभव्य खबर है? यह खबर नहीं पड़ती। भगवान की वाणी की परीक्षा करने निकले तुम। भव्य—अभव्य की खबर नहीं होती। फिर बाद में बदल गया, हों! फिर कहे, नहीं, नहीं, वह गया अब। अब बदलना चाहता है, अब नहीं बदले वह। अभी भव्य हूँ या अभव्य की खबर नहीं होती, अनन्त संसार में कभी भव घटे नहीं, ऐसा हूँ या नहीं, यह खबर नहीं होती और वीतराग की वाणी की परीक्षा करने निकले। गुरु की वाणी और यह वीतराग की। नहीं परन्तु... जरा चतुर न, परन्तु पकड़ा गया था।

यहाँ कहा। उस पूनचन्द को कि रहने दे, उनके सामने कुछ कहा जाये, ऐसा नहीं, कहे। एक वचन से मुझे पकड़ा था वहाँ। अल्या, वीतराग की वाणी और वीतराग की परीक्षा? अभी अनन्त संसारी जीव अभव्य हूँ, उसका भी तुझे सन्देह है। उसे भव के अभाववाले भगवान और उनकी वाणी कैसी होती है, यह परीक्षा करने निकले, कभी हो नहीं सकता। समझ में आया? जयन्तीभाई! वह यह कहते हैं, देखो! यहाँ का पक्षी तो ज्ञानगगन में उड़ जाता है छूटकर। कहीं उसे रोकनेवाला नहीं। केवलज्ञान में चला जाता है पूर्ण होकर। आहाहा! **याहीके विपच्छी**—उसे विपरीत करनेवाला **जगजालमैं रुलत है...** जग के चौरासी के जाल में रुलेगा-भटकेगा।

हाटकसौ विमल... हाटक अर्थात् सोना। शुद्ध स्वर्ण ऐसा भगवान विमल है, और वाणी भी ऐसी वाणी विमल है। श्रीमद् ने कहा न, 'वचनामृत वीतराग के...' लो, वाणी को अमृत कहा। 'वचनामृत वीतराग के परम शान्त रस मूल...' कहीं दुनिया में वह चीज़ नहीं है। समझ में आया? वीतराग की वाणी, वीतरागपने की ऐसी शुद्ध स्वर्ण समान चैतन्य-चैतन्य को बतलानेवाली, कहते हैं, **हाटकसौ विमल...** स्वर्ण समान निर्मल है यह ग्रन्थ। यह ग्रन्थ ऐसा है। आहाहा! कितने ही कहे, समयसार? नहीं, वह तो साधु को होता है। वह हमारे नीचे नहीं होता।

मुमुक्षु : वाँचन ही नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वाँचन नहीं। आहाहा! अरे भगवान! क्या करे परन्तु?

मुमुक्षु : विचारा भी नहीं जाये, गोपित रखो।

पूज्य गुरुदेवश्री : गोपित... यह गोपित अब गुप्त ऐसा नहीं कुछ। यह बाहर आया, वह अब वापस नहीं जायेगा।

माता के गर्भ में से पुत्र जन्मा, वह वापस जाता होगा अब अन्दर? जाता नहीं, वह वापस नहीं फिरता अब। पण्डितजी! ऐसा कि इसे छुपा दो। ऐसी बात न करो सबको। ऐई, परन्तु तूने क्यों पढ़ा है? यह तूने क्यों पढ़ा है? बचाव करके ऐसा तत्त्व महा! आहाहा! निहाल का निहाल कर डाले, ऐसा है! ऐसी बात है। यह सुनने से जिसकी दृष्टि हो और रुचि हो, गया—संसार में से निकल गया समाप्त। राग में से निकल गया और वह स्वभाव में आ गया। समझ में आया? ध्यान करो और यह करो। यह कहे मर जायेगा बेचारा। वस्तु की खबर बिना किसका ध्यान? तत्त्व किसे कहना, उसकी खबर नहीं होती।

'**हाटकसौ विमल विराटकसौ विसतार**' विराट कहते हैं न? कृष्ण ने विराट (रूप) बतलाया। अर्जुन को बतलाया न मुख फाड़कर। गीता में आता है। आहाहा! यह तो पूरा विराट। ऐसा विराट का विस्तार पूरा लोकालोक जितना, ऐसा। ऐसा जिसका विस्तार है समयसार का। आहाहा! समझ में आया? '**विराटकसौ विसतार**' है। **विष्णु के विराटरूप के सदृश विस्तृत है।** श्री कृष्ण ने अर्जुन को बताया है मुख फाड़कर कि ऐसा। वह तो विराटरूप है। ऐसा समयसार विस्तार। गणधर भी विस्तार करके थके। इतना उसमें समयसार में तत्त्व भरा है।

'**नाटक सुनत हिये फाटक खुलत है**' लो, यह फाटक आया। यह फाटक नहीं बन्द होता तुम्हारे उस रेल का। हमारे बहुत बार रास्ते में आवे। बहुत बार बहुत जगह आवे। यह तो पूरा हिन्दुस्तान घूमे हैं न। बहुत जगह फाटक बन्द आवे... फाटक बन्द है, तो अब उतरकर फिर कहे कि उघाड़। देरी है, देरी है। उघाड़ कहे तो उघाड़ दे। मोटर देखे न, कुछ दूसरे की लगती है बड़ी... **फाटक खुलत है,** देखो! जिसे सुनने से... देखो! **नाटक सुनत...** ऐसा कहते हैं। यह समयसाररूपी नाटक जो सुने, उसके फाटक खुल जाते हैं, कपाट खुल जाते हैं, हृदय के कपाट खुल जाते हैं। समझ में आया?

वे कहते थे अभी। नहीं कहा था उसके कारण वहाँ कहा था, क्या? फतेपुर। उसमें उतारते हैं न एक जगह। चिमनभाई के मकान में उतरते हैं एक ओर। उनका पिता

कभी मन्दिर जाये, किसी दिन समय मिले तो। उसमें सुनते हुए एक बार ऐसी बात आ गयी न व्याख्यान में, अन्दर बोल लग गया। उसे उस चेतन को... चेतन है न अपना यह। बोलता है। ....वह आया था। आठ दिन आया। उस चेतन को कहे, ऐ महाराज कहते हैं कि कपाट फट जाये, फोड़ डाले ऐसा है यह तो। कहे कि कपाट—छाती का कपाट फूट जाये। आहाहा! यह भी टूटकर क्या है, ऐसा समझ में आ जाये, ऐसा कहते हैं। न समझ में आये ऐसी बात कहाँ है इसमें? आहाहा! समझनेवाला न समझे यह वह कैसे बने? यहाँ कहते हैं कि फाटक खुलते हैं, लो! उसके हृदय के कपाट खुल जाते हैं।

अब अनुभव का वर्णन करते हैं।

★ ★ ★

काव्य - १६

अनुभव का वर्णन (दोहा)

कहौं सुद्ध निहचैकथा, कहौं सुद्ध विवहार।
मुकतिपंथकारन कहौं, अनुभौको अधिकार।।१६।।

अर्थ :– शुद्ध निश्चयनय, शुद्ध व्यवहारनय और मुक्तिमार्ग में कारणभूत आत्मानुभव की चर्चा वर्णन करता हूँ।।१६।।

काव्य-१६ पर प्रवचन

कहौं सुद्ध निहचैकथा, कहौं सुद्ध विवहार।
मुकतिपंथकारन कहौं, अनुभौको अधिकार।।१६।।

मूल तो अनुभव का अधिकार कहूँगा, ऐसा कहते हैं। कहते हैं कि अनुभव में तो '**सुद्ध निहचैकथा**' वस्तु के स्वभाव का निश्चय भी कहूँगा, त्रिकाली भगवान अखण्डानन्द

अभेद है, वह क्या है, कहूँगा। **कहौं सुद्ध विवहार...** और उसकी वीतरागी मोक्षमार्ग की पर्याय कैसी होती है व्यवहार से, उसे भी कहूँगा, शुद्ध व्यवहार, हों! समझ में आया?

'**कहौं सुद्ध निहचैकथा, कहौं सुद्ध विवहार, मुकतिपंथकारन कहौं**' मुक्ति के पंथ का—मोक्ष के पंथ का कारण कहूँगा। '**अनुभौको अधिकार।**' यह अनुभव मोक्ष का पंथ है। मोक्ष के पंथ का कारण अनुभव है। ऐसे तो मोक्षपंथ कारण अर्थात् यह। पंथरूपी कारण, ऐसा। मोक्षरूपी पंथरूपी कारण कहूँ। उसे कहूँगा। नहीं तो पंथ का कारण, ऐसा नहीं। **मुक्तिमार्ग में कारणभूत आत्मानुभव की चर्चा का वर्णन करता हूँ...** लो। समझ में आया कुछ? आत्मा के अनुभव का अधिकार कहूँगा। आहाहा! सार में सार। लाख सुने, वाँचे, परन्तु यह करने का उसे आत्मा आनन्दस्वरूप का अनुभव। उस अनुभव से उसकी मोक्ष की धारा बहती है। आहाहा!

'लाख बात की बात, निश्चय उर आणो।' आता है न छहढाला में।

मुमुक्षु : लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ, तोरि सकल जगद्वंद्व-फंद निज आतम ध्याओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह। आहाहा! देखो न परन्तु बनारसीदास के कवित्व के वर्णन तो देखो! खुशाली में... खुशाली आनन्द की प्रस्फुटित हुई है। आहाहा! यह समयसार, यह वीतराग की वाणी! नितरा हुआ तत्त्व है अकेला। उसे बहुत तो कहे कि यह नहीं सुनना। अपने तो व्यवहार करना, अपने यह करना। अब सुन न! ऐसा मर जायेगा। वह व्यवहार अर्थात् यह। शुभ दया-दान-व्रत और भक्ति माने। अब इस व्यवहार का भी कहाँ ठिकाना है। यह तो शुद्ध व्यवहार जो मोक्षपंथ। मोक्ष के कारणरूप मार्ग, वह व्यवहार है। मोक्ष स्वयं भी व्यवहार है। निश्चय तो त्रिकाली वस्तु अभेद का वर्णन करूँगा। व्यवहार में मोक्ष का मार्ग निर्मल वीतरागीदशा का वर्णन करता हूँ।

★ ★ ★

काव्य - १७

अनुभव का लक्षण (दोहा)

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम।।१७।।

अर्थ :– आत्मपदार्थ का विचार और ध्यान करने से चित्त को जो शान्ति मिलती है तथा आत्मिकरस का आस्वादन करने से जो आनन्द मिलता है, उसी को अनुभव कहते हैं।।१७।।

काव्य-१७ पर प्रवचन

१७ (काव्य)।

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम।।१७।।

आहाहा! वस्तु आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप विचार करने पर, भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप का ज्ञान करने पर और उसे ध्याने पर, उसमें एकाग्र होने पर **'मन पावै विश्राम'—**मन छूट जाता है, विश्राम पा जाता है। लो, यह मोक्षमार्ग। इसका नाम सम्यग्दर्शन और अनुभव।

'वस्तु विचारत ध्यावतैं' वस्तु भगवान आत्मा रागरहित, विकल्परहित निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्य का विचार करने पर अर्थात् ज्ञान करने पर और ध्याने पर—ध्यार करने से, ऐसा कहना है। ज्ञान और स्थिरता करने से।**'मन पावै विश्राम, रस स्वादत सुख ऊपजै।' आत्मपदार्थ का विचार और ध्यान करने से चित्त को जो शान्ति मिलती है तथा आत्मिकरस का आस्वादन करने से जो आनन्द मिलता है...** लो! **रस स्वादत...** आत्मा आनन्दरसस्वरूप, उसकी सम्यग्दर्शन—दृष्टि करने से जो रस का स्वाद उपजे और उसमें जो सुख आनन्द प्राप्त हो, उसे अनुभव कहा जाता है। अनुभव की व्याख्या यह। समझ में आया?

मुमुक्षु : सातवें गुणस्थान की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! चौथे (गुणस्थान) की बात है, सातवें की कहाँ बात है? आहाहा! मूल तत्त्व क्या है, उसे ख्याल में नहीं, बोलो। इसलिए कुछ का कुछ मनवाकर चढ़ा दिया।

यहाँ तो कहते हैं कि '**वस्तु विचारत ध्यावतैं**' पहले से बात है अनुभव की। यही मोक्ष का मार्ग है और यह मोक्ष है, ऐसा दोनों कहते हैं। वस्तु अर्थात् आत्मपदार्थ का विचार। यह नौ तत्त्व में आत्मतत्त्व कैसा, ऐसा यहाँ कहते हैं। यह... एक अजीव है और दूसरी तो पर्यायें हैं। '**वस्तु विचारत ध्यावतैं**' अखण्ड अभेद चैतन्य आत्मपदार्थ का विचार ज्ञान करने से और उसमें ध्यान करने से चित्त को—मन को विश्राम मिलता है। शान्ति मिलती है। एक ओर मन स्थिर हो जाता है, ऐसे चित्त में शान्ति मिलती है, ऐसा। **तथा आत्मिकरस का आस्वादन करने से जो आनन्द मिलता है, उसी को अनुभव कहते हैं।** उसे अनुभव करते हैं। यह अनुभव का वर्णन समयसार में है। कहो, समझ में आया? '**अनुभव याकौ नाम**' इसका नाम अनुभव कहते हैं। दूसरा जानपना हो, न हो, दुनिया को समझाना आवे, न आवे—उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है।

भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और ज्ञान के अनन्तगुण का धाम चैतन्यरस का धाम, उसके सन्मुख होकर, उसका अनुभव करना, वह आत्मा के आनन्द के रस की प्राप्ति करना, उसका नाम अनुभव और उसका नाम धर्म और उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

★ ★ ★

काव्य - १८

अनुभव की महिमा (दोहा)

अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोखकौ, अनुभव मोख सरूप।।१८।।

शब्दार्थ:-चिंतामणि=मनोवांछित पदार्थों का देनेवाला।

अर्थ :- अनुभव चिन्तामणि रत्न है, शान्तिरस का कुआँ है, मुक्ति का मार्ग है और मुक्तिस्वरूप है।।१८।।

काव्य-१८ पर प्रवचन

अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोखकौ, अनुभव मोख सरूप।।१८।।

अनुभव चिन्तामणि रत्न है। मनोवांछित पदार्थ का देनेवाला अनुभव है। क्या कहते हैं ? अहो! भगवान अनन्त गुण का राशि प्रभु, उसका—आनन्द का स्वाद, वह तो चिन्तामणि रत्न समान है। चिन्तामणि रत्न चिन्तवन करे वह दे। इसी प्रकार उसमें जितनी एकाग्रता हो, उतना आनन्द दे। कहो, यह चिन्तामणि रत्न। वह चिन्तामणि रत्न तो... कहीं आता है कहीं। भाई! वह तो हमने देखा नहीं परन्तु यह है।

मुमुक्षु : पद्मनन्दि में।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें आता है, पद्मनन्दि पंचविंशति में आता है। चिन्तामणि और कल्पवृक्ष, ऐसी सब बातें करते हैं। भाई! हमने तो देखा नहीं, कहे, परन्तु यह है सही हमारी पास तो। आहाहा!

'**अनुभव चिंतामणि रतन**' यह रत्न है रत्न। '**अनुभव है रसकूप**' यह शान्तिरस का कुँआ है। अकेला शान्त अकषायस्वभाव, उसका वह बड़ा सिन्धु—सागर है, कुँआ है। '**अनुभव मारग मोक्षको**' और वह मुक्ति का मार्ग अनुभव है। कहो, शुभभाव आवे बीच में वह कहीं मोक्ष का मार्ग नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! लोगों को कठिन लगे। अनुभव स्वयं मोक्षस्वरूप ही है, जा। कहते हैं। यह मुक्ति का मार्ग भी यह और मुक्ति का स्वरूप भी यह।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६, पौष कृष्ण ११, शुक्रवार, दिनांक २२-१-१९७१
उत्थानिका, पद—१८ से २१

यह समयसार नाटक। १६वें श्लोक से अनुभव का अधिकार शुरु होता है। १६वाँ है न? १८ तक ऐसे हो गया है। इस शास्त्र में अनुभव का अधिकार कहूँगा, ऐसा कहते हैं। सब बात अनेक प्रकार की भले कही जाये, परन्तु यह आत्मा का आनन्द का अनुभव कैसे हो और वह अनुभव धर्म है, उसका अधिकार इसमें कहूँगा। १६ में यह आया न? 'कहौ अनुभौकौ अधिकार'। अब अनुभव की व्याख्या की १७वें श्लोक में। वस्तु जो आत्मा, उसका विचार करने पर, आत्मा अनन्त आनन्द आदि गुणों का पिण्ड है, ऐसे निजात्मा का विचार और ध्यान करने से '**मन पावै विश्राम**' मन को विश्राम मिले अथवा मन को शान्ति मिले। '**रस स्वादत सुख ऊपजै**' बहुत स्वाद पूरा है। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड, उसका अनुभव होने पर आत्मा के आनन्द के रस का स्वाद आता है। '**अनुभौ याकौ नाम**' उसे अनुभव कहते हैं। बहुत सार में सार। अनुभव का अधिकार है, ऐसा कहा न? '**कहौं अनुभौको अधिकार**' आत्मा अनन्त शुद्ध चैतन्यस्वरूप को अनुसरकर आनन्द का स्वाद लेना, उसका नाम अनुभव कहा जाता है। आहाहा!

छोटी उम्र में... कहते थे न, एक बार कहा था। हमारे वहाँ जन्मस्थान में साथ में मकान था। मूलजीभाई भट्ट थे गम्भीर। क्या कहा? भुंगळी के। भुंगळी के थे। मेरी माँ भुंगळी की थी। (मूलजीभाई) ब्राह्मण थे। हम उन्हें मामा कहते थे। वे नहाते तब ऐसा कहते। वे नहाकर वह पहने न जरा ऊन का टुकड़ा। ऐसा बोलते। यह १० वर्ष की उम्र की बात है। ७०-७१ वर्ष पहले की बात है। 'अनुभवी को इतना रे आनन्द में रहना रे, भजना परिब्रह्म को दूसरा कुछ न कहना रे... अनुभवी को इतना रे, आनन्द में रहना रे'... वे भी शब्दों का (अर्थ) समझते न हों। परन्तु एक बोलना नहावे तब.... श्लोक बोले अन्दर।

यहाँ कहते हैं, अनुभव अर्थात् आत्मा परमात्मस्वरूप ही अन्दर शक्ति का सत्त्व और तत्त्व है। सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है। सत् अर्थात् शाश्वत्, चिद् अर्थात् ज्ञान, आनन्द का धाम अनन्त-अनन्त शक्तिवाला तत्त्व। उसे अनुसरकर आनन्द के वेदन में

आना, इसका नाम अनुभव कहा जाता है। '**अनुभौ याकौ नाम**' ऐसा कहा न? पश्चात् 18 (काव्य)।

अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोखकौ, अनुभव मोख सरूप।।१८।।

आहाहा! अनुभव—आत्मा पुण्य-पाप के विकल्प से रहित ऐसा सच्चिदानन्द निर्विकल्प चैतन्यस्वभाव, उसका अन्तर्मुख होकर आनन्द का वेदन करना, वह चिन्तामणि रत्न अनुभव है। बाकी सब धूल के रत्न हैं। आहाहा! समझ में आया?

धर्मी को करनेयोग्य हो तो यह है। भारी कठिन काम! '**अनुभव चिंतामनि रतन**' चिन्तामणि रत्न एक देव अधिष्ठित पत्थर होता है। जो चिन्ता—इच्छा हो, वह दे। वह पुण्य के कारण वह वस्तु होती है। यह अनुभव रत्न चिन्तामणि... यह तो स्वरूप पूर्णानन्द प्रभु अपनी सत्ता—अस्ति, आनन्द और ज्ञान आदि समाज—गुण से पड़ा हुआ तत्त्व, उसका जो अनुभव करना, पुण्य-पाप के शुभ-अशुभराग बिना की चीज़, उसका अनुभव करना, वह चिन्तामणि रत्न है। कहो, समझ में आया?

यह सब करोड़पति और अरबपति कहलाये न, वे सब पत्थर के भिखारी हैं, पत्थर के भिखारी। ऐई!

मुमुक्षु : यहाँ आने के बाद ऐसा ही होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ आने के बाद होता है, वहाँ ऐसा कि और दूसरा है। वहाँ तो दूसरा कहे लोग तुमको सब चढ़ावे। पैसेवाले हैं और ढींकणावाले हैं। वे तो सब पागल हैं। यहाँ तो, '**अनुभव चिंतामनि रतन**' आहाहा! स्वरूप चैतन्य का आनन्द और ज्ञानादि स्वभाव, उसके स्वाद का अनुभव में आना, वह तो चिन्तामणि रत्न है। जितने अंश में स्वरूप में एकाग्र हो, उतने अंश में आनन्द की वृद्धि और शुद्धि हो। आहाहा! कठिन मार्ग, भाई! समझ में आया? यह दया, व्रत, भक्ति, पूजा और दान यह तो सब विकल्प है, कहते हैं। यह शुभराग है; वह कहीं धर्म नहीं।

धर्म तो '**अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसकूप**' आत्मा शान्ति का सागर है, तब अनुभव रस का कूप है, कुँआ है। समझ में आया? अन्दर आत्मा शान्ति का

धाम... धाम... अविकारी निर्दोष स्वभाव का रसकन्द आत्मा है। वह सागर है, शान्तिरस का सागर है। आत्मा स्वभाव अपरिमित है—बेहद है, जिसके स्वभाव का पार नहीं। ऐसा जो आत्मस्वभाव शान्तरस का सागर, उसका अनुभव, वह शान्तरस का कुँआ है। आहाहा! '**अनुभव मारग मोखकौ**' वह अनुभव मोक्ष का मार्ग है। अब ऐसी सीधी बात है, उसे बात विवाद ऐसा करे अन्दर। व्यवहार से निश्चय होता है, व्यवहार से अनुभव होता है। व्यवहार है, वह तो राग है। व्यवहार जितनी भक्ति, दया, दान, व्रत, पूजा, तप, वह सब वृत्ति का उत्थान है। वृत्ति का उत्थान है, वह जीव का स्वरूप नहीं। आहाहा!

'**अनुभव मारग मोखकौ**' मोक्ष का मार्ग अनुभव है। इसका अर्थ क्या हुआ? कि आत्मा अखण्ड आनन्द की सम्यक्‌दृष्टि, अभेददृष्टि, निर्विकल्प वीतरागदृष्टि, निर्विकल्प अन्दर स्वसंवेदनज्ञान और आत्मा के स्वरूप में स्थिरता, रमणता, आनन्द का भोजन, ऐसा जो मोक्ष का मार्ग, वह अनुभव मोक्ष का मार्ग एक है। बाकी कोई मोक्ष का दूसरा मार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग दो नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : बाह्य साधन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधन-फाधन कोई नहीं। साधन स्वयं अन्दर है। वह यहाँ उपचार कहने में आया। यहाँ स्वरूप का साधन करे, वहाँ राग की मन्दता के परिणाम को उपचार, व्यवहार साधन को निमित्तरूप से गिनने में आया है। वास्तविक है नहीं। (है) नहीं और कहना, वह व्यवहार है। ऐसी बात है, क्या हो? जगत को सत्य मिलता नहीं और ऐसे का ऐसा जीवन चला जाता है। धर्म के नाम से भी उल्टी दृष्टि और उल्टे रास्ते—मार्ग में चढ़ गया है। कहीं हाथ में आवे नहीं आत्मा।

'**अनुभव मारग मोखकौ**' यहाँ तो एक ही बात की। परमानन्दरूप पूर्ण की प्राप्ति, इसका नाम मुक्ति। आत्मा में परमानन्द है, उसकी दशा में पूर्ण आनन्द की प्राप्ति, अवस्था में प्राप्ति, उसका नाम मुक्ति है। सीधा समझ में आये ऐसा है। यह तो सरल तत्त्व ही अन्दर सहज है। समझ में आया? '**अनुभव मारग मोखकौ**' मोक्ष अर्थात् पूर्ण आनन्द की दशा, पूर्ण हो जाना, इसका नाम मोक्ष। उसका मार्ग भी आनन्द का वेदन अनुभव करना, वह उसका मार्ग। बात अभी हाँ करने में इसे पसीना उतरे ऐसी है। बाहर में फँस गया

है न! मानो बाहर से मिलेगा, इससे मिलेगा। पर-आश्रय की वृत्ति से (मिलेगा)। वह तो बन्ध का कारण है। समझ में आया?

'अनुभव मारग मोखकौ' एक शब्द में तो सब ले दिया बनारसीदास ने। पण्डितजी! मोक्षमार्ग दो नहीं है, एक ही कहा। कहा या नहीं इसमें क्या कहा? दो मोक्षमार्ग है? अनुभव, भगवान आत्मा का अतीन्द्रिय स्वभाव, उसका स्वाद अन्तर में एकाकार होकर आना, वह अनुभव, वही मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया? **'अनुभव मोख स्वरूप'** यह अनुभव मोक्ष का स्वरूप ही है। पूर्ण आनन्द प्रगट हो जाना, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द जैसा उसका स्वभाव है अनन्त शक्ति का, ऐसी दशा में एकाग्र होकर प्रगट हो जाना, वह अनुभव मोक्षस्वरूप है। आनन्द का अनुभव पूर्ण होना, इसका नाम मोक्ष। आहाहा! समझ में आया?

'अनुभव मोख स्वरूप' यहाँ तो ऐसा लिया है, मैं तो मुक्तिपंथ का कारण (ऐसे) अनुभव का अधिकार कहूँगा। ऐसा शुरु किया है न? १६वें श्लोक से शुरु किया है। मुक्तिपंथ का कारण ऐसा जो अनुभव, उसका अधिकार इसमें कहूँगा। सेठ! है न, उसमें है या नहीं?

मुमुक्षु : अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, इसके ऊपर का सोलहवाँ। **'मुकतिपंथ कारन कहौं, अनुभौको अधिकार।'** मुक्तिपंथ का कारण अर्थात् मुक्ति का पंथ वह... अनुभव, उसकी बात करूँगा। बाकी बीच में हो, पूर्ण न हो, उसे विकल्प आवे व्यवहार, परन्तु वह विकल्प सब बन्ध के कारण हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा स्वयं निजस्वरूप से अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा है। उसके अबन्धस्वभाव के आश्रय से अनुभव होकर जो अबन्ध परिणाम प्रगट हों, वह मोक्ष का मार्ग है। अबन्ध परिणाम—पर्याय पूर्ण हो जाना, इसका नाम मोक्ष है। अबन्ध कहो या बन्ध नहीं, मुक्ति कहो। मुक्ति की पर्याय आनन्द की पूर्ण हो जाये, उसका नाम मोक्ष। आहाहा! समझ में आया? अरे! इसका निजघर का रास्ता हाथ आवे नहीं और सिर फोड़कर मर जाये बाहर से, तो कहीं हाथ आवे, ऐसा नहीं अन्दर। मर गया ऐसे काय-

कलेश कर-करके, कहते हैं। अपवास किये, समझ में आया? तपस्यायें कीं और महीने-महीने के अपवास किये। धूल भी नहीं, कहते हैं, सुन न! आहाहा! अनुभव मोक्ष का मार्ग और वही अनुभव पूर्ण वह मोक्षस्वरूप।

यहाँ तक तो अपने आया था। अब आज यह है। १९। अब अनुभव को क्या-क्या उपमा आती है, अनुभव को। आहाहा!

★ ★ ★

काव्य - १९

(सवैया मनहर)

अनुभौके रसकौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथकी ठौर है।
अनुभौकी जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसासौं ऊरधकी दौर है।।
अनुभौकी केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौकौ स्वाद पंच अमृतकौ कौर है।
अनुभौ करम तोरै परमसौं प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरमकोऊ और है।।१९।।

शब्दार्थ:-रसा=पृथ्वी। अधोरसा=नरक। पोरसा=उपजाऊ भूमि। चित्रावेलि=एक तरह की जड़ी का नाम।

अर्थ :- अनुभव के रस को जगत के ज्ञानी लोग रसायन कहते हैं, अनुभव का अभ्यास एक तीर्थभूमि है, अनुभव की भूमि सकल पदार्थों को उपजानेवाली है, अनुभव नर्क से निकालकर स्वर्ग-मोक्ष में ले जाता है, इसका आनन्द कामधेनु और चित्रावेलि के समान है, इसका स्वाद पंचामृत भोजन के समान है। यह कर्मों को क्षय करता है और परम पद से प्रेम जोड़ता है, इसके समान अन्य कोई धर्म नहीं है।।१९।।

नोट :- संसार में पंचामृत, रसायन, कामधेनु, चित्रावेलि आदि सुखदायक पदार्थ प्रसिद्ध हैं, सो इनका दृष्टान्त दिया है परन्तु अनुभव इन सबसे निराला और अनुपम है।

काव्य-१९ पर प्रवचन

अनुभौके रसकौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथकी ठौर है।
अनुभौकी जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसासौं ऊरधकी दौर है।।
अनुभौकी केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौकौ स्वाद पंच अमृतकौ कौर है।
अनुभौ करम तोरै परमसौं प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरमकोऊ और है।।१९।।

अनुभव कर्म तोड़े, लो! यह निर्जरा अनुभव से होती है, ऐसा कहते हैं। शुभभाव से निर्जरा हो, दया से हो, दान से हो, ऐसा यहाँ इनकार करते हैं।

इसका अर्थ अब। '**अनुभौके रसकौं रसायन कहत जग**' जगत के प्राणी—ज्ञानी अनुभव के रस को लोग रसायन कहते हैं। रसायन—वह लोहे को सोना बनावे, ऐसा रसायन होता है। वनस्पति का रस ऐसा कि जैसा लोहे पर छिड़के तो सोना हो जाये। ऐसा अनुभव, वह रसायन है। आहाहा! जगत के जीव अर्थात् ज्ञानी, ऐसा। वापस जगत के अज्ञानी नहीं। जगत के जीव ज्ञानी अनुभव के रस को रसायन कहते हैं। मिथ्यात्व तो तोड़ डालकर आनन्द को प्राप्त करावे, ऐसा अनुभव है। लोहे को पलटा दे और सोना बनावे, वह रसायन। समझ में आया?

आता है न यह ज्ञानार्णव में, नहीं? शुभचन्द्राचार्य और उनके भाई थे। दीक्षा दोनों जनों ने ली। एक व्यक्ति ने रसायन साधी बहुत वनस्पति की। रसायन का कूप (पात्र) बड़ा भरकर, लाओ मेरे भाई को दूँ। शुभचन्द्राचार्य मुनि थे, (उनको) देने गये। शीशा जैसे दिया, वैसा पत्थर पर फेंककर फोड़ दिया। यह क्या? हमारी पाँच-पाँच, दस-दस

वर्ष की मेहनत यह रसायन, जिससे सोना होता है। क्या शोर मचाता है अब तू? पत्थर की शिला पड़ी थी, उस पर पेशाब किया। ले सोना। कितना लेना है तुझे? यहाँ तो पेशाब रसायन हो गयी है। आत्मा रसायन की बातें क्या करना? कहते हैं। आहाहा! ऐसे रसायन के लिये साधुपना लिया था ऐसे भीख माँगने को? शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं। यह रसायन के लिये तूने साधुपना लिया था? भिखारी! तो छोड़ा किसलिए था?

रसायन तो आत्मा आनन्द का धाम भगवान आत्मा! जिसमें अन्तर का अनुभव होने पर उस अनुभव के रस के स्वाद से मिथ्यात्व का क्षण में नाश होकर आत्मा जागृत और साक्षात्कार होता है, वह रसायन अनुभव है। समझ में आया? '**अनुभौके रसकौं रसायन कहत जग**' ज्ञानी उसे रसायन कहते हैं और अज्ञानी उसको कहे, ऐसा कहते हैं। अज्ञानी उस (जड़) रसायन को रसायन कहता है (कि जो) लोहे का सोना बनावे धूल का। वह धूल भी धूल है, सोना भी धूल है। जगत के चतुर लोग—धर्मात्मा—ज्ञानी अनुभव को रसायन कहते हैं। सेठ!

'**अनुभौ अभ्यास यहु तीरथकी ठौर है।' अनुभव का अभ्यास...** जिसे आत्मा के पवित्र धाम का अनुभव हुआ, वह तो पवित्रता में प्रवेश किया, वह तीर्थभूमि है। बाहर की तीर्थभूमि में कहीं पुण्य, राग आदि मन्द हो तो शुभ हो। पवित्रता वहाँ है (नहीं)। आहाहा! भगवान आत्मा पवित्रता का धाम, उसका जिसने अनुभव किया, उसका जिसने अनुभव किया, वह तो तीर्थ में स्थिर हो गया, कहते हैं। स्वरूप का तीर्थ, वह तीर्थ था पवित्रभूमि, उसमें प्रविष्ठ हुआ, पवित्र हो गया। कहो, सेठ! यह तीर्थ। .... जाये न यह सम्मेदशिखर जाये और गंगा में नहाये और... धूल में भी नहीं वहाँ। गंगा में मछलियाँ बहुत नहाती हैं। आत्मा अन्तर आनन्दस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु, उसका अनुभव करना, वह तीर्थभूमि में प्रवेश है। तिरने के उपाय का साधन ऐसा जो भगवान, उसमें उसने प्रवेश किया, तीर्थभूमि में गया। तिरने के उपाय में अन्तर में प्रविष्ट हुआ। समझ में आया?

शुभभाव को तीर्थभूमि नहीं कहा यहाँ। शुभभाव—भगवान की भक्ति, तीर्थयात्रा, सम्मेदशिखर यात्रा शुभभाव, उसे तीर्थ नहीं कहा। तीर्थ तो यह है। वह तो व्यवहारतीर्थ जरा अशुभ से बचने को आता है, वह वस्तु नहीं। आहाहा! **अनुभौ अभ्यास...** देखा, क्या कहते हैं? अभ्यास, हों अन्तर में। अनुभव का अभ्यास बारम्बार चिन्तवन करे, वह

उसकी तीर्थभूमि हो गयी। आत्मतीर्थ में प्रवेश किया, चढ़ गया, उसकी पवित्रता अनुभव में प्रगट की। आहाहा! पशु तिर्यंच। पशु तिर्यंच भी आत्मा का अनुभव करते हैं आत्मा का। आता है, नहीं? अनुभवप्रकाश में बहुत आता है दीपचन्दजी में, नहीं? अनुभव तो, ऐसा कहते हैं, तिर्यंच (भी) करते हैं। गृहस्थाश्रम में किसी-किसी समय गृहस्थ करते हैं, उसमें बहुत अधिक आता है। यह कहे, नहीं, आनन्द का अनुभव गृहस्थाश्रम में होता नहीं। लो।

ऐई चेतनजी! यह तो अनुभव का बहुत आता है। अभी और याद आया। उसमें अनुभव(प्रकाश) में बहुत आता है। '**अनुभौ अभ्यास यहु**' वह तीर्थ का ठाम है। वह तीर्थ की भूमि है। अनुभव, वह तीर्थ की भूमि है। आनन्द का अनुभव, निर्विकल्प आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करना, वह तीर्थ की भूमि है। आहाहा! समझ में आया? (जिस स्थल से) भगवान मोक्ष पधारे हों, साधु मोक्ष पधारे हों, वह सब व्यवहार तीर्थभूमि है। यह स्मरण के लिये शुभभाव होता है। अशुभ से बचने के लिये होता है। वस्तुस्थिति तो पवित्र तीर्थभूमि आत्मा है।

'**अनुभौकी जो रसा**' अनुभव की जो भूमिका—पृथ्वी... आत्मा निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य रसकन्द, उसके सन्मुख का अनुभव करके जो आनन्द का वेदन आवे, कहते हैं, '**अनुभौ जो रसा करावै सोई पोरसा सु**' उस भूमि में सब ऊँचे पदार्थ पकते हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, इच्छानिरोध अमृत—वह सब आत्मा अनुभव रस की भूमिका में वह सब पके। वह भूमि ऐसी है। कितनी ही भूमि ऐसी होती है, जिसमें चावल पके। कितनी ही भूमि ऐसी होती है, उसमें कलथी पके, चावल-बावल न पके। जिथरी की धूल में चावल पके? है यहाँ सब बहुत (जमीन जिसमें) कलथी पकती है। कलथी आती है न? कलथी। बहुत पके। यहाँ चावल कहाँ पके? राजकोट में बाहर चावल पकते हैं, हों! एक बार चावल के जव पड़े हुए बाहर, हों! पानी-पानी पिलाया हुआ। चकरावा है न घोड़ा का उस ओर... तब था। (संवत्) १९९९ में। चावल बहुत पके हुए....

यह तो कहते हैं कि ऐसा जल आत्मा है आनन्द, उसका अनुभव वह **पोरसा—** उत्तम पदार्थ की उत्पन्न होने की भूमिका है। जिसमें अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि

पकते हैं, ऐसी भूमिका अनुभव है। समझ में आया? गजब परन्तु यह। अभी इसे समझने का ठिकाना नहीं कि वस्तु यह है, वह और अन्दर जाये कैसे? बाहर में भटक कर-करके। 'भटकत द्वार द्वार लोटन के कुकराजा...' यहाँ मिलेगा यहाँ मुझे। धूल में भी नहीं। यहाँ है सब। तीन लोक का नाथ अनन्त सिद्धपर्याय का सागर आत्मा, कहते हैं कि उसका अनुभव, आहाहा! चाहे तो स्त्री का शरीर हो, चाहे तो मेंढ़क का—मेंढ़क का शरीर हो, हाथी का हो, एक हजार योजन लम्बा मच्छ का हो। आहाहा!

कहते हैं कि उस अनुभव की भूमिका में तो रतन, आत्मा की शान्ति के, स्वच्छता के, प्रभुता के, परमेश्वरता के पुत्र पके वहाँ, वह प्रजा पके वहाँ। आहाहा! समझ में आया? **'अनुभौ अधोरसासौं ऊरधकी दौर है'** आत्मा पूर्णानन्द प्रभु का अनुभव, वह **'अधोरसा'** निचली भूमि—नरक में से निकलकर **'ऊरधकी दौर'—**मोक्ष में ले जाये, वह अनुभव है। नरक के अन्दर भी अनुभव करनेवाले नारकी जीव हैं। समझ में आया? इसमें आयेगा शील में। नरक में नारकी में भी शील है। गाथा आयेगी। सम्यक् अनुभव, सम्यक् चारित्र आंशिक अनन्तानुबन्धी के अभाव की शान्ति। नारकी, जीव यहाँ माँस खाये, शराब पीवे, वे मरकर नरक गये। उसे भी किसी को भान हो जाता है। ओहोहो! यह आत्मा! विस्मय... विस्मय... विस्मय! अद्‌भुत... अद्‌भुत! ऐसा भान होने पर नरक के जीव वहाँ से ऊँचे आकर तीर्थंकर होकर मोक्ष जाये, ऐसा यह अनुभव का फल है।

श्रेणिक राजा पहले नरक में है। अभी ८४००० वर्ष की स्थिति में देह है। २५०० वर्ष गये। अभी ८१५०० बाकी है। वहाँ से (निकलकर) पहले तीर्थंकर होनेवाले हैं। उस अनुभव के रस में वह फल पकनेवाला है, ऐसा कहते हैं। पुण्यपरिणाम थे, उससे बाहर तो समवसरण आदि मिले। परन्तु जो आनन्द का अनुभव है, उससे केवलज्ञान की प्राप्ति होगी, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! तीर्थंकरगोत्र बाँधा न? उस परिणाम से ही तीर्थंकर हुए न? उससे तीर्थंकर होंगे? नहीं। उससे तो समवसरण और बाहर की ऋद्धियाँ प्राप्त होंगी। **'अनुभौ अधोरसासौं'** निचली भूमिका में से निकालकर स्वयं मोक्ष में ले जाता है, लो! आहाहा!

'ऊरधकी दौर है' ले जाता है, ले जाता है, ऐसा। नरक में से निकलकर मोक्ष का

पंथ प्रवाह है, उसमें ले जायेगा ऊँचे। आत्मा परमात्मास्वरूप विराजमान है अन्दर। शुद्ध आनन्द और शुद्ध ज्ञान का समुद्र, अनन्त चैतन्य रत्नाकर का स्वयंभूरमण समुद्र है वह तो। आहाहा! उसके स्वभाव का अनुभव सम्यग्दर्शन, ज्ञान और शान्ति, कहते हैं कि उसमें रतन अनन्त-अनन्त पके और ऊँचे ले जाते हैं ऊपर ऊर्ध्व में स्वर्ग और मोक्ष।

'अनुभौकी केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि' अनुभव का मजा, आनन्द का मजा। आनन्द कामधेनु। इसका आनन्द... केलि अर्थात् आनन्द, अनुभव का आनन्द, वह तो कामधेनु गाय है। कामधेनु गाय है न? बड़ी आती है न? जब चाहिए तब दूध दे। सवेरे और शाम दो समय नहीं। अभी तो चाय बहुत बार बनानी पड़े तो वह हर समय दूध दे। वढवाण में थी। क्या कहलाता है? दादभा। दादभा को कामधेनु गाय थी। दादभा को थी। जब चाहिए तब दे। इसे भी कामधेनु कहते हैं.... कामधेनु—चाहे तब दूध दे, ऐसे यह चाहे, तब आनन्द दे। आहाहा!

मुमुक्षु : हर समय दूध दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : हर समय दूध दे। ....मेहमान आये तो दूध की आवश्यकता.... २ बजे दुहे, ३ बजे दुहे, ४ बजे दुहे, दिन में, रात को, दूध दे। यह तो समय-समय में आनन्द-आनन्द का दूध घर में पका। समझ में आया? अरे, कठिन बात, भाई! दुनिया को धर्म क्या है? कहाँ है? कैसे है?.... आहाहा!

'अनुभौकी केलि' अर्थात् अनुभव का जो आनन्द, वह तो कामधेनु गाय, वह तो चित्रावेली। आहाहा! वनस्पति होती है। समझ में आया? चित्रावेली... निकले। वह और कामकुम्भ। यह वनस्पति होती है। उसमें रखे तो सब निकला करे। ऊँची चीज़, जो डाले वह। चित्रावेली ऊपर डाले तो लड्डू निकला करे, दूधपाक निकला करे, जो चीज़ चाहिए हो, वह निकला करे। यहाँ तो कहते हैं कामधेनु और चित्रावेली ऐसा कहते हैं... ऐसा पद्मनन्दि (पंचविंशति) में आता है। हमने यह तो देखा नहीं, परन्तु यह (आत्मा) तो हमने देखा है। आहाहा!

अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, उसका जहाँ अन्दर में स्वाद अनुभव, कहते हैं कि वह तो चित्रावेली और कामधेनु गाय है। आहाहा! कामकुम्भ घड़ा होता

है। ऐसा एक घड़ा होता है कि जो चाहिए, उसमें से निकला ही करे। दूधपाक निकाला हो तो लाखों लोगों को जिमावे। वह तो धूल को, कहते हैं। यह तो आत्मा कामकुम्भ है। अतीन्द्रिय आनन्द का रस निकाला ही करे अन्दर से। आहाहा! उसे आत्मा कैसा है, इसके गीत सुने नहीं। यह ऐसा आत्मा होगा? दूसरे की कीमत करे। वह चीज़ बहुत ऊँची, यह चीज़ बहुत ऊँची। परन्तु इस चीज़ का जाननेवाला ऊँचा या वह चीज़ ऊँची? आहाहा! जाननेवाले को जाना नहीं और सिरपच्ची दूसरी। अनुभव, वह कामधेनु, चित्रावेली, कामकुम्भ, चिन्तामणि। चिन्तामणि आ गया न पहले? चिन्तामणि तो पहले आ गया।

'**अनुभौकौ स्वाद पंच अमृतकौ कौर है।**' यह अनुभव का स्वाद, वह तो पाँच अमृत का ग्रास—भोजन है। पाँच अमृत का भोजन। रसायन, कामधेनु, चित्रावेली आदिक सुखदायक पदार्थ हैं न, उसका दृष्टान्त दिया है। आहाहा! ....कवि भी है न! कवि तो ऐसे कहलाते हैं कि जो आत्मा के भान सहित के गीत गाये। स्त्री की महिमा करे कि उसका शरीर ऐसा है, धूल का ऐसा है। दो दिन सब्जी खाये नहीं वहाँ हें... हें... हो जाये। क्या तेरे शरीर का है? कीड़े पड़े, सड़े। आहाहा! शरीर में क्या है? वह तो मिट्टी है, माँस और हड्डियाँ। सड़े तो कीड़े पड़े उसमें नाक में से। ... ऐसा जहाँ करे, वहाँ नाक में से कीड़े। ....उसमें क्या? ....कस्तूरी हो तो जड़ है। यह तो कहते हैं, अनुभव का स्वाद, वह तो पाँच अमृत का भोजन है, पंचामृत भोजन। आहाहा! विवाह में पंचोळु बैठता है या नहीं मूल वर? अपने रिवाज है। वर जीमावे न, उसके पास बड़े-बड़े पाँच बैठे। एक अणवर, दूसरे अच्छे रिश्तेदार हो दो जोड़ी। एक थाल बड़ा, उसमें ऊँची-ऊँची चीज़ें दे उसे। बर्फी और जलेबी और सब अच्छा-अच्छा। उसे साधारण नहीं होता। क्या कहलाता है तुम्हारे? मावा का दहीथरा, उस मावा का गुलाब जामुन, वह वर को दे। समझ में आया? वर जीमे न? पंचाळु कहे न, क्या कहलाता है? ऐई!

हमारे फावाभाई के विवाह में हम बैठे थे उमराला में। पंचोळा में। सब ऊँची-ऊँची चीज़ दे। जाति को दूसरे लड्डू और गांठिया दे। दूसरे सब हों न, क्या कहलाता है? बारात। बारात को इतना सब कहाँ से दे? पाँच व्यक्ति बैठे हों, उन्हें सब दे। जलेबी और यह और ढींकणा... इसी प्रकार यह तो आत्मा का पंचामृत स्वाद है, कहते हैं। यह पंचाळु—पंच परमेष्ठी के साथ खाने बैठा, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

यह भगवान आत्मा आनन्द का धाम, जिसके समक्ष दुनिया के इन्द्र के इन्द्रासन सड़े हुए कुत्ते और बिल्ली के सड़े हुए कलेवर हों, वैसे विषय लगते हैं। निजानन्द के स्वाद के समक्ष वह सब धूल... धूल... और धूल। आहाहा! समझ में आया? आत्मा ऐसा है, यह अभी इसे खबर नहीं होती। आत्मा अर्थात् कुछ है, है, आत्मा है, है। परन्तु क्या है?

'**अनुभौकौ स्वाद पंच अमृतकौ कौर है।**' वह अमृत का ग्रास है। वह पाँच अमृत का ग्रास अथवा अमृत का भोजन। **इसका स्वाद पंचामृत भोजन के समान है।** पंचामृत का भोजन जैसे, ऐसे भोजन के समान है। घी टपकता हो ऐसा मैसूर (पाक)। मैसूर होता है न चार सेर घी पिलाया हुआ। एक सेर चने का आटा और चार सेर घी। मैसूर। मैसूर कहते हैं न मैसूर? अपने (गुजराती में) मैसूब कहते हैं, वह कुछ दूसरा कहते हैं। मैसूर। हमारे मैसूब। यह भाषा होती है न हिन्दी की।

हमारी दीक्षा में ऊँचा मैसूर बनाया था, बहुत ऊँचा। लसलसता अन्दर से। दस रुपये का मण। वह अभी पाँच रुपये में सेर भी न मिले, ऐसा मैसूर था। पचास मण प्राय: पचास मण। जिस दिन दीक्षा लेता था, तब खुशालभाई की ओर से सब दो हजार लोगों का जीमण था। पचास मण मैसूर। चार आना सेर घी। देखो तो एक हलवाई... धूल जैसा परन्तु, हों! यह तो आनन्द के रस जिसने पिलाये अन्दर में, ऐसा आत्मा अन्दर विकाररहित होकर अन्दर अनुभव करे, वह रसास्वाद का पंचामृत का भोजन है। आहाहा! समझ में आया? यह वीतरागमार्ग का ऐसा तत्त्व है, ऐसा सुना भी नहीं। ...पड़े रहे वाडा में। यह करो और यह करो। धूल करके मर गया अनन्त बार।

'**अनुभौ करम तोरै**' भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द उसका अनुभव, वह कर्म की निर्जरा करे। कर्म की निर्जरा उससे होती है, अपवास-बपवास लंघन करने से कर्म की निर्जरा नहीं होती। पण्डितजी! लंघन करते हैं, अपवास-बपवास, वह लंघन करते हैं, लंघन करते हैं। हठ करते हैं हठ। तत्त्व की खबर नहीं होती, भगवान आत्मा कौन है? सहजानन्द स्वरूप की मूर्ति स्वयं है। उसका जो अनुभव, कहते हैं कि कर्म तोड़े। वह निर्जरा करे। थोड़े अनुभव से थोड़ी निर्जरा, पूर्ण अनुभव से सब निर्जरा। मोक्ष और सब। आहाहा! देखो! यह एक थोड़े शब्दों में कितना रच दिया है!

'**परमसौं प्रीति जौरै**' परम अर्थात् परमात्मस्वरूप अपना अनादि-अनन्त अविनाशी

आनन्दकन्द ध्रुव, ऐसा परमस्वरूप अपना है, उसके साथ अनुभव की प्रीति होती है। उसे राग और पुण्य की प्रीति उड़ जाती है। आहाहा! है न यह पुस्तकें तो सामने रखी हैं इस बार। उस बार वाँचा था, तब इतनी सब पुस्तकें नहीं थीं। अब थोड़े दिन में आयेगी पूरी, हों! परन्तु यह भी वही है न। '**अनुभौ करम तौरै**' आहाहा! स्वचैतन्य प्रभु अनन्त बेहद अपरिमित आनन्द और ज्ञान, शान्ति का सागर, उसका आश्रय करना, वेदन करना, अनुभव करना, वह कर्म तोड़े। कर्मबन्धन को तोड़ने की वह क्रिया है। व्रत, तप और अपवास, वह सब कर्म तोड़ने की क्रिया नहीं है। आहाहा! '**परमसौं प्रीति जौरै**' परम स्वरूप अनन्त आनन्द का धाम शाश्वत् अविनाशी प्रभु, उसका पूर्ण स्वभाव, परम स्वभाव, उसके साथ प्रीति, अनुभव से प्रीति, उसमें लीनता हो। आहाहा!

'**अनुभौ समान न धरमकोऊ और है।**' अनुभव के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। आहाहा! यह धर्म दूसरा। फलाना का धर्म, ढींकणा का धर्म, वह कुछ नहीं। आत्मा अखण्डानन्द प्रभु का अनुभव करना, वह धर्म। बाकी दूसरा धर्म है नहीं।

मुमुक्षु : प्रेम धर्म नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जरा अपनी आलोचना की थी। वे सब व्याख्याता... प्रेम धर्म की जय, ऐसा कहते हैं। हैं ने वे जिनेन्द्रवर्णी, नहीं? जिनेन्द्रवर्णी हैं। उनकी बहिनरूप से है एक ब्रह्मचारिणी। कौशल। भाषण-बाषण बहुत करे। यह सब साधारण नहीं, ... परन्तु अन्त में क्या बोले? प्रेम धर्म की जय। ऐ... यह कहाँ से निकला? वीतराग धर्म में प्रेम धर्म की जय? प्रेम तो तोड़ना है पर के साथ और आत्मा के साथ प्रेम करना, आनन्दस्वरूप में लीन होना, वह प्रेम है।

यह लिखा है न? दिल्ली। प्रकाशचन्द्र हितैषी। सन्मति सन्देश। उसमें है न हरिभाई? उसमें यह है। हितैषी। पत्र लिखा है न अपने को? फिर ले जाना। पत्र वाँचा था यहाँ। मनोरंजक है ऐसा कहकर, प्रश्नोत्तर करके... यह तो अनुभव धर्म की जय! कहो, माणेकलालजी! आहाहा! प्रभु! परन्तु तू कौन है? क्या तू रागवाला है? पुण्यवाला, विकल्पवाला वह तेरा स्वरूप है? शरीरवाला और कर्मवाला, वे तो सब जड़ परवस्तु है। तू तो आनन्दवाला, ज्ञानवाला, शान्तिवाला सहजात्मस्वरूप अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु है! आहाहा! उसका अनुभव कर्म को तोड़े और प्रीति को जोड़े आत्मा, यहाँ ऐसा

कहते हैं। इस ओर कर्म का वियोग हो और पूर्ण स्वरूप में अनुभव के कारण आत्मा में एकाकार हो। बाकी कोई क्रियाकाण्ड से आत्मा में एकाकार नहीं हुआ जाता।

देखो! एक श्लोक में कितना रखा है! यह १९वाँ श्लोक है, लो। १९वाँ पद। २०वाँ। कहते हैं, यह छह द्रव्य का ज्ञान अनुभव का कारण है। यह छह द्रव्य हैं न जगत में (जो) भगवान ने देखे, आत्मा में उनका ज्ञान करने की सामर्थ्य एक समय की है। अर्थात् एक समय का ऐसा सामर्थ्य है, ऐसा जो ज्ञान करे तो उसे अन्तर में जाने में, अनुभव (करने में) वह ज्ञान निमित्त कहा जाता है, ऐसा कहते हैं। **उनका विवेचनकिया जाता है।**

अब छह द्रव्य का विवेचन है। इतने अनुभव की व्याख्या आयी। अनुभव किसका करना?—कि आत्मा का। आत्मा के अतिरिक्त दूसरी चीज़ क्या-क्या है और आत्मा क्या है? दोनों का भेदज्ञान बिना उसे अनुभव नहीं होता।

★ ★ ★

काव्य - २०

छह द्रव्यों का ज्ञान अनुभव के लिये कारण है, अत: उनका विवेचन किया जाता है:-

जीवद्रव्य का स्वरूप (दोहा)

चेतनवंत अनंत गुन, परजै सकति अनंत।
अलख अखंडित सर्वगत, जीव दरब विरतंत।।२०।।

शब्दार्थ:-अलख=इन्द्रियगोचर नहीं है। सर्वगत=सब लोक में।

अर्थ :- चैतन्यरूप है, अनन्त गुण, अनन्त पर्याय और अनन्त शक्तिसहित है, अमूर्तीक है, अखण्डित है, सर्वव्यापी[1] है। यह जीवद्रव्य का स्वरूप कहा है।।२०।।

---

१. लोक-अलोक प्रतिबिम्बित होने से पूर्ण ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी है।

काव्य-२० पर प्रवचन

जीवद्रव्य का स्वरूप—

चेतनवंत अनंत गुन, परजै सकति अनंत।
अलख अखंडित सर्वगत, जीव दरब विरतंत।।२०।।

जीव किसे कहना? आत्मा किसे कहना? इस देह में विराजमान भगवान स्व-तत्त्व चैतन्य किसे कहना? कहते हैं। वह तो '**चेतनवंत**' पहला तो। '**चेतनवंत अनंत गुन**' चैतन्यरूप है उसका। चैतन्यरूप है, वह कहीं जड़रूप नहीं। रंग, गन्ध, वर्ण, स्पर्श, यह जड़ मिट्टी धूल है, ऐसा उसका रूप नहीं। वह तो चैतन्यरूप, जागृतस्वरूप, चैतन्यज्योतिस्वरूपी आत्मा। चैतन्यरूप '**अनंतगुन**' गुण अर्थात् उसकी अनन्त शक्ति है। अपने है न, ४७ (शक्ति) आ गयी। अनन्त। वह शक्ति आयेगी। एक शक्ति (गुण) की अनन्त (शक्ति)। यह तो गुण। समझ में आया? क्या कहा?

गुण, यह गुण। यह गुण—त्रिकालशक्ति की बात है। एक-एक शक्ति की अनन्त शक्ति लेंगे फिर। एक-एक गुण की अनन्त पर्याय और अनन्त शक्ति। यह चिद्विलास में लिया है न! क्या कहा? '**चेतनवंत अनंत गुन**' भगवान चैतन्यवन्त जागृत चैतन्य है। वह द्रव्यरूप से एक वस्तु, परन्तु उसके गुण अनन्त है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, सत्ता, विभूता, प्रभुता, कर्ता, कर्म, करण इत्यादि अनन्त-अनन्त संख्या से शक्तियाँ हैं। उस शक्ति को यहाँ गुणरूप से कहा है।

देखो! ऐसा जीवद्रव्य है। जीवद्रव्य जाने बिना अनुभव किसका हो, ऐसा कहते हैं। '**चेतनवंत**' है, '**अनंत गुन**' है। '**परजै**' जिसकी अनन्त है। एक-एक गुण की अवस्थायें अनन्त हैं, हालत—दशा और एक-एक गुण की शक्ति भी अनन्त है। समझ में आया? चिद्विलास में बहुत जगह आता है। शक्ति में भी बहुत आ गया। '**अलख**' उसमें यह लिया है। चैतन्यरूप है, अनन्त गुण और अनन्त पर्याय उसकी और अनन्त शक्ति। एक-एक गुण की अनन्त शक्ति (सामर्थ्य) ऐसा। एक-एक पर्याय तो अलग बात है। परन्तु शक्ति। एक-एक गुण की अनन्त शक्ति है। पर्याय तो उसकी पर्याय का

अंश... अंश... अंश... परन्तु उसका सामर्थ्य एक शक्ति का अनन्त है। ऐसा कि गुण है न उसका—ज्ञान, दर्शन, आनन्द गुण है, उस एक-एक गुण की अपरिमित अनन्त शक्ति है। पर्याय अनन्त और शक्ति अनन्त, ऐसा।

यहाँ तो दस लाख, पन्द्रह लाख, बीस लाख धूल लाख हो वहाँ तो, आहाहा! अपने को क्या हो गया! क्या बड़े गृहस्थ हुए और क्या बड़े बढ़ गये। धूल में भी नहीं। ऐई! चिमनभाई! पानी उतार डाले ऐसा है यह सब। आहाहा! अरेरे भाई! अरे! शरीर चला जाता है, देखो न! एक वह दिखाया था... ३६ वर्ष का जवान व्यक्ति। केंसर है। ...दिखाव ऐसा है शरीर का। समाचार पत्र में आया है। ३६ वर्ष का। मुम्बई स्थानकवासी। आहाहा! जवान व्यक्ति ऐसा दिखाव... स्थानकवासी। ३६ वर्ष का। जाओ। परन्तु जड़ है तो जड़ जाये नहीं तो कहाँ जाये? कहाँ आत्मा के साथ रहना है? वह तो किसी की चीज़ जड़ की है। आहाहा!

जो ऐसे ३५-३५ वर्ष की उम्र और उसमें केंसर हो, उसे लगे, हाय... हाय! यह केंसर की उसे दरकार है। परन्तु आत्मा में राग वह मैं हूँ—यह केंसर लगा है और टी.बी. हो गयी, इसकी उसे खबर नहीं। समझ में आया? इसे अनादि का केंसर हुआ है। पुण्य-पाप के विकल्पों की वृत्ति विकार, वह मेरा—यह उसे टी.बी. का रोग लागू पड़ा है। अपनी जाति को भूलकर कुजाति को अपना माना है। आहाहा! यह उसकी उसमें क्षण-क्षण में मृत्यु होती है। उसका भान नहीं। ऐसी जीवित ज्योति अनन्त गुण और अनन्त आनन्द की शान्ति का सागर, उसे न स्वीकार कर, उसे नहीं मानकर, उसके सामने न देखकर (और) कृत्रिम राग आदि को मानने से, उसके सामने देखने से, उसका मान बढ़ाने से जीव का मान घट जाता है। समझ में आया? आहाहा!

व्यवहार को जो बहुत मान देता है कि व्यवहार से निश्चय होगा, व्यवहार को बहुमान देते हैं। तुझसे मुझे लाभ होगा, तुझसे मुझे लाभ होगा। राग! तुझसे मुझे लाभ होगा। अरे! चैतन्य की जीवित ज्योति अनन्त गुणों का सागर उसका तूने अपमान किया है। आहाहा! क्यों त्रंबकभाई! आहाहा! पहिचानते हैं न? नहीं पहिचानते? कालीदासभाई यहाँ थे, तब से इनको पहिचानते हैं। कालीदासभाई कामदार थे न यहाँ? उनके भाई हैं।....

'**चेतनवंत अनंत गुन, परजै सकति अनंत।**' एक तो जीवद्रव्य उसे कहना है कि जो वस्तु स्वयं है। एक चैतन्यरूप... ऐसा लिखा हुआ है। चैतन्यरूप है। अनन्त गुण हैं, शक्तियाँ हैं। उसकी हालत—दशायें अनन्त हैं और एक-एक शक्ति का सामर्थ्य अनन्त है, उसे जीवद्रव्य कहते हैं। '**अलख**' है। आहाहा! इन्द्रियों से ज्ञात हो ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। '**अलख**'—इन्द्रियों से ज्ञात हो ऐसा नहीं। वह तो अतीन्द्रियस्वरूप भगवान है। समझ में आया? वह इन्द्रियों से लखाय ऐसा अर्थात् ज्ञात हो ऐसा नहीं है। अलख को कैसे पहिचानना, आता है न? '**अखंडित**' है। अखण्ड वस्तु द्रव्यस्वरूप चैतन्यपिण्ड है, अखण्ड है। नीचे २०वाँ बोल है। २०वाँ श्लोक। '**अखंडित**' अखण्ड है। सर्वव्यापी है अर्थात् सबको जाननेवाला है। पसरकर नहीं, अपने में रहकर तीन काल—तीन लोक को जाने, ऐसा सर्वगत है। देखो, नीचे है। '**सर्वगत**।'

लोक-अलोक प्रतिबिम्बित होने से पूर्ण ज्ञान की अपेक्षा सर्व व्यापी है। सब जाने—तीन काल-तीन लोक अपने स्वभाव में रहकर, पर को स्पर्शे बिना, पर को अपने सम्बन्धवाला ज्ञान, उसमें पर को जानता है। वास्तव में अपनी पर्याय इतनी है, उसे जानता है। सर्वव्यापी है। यह ज्ञान की अपेक्षा से, हों! जानने के स्वभाव में विस्तारता की अपेक्षा से। ज्ञान पूरे लोक में कहीं व्याप्त नहीं हो जाता। जगत अलग चीज़ है, स्वयं अलग चीज़ है। '**जीव दरब विरतंत**' लो! ऐसे जीवद्रव्य का स्वरूप है। ऐसा स्वरूप कहा। भगवान ने परमात्मस्वरूप ऐसा कहा है। यह जीवद्रव्य की व्याख्या—छह द्रव्य में। अभी फिर नौ तत्त्व के नाम अलग लेंगे। यह तो छह द्रव्य के नाम आये। फिर नौ तत्त्व के अलग।

अब पुद्गल, यह जड़, जड़ शरीर की व्याख्या। यह शरीर पुद्गल क्या है? आहाहा! यह तो मिट्टी है शरीर, वाणी, मन। सब (मिट्टी है) इसका लक्षण।

★ ★ ★

काव्य - २१

पुद्गलद्रव्य का लक्षण (दोहा)

फरस–वरन–रस–गन्ध मय, नरद–पास–संठान।
अनुरूपी पुदगल दरब, नभ–प्रदेश–परवान।।२१।।

शब्दार्थ:–फरस=स्पर्श। नरद–पास=चौपड़ का पासा। संठान=आकार। परवान (प्रमाण)=बराबर।

अर्थ :– पुद्गलद्रव्य परमाणुरूप, आकाश के प्रदेश के बराबर, चौपड़ के पासे के आकार[1] का स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवन्त है।।२१।।

काव्य-२१ पर प्रवचन

फरस–वरन–रस–गन्ध मय, नरद–पास–संठान।
अनुरूपी पुदगल दरब, नभ–प्रदेश–परवान।।२१।।

कहते हैं, यह परमाणु, जहाँ पुद्गल है जड़—शरीर, वाणी और यह सब। वह द्रव्य परमाणुरूप है। परम अणु छोटा-छोटा एक अणु है, वह मूल चीज़ है। यह तो बहुत इकट्ठे हुए हैं। टुकड़े करते... करते... करते... अन्तिम पॉईन्ट रहे, वह छोटे में छोटा परमाणु, अन्तिम अंश रहे, वह पुद्गलद्रव्य परमाणुरूप है। आकाश के प्रदेश के बराबर है, ऐसा कहा है।'**अनुरूपी पुदगल दरब, नभ-प्रदेश परवान**' दूसरे पद की पहली व्याख्या की। और कितना है ? यह रजकण एक-एक ? आकाश के प्रदेश प्रमाण। आकाश है न सर्वव्यापी अरूपी, उसका एक अंश जितना भाग एक परमाणु जगह रोके, उसे प्रदेश कहा जाता है। उस प्रदेश प्रमाण वह परमाणु है। एक परमाणु।

नभ-प्रदेश परवान' नभ अर्थात् आकाश के प्रदेश प्रमाण है। '**नरद-पास-संठान**' दूसरे पद का अर्थ बाद में लिया है। **चौपड... चौपड...** यह बर्फी का टुकड़ा होता है न बर्फी का टुकड़ा, ऐसे आकार से है। यह है न, देखो! ऐसा होता है इतना

१. छह पहलू का जैसे चपेटा होता है।

टुकड़ा होता है। चारों ओर चार तथा ऊपर, नीचे—छह। ऐसा ही हो न? छह हुए न? १, २, ३, ४ ऐसे हैं और यह एक (ऊपर और नीचे)—छह। ऐसे छह (बाजु) वाले एक-एक रजकण हैं। बर्फी का टुकड़ा इतना हो... **'नरद-पास' छह पहलू का जैसे चपेटा होता है।** छह पहलू, छह पासा, छह पहलू। छह हुए न १, २, ३, ४, ५... ऐसे अंश हैं सबके, हों! प्रत्येक अंश चैतन्य का एक प्रदेश, आकाश का एक प्रदेश सब ऐसा होता है। सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा ने परमाणु का—पुद्गल का ऐसा स्वरूप प्रत्यक्ष देखा है। और वह तो आकार कहा। कद छोटा कहा परमाणु का। आकाश के प्रदेश जैसा (कहकर) तुलना दी।

चौपड़ के पासे के आकार का... फिर पूछते हैं, कैसा है? स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवन्त है। परमाणु में स्पर्श है। ठण्डा, गर्म स्पर्श परमाणु में है, आत्मा में नहीं। आत्मा तो अरंग, अगन्ध, अरस, अस्पर्श से वह तो अरूपी चिदानन्द भगवान है। आहाहा! परमाणु एक-एक उसका पॉईन्ट है। उसमें स्पर्श है, उसमें रंग है काला, लाल, हरा। उसमें गन्ध है सुगन्ध-दुर्गन्ध। उसमें रस है मीठा, कड़वा (आदि)। वह सब जड़ परमाणु का—पुद्गल का स्वभाव है। वह आत्मा में है नहीं। समझ में आया? पुद्गल, वह **'अनुरूपी'** उसे पहले ठेठ ले लिया। पुद्गलद्रव्य परमाणु, ऐसा। **'नभ-प्रदेश-परवान फरस-वरन-रस-गंधमय'** 'मय' (कहकर) अभेद ले लिया। एक-एक परमाणु—पॉईन्ट वह रंग, रस, गन्ध, स्पर्शमय है। अभेद है। गुण और गुणी कोई अलग नहीं। जैसे शक्कर और सफेदाई, मिठास—दोनों अभेद है, वैसे परमाणु—रजकण—पॉईन्ट में रंग, रस, गन्ध, स्पर्श अभेद है, उसे पुद्गलद्रव्य और परमाणु कहा जाता है। दो की व्याख्या की। बाद में कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७, पौष कृष्ण १२, शनिवार, दिनांक २३-१-१९७१
उत्थानिका, पद—२२ से २६

यह समयसार नाटक, इसकी उत्थानिका—थोड़ी भूमिका बनारसीदास ने स्वतन्त्र की है, जीव और अजीव का वर्णन करने से पहले। समयसार का वर्णन तो जीव-अजीव (अधिकार) शुरु होगा, तब (होगा)। पहले उसकी भूमिका बाँधी है। २० और २१ दो बोल (काव्य) चले। जीव किसे कहना, यह आया न कल? **चेतनवन्त अनन्तगुन...** चेतनस्वरूप है, यह आत्मा निज—अपना। उसमें संख्या से अनन्त गुण है। जानना, देखना, आनन्द, स्वच्छता, शान्ति इत्यादि-इत्यादि संख्या से एक आत्मा में अनन्त गुण और शक्तियाँ हैं। **परजै अनंत** है। देखो यहाँ! वे बदलते हैं, एकदम कूटस्थ नहीं। कूटस्थ हो तो कार्य नहीं हो सकता। जीव की अवस्था, वस्तुरूप से कायम रहकर उसकी दशा बदलती है। अधर्म टलकर धर्म होता है, दुःख टलकर दुःख होता है—यह सब पर्याय अर्थात् अवस्था में होता है। वे अवस्थायें भी एक गुण की अनन्त है। एक गुण—शक्ति का सामर्थ्य भी अनन्त है। जिसका स्वभाव है, उसकी शक्ति का क्या कहना? ऐसा जीवद्रव्य है वह अनन्त शक्ति (वन्त) है।

अलख है—इन्द्रियों से ज्ञात हो ऐसा नहीं। अतीन्द्रिय भगवान है आत्मा। अतीन्द्रिय महापदार्थ है और अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा वह अनुभव में आ सकता है। शरीर, इन्द्रिय, मन या विकल्प—राग द्वारा अनुभव में न आवे, ऐसा वह आत्मा है। **अखण्डित** है, अखण्ड एक वस्तु है। उसमें खण्ड—भेद नहीं। अनन्त गुण होने पर भी वस्तुरूप से अखण्ड एक है। **सर्वगत** है—सर्व को जाननेवाला है। लोकालोक जगत के सर्व पदार्थ, उन्हें एक क्षण में जानने के स्वभाववाला वह जीवद्रव्य है। ऐसा जीवद्रव्य जो है, उसे अन्तर के राग के विकल्प रहित अनुभव करना, उसका नाम धर्म है। कहो, सेठ! यह धर्म। गजब धर्म की व्याख्या, भाई! यह तो चारों ओर धर्म, धर्म बाहर से बहुत कहते। जीवदया पाले तो धर्म और यह पाले तो धर्म, ऐसा लोग बोलते हैं न!

ऐसा जो आत्मा, उसे भगवान ने आत्मा कहा है। उसका स्वरूप बराबर वस्तु, वस्तु की शक्तियाँ और उसकी दशा—उसे समझकर और अन्तर्मुख दृष्टि में अभेद जीव

पर दृष्टि देने से पर्याय अर्थात् अवस्था में आनन्द के अनुभवसहित जो प्रतीति हो, उसे धर्म कहते हैं। अरे! गजब बातें! पण्डितजी! तुम्हारे संस्कृत के प्रोफेसर में आया था ऐसा? संस्कृत में क्या था? संस्कृत में भाषा आवे संस्कृत की। ऐसा जीव भगवान आत्मा अन्दर सचेतन... सचेत... सचेतन विराजता है। आहाहा! कभी इसकी इसे खबर नहीं।

फिर उसके सामने पुद्गल है। जैसी जीव—आत्मा एक वस्तु है, ऐसा यह पुद्गल जड़ आदि सामने दूसरी चीज़ है। दूसरी चीज़ न हो तो उससे भिन्न पड़ना और उसमें एकताबुद्धि करना रहता नहीं। पुद्गल, यह वाणी, शरीर, यह सब परमाणु है, लक्ष्मी, मकान। यह कहते हैं कि रंग, गन्ध, वर्ण, स्पर्शसहित है। आकार है उसका चोखुणा। चोखुणा आकार है—जो कल कहा था। लड़कों को याद नहीं आया था। लड़कों को पूछा था। कहाँ गया अतुल? **नरद-पास-संठान** है उसमें? कहाँ? अर्थात् क्या? चौपड़ का पासा। देखो! अन्दर लिखा है। अर्थ की उस ओर है अन्दर ऊपर-ऊपर।

चौपड़ का पासा होता है न ऐसा। पासा डाले, नहीं? उसके छह बाजु होते हैं। यह देखो न यह। एक, दो, तीन, चार, पाँच और एक टुकड़ा यहाँ का, छह। छह भाग का एक टुकड़ा यहाँ है न। ऐसा एक-एक प्रदेश (प्रमाण) परमाणु-पॉईन्ट और इतना ही—प्रदेश जितना चौड़ा आत्मा का एक प्रदेश है। ऐसे आकाश का, धर्मास्ति आदि छहों द्रव्यों का एक प्रदेश (इतना होता है)। चौपड़ के पासा जैसा है। छह पासा जैसा है। ऐसी सर्वज्ञ से सिद्ध हुई वस्तु है यह। अद्धर से कल्पना से नहीं। ऐसा स्वभाव है जगत का—ऐसा सर्वज्ञ परमेश्वर ने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे, उसमें यह देखा। ऐसी इच्छा बिना वाणी निकली। ॐध्वनि निकली। उस ध्वनि में यह सब पदार्थ का स्वरूप आया। अब यह तो कल आ गया था अपने।

अब २२वाँ। धर्मद्रव्य का लक्षण। धर्म अर्थात् एक पदार्थ है। धर्म अर्थात् यह धर्म करना, वह नहीं। एक चौदह ब्रह्माण्ड है, उसमें एक धर्मास्ति नाम का एक तत्त्व है कि जो जीव और जड़ (पुद्गल) स्वयं के कारण से गति करे, वहाँ उसमें निमित्तरूप से दूसरी चीज़ है। उसे यहाँ धर्मास्ति नाम का एक तत्त्व कहने में आता है। वह वस्तु है, अरूपी एक वस्तु है।

★ ★ ★

काव्य - २२

धर्मद्रव्य का लक्षण (दोहा)

जैसैं सलिल समूहमैं, करै मीन गति–कर्म।
तैसैं पुदगल जीवकौं, चलनसहाई धर्म।।२२।।

शब्दार्थ:–सलिल=पानी। मीन=मछली। गति–कर्म=गमनक्रिया।

अर्थ :– जिस प्रकार मछली की गमनक्रिया में पानी सहायक होता है, उसी प्रकार जीव पुद्‍गल की गति में सहकारी[1] धर्मद्रव्य है।।२२।।

काव्य-२२ पर प्रवचन

जैसैं सलिल समूहमैं, करै मीन गति–कर्म।
तैसैं पुदगल जीवकौं, चलनसहाई धर्म।।२२।।

भाषा देखो! **सलिल—**पानी का समूह। '**करै मीन गति-कर्म।**' मछली कर्ता होकर गति की क्रियारूपी कार्य करे। समझ में आया? दस मिनिट देरी लगी। मोटर-बोटर का पराधीन है न भाई! आने में देरी लगी। कहो, समझ में आया? है, दस अन्तर है। घड़ी में अन्तर हो वह अलग बात है, तुमने घड़ी देखी हो कहीं, यहाँ दस मिनिट का अन्तर है। '**जैसे सलिल समूह**' २२वाँ बोल (काव्य)। सर्वज्ञ परमात्मा ने जगत में धर्मास्ति नाम का एक द्रव्य—तत्त्व देखा है। उस तत्त्व का ऐसा स्वरूप है कि जैसे पानी के सरोवर में **करै मीन... मीन** अर्थात् मछली। स्वयं कर्ता होकर करे। '**करै**' शब्द प्रयोग किया है न? कर्ता होकर गतिकर्म करे। गतिरूपी क्रिया का कार्य करे। देखो! कितना समाहित कर दिया इसमें!

'**तैसैं पुदगल जीवकौं**' उसी प्रकार यह परमाणु और जीव ऐसे गति करे, वे स्वयं गति करने के कर्ता होकर गति का कार्य करे। '**चलन सहाई धर्म**' तो धर्मास्ति नाम का

---

१. उदासीन निमित्तकारण है, प्रेरक नहीं है।

एक पदार्थ है। जैसे पानी में मछली गति करे, उसे पानी निमित्त कहलाता है; उसी प्रकार जीव और पुद्गल गति करे, (तब) उपादान स्वयं का है। तब दूसरी एक चीज़ है—धर्मास्ति नाम का तत्त्व कि जो गति में निमित्त—सहाय है। निमित्त कारण है। नीचे है। **उदासीन निमित्तकारण है, प्रेरक नहीं है।** नीचे स्वयं ने स्पष्टीकरण किया है। चलाता नहीं। पानी मछली को चलाता नहीं। चले तो निमित्त कहा जाता है। उसी प्रकार धर्मास्ति, जीव-जड़ को चलाता नहीं कि चल। परन्तु स्वयं गतिरूपी क्रिया-कर्म करे तो वह धर्मास्ति नाम का तत्त्व निमित्त है, उदासीन कारण है।

मुमुक्षु : निमित्त का अर्थ कारण नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रश्न ही कहाँ है यहाँ? यहाँ पानी तो है, अब मछली गति करे तो पानी का निमित्त कहने में आता है। पानी सर्वत्र है, वैसे पूरे लोक में अरूपी धर्मास्तिकाय है। यह लोग क्या कुछ कहते हैं? पण्डितजी! ईथर। उन्हें कहाँ भान है कि यह तत्त्व है। परन्तु वे ऐसा कहते हैं। गति है, एक ईथर नाम का तत्त्व है। परन्तु वह तो अद्धर से कल्पना से कहते हैं। यह तो सर्वज्ञ से सिद्ध हुआ है। गति करने की क्रिया... जीव और परमाणु ऐसे गति करे। आत्मा ऐसे-ऐसे चले तो यह भी लिता है। वह स्वयं कर्ता होकर क्रिया करे, तब धर्मास्ति को निमित्त—उदासीन कारण कहा जाता है। इसमें बड़ा विवाद है। निमित्त करावे, निमित्त करावे।

मुमुक्षु : सहकारी है न इसलिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : सहकारी अर्थात् साथ में। है न, साथ में है, देखो न! समझ में आया? उदासीन निमित्त कारण। दोनों इकट्ठे होकर क्या करे? सहकारी अर्थात् साथ में एक है, बस। वह कहीं दूसरे को गति, दूसरे के काम में गति करावे, (ऐसा नहीं है)। ऐसा ऊपर कहा है। '**करै मीन गति करम।**' मछली गति करने के कार्य को कर्ता होकर करे, तब पानी उसे निमित्त कहा जाता है। पानी उसे गति कराता नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की कुछ क्रिया कर सकता नहीं। ऐसी स्वतन्त्रता उसकी प्रसिद्ध है। उसकी प्रसिद्ध है। लोगों को खबर नहीं होती, तत्त्व क्या है इसकी (खबर नहीं होती)। समझ में आया?

जिस प्रकार मछली की गमनक्रिया में पानी सहायक होता है... ऐसा लिखा है न? **सहायक** शब्द है न! **'चलनसहाई'** उसी प्रकार जीव-पुद्‌गल की गति में, जीव और पुद्‌गल गमन करे, तब सहकारी अर्थात् साथ में धर्मद्रव्य एक निमित्तरूप से कहा जाता है। ऐसा इसे जानना और निर्णय करना चाहिए। उपादानरूप से स्वतः गमन करे, तब एक दूसरी चीज़ है न दूसरी चीज़। मछली गमन करे, वहाँ पानी चीज़ है या नहीं? ऐसे पानी में तो अमुक क्षेत्र में पानी मीन को निमित्त होता है। यह तो पूरे लोक में जड़-चेतन की गति में धर्मास्ति नाम का एक अरूपी तत्त्व है। एक, समझ में आया? वह सहकारीरूप से साथ में होता है। बस। दूसरा बोल। अधर्मद्रव्य। एक दूसरा अधर्मद्रव्य है। एक वस्तु है अधर्म (द्रव्य)। अधर्म अर्थात् यह पाप, वह नहीं। २३ (काव्य)

★ ★ ★

काव्य - २३

अधर्मद्रव्य का लक्षण (दोहा)

ज्यौं पंथी ग्रीषमसमै, बैठै छायामाँहि।
त्यौं अधर्मकी भूमिमैं, जड़ चेतन ठहराँहि।।२३।।

शब्दार्थ:-पंथी=पथिक। ग्रीषमसमै=ग्रीष्मकाल में।

अर्थ :- जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में पथिक छाया का निमित्त पाकर बैठते हैं, उसी प्रकार अधर्मद्रव्य जीव-पुद्‌गल की स्थिति में निमित्तकारण है।।२३।।

काव्य-२३ पर प्रवचन

ज्यौं पंथी ग्रीषमसमै, बैठै छायामाँहि।
त्यौं अधर्मकी भूमिमैं, जड़ चेतन ठहराँहि।।२३।।

ग्रीष्म (अर्थात्) गर्मी का काल। ग्रीष्म काल चैत्र महीना हो, धूप लगी हो। पंथी

गमन करते हुए जहाँ छाया मिले वहाँ बैठे। छाया उसे बैठने का कहती नहीं। छाया उसे बैठने की क्रिया कराती नहीं। बैठने की क्रिया तो जड़-चेतन स्वयं को स्थिर रहने की क्रिया करे, तब अधर्मास्ति नाम का पदार्थ निमित्त (होता है)। कर्ता होकर, जीव और पुद्‌गल स्थिर होने की क्रिया का कर्ता होकर करे, तब अधर्मास्तिकाय नाम का एक अजीवतत्त्व उन्हें निमित्त है, कारण-सहकारी कारण, उदासीन कारण, एक उपस्थित द्रव्य, ऐसा कहा जाता है। है न? '**बैठै छायामाँहि**' ऐसा लिखा है न! छाया में वह बैठे। छाया उसे बैठाती नहीं। भाषा देखी? '**ज्यौं पंथी ग्रीषमसमै, बैठै छायामाँहि**' छाया में बैठे। छाया नहीं कहती कि यहाँ बैठ। बैठे तब छाया निमित्त कहने में आती है। '**त्यों अधर्मकी भूमिमैं**' वैसे अधर्मास्ति नाम का तत्त्व है, उसमें जड़, चैतन्य ठहरे। वे स्वयं ठहरे, तब अधर्मास्ति उसे निमित्त कहा जाता है।

आकाश। (पद) चौबीस। एक आकाश नाम का अरूपी सर्वव्यापक पदार्थ है। यह लोक है चौदह ब्रह्माण्ड और खाली भाग। खाली... खाली... खाली... खाली... खाली... खाली। जिसमें यह जड़-चेतन है नहीं। आकाश (अलोकाकाश) एक भाग है। खाली दशों दिशायें, जिसका अन्त नहीं, अन्त नहीं, अन्त नहीं, अन्त नहीं। ऐसा और लोक—सब (होकर) यह व्यापक एक पूरा आकाश नाम का अरूपी द्रव्य है, पदार्थ है। उसका क्या स्वरूप है?

★ ★ ★

काव्य - २४

आकाशद्रव्य का लक्षण (दोहा)

संतत जाके उदरमैं, सकल पदारथवास।
जो भाजन सब जगतकौ, सोई दरब अकास।।२४।।

शब्दार्थ:-संतत=सदाकाल। भाजन=बर्तन, पात्र।

अर्थ :- जिसके पेट में सदैव सम्पूर्ण पदार्थ निवास करते हैं, जो सम्पूर्ण द्रव्यों

को पात्र के समान आधारभूत है; वही आकाशद्रव्य है।।२४।।

नोट-अवगाहना आकाश का परम धर्म है, सो आकाशद्रव्य अन्य द्रव्यों को अवकाश दिये हुए है और अपने को भी अवकाश दिये हुए है। जैसे:-ज्ञान जीव का परम धर्म है, सो जीव अन्य द्रव्यों को जानता है और अपने को भी जानता है।

काव्य-२४ पर प्रवचन

संतत जाके उदरमैं, सकल पदारथवास।
जो भाजन सब जगतकौ, सोई दरब अकास।।२४।।

सदाकाल... देखी भाषा? सदाकाल है। कहीं नये आये हैं आकाश में और आकाश नया है, उसमें फिर नये आये, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : हमारे तो नया करना है तो निपट जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहाँ प्रश्न है। यहाँ आकाश में है और वहाँ भी आकाश में है। जो परमात्मा अशरीरी होते हैं, वे यहाँ भी आकाश में हैं और वहाँ भी आकाश में हैं। उसमें नया कहाँ हुआ? अब यह आकाश में नया हो, ऐसा है? वह तो वहाँ क्षेत्र दूसरा है। आकाश तो वह का वह है। सिद्ध को, किसी भी द्रव्य को स्वतन्त्र निरन्तर... है न? सदाकाल। '**सकल पदारथवास**' जिसके पेट में अर्थात् जिसकी जगह में सभी पदार्थ वास, '**सकल पदारथवास**' स्वयं बसे हुए हैं, ऐसा कहते हैं। निरन्तर, वापस ऐसा। सदा। नये नहीं कि आकाश पहले हुआ और फिर जीव और जड़ हुए और उसमें रहे।

मुमुक्षु : आधार पहला आवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : आधार-आधेय सब व्यवहार। आधार कौन? आकाश का आधार आकाश। उसमें यह निमित्त है, दूसरा क्या? आधार किसका? स्वयं अपना उपादान आधार है। जड़ और चेतन स्वयं अपने से अवगाहन में ऐसे रहे हुए हैं। ऐसे एक दूसरा (द्रव्य) आकाश अवगाहन में निमित्त है, बस इतना है। दूसरा एक तत्त्व है। '**जो भाजन सब जगतकौ**' पूरी दुनिया के अनन्त परमाणु और अनन्त आत्मायें, उनका

वह भाजन है। वह पेट कहा था न? उसका वह भाजन—रहने का स्थान है। '**पात्र के समान आधारभूत है...** लो।

'**सोई दरब अकास**' उसे आकाश नाम का अरूपी पदार्थ अनादि-अनन्त है भगवान वर्णन करते हैं। यह सबको जानने का स्वभाव जीव भगवान आत्मा का है। वह स्वयं हो तो 'यह है' ऐसा जान सकता है। समझ में आया? **अवगाहना आकाश का परम धर्म है...** नोट किया है न अन्दर? आकाश नाम का अरूपी पदार्थ है, उसमें अवगाहना अर्थात् दूसरे (द्रव्य) जीव और जड़ उसमें आते हैं। आवे उन्हें रहने का स्थान देने का आकाश का स्वभाव है। **सो आकाश द्रव्य अन्य द्रव्यों को अवकाश दिये हुए है।** अन्य द्रव्य को तो अवकाश दिये हुए है ही। ऐसा कि और नया देना है, ऐसा नहीं है। **और अपने को भी अवकाश दिये हुए है।** आकाश, आकाश में है। आकाश किसमें है? आकाश अरूपी स्वयं अपने में है।

जैसे ज्ञान जीव का परम धर्म है... आत्मा का स्वभाव... जानना, वह चैतन्य-प्रकाशबिम्ब चैतन्य प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप आत्मा का स्वभाव है। वह स्वभाव... **सो जीव अन्य द्रव्यों को जानता है और अपने को भी जानता है।** अपने को जाने। आकाश दूसरे को जगह दे और स्वयं अपने को दे। आहाहा! गजब! इसी प्रकार आत्मा परपदार्थ—शरीर, वाणी, मन, दूसरे आत्मा—सबको जाने, वैसे अपने को भी जाने। ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध चेतनद्रव्य हूँ। यह दृष्टान्त दिया है। आकाश को आधार कौन? कि वह स्वयं। वैसे आत्मा में ज्ञान का कारण कौन? कि ज्ञान का कारण स्वयं। स्वयं अपने से जाने। **सो जीव अन्य द्रव्यों को जानता है और अपने को भी जानता है।**

कालद्रव्य। जगत में एक काल नाम के अणु सूक्ष्म अरूपी हैं। जड़ और चेतन बदलते हैं, रूपान्तर होते हैं, उसमें वह निमित्त है। वह (धर्मद्रव्य) गति में निमित्त, वह (अधर्मद्रव्य) स्थिति में निमित्त, यह रूपान्तर में निमित्त। यह परमाणु बदलते हैं न क्षण-क्षण में। अवस्था बदलती है हालत। वैसे जीव में भी विचार की धारा आदि अनेक (अवस्था) बदलती है। वह बदलने का उपादान स्वयं है, परन्तु एक दूसरा द्रव्य उसका निमित्त है। स्व हो, वह पर से हो? (नहीं)।

★ ★ ★

काव्य - २५

कालद्रव्य का लक्षण (दोहा)

जो नवकरि जीरन करै, सकल वस्तुथिति ठांनि।
परावर्त वर्तन धरै, काल दरब सो जांनि।।२५।।

शब्दार्थः-नव=नवीन। जीरन (जीर्ण)=पुराना।

अर्थ :- जो वस्तु का नाश न करके सम्पूर्ण पदार्थों की नवीन हालतों के प्रगट होने और पूर्व पर्यायों के लय होने में निमित्तकारण है, ऐसा वर्तना लक्षण का धारक कालद्रव्य है।।२५।।

नोट - कालद्रव्य का परम धर्म वर्तना है, सो वह अन्य द्रव्यों की पर्यायों का वर्तन करता है और अपनी भी पर्यायें पलटता है।

काव्य-२५ पर प्रवचन

जो नवकरि जीरन करै, सकल वस्तुथिति ठांनि।
परावर्त वर्तन धरै, काल दरब सो जांनि।।२५।।

कहते हैं कि '**नवकरि जीरन**' जड़ और चैतन्य की अवस्था पुरानी हो पुरानी, उसे नाश करके नयी करे। नयी अवस्था बदलती है न क्षण-क्षण में। उसकी—यह परमाणु की पहली अवस्था रोटी, दाल, भात की थी, पश्चात् वह अवस्था खून की हुई। फिर राख की होगी, फिर गेहूँ होंगे, फिर आटा होगा। रजकण तो कायम रहते हैं परन्तु अवस्था बदलती है। वह अवस्था बदलने में काल नाम का अरूपी एक द्रव्य है, वह बदलने में निमित्त है। भाषा ऐसी है कि '**नवकरि जीरन करै**'

मुमुक्षु : करे

पूज्य गुरुदेवश्री : '**करै**' का अर्थ स्वयं आत्मा और जड़, पुरानी टलकर नयी अवस्था उपजती है, वह कर्ता होकर बदलती है, तब काल नाम का द्रव्य उदासीन

निमित्त कारण है। ऐसा जगत के पदार्थ का स्वभाव है। आहाहा! धर्म और अधर्म को तो सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी ने जाना नहीं, कहा नहीं। समझ में आया?

'नवकरि जीरन करै', 'जीरन' 'जीरन' करे। **'सकल वस्तुथिति।' पदार्थों की नवीन हालतों के प्रगट होने और पूर्व पर्यायों के लय होने,...** पूर्व अवस्था बदल जाये, नयी अवस्था हो। (वस्तु) ध्रुवरूप से कायम रहे। निमित्त कारण है। **ऐसा वर्तना लक्षण का धारक कालद्रव्य है।** लो! इसे भी उस आकाश की भाँति डाला। **कालद्रव्य का परम धर्म वर्तना है...** अपना स्वभाव दूसरे वर्ते, उसे निमित्तरूप होता है। **सो वह अन्य द्रव्यों की पर्यायों का वर्तन करता है और अपनी भी पर्यायें पलटता है।** अरूपी काल भी बदलता है। बहुत सूक्ष्म बात है।

असंख्य कालाणु चौदह ब्रह्माण्ड के अन्दर है। अरूपी है, अनन्त गुण का पिण्ड है, अनन्त एक-एक गुण की पर्याय हुआ करती है, ऐसा कालद्रव्य स्वयं भी अपने बदलने में कारण है। दूसरे को बदलने में कारण है और स्वयं भी बदलता है, उसमें स्वयं कारण है। देखो, ऐसा यह स्वभाव है। इसका यथार्थ ज्ञान करे, वह अनुभव में उसे निमित्त कहलाये। वास्तविक सत्य है यह। सत् का ज्ञान सत्यरूप से हो तो आत्मा उन सबका जाननेवाला है, ऐसा उसके स्वरूप में दृष्टि करने से उसे आत्मा का अनुभव होता है, उसे सम्यग्दर्शन होता है। ऐसे द्रव्य के स्वभाव की खबर न हो और अकेला आत्मा का अनुभव हो जाये, ऐसा नहीं होता, ऐसा कहते हैं। क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा है कि एक समय का ज्ञान जगत के समस्त पदार्थों को जाने। तब पदार्थ हैं, तत्प्रमाण जाने। नहीं, ऐसा यदि माने तो ज्ञान में सबको जानने की सामर्थ्य का अपना ज्ञान भी नहीं रहा। समझ में आया? सूक्ष्म बातें, भाई!

अब आया। अब आया आत्मा वापस। वह द्रव्य में जीवद्रव्य था, अब नौ तत्त्व में आत्मपदार्थ। **नवपदार्थों का ज्ञान अनुभव के लिए कारण है। अतः उनका विवेचन किया जाता है।** अब जीव का वर्णन। वह जीवद्रव्य का वर्णन था। यह जीवतत्त्व, ऐसा कहकर नौ भाग करने हैं न? जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। बहुत सूक्ष्म बात है अब यह।

नव पदार्थों का ज्ञान अनुभव के लिये कारण है, अतः उनका विवेचन किया जाता है:-

★ ★ ★

काव्य - २६

जीव का वर्णन (दोहा)

समता-रमता उरधता, ग्यायकता सुखभास।
वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविलास।।२६।।

शब्दार्थ:-समता=राग-द्वेष रहित वीतरागभाव। रमता=लीन रहना। उरधता (ऊर्ध्वता)=ऊपर को चलने का स्वभाव। ग्यायकता=जानपना। वेदकता=स्वाद लेना।

अर्थ :- वीतरागभाव में लीन होना, ऊर्ध्वगमन, ज्ञायकस्वभाव, साहजिक सुख का सम्भोग, सुख-दुःख का स्वाद और चैतन्यता-ये सब जीव के निजगुण हैं।।२६।।

काव्य-२६ पर प्रवचन

समता-रमता उरधता, ग्यायकता सुखभास।
वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविलास।।२६।।

भगवान आत्मा का विलास यह है कि **समता**—राग-द्वेष रहित वीतरागभाव। आहाहा! लो। क्या कहा यह? इसका स्वभाव ही ऐसा है कि राग-द्वेष रहित स्वरूप में लीन होना, ऐसा ही उसका स्वभाव है। अपने इसका अर्थ करके फिर श्रीमद् में से लेंगे। भाषा ऐसी ली है यहाँ। **समता...** वीतरागभाव में लीन होना, उसका स्वभाव है। विकार में लीन होना उसका स्वभाव नहीं। आहाहा! शुद्ध उपयोग जिसका स्वभाव है। आता है न अलिंगग्रहण में? पुण्य-पाप के भाव विकल्प हैं, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। वह तो विकार-विभाव है, दोष है। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध—राग और पुण्य के

विकल्प से रहित शुद्ध—जिसका स्वभाव है। उस शुद्ध स्वभाव में एकाकार होना, ऐसा उसका स्वभाव है। समता की यह व्याख्या की है।

अब उसमें (श्रीमद् में) समता की दूसरी व्याख्या है। श्रीमद् स्वयं इस गाथा का अर्थ करते हैं। वह इसमें नहीं मिलता। २७४वाँ पत्र है। २६वाँ वर्ष है। '**समता-रमता उरधता ग्यायकता सुखभास, वेदकता चैतन्यता ए सब जीव विलास**' श्री तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि... स्वयं अर्थ करते हैं श्रीमद् स्वयं। श्री तीर्थंकर सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी में ऐसा आया है कि इस जगत में यह जीव नामक पदार्थ को—भगवान आत्मा नामक तत्त्व को चाहे जिस प्रकार से कहा हो, उस प्रकार उसकी स्थिति में हो, उसके विषय में हमारा उदासीनपना है। उसमें है या नहीं, यह हमारा काम नहीं। वस्तु है, वह हम अब कहेंगे।

जिस प्रकार से निराबाधरूप से जीव नाम का पदार्थ हमने जाना है। सर्वज्ञ तीर्थंकर कहते हैं कि जिस प्रकार से निराबाधरूप से—बाधा-विघ्न बिना जैसा स्वरूप है, वैसा हमने हमारे ज्ञान में तीन काल का ज्ञान होने पर उस जीव का पदार्थ हमने जाना है। वह जीव नाम का पदार्थ हमने जाना है। सर्वज्ञ तीर्थंकर कहते हैं, उस प्रकार से हमने प्रगट किया है। उस प्रकार से कहकर, वह हमने प्रगट किया है। ऐसा भगवान आत्मा अन्दर है। जिस लक्षण से कहा, वह सर्व प्रकार के बाधा से रहित ऐसा कहा है। जो लक्षण कहूँगा, वह किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता और विघ्न बिना अपना है, ऐसा कहूँगा। हमने वह आत्मा ऐसा जाना है। हमने वह आत्मा ऐसा जाना है, देखा है, स्पष्ट अनुभव किया है, प्रगट वही हम आत्मा हैं। अनन्त आनन्द, ज्ञान आदि हम आत्मा हैं।

देखो! अब समता की व्याख्या करते हैं। वह आत्मा समता नाम के लक्षण से युक्त है। है न पहला 'समता' बोल? समता नाम के लक्षण से सहित है। अब समता की व्याख्या। आहाहा! वर्तमान समय में जो असंख्य प्रदेशात्मक चैतन्य स्थिति... देखो! यहाँ अब पूरा प्रदेश डाला है। उसके असंख्य प्रदेश हैं। चैन को जैसे हजार मकोड़ा हो न, तो भी चैन तो एक है, वे मकोड़ा भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार एक परमाणु जितनी जगह को रोके, उस जगह को प्रदेश कहते हैं। ऐसा असंख्य प्रदेशी भगवान आत्मा है।

एक चींटी में जाये तो संकुचित हो जाये, हाथी में जाये तो विकास पाता है। (है) तो उतना का उतना, परन्तु संकोच-विकास होता है। आत्मा तो वह का वह है। चींटी में जाये तो संकुचित हो जाये। वे प्रदेश हैं न? जैसे सोने की चैन है। बड़े व्यक्ति की गर्दन में डाले तो चौड़ा करने पड़े। छोटे की गर्दन में डाले तो अधिक। है तो वह का वह, उतनी की उतनी। कड़ा समझे न? सळीयुं, सळीयुं (मोड)।

कहते हैं कि वर्तमान समय में जो असंख्य प्रदेशस्वरूप चैतन्यस्थिति उस आत्मा की है, वह, वह पहले के एक, दो, तीन, चार (या) भूत के किसी भी समय में देखो तो वह वैसा ही है। पहले के समय दो, तीन, चार (या) अनन्त काल पहले। असंख्य प्रदेशी चैतन्य की स्थिति अभी जो है, वह अनन्त काल से है। संख्यात.... अनन्त समय में थी। देखा! इसका नाम समता कहते हैं। वर्तमान ऐसी है असंख्य प्रदेशी वस्तु, ऐसी की ऐसी पहले समय में, दूसरे समय में, अनन्त समय से अभी तक ऐसी की ऐसी है।

अब बाद के काल के विषय में भी उस प्रकार से उसकी स्थिति है। ऐसा का ऐसा भगवान वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श बिना का, एकरूप रहना। भूतकाल, वर्तमान और भविष्य असंख्य प्रदेशी जैसा उसका स्वभाव आनन्दकन्द है। स्वभाव और क्षेत्र से वह स्थिति है। किसी भी काल में उसका असंख्यात प्रदेशपना, चैतन्यरूप... देखो! इतने विशेषण दिये। उसके असंख्य प्रदेश हैं, किसी समय कम-ज्यादा नहीं होते। एक बात। कहाँ से डाला, देखा? सर्वज्ञ से। दूसरे से अलग तत्त्व जाना है भगवान ने, यह ऐसा तत्त्व है।

असंख्य प्रदेश है। आत्मा तो अरूपी भिन्न भगवान है। जैसे पानी के कलश में पानी भिन्न है, कलश भिन्न है; इसी प्रकार यह (देह) काशीघाट का कलश है। उसमें यह अरूपी भगवान भिन्न है, उसका आकार। आहाहा! कलश होता है न, कलश? उसका आकार होता है न? वैसा ही आकार पानी का, परन्तु दोनों का भिन्न। पानी का आकार पानी के कारण, कलश का आकार कलश के कारण। इसी प्रकार लोटे का आकार... शरीर का आकार शरीर के कारण और आत्मा का अरूपी आकार स्वयं के कारण से है। दोनों भिन्न-भिन्न चीज़ें हैं। आहाहा!

असंख्य प्रदेशात्मक। एक बात। चैतन्यपना। चैतन्यपना भी ऐसा का ऐसा भूत के समय में, वर्तमान और भविष्य में ऐसा का ऐसा रहेगा। अरूपीपना। अरूपी तो भूतकाल में भी अरूपी था, अभी अरूपी है और भविष्य में भी ऐसा का ऐसा रहेगा। यह आदि समस्त स्वभाव, वह छूटना घटित नहीं होता। भाषा प्रयोग की है, देखो! ऐसा जो भगवान आत्मा क्षेत्र से असंख्य प्रदेश, गुण से अनन्तरूप, काल से ऐसा का ऐसा अनन्त काल—त्रिकाल ऐसा का ऐसा रहेगा। ऐसा समस्त स्वभाव, वह छूटना घटित नहीं होता। ऐसा जो समपना... पण्डितजी! ऐसा जो समपना... यह समता की व्याख्या की। सम+ता शब्द है न? 'समपना' ऐसा लिया। 'ता' शब्द है न! **सम-ता** अर्थात् सम्+पना—समानपना, ऐसा लिया। असंख्यप्रदेशी, अनन्त गुण सम्पन्न चैतन्य, अरूपी आदि जिसके ऐसे भाव हैं... हैं... हैं, ऐसा का ऐसा समपने भूत में, वर्तमान में और भविष्य में। ऐसा भगवान आत्मा, उसे समपना—समता वह जिसमें लक्षण है वह जीव है। ऐसा जिसका लक्षण, उसे जीव कहा जाता है। अलग प्रकार की भाषा की है, देखो!

एक तो असंख्य प्रदेश सिद्ध किये, चैतन्यपना सिद्ध किया। अरूपीपना वह अनादि-अनन्त स्वभाव उसका है। वे सब भूतकाल में थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में ऐसे के ऐसे रहेंगे। त्रिकालरूप से एकपने रहना, उसका नाम समपना (ऐसा) जीव का लक्षण समता कहकर कहा गया है। समता, ऐसा शब्द है न? समपना, इसलिए जोर दिया उस 'सम' के ऊपर। भाई! इतना समझ में आया?

यहाँ सम-ता का अर्थ किया है। ऐसे सम-ता शब्द है न समपना। सम-ता में से समपना निकालकर इस प्रकार से (अर्थ) किया। वजुभाई! ... 'समता' ऐसा कहकर पृथक् करके समझाया। समपना। समता, ऐसा इकट्ठा नहीं परन्तु सम-पना। क्या कहा? इसलिए तो अर्थ किया है यहाँ। समता में से समपना कैसे निकाला? समता कैसे नहीं ली? समपना निकाला उसमें। ऐसा जिसका स्वरूप है, ऐसा जिसका लक्षण है। समझ में आया? यह समता की व्याख्या हुई। अब 'रमता'।

मुमुक्षु : चैतन्यघन ऐसा कहाँ से निकाला?

पूज्य गुरुदेवश्री : निकाला उसमें से। समपना अर्थात् समानपना यह। समानपना क्षेत्र से, गुण से, काल से समानपना ऐसा निकाला उसमें से।

मुमुक्षु : क्षेत्र में लागू कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्षेत्र में लागू कर दिया। ऐई वजुभाई! श्रीमद् का क्षयोपशम बहुत था। बहुत क्षयोपशम। उस समय ऐसे क्षयोपशमवाला यह एक ही पुरुष था, परन्तु गृहस्थाश्रम में (थे), इसलिए उनकी बहुत कीमत नहीं हुई। वह बाह्य त्याग नहीं। लोगों को बाह्य त्याग की महिमा है। तत्त्व की बहुत महिमा नहीं न! स्त्री, पुत्र छोड़े तब, हाँ, यह बाबा होकर त्यागी हुआ। धूल भी नहीं, सुन न! अन्दर भान बिना के बाबा हो, वह बुद्धि बिना के बाबा हैं।

'सम-ता'। मेरा तो ऐसा कहना है।

मुमुक्षु : समपना।

पूज्य गुरुदेवश्री : समता अर्थात् पूरा समता शब्द न लेकर, सम+ता लिया है न? रम+ता, ऊर्ध्व+ता, ज्ञायक+ता, ऐसा लिया है न? ऐई देवानुप्रिया! लो! यह ठीक आया यह निकाला उसमें से। जीव का यह लक्षण अनादि-अनन्त है, कहते हैं। जीव वस्तु है पदार्थ असंख्य प्रदेशी, वह ऐसा का ऐसा है, भूतकाल में, वर्तमान में और भविष्य में। चैतन्यपना वह मूल भाव। चैतन्यपना और अरूपी उसके भाव। क्षेत्र और भाव। जैसा है वैसा भूतकाल में, वर्तमान और भविष्य काल में... उसमें काल आया, द्रव्य आया, भाव आया, क्षेत्र आया—सब आ गया। समझ में आया? ऐई चेतनजी! पत्र तो तुमने वाँचा था कितनी ही बार।

मुमुक्षु : दूसरे प्रकार से।

पूज्य गुरुदेवश्री : रामजीभाई ने स्पष्टीकरण किया।

तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि... देखो न! ऐसा कहते हैं, लिखा है न? सर्वज्ञ परमात्मा को ऐसा कहना है कि समपना जिसका लक्षण है। एक ही प्रकार से वे गुण, क्षेत्र और काल से ऐसा का ऐसा है। वह भी कैसे गुण? गुण में लिया। बाकी तो दूसरा दूसरे में भी हो। चैतन्यपना, अरूपीपना ऐसे भाव और क्षेत्र और वस्तु त्रिकाली एकरूप है। उसे यहाँ तीर्थंकर ने जीव का 'सम' लक्षण कहने में समतापना कहा है। समझ में आया? ऐई! तुम्हारे पिता तो श्रीमद् का बहुत वाँचते थे। चिमनभाई! वाँचते न श्रीमद्

का, प्रेम बहुत था। (संवत्) १९९९ में आये तब ऐसा बतलाते थे कि यह श्रीमद् के भगत हैं। कैम्प में-डेला में रहते न। उस ओर आगे रहते थे। ९९ में आये थे न पहले-पहले। कहे, कौन है हिम्मतभाई? यह श्रीमद् के भगत हैं। ऐसा उस समय कहते थे। कोई पहिचान नहीं, ऐसे बिना भान के....

ऐसा भगवान आत्मा! तो कोई कहे कि परमाणु में भी ऐसा है। यहाँ तो असंख्य प्रदेशी और क्षेत्र से समभाव समान करना है।

मुमुक्षु : चैतन्य लेना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चैतन्य लेना है न! चैतन्य असंख्य प्रदेश है उसके। और उन्होंने भी उसमें ऐसा लिखा है—आत्मसिद्धि में कहा है न? 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम, दूसरा कितना कहें, कर विचार तो पाम।' भगवान आत्मा शुद्ध पवित्रता का धाम है, शुद्ध बुद्ध है। वह ज्ञान का समुद्र है, ज्ञायक है ज्ञायक। वह चेतनता ली न! चैतन्यपना। ज्ञायकपना। यह आगे आयेगा। वह स्वयं ज्ञानस्वभाववाला तत्त्व है और वह चैतन्यघन है। तीसरा बोल ऐसा है। असंख्य प्रदेश कहे हैं अर्थ में। वह धन है। असंख्यप्रदेशी वस्तु है।

'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति...' स्वयं अपने को प्रकाशित करे, ऐसी ज्योति है। उसके प्रकाश के लिये दूसरे की आवश्यकता नहीं। स्वयंज्योति और सुखधाम। वह आनन्द का स्थान है, वह आत्मा। अतीन्द्रिय आनन्द का स्थान आत्मा है। वह अनन्त सुखधाम है। दूसरे में कुछ सुख-बुख धूल में भी नहीं। यह पैसे-बैसे में सुख नहीं, स्त्री में सुख नहीं, ऐसा कहते हैं। कल्पना करके खड़ा करके माना है मूर्ख ने मूर्खाई से। सुख का धाम (आत्मा) है। आगे कहेंगे। सुखधाम कहेंगे। समझ में आया? बनारसीदास ने किये हुए शब्द, उसका अर्थ स्वयं (श्रीमद्) करते हैं। ऐसा अर्थ इसमें कहाँ है? यह तो शब्द लिखे हैं भाई बनारसीदास ने। परन्तु उसकी ध्वनि हो गयी कि समतापना। सम-ता, ऐसा लिया है। त्रिकालरूप से व्यवस्थित रहे वह। वीतरागभाव में लीन है, वह तो अमुक समय लीन होता है। समझ में आया? वह जिसमें लक्षण है, वह जीव है, उसे आत्मा कहा जाता है।

दूसरा 'रमता।' **वीतराग भाव में लीन होना...** यह 'रमता' का अर्थ हुआ। इसमें **'रमता'—**लीन रहना। यह दो इकट्ठा कर दिया। **वीतरागभाव में लीन होना...** ऐसा। परन्तु रम-ता—रमना-पना ऐसा निकाला इसमें से। ऐ देवानुप्रिया! यह दो इकट्ठेरूप से डाला, इन्होंने दो इकट्ठे कर दिये। परन्तु यहाँ तो समता-पना, सम-पना, रम-पना, रमना-पना।

मुमुक्षु : दोनों अलग-अलग।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों अलग कर दिये। अलग है न उसमें दो? बहुत सरस अर्थ किया।

कहते हैं कि दूसरा 'रमता' की व्याख्या अब। भगवान आत्मा रम-ता, रमण-पना उसमें है रमणपना। 'ता' अर्थात् रमणपना। रम-ता अर्थात् रमणपना। लीनता नहीं परन्तु रमणपना। क्या रमणपना? पशु, पक्षी, मनुष्यादि देह में... पशु हो, पक्षी हो, गाय, मनुष्यादि देह में, ऐसे वृक्षादि देह में... ऐसे वृक्षादि यह एकेन्द्रिय वनस्पति आदि। वह भी जीव है अन्दर। जो कुछ रमणीयता ज्ञात होती है। देखो! यहाँ रमणीयपना। 'रमता', रमता अर्थात् रमणपना, ऐसा निकाला उसमें से। ऐ देवानुप्रिया! ....हाँ, यह सच्चा है। वह संक्षिप्त साधारण अर्थ किया है। यहाँ तो रमण-ता, रम-ता, रमण-पना, ऐसा कहना है। 'ता' में से 'पना' निकाला। देखो न, अर्थ कैसा किया? समझ में आया?

उसमें समपना निकाला। सम-ता—सम-पना, रम-ता—रमण-पना। जो कोई रमणीयपना ज्ञात होता है... इस शरीर के अन्दर भिन्न तत्त्व यह रमणीय ज्ञात होता है। चाहे एकेन्द्रिय में हो, पंचेन्द्रिय में हो, कीड़ी में हो, कौवे में हो। आत्मा जो अन्दर है, वह तो रमणीयपना ज्ञात होता है अथवा जिसके द्वारा वह सर्व प्रगट स्फूर्तिवाले ज्ञात होते हैं। जिसके द्वारा स्फूर्तिवाले... मुर्दे और ऐसे-वैसे नहीं। ऐसी स्फूर्तिवाले ज्ञात होते हैं सब। ऐसा जो अन्दर रमणपने का स्वभाव। आहाहा! प्रगट सुन्दरपना समेत लगता है। सर्व प्रगट स्फूर्तिवाले ज्ञात होते हैं। जिसके प्रगट सुन्दरपना समेत है। सुन्दरपना उसका है। वह रमणीयपना है। देखा? रमना, रमणीयपना। सुन्दरपना समेत है। सुन्दरपना समेत है। आहाहा! रमता, यह जिसका लक्षण है। लो! रमता लक्षण है जिसका। रमनापना जिसका लक्षण है, उसका ऐसा आत्मा। आहाहा!

वह जीव नाम का पदार्थ है। जिसके विद्यमानपने बिना... भगवान आत्मा की अस्ति न हो तो पूरा जगत शून्यवत् सम्भव है। प्रकाश का प्रकाश है। भगवान आत्मा जिसकी अस्ति बिना पूरा जगत शून्य... शून्य... शून्य... मुर्दा दिखता है। ऐसा यह आत्मा रमणीयपना है। कहो, समझ में आया? देखो, ऐसा अर्थ पहले नहीं हुआ। यह तो गाथा (पद) आयी, इसलिए जरा यहाँ (वाँचा है)। आवे तब कहा जाये न! पहले कहाँ... उसमें जो हो भाव, उसका विस्तार होता है। समझ में आया? जिसके विद्यमानपने बिना, जिसकी अस्ति—भगवान आत्मा की अस्ति बिना, पूरा जगत शून्यवत् सम्भवे। ऐसा रम्यपना... रमता नहीं परन्तु रम्य-पना, ऐसा। सम-ता अर्थात् समपना... समपना, ऐसा निकाला। समझ में आया?

बहुत गम्भीरता, श्रीमद् के अन्तर में क्षयोपशम की बहुत (गम्भीरता)। शब्द में से कैसे भाव निकालना, यह भी उनकी शक्ति दूसरी... लोगों ने उन्हें बाहर से मान लिया है। या बाहर से उनकी भक्ति की, उसमें मुक्ति—ऐसा मानते हैं। भक्ति करे, उसमें क्या? (वह तो) पुण्य है। उसके सामने देखकर मुक्ति होती होगी? उन्होंने तो यह कहा है कि तू तेरे सन्मुख देख। आया नहीं अपने स्वद्रव्य में? स्वद्रव्य की रक्षा कर। ऐसा कहा है। ऐई!

मुमुक्षु : परन्तु छोटी उम्र के थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : छोटी उम्र में हुए तो क्या? जो है वह सच्चा कहा है। स्वद्रव्य की रक्षा कर। भगवान आत्मा स्वतत्त्व है, उसकी रक्षा कर। राग, पुण्य बन्ध लक्ष्य में से छोड़ दे। वह कहीं तेरी चीज़ नहीं है।

देखो! स्वद्रव्य की रक्षा कर। स्वद्रव्य का धारक हो। स्वद्रव्य का व्यापक हो। स्वद्रव्य आत्मा ऐसा है, उसमें व्यापक—उसमें पसर जा। पुण्य-पाप में पसरा है, वह अज्ञानता है, मूर्खता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा भगवान अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, उसमें तू जा, व्यापक हो, उसमें पसर, फैल। उसमें अन्दर में जा और फैलाव कर। पुण्य और पाप तथा विकल्प और यह देह—यह तो सब पर है, जड़ है। उसमें तू विस्तार कहाँ करने गया? आहाहा! ऐसा है। स्वद्रव्य का रक्षक, व्यापक। फिर स्वद्रव्य का

धारक। चौथा बोल धारक। स्वद्रव्य को धार। यह राग मैं हूँ और पुण्य मैं हूँ, उसे छोड़ दे, वह तेरी चीज़ नहीं। पण्डितजी! यह अर्थ अहमदाबाद में किया था पहला-पहला थोड़ा-थोड़ा... लोग... वहाँ बड़ी सभा थी। अभी जा आये न! पहले-पहले हाथ में आया। गजब भाई यह तो! थोड़ा अर्थ किया था। वहाँ बहुत लोग सुनते थे। एक भगत था। वह भी बोला, गजब बात भाई यह! कहते हैं, बात सच्ची।

हमारी भक्ति करोगे तो तुम्हारा रक्षण होगा, वहाँ ऐसा आया है? हमको धार। वहाँ तो अन्तिम ऐसा आया कि परद्रव्य की रक्षकता शीघ्रता से तज दे। परवस्तु, आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु की रक्षा शीघ्रता से छोड़ दे। परद्रव्य का धारकपना शीघ्रता से छोड़ दे। लक्ष्यपना नहीं लिया, धारकपना लिया है। परद्रव्य को धार रखा है, उसे लक्ष्य में से छोड़ दे। परद्रव्य को जो तूने रमण, उसमें रमण किया है, उसे तत्काल छोड़ दे और परद्रव्य का ग्राहक (पना)—पकड़ रखा है, उसे छोड़ दे। रागादि मैं हूँ, उसे छोड़ दे। कहो, समझ में आया? अन्दर आवे, तब आवे न। इसमें लक्ष्य जिसे घटित हो, वह जीव है। लो, उसे जीव कहा है। रमतापना, रम्यपना, सुन्दरपना। जिसके कारण सब रम्य लगता है, बाकी शून्य लगता है। जिसके कारण रम्य लगे, बाकी सब शून्य लगे। देखो न, कैसा अर्थ किया है! ऐई हिम्मतभाई! समझ में आया?

मुमुक्षु : यह तो बाह्य लक्षण आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाह्य लक्षण कहाँ आया? अन्तर लक्षण है यह।

मुमुक्षु : शरीर का....

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर का नहीं। अन्दर में अच्छा लगता है, वह क्या चीज़ है? ऐसा कहते हैं। बाहर में शरीर सुन्दर, सुन्दर... स्फूर्ति अन्दर में, देखो न, यह आत्मा है तो यह शरीर ऐसा रहा है। (आत्मा) निकले तो गर्दन ऐसी हो जाये भफ... वह तो उसके (शरीर के) कारण से है, परन्तु अन्दर दिखता है कि यह (शरीर) उसकी अपनी स्थिति के कारण ऐसा है, वह अपनी (आत्मा की) स्थिति को वर्णन करते हैं। उसकी अस्ति और मौजूदगी यहाँ वर्णन करते हैं। उसके (आत्मा के) कारण इस (शरीर की स्थिति) है, ऐसा प्रश्न यहाँ नहीं। समझ में आया? यह धूल भी नहीं होता उसके कारण। ऐ...सा हो जाये। उस भिन्न चीज़ से? एक तो वह कार्य उससे नहीं हुआ। आत्मा है,

इसलिए शरीर ऐसा रहा है, ऐसा नहीं। परन्तु आत्मा की ऐसी अन्दर स्थिति है कि उसमें (शरीर में) यह (आत्मा) हो, वहाँ तक उसका ऐसा नहीं होता। वह स्वयं के स्वभाव को बताता है। इसका (शरीर का) स्वभाव ऐसा वह भिन्न है। समझ में आया? आहाहा!

ऐसा तो कोई कहता है कि यह आत्मा हो, तब तक शरीर सड़ता नहीं। यह तो और अलग (बात है)। सड़ जाता है आत्मा अन्दर हो तो भी। पीव हो, कीड़े पड़े। आत्मा भिन्न अन्दर वस्तु भगवान आत्मा है और कीड़े पड़े। कल कहा था नहीं? वह आर्तध्यान। कीड़े पड़े थे, निकली थी... वह तो कीड़े इतने कीड़े। एक बार कहा था न! वावडी है यहाँ... आहार लेने गये थे। एक दिन हमारे रहना हो। ...नीचे उतरे थे.... परन्तु शरीर गन्ध मारे, गधा सड़ा हो, ऐसा गन्ध मारता था। जीवित, हों! यह सब सड़ गया, सड़ गया। गोपाणी थे विशाश्रीमाली गोपाणी। वावडी। बहुत वर्ष की बातें हैं, हों! मोतीवाडी। मोहनभाई। मोहन त्रिकम। रास्ते में है घर का घर सामने....

देखो! भगवान तो अन्दर था। आत्मा तो है, परन्तु शरीर का स्वभाव ऐसा है कि सड़ा। गधा गन्ध मारे ऐसा। सड़ गया गधा हो न गधा, ऐसा गन्ध मारता था। (उसकी) स्त्री ने कहा, अपने नियम लेते हैं। महाराज एक दिन (के लिये) आये हैं, कल तो चले जायेंगे। ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा.... (वह भाई कहे), अभी नहीं, अभी नहीं। कल वे महाराज रहनेवाले नहीं हैं। गाँव में तो एक दिन रहते हैं। कहे, अभी नहीं। आहाहा! गजब है न! सड़ गया शरीर, हों। गन्ध मारे। ओहोहो! बिल्ली सड़ गयी हो, गन्ध मारे। गधा गन्ध मारे ऐसा...

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो और लड़की को... लड़की को लाठी में ऐसा हुआ था। लाठी में। प्रवीणभाई! ....वह डेलो है अन्दर में। डेला में घुसते अन्दर में। लड़की जवान, हों! दो वर्ष की विवाहित.... उसके पति की दूसरी विवाहित, वह (पहली) मर गयी और नयी से विवाह किया। विवाह किया और माता निकली माता। दाने-दाने में कीड़े, दाने-दाने में। आत्मा तो है। यदि ऐसा कोई कहे कि यह आत्मा हो, तब तक सड़े नहीं (ऐसा नहीं है)।

मुमुक्षु : आत्मा हो तब तक पड़ न जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग बात है। वह तो दो की एकता बताते हैं। उसकी अस्तिता बताते हैं। उसका अस्तित्व है, तब तक यह यहाँ अपने कारण से ऐसा रहता है। ऐई! आहाहा!

भाई! देखो न... पानी पीते थे। ऐसे गर्दन डाल दी। ऐसी बातें करते हैं न! कोई नहीं था। ऐसी गर्दन डाली थी। .... अभी तो बहुत हार्टफेल होते हैं। हिलते-चलते हार्टफेल, हार्टफेल... यह तो उदय भले हो। उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। यह तो एक दृष्टान्त देना है कि आत्मा है, तथापि शरीर में कीड़े पड़े, इतना बतलाना है, सड़ जाये इतना सिद्ध करना है। और अन्दर में तेजी और स्फूर्ति है, वह आत्मा की है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! यह रम्यपना कहा। तीसरा बोल। 'ऊर्ध्वता'। तीसरा बोल 'ऊर्ध्वता' है न? यहाँ ऊर्ध्वता का अर्थ इतना कि ऊर्ध्वगमन। इतना साधारण अर्थ किया है। इस ऊर्ध्वता की व्याख्या देखो।

भगवान आत्मा का ऊर्ध्व स्वभाव। यह तो कायम का स्वभाव। वह गमन करना, वह तो अमुक समय होता है और वह भी वापस एक समय। यहाँ ऊर्ध्व-ता कहा है न, ऊर्ध्व-पना। ऊर्ध्व क्षेत्र से नहीं, ऊर्ध्वपना उसका स्वभाव है। समझ में आया? बनारसीदास की लाईन है न वह? ऊर्ध्वता। इसका अर्थ। कोई भी जाननेवाला कभी भी किसी भी पदार्थ को अपने अविद्यमानपने जाने, ऐसा बननेयोग्य नहीं है। भाषा देखो! भगवान चैतन्य का विद्यमानपना न हो और दूसरा पदार्थ ज्ञात हो? किसे ज्ञात हो? कोई भी जाननेवाला.... कोई भी जाननेवाला लिया अब... एक बात। कभी भी अर्थात् किसी काल में। किसी भी पदार्थ को... सामने पदार्थ लिये। अपने विद्यमानपने... स्वयं नहीं, उसमें ज्ञात हो? नहीं उसमें ज्ञात क्या हो? अविद्यमानपने जाने, ऐसा बनने योग्य नहीं है।

प्रथम अपना विद्यमानपना घटित होता है। कोई भी चीज़ जानने में अपनी अस्ति घटित होती है कि यह राग है, यह शरीर है, यह वाणी है। उसमें विद्यमानता तो आत्मा की है। आत्मा उसे जाननेवाला है। आत्मा की विद्यमानता बिना ज्ञात किसमें हो? आहाहा! देखो ऊर्ध्वता। प्रत्येक पदार्थ के जानने में पहले वह जिसकी मुख्यता है, ऐसा ऊर्ध्वता स्वभाव जीव का है। आहाहा! ....कहते हैं, ऐसा प्रथम अपना विद्यमानपना

घटित होता है। प्रत्येक को जानने में प्रत्येक क्षण में... भाई! यह राग मुझे हुआ, यह द्वेष मुझे हुआ, यह शरीर ऐसा हुआ, ढींकणा ऐसा हुआ—इन सब चीज़ों के जानने के काल में ज्ञानपना ऐसा आत्मा यदि विद्यमान न हो तो ज्ञात किसमें होगा? जाननेवाले की मुख्यता सबमें है। समझ में आया? मुख्यपना, ऐसा है न अन्तिम? आहाहा! वह मुख्यपना लेना है न! मुख्य शब्द ऐसा है। ऊर्ध्व-ता, ऊर्ध्व-पना, मुख्य-पना, ऐसा।

और किसी भी पदार्थ का ग्रहण, त्यागादि या उदासीन ज्ञान होने में स्वयं ही कारण है। ग्रहण अर्थात् यह आया, (त्याग अर्थात्) यह गया, उसके काल में ज्ञान जानता है। यह गया, यह आया, ऐसा इतना, हों! ग्रहण-त्यागादि या उदासीन... ग्रहण के ज्ञान में, त्यागादि के ज्ञान में और उदासीन ज्ञान, ऐसा लेना। ग्रहण-त्याग कर सकता है, यह प्रश्न यहाँ नहीं है। ग्रहण अर्थात् कोई चीज़ आने में ज्ञान जानता है कि यह आया। छूटे तो ज्ञान जानता है कि गया। उदासीन हुआ—उससे हुआ, वह तो ज्ञान जानता है। समझ में आया? किसी भी पदार्थ के ग्रहण के समय या त्याग के समय या उदासीन के समय—उसके ज्ञान होने में स्वयं ही कारण है। स्वयं ज्ञान में जाननेवाला है कि यह गयी, यह चीज़ रही और यह आयी, यह गयी। वह तो जाननेवाला है। ....आता है और (जाता है उसे) जानता है अपने ज्ञान में कि यह आया इतना जाना। यह तो अपना विद्यमानपना जाना है। ग्रहण किया नहीं, छोड़ा नहीं और उदासीन हुआ। उसमें उदासीन (अर्थात्) इससे हटा, उसका ज्ञान तो करनेवाला स्वयं है। समझ में आया?

ग्रहण, त्यागादि के होने में स्वयं ही कारण है। दूसरे पदार्थ के अंगीकार में उसके अल्पमात्र भी ज्ञान में प्रथम जो हो... दूसरे पदार्थ के अंगीकार अर्थात् जानना कि यह आया आदि। उसके अल्पमात्र भी ज्ञान में प्रथम जो हो वह ही हो सकता है... तो ही हो सकता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसलिए प्रत्येक में ग्रहण-त्याग-उदासीन और आना। अंगीकार करना अर्थात् यह मैं अंगीकार करता हूँ, आदरता हूँ। परन्तु आदरता हूँ, ऐसा ज्ञान तो अपना है न? वह होगा ऐसा सर्व से प्रथम रहनेवाला... देखो भाषा! ऐसा सर्व से प्रथम रहनेवाला 'ऊर्ध्व' वह पदार्थ जीव है। इसका विशेष बाकी भाग है, हों! अभी रहने दो। यह कल और। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

काव्य - २७

अजीव का वर्णन (दोहा)

तनता मनता वचनता, जड़ता जड़सम्मेल।
लघुता गुरुता गमनता, ये अजीव के खेल।।२७।।

शब्दार्थ:-सम्मेल=बंध। लघुता=हलकापन। गुरुता=भारीपना। गमनता=गति करना।

अर्थ :- तन, मन, वचन, अचेतनता, एक-दूसरे से मिलना, हल्का और भारीपन तथा गति करना - यह सब पुद्गल नामक अजीवद्रव्य की परिणति है।।२७।।

प्रवचन नं. ८, पौष कृष्ण १३, रविवार, दिनांक २४-१-१९७१
उत्थानिका, पद—२८ से ३०

समयसार नाटक, इसकी उत्थानिका—उपोद्घात चलता है। यह जीव-अजीव अधिकार तो बाद में शुरु होगा। पृष्ठ १७, बोल (पद) २८ है। २७ तक आया। जीव किसे कहना, उसका वर्णन २६ में चला। २६। और अजीव—यह जड़ किसे कहना, यह २७ में चला। अब पुण्य किसे कहना, यह २८ में हैं।

★ ★ ★

काव्य - २८

पुण्य का वर्णन (दोहा)

जो विशुद्धभावनि बंधै, अरु ऊरधमुख होइ।
जो सुखदायक जगतमैं, पुन्य पदारथ सोइ।।२८।।

अर्थ :- जो शुभभावों से बँधता है, स्वर्गादि के सम्मुख होता है और लौकिक सुख का देनेवाला है, वह पुण्य पदार्थ है।।२८।।

काव्य-२८ पर प्रवचन

जो विशुद्धभावनि बंधै, अरु ऊरधमुख होइ।
जो सुखदायक जगतमैं, पुन्य पदारथ सोइ।।२८।।

जो विशुद्धभाव... शुद्ध... विशुद्ध अर्थात् शुभभाव लेना। अब विशुद्ध तो शुद्ध के अर्थ में भी आता है। शुभ के अर्थ में भी विशुद्धभाव आता है। परन्तु यहाँ विशुद्ध शब्द से शुभभाव पुण्य का दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा, भगवान का नाम स्मरण—यह सब शुभभाव—पुण्य है। जिसमें राग की मन्दता का भाव (हो), उसे यहाँ शुभभाव कहते हैं, उसे यहाँ पुण्य कहते हैं। विशुद्धभाव अर्थात् शुभभाव से पुण्य बँधता है, वह धर्म नहीं। समझ में आया? '**विशुद्धभावनि बंधै**'—राग की मन्दता, भगवान की भक्ति, दया, दान, व्रत, तप, वह सब शुभभाव है, पुण्यभाव है। उससे पुण्य बँधता है, धर्म नहीं। '**जो विशुद्धभावनि बंधै**' ऐसा कहा है न? '**अरु उरधमुख होई**' ऊर्ध्वमुख—स्वर्ग आदि का कारण होता है न? यहाँ ऊर्ध्व ऐसा कहा है ऊर्ध्व (गति)। पाप अधोमुख गिना है, नरक आदि में जाने का कारण। और पुण्य है वह ऊर्ध्व, स्वर्गादि या यह राजा, सेठिया हो, (इसलिए) ऊर्ध्वमुख कहा है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में आया है, शुभ और अशुभ। ... है वह राग में अर्थात् राग है वह गति को ऊँचे लाता है गति, चार गति में से, ऐसा कहते हैं। समयसार में आता है न श्लोक में अन्त में कि अशुभभाव अधोगति का कारण है और शुभभाव ऊर्ध्वगति का कारण है। अब वहाँ तो कहा है कि शुभभाव ऊर्ध्वगति का—मोक्षमार्ग का अनुसारी है, ऐसा कहा। ऐई! परन्तु कैसे? कब? कि उस शुभभाव के विकल्प से भिन्न पड़कर स्वरूप की दृष्टि करे, तब उसमें शुद्धता प्रगटे, तब उस शुभभाव को भी ऊर्ध्वगति का कारण कहा जाता है, ऐसा है।

बड़ा लेख है। अभी याद आया। ऊर्ध्व का है न, उसमें लिखा है न। शुभभाव अवश्य ऊर्ध्वमुख करे। क्योंकि ऐकेन्द्रिय में जीव है, वह बाहर आता है, वह भी पुण्य के भाव से आता है। यह हरितकाय, कीड़ा, कौआ, पृथ्वी, अग्नि में जीव है, वह जीव

मनुष्य होता है, वह पुण्य के राग की मन्दता के भाव से बाहर आता है। वहाँ कहीं ज्ञान और कहीं शुद्धता तो है नहीं। इससे उसे ऊर्ध्वमुख कहा जाता है। ऊर्ध्वमुख अर्थात् ऊर्ध्व सन्मुख। मोक्ष भी ऊर्ध्व में है न, परन्तु वह सन्मुख कहा है। समझ में आया? क्योंकि उस शुभभाव में मोक्षमार्ग नहीं, बन्ध का ही कारण है। परन्तु शुभभाव में उस शुद्धता का अंश सिद्ध करना है न, इसलिए उसे ऊर्ध्वगामी गिनकर उसे—विशुद्धभाव को शुभभाव में गिनकर ऊर्ध्वगति का कारण कहा है। परन्तु वह गति हों! धर्म नहीं।

'विशुद्धभावनि बंधै' वह तो बँधता है। भगवान आत्मा तो अबन्धस्वरूप है। चैन्यमूर्ति ज्ञानघन, राग और कर्म के विवेक बिना की चीज़ है। ऐसा उसका स्वरूप ही मुक्त है। समझ में आया? मुक्तस्वरूप न हो तो मुक्त की पर्याय प्रगटे कहाँ से? मुक्तदशा हो, सिद्धपद-परमात्मदशा, वह दशा कहाँ से आवे? वह अन्दर में मुक्तस्वरूप ही है। चौंसठ पहरी पीपर में चौंसठ पहरी चरपराहट भरी ही है। वह चरपराहट भरी है, वह बाहर आती है। कहीं पत्थर के घिसने से नहीं आती। पत्थर के घिसने से आवे चौंसठ पहरी, तब तो लकड़ी और कोयला घिस डाले न? उसमें कहाँ थी?

इसी प्रकार आत्मा मुक्त, शक्ति से तो मुक्तस्वरूप ही है। उसके अन्दर में स्वभाव का पूर्ण आश्रय लेकर जो दशा पूर्ण हो—परम आनन्द की दशा पूर्ण—उसे मुक्ति, उसे सिद्धि, उसे निर्वाण, उसे मोक्ष कहते हैं। परन्तु वह मोक्षदशा मुक्तस्वरूप द्रव्य में से आती है। समझ में आया? और यहाँ जो शुभभाव है, उसे यहाँ ऊर्ध्वमुख गिनकर... शब्द यहाँ यह लिया है, स्वर्गादि के सन्मुख। स्वर्गादि अर्थात् मनुष्यपना ऊँचा यह (संयोग) मिले, उसे यहाँ शुभभाव उसके सन्मुख है। धर्म नहीं। संवर और निर्जरा—कर्म का रुकना और कर्म का टलना, इस भाव से नहीं होता। सूक्ष्म तत्त्व है। समझ में आया?

जो सुखदायक जगत में... ऐसा है न? संसार में सुखदायक गिनने में आता है। अब पाँच, पचास लाख, दो, पाँच, दस करोड़ रुपये मिले, मोटरें मिलें, ऐसी वस्तुएँ। सेठ!

मुमुक्षु : बन्ध का ही कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध का ही कारण है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : सुखदायक तो कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख कहा न, जगत में सुखदायक कहा। संसार... भाषा क्या है? **सुखदायक जगत में...** यह संसारी प्राणी उसे सुख मानता है, इसलिए जगत में सुखदायी है। आत्मा को वह सुखदायी है नहीं। भाषा क्या है, देखो न! **जो सुखदायक जगत में...** यह दुनिया उसे सुख मानती है, जहाँ पैसा, इज्जत, कीर्ति, स्वर्ग मिले। स्वर्ग अमर कहलाता है न, अमर स्वर्ग को। अमर, अमर। अमर अर्थात् देव। बहुत अरबों... असंख्य अरब वर्ष का आयुष्य है। साधारण प्राणी को तो वह अमर ही लगे, बैकुंठ और अक्षरधाम लगे। समझ में आया? जीवे वहाँ तक बाहर की अनुकूलता इतनी होती है वहाँ—स्वर्ग में, यह मनुष्यपने में राजा आदि हो वह, परन्तु वह तो जगत में सुखदायक है। समझ में आया?

बेचारे गरीब मनुष्य हों, ऐसे ताककर पैसेवाले के सामने देखे न ऐसे। आहाहा! कितनी मोटरें घूमें, घोड़ागाड़ी। पहले घोड़ागाड़ी थी। अब मोटरें हुईं। पहले तो घोड़ागाड़ी थी, दो घोड़ा की।

मुमुक्षु : विक्टोरिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : विक्टोरिया थी। मुम्बई में पहली बार गये थे न पहली बार, तब मोटरें-बोटरें नहीं थीं। मोटर नहीं थी। (संवत्) १९६४ के वर्ष में पहले घोड़ागाड़ी थी। रेल में से उतरे तब घोड़ागाड़ी में बैठे थे।

मुमुक्षु : एक घोड़ा की।

पूज्य गुरुदेवश्री : लम्बी एक घोड़ा की गाड़ी। मोटर-बोटर नहीं थी तब। ६४ की बात है। पहले मुम्बई गये तब।

मुमुक्षु : उस दिन कोलाबा में....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह तो कोलाबा नहीं, वह तो रेल में से उतरे तब। उसके बाद की बात है। हम पालेज से गये न, माल लेने पालेज से जाते थे। मुम्बई माल लेने जाते, तब पहले घोड़ागाड़ी खड़ी थी बड़ी बाहर में। आओ, आओ सेठ। तब बैठे थे दो

आना में। यह तो संवत् ६४ की बात है। बहुत वर्ष हो गये। कितने हुए? ६३। ६३ वर्ष पहले की बात है।

कहते हैं कि दुनिया ऐसा माने न कि आहाहा! कैसी घोड़ागाड़ी और कैसे...! दुनिया, मूढ़ जीव उसे सुख मानते हैं। मूढ़ जीव उसे सुख मानते हैं जगत में। सेठ! यह सेठिया है, यह बहुत सुखी है। लो, कितनी मोटरें घर में। बाहर में क्या कहलाये बीड़ियाँ भेजने का?

मुमुक्षु : जीप गाड़ियाँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : जीप गाड़ियाँ बहुत इन लोगों को। जहाँ-तहाँ चलाना हो, ऊबड़-खाबड़ क्षेत्र में... क्षेत्र में।

मुमुक्षु : लड़के के काम में आयेगी....

पूज्य गुरुदेवश्री : अब वे लड़के करते हैं। आहाहा!

अरे! कहाँ सुख खोजता है, भाई! ऐसे शुभभाव तो अनन्त बार किये हैं, अनन्त बार। नौवें ग्रैवेयक स्वर्ग में अनन्त बार गया है, जैन दिगम्बर साधु होकर। नग्न मुनि। लंगोटी का ताना नहीं। परन्तु आत्मा राग से रहित निर्लेप है, उसकी शरण नहीं, राग की क्रिया का शरण। अनन्त बार जैन नग्न दिगम्बर साधु हुआ, जंगल-वनवासी। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' परन्तु अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा में आनन्द है, वह पुण्य के विकल्प के राग से भिन्न है, इसे वह भासित नहीं हुआ, इसने उसकी शरण नहीं ली। समझ में आया?

लो, **जो सुखदाता जगत में...** ऐसी भाषा है न? यह तो कवि है महा होशियार। ऐसे शब्द में फेरफार पड़े नहीं वहाँ। '**पुन्यपदारथ होइ**' उसे पुण्यपदार्थ कहा जाता है। पुण्यभाव। भाव... भाव... दया के भाव, भक्ति-भगवान की भक्ति, गुरु की भक्ति, शास्त्र की भक्ति—यह सब शुभभाव है, पुण्यपदार्थ है। यह धर्म नहीं, यह आत्मपदार्थ नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह तो जीव आत्मवस्तु है। जड़ वस्तु है। दोनों की... पहली वर्णन की। अब उसकी अवस्था का वर्णन करते हैं। पुण्य पर्याय, पाप पर्याय, आस्रव, बन्ध—ये विकारी

पर्याय। सवंर, निर्जरा और मोक्ष—निर्विकारीदशा। इन दशाओं का वर्णन करते हैं। क्योंकि नौ तत्त्व है। एक ओर जीव पूरा आत्मा, एक ओर अजीव। दोनों के सम्बन्ध से... वियोग से और सम्बन्ध से यह सात पर्यायें खड़ी होती हैं। कर्म के सम्बन्ध से पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध। कर्म के संयोग के अभाव से, पुरुषार्थ की जागृति से, स्वभाव सन्मुखता से संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन सात तत्त्व का वर्णन करते हैं। यह दो का हो गया—जीव और अजीव का। सात का करते हैं (कि) यह सात पर्यायें क्या चीज़ हैं। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा तो वर्णन किया। वह तो पूरी मुख्य वस्तु है, ज्ञायकवस्तु है। सुखरूप है। वेदन करनेवाला चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा है। वह आत्मतत्त्व कहा। और यह शरीर, वाणी, मन, कर्म, यह सब पैसा, मकान, तन-मन और वचन—यह सब जड़ है। हल्का, भारी, वह सब जड़ की क्रियायें जड़ की हैं; आत्मा की नहीं। वह अजीवतत्त्व है, भगवान जीवतत्त्व है। अब, दोनों के सम्बन्ध में दशा उत्पन्न हो, उसकी यह बात है। आहाहा! कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में जाने से राग की मन्दता पुरुषार्थ से करता है, ऐसा विशुद्धभाव, वह पुण्यपदार्थ उसे कहा जाता है। विशुद्धभाव कहा है न पहले पद में? '**पुन्यपदारथ सोई**' उसे पुण्यपदार्थ कहते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

वह आत्मा को लाभदायक नहीं। ऐई! धूल में भी नहीं। लाभदायक कहाँ थे? वह तो यह सब तुमको सेठिया कहते हैं। बड़े मकान चालीस हजार के खड़े किये न। कहाँ गये चिमनभाई? आये हैं या नहीं?

मुमुक्षु : लाभदायक आपने कहा था सुखदायी।

पूज्य गुरुदेवश्री : तो किसका? इस जगत में मूढ़ मानता है कल्पना से, उसका। जगत में कहा है या नहीं? भटकनेवाले प्राणियों को सुख लगता है, है नहीं। आहाहा! वह पुण्यपदार्थ है। वह पर्याय है न विशुद्ध, विशुद्धरूपी शुभ। वह पर्याय है, अवस्था है, जीव की एक विकारीदशा है। उसे यहाँ पुण्यपदार्थ कहा जाता है। पाप। अब पाप पदार्थ।

★ ★ ★

काव्य - २९

पाप का वर्णन (दोहा)

संकलेश भावनि बँधै, सहज अधोमुख होइ।
दुखदायक संसारमैं, पाप पदारथ सोइ।।२९।।

अर्थ :- जो अशुभ भावों से बँधता है तथा अपने आप नीच गति में गिरता है और संसार में दु:ख का देनेवाला है, वह पाप पदार्थ है।।२९।।

काव्य-२९ पर प्रवचन

संकलेश भावनि बँधै, सहज अधोमुख होइ।
दुखदायक संसारमैं, पाप पदारथ सोइ।।२९।।

वहाँ जगत में कहा। **संकलेश भाव...** वह हिंसा के, झूठ के, चोरी के, भोग के, इज्जत के, कीर्ति के, क्रोध के, मान के, माया के, लोभ के जो भाव हैं, वे संक्लेशभाव हैं, तीव्र मलिनभाव हैं। पुण्यभाव, वह मन्द मलिनभाव है। समझ में आया?

'**संकलेश भावनि बंधै**' आत्मा ऐसे संक्लेश परिणाम से बन्धन को पाता है। '**सहज अधोमुख होइ**।' इन पाप के भाव से हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, इज्जत, कीर्ति की प्रीति—ऐसे जो भाव पाप, वह तो नये कर्म पाप के बाँधे, उसका कारण वह संक्लेश (भाव) है। आहाहा! यह कमाने का भाव, वह पाप है, कहते हैं। उससे नये कर्म बँधते हैं, संक्लेश, ऐसा कहते हैं। वह संक्लेश परिणाम है।

मुमुक्षु : वह तो पुण्य किया हो तो स्वर्ग में जाया जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह चीज़ वापस ऐसी, परन्तु यहाँ तो अभी परिणाम संक्लेश है, उसका फल क्या है? उसका वर्णन आया।

पैसे से पुण्य होता होगा? पैसे में तृष्णा घटे और राग मन्द करे तो पुण्य होता है, तो वह पुण्य जगत के सुख का कारण कहने में आता है। उसमें आत्मा का सुख और

आत्मा का कुछ है नहीं। उसे लड्डू-बड्डू मिले। यह ब्राह्मण को लड्डू बहुत प्रिय होते हैं।

मुमुक्षु : अब लड्डू जीमानेवाले भी नहीं रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हमारे उमराला में कहा जाता कि.... भाई थोड़ा लड्डू अधिक लो न। भाई लड्डू लेकर फिर ऊपर से गोली ले लेना। भाई! गोली की भूख हो तो लड्डू न खाये इतना हम?

पहले तो वहाँ लड्डू नहीं बनाते थे। क्या कहलाता है वह? छूटी कुछ भाषा।

मुमुक्षु : चूरमा।

पूज्य गुरुदेवश्री : चूरमा और नाम कुछ कहते? थेपली, थेपली। थेपली थी थेपली।

मुमुक्षु : फिर ऊपर घी डालते।

पूज्य गुरुदेवश्री : चूरमा का आटा हो न चूरमा का आटा... नीचे पतरावली हो। पतरावली नीचे पानी डाला हो। गारा, गारा हो नीचे और उसमें पानी और उसके ऊपर पतरावली। और उसमें उसका चूरमा का आटा डाले। उसमें ऊपर से घी... में से डाले। भाई! हमको सब खबर है। उसमें साथ में रहते न... वह थेपली कहलाये फिर।

मुमुक्षु : पतरावली छोड़ दे, पतरावली छोड़ देने की हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह और अलग। यह तो खाते हैं तब।

मुमुक्षु : फिर छोड़ देने का।

पूज्य गुरुदेवश्री : ले, पहले यह।

कहते हैं, अशुभभाव से बाँधे तथा **अपने आप...** ऐसी भाषा, देखो। **अधोमुख होई...** ऐसे नरक में नीचे जाये, ढोर में जाये, पाप के भाववाले। आहाहा! समझ में आया? यह सब जो लाल-पीले अभी दिखते हैं, तो उस पापभाव के कारण सहज नीचे जाये। लोहे का गोला भारी, पानी के ऊपर छोड़े तो नीचे तल में जाये। उसे दबाव देना नहीं पड़े। नीचे जाये, गजब भाई! सहज स्वभाव से अपने आप अधोमुख होकर।

'**दु:खदायक संसारमें**' वह संसार में दु:खदायक—प्रतिकूल संयोग दे, उसमें वह अवतरित हो। ऐसे अनन्त बार पाप किये और प्रतिकूल संयोग में अनन्त बार गया। '**पाप पदारथ सोइ, सोई**' अर्थात् जो कहा संक्लेशभाव। संक्लेशभाव—बुरे परिणाम, उसे पापपदार्थ कहा जाता है।

अब आस्रव। यह पुण्य और पाप के दोनों भाव, वे नये कर्म का कारण है।

★ ★ ★

काव्य - ३०

आस्रव का वर्णन (दोहा)

जोई करमउदोत धरि, होइ क्रिया रसरत्त।
करषै नूतन करमकौ, सोई आस्रव तत्त।।३०।।

शब्दार्थ:-करमउदोत=कर्म का उदय होना। क्रिया=योगों की प्रवृत्ति। रसरत्त=राग सहित। रत्त=मग्न होना। तत्त=तत्त्व।

अर्थ :- कर्म के उदय में योगों की जो रागसहित प्रवृत्ति होती है, वह नवीन कर्मों को खींचती है, उसे आस्रव पदार्थ कहते हैं।।३०।।

काव्य-३० पर प्रवचन

जोई करमउदोत धरि, होइ क्रिया रसरत्त।
करषै नूतन करमकौ, सोई आस्रव तत्त।।३०।।

आस्रव अर्थात् जिस भाव से नये आवरण आवे, ऐसे भाव को आस्रव—आना... जहाज में... जहाज होता है न, जहाज। उसमें छिद्र हो तो पानी अन्दर आवे, छिद्र हो तो। उसी प्रकार आत्मा में यह शुभ और अशुभभाव, वह आस्रव है। वह मर्यादा से श्रवना अर्थात् नये आवरण उसके कारण से आते हैं। वह धर्म नहीं।

'जोई करम उदोत' जो कर्म के निमित्त का उदय होने पर उसमें जुड़ता है, तब उसे पुण्य और पाप के भाव होते हैं। समझ में आया? **'जोई करम उदोत धरि, होय क्रिया रसरत्त'** यह शुभ और अशुभभावरूपी राग की जो क्रिया है, उसमें जो उसके रस में जो लीन है, उसे आस्रवतत्त्व कहते हैं, ऐसा कहते हैं। फिर से। भगवान आत्मा अपने आनन्दस्वरूप को भूलकर और कर्म जड़ है, उनके संग में चढ़कर पुण्य और पाप, शुभ-अशुभभाव करे, वह **'क्रिया रसरत्त'—**उस क्रिया में रसरत्त है। राग की क्रिया में जिसका रसरत्त है—एकाकार है। समझ में आया?

'जोई करम उदोत धरि' ऐसा। शब्द ऐसा है न यहाँ? **करमउदोत—**कर्म का उदय होना। **कर्म के उदय में योगों की जो रागसहित प्रवृत्ति होती है,...** ऐसा कहते हैं। वह रागसहित प्रवृत्ति। चाहे तो दया-दान-भक्ति की प्रवृत्ति हो या चाहे तो हिंसा-झूठ-चोरी-विषय की प्रवृत्ति हो। परन्तु दोनों योग की प्रवृत्ति, राग की क्रिया है। वह आत्मा की धार्मिक क्रिया नहीं है। आहाहा! खबर नहीं होती, क्या धर्म की क्रिया और क्या अधर्म की क्रिया? कहते हैं, कर्म के उदयरूप होने पर... आत्मा का उदय होने पर, वह तो आत्मा अन्दर स्वरूप है, उसकी दृष्टि होने पर तो आनन्द और शान्ति की प्रगट दशा होती है। परन्तु यह तो कर्म के निमित्त के उदय में जुड़ने से, जो **क्रिया रसरत्त...** जो पुण्य और पाप की क्रिया, उसमें राग का रस है, अर्थात् राग के रस में लीन है, वह धर्मरस नहीं।

'करषै नूतन कर्मकौ' वह क्रिया कर्म को खींचती है। **'करषै नूतन कर्मकौ'** कौन? वह क्रिया, हों! शुभ-अशुभ जो विकल्प हैं न, शुभ-अशुभभाव, वह राग के रसवाली क्रिया, वह नूतन कर्म को वह क्रिया खींचती है। नये कर्म बँधने में वह कारण है। आहाहा! समझ में आया? **'करषै नूतन कर्मकौ'** कौन? जो **'होइ क्रिया रसरत्त'** वह क्रिया, राग के रस की क्रिया। कठिन काम! यह सब भगवान की भक्ति और यात्रा और सर्वत्र धमाल है न, कहते हैं कि वह सब राग की क्रिया है, ऐसा कहते हैं। सम्मेदशिखर चलो यात्रा को, कहते हैं कि वह सब शुभभावरूपी राग का रस है। वह क्रिया कर्म को खींचने में निमित्त है, धर्म होने में निमित्त नहीं। कर्म आने में निमित्त है,

ऐसा कहते हैं। आहाहा! तत्त्व क्या है, इसके ज्ञान में आता नहीं। इसलिए यह गड़बड़ी अनादि से खड़ी हुई है। शास्त्र पढ़े, वाँचे, तथापि उसकी वह गड़बड़ अन्दर की जो है, उसे निकालता नहीं। आहाहा!

'**होइ क्रिया रसरत्त**' ऐसा है न? योग की क्रिया प्रवृत्ति सहित होती है। शुभ-अशुभ विकल्प—पुण्य-पाप की लगनियाँ-वृत्तियाँ उठती हैं, वह राग की क्रिया है। वह क्रिया कर्म को खींचती है। अर्थ में है न? **वह नवीन कर्मों को खींचती है,...** ऐसा शब्द है न? खींचती कौन है? वह क्रिया। समझ में आया? शुभ-अशुभ विकल्प जो है, वह क्रिया नवीन कर्म को खींचती है। खींचती है, ऐसा लिखा है न? वह क्रिया का है न विशेष का। आहाहा! समझ में आया? वस्तुस्थिति त्रिकाल क्या है? उसकी वर्तमान दशा में विकृत क्या है? और विकृत कैसे रुके, वह क्या है? उसकी खबर नहीं होती। आहाहा! तत्त्वज्ञान की दृष्टि नहीं होती और धर्म हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता! आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि वह क्रिया नूतन कर्म की खींचती है। नये कर्म के आवरण में निमित्त है। कर्म रोकने में वह कारण नहीं है। '**सोई आस्रव तत्त**' कौन? जो कर्मों के उदय के निमित्त में जुड़ने से दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम या हिंसा, झूठ, चोरी, विषय के भाव (हों), वे आस्रवतत्त्व हैं। जिसके द्वारा नये (जड़) कर्म क्रिया खेचें, उस क्रिया को आस्रवतत्त्व कहते हैं। अरे भाई! यह समझ में आया? यह ३०वाँ बोल हुआ।

अब संवर। धर्म... धर्म कैसे हो? अब संवरदशा। संवर अर्थात् राग और द्वेष के पुण्य-पाप के परिणाम उत्पन्न न होना और आत्मा का आश्रय लेकर शुद्धता—निर्मलता प्रगट होना, उसे संवर—राग का रुकना और निर्मलता का प्रगट होना, उसे संवर कहते हैं। वह पुण्य-पाप के परिणाम, वे संवर नहीं थे। आहाहा! वे तो आस्रव थे। बन्ध का कारण था।

★ ★ ★

काव्य - ३१

संवर का वर्णन (दोहा)

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग विरत्त।
रोकै आवत करमकौ, सो है संवर तत्त।।३१।।

शब्दार्थ:-विरत्त=अलहदा होना।

अर्थ :- जो ज्ञान-दर्शन उपयोग को प्राप्त करके योगों की क्रिया से विरक्त होता है और आस्रव को रोक देता है, वह संवर पदार्थ।।३१।।

काव्य-३१ पर प्रवचन

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग विरत्त।
रोकै आवत करमकौ, सो है संवर तत्त।।३१।।

आहाहा! कहते हैं कि संवर अर्थात् धर्म की निर्मल पवित्र दशा। उस पवित्र दशा का क्या स्वरूप है? कि जो '**उपयोग स्वरूप धरि**' वह तो पुण्य-पाप के विकल्प बिना आत्मा शुद्ध स्वरूप है, उसका व्यापार—उसका उपयोग धरे, उसे यहाँ धर्म और संवर कहते हैं। समझ में आया? आहा! यह तो दो-चार जोड़े व्रत लेकर बैठे, करो और कराओ संवर। प्रत्याख्यान दो, हो गया संवर। धूल भी नहीं संवर, मिथ्यात्व है। राग की क्रिया करता है और मानता है कि हमारे धर्म होगा। मिथ्यात्व को पोसता है। समझ में आया?

'**जो उपयोग स्वरूप धरि**'—ज्ञान-दर्शन उपयोग। आत्मा जाननेवाला—देखनेवाला चैतन्यबिम्ब प्रभु है। उसका व्यापार जानने-देखने का शुद्ध—निर्मल, पुण्य-पाप के भावरहित शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु का निर्मल परिणाम—वीतरागी परिणाम—अरागी परिणाम—अपने शुद्धस्वभाव का जो ज्ञान-दर्शनस्वरूप त्रिकाल है, उसके ही परिणाम—निर्मल स्वभाव के आश्रय से होकर जानने-देखने के परिणाम और उपयोग को धरे, वह संवरतत्त्व है। पण्डितजी! अरे! गजब है। लोगों को कठिन पड़े! मूल प्रयोजन... परन्तु

कभी खबर नहीं, धर्म क्या है, उसकी खबर नहीं होती। जिन्दगियाँ गयीं ऐसी की ऐसी अनन्त। माना था, धर्म किया नहीं, परन्तु माना कि धर्म करते हैं।

'जो उपयोग स्वरूप धरि' जो स्वरूप है आत्मा का त्रिकाली, वह उपयोगस्वरूप हो। 'उपयोग से धर्म, क्रिया से कर्म'—ऐसा आता है न? यह शुभ-अशुभभाव, वह क्रिया है, राग है, उससे तो कर्म आते हैं। और 'उपयोग से धर्म' अर्थात् आत्मा शुद्ध अखण्ड आनन्द पूर्ण प्रभु है, उसमें अन्तर एकाग्र होकर जानने-देखने के शुद्ध परिणाम प्रगट करना, जिसे शुद्ध उपयोग कहते हैं। शुद्ध उपयोग, वह संवर है। समझ में आया? आहाहा! वे पहले दो तत्त्व कहे, शुभ और अशुभ, वे आस्रवतत्त्व हैं। यह संवर तो शुद्ध उपयोग धारण करे, उसे संवरतत्त्व कहते हैं।

भगवान आत्मा अपना शुद्ध धर्म त्रिकाली स्वभाव.... **'वत्थु सहावो धम्मो'...** भगवान चैतन्य प्रभु का जो जानना और देखना और आनन्द—जो उसका अविनाशी त्रिकाल स्वभाव, उसमें एकाकार होकर जानना-देखना और आनन्द के शुद्ध परिणाम का करना और होना और धरना, उसे धर्म और संवर कहा जाता है। संवर, वह पर्याय है। वह गुण, द्रव्य नहीं। पुण्य और पाप और आस्रव, वह विकारी दशा है। जीव और अजीव की बात तो पहले कर गये। दो द्रव्य है, वह तो वस्तु। उसमें पुण्यभाव, पापभाव, आस्रवभाव तीनों विकारी दशा है, बन्ध का कारण है। यह (संवर) निर्विकारी है। **'जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग विरत्त'** देखो भाषा। उसमें—आस्रव में योग में रस में रत्त था। यह पुण्य-पाप के भाव से विरक्त है। है न? **विरक्त होता है...** शुभ-अशुभभाव से विरक्त है और शुद्धभाव से सहित है। समझ में आया? लो, इसका नाम संवर और इसका नाम समकित और धर्म। अरे! कठिन धर्म, भाई!

यह बनारसीदास ने सादा शब्द रखे हैं समयसार नाटक में। जगत के कान में सच्चा तत्त्व क्या है, ऐसे बहुत सादे शब्दों में (रखा है)। है हिन्दी। आहाहा! उन पुण्य-पाप को ऐसा कहा था, **'होइ क्रियारसरत्त'** ऐसा कहा। पुण्य-पाप के विकल्प हैं, वह तो रागरस की (क्रिया) है, राग की क्रिया है। यह उपयोग स्वरूप धरता है, शुद्ध उपयोग। वे पुण्य और पाप के विकल्प और भाव, वह अशुद्ध उपयोग, वह आस्रव को खींचने की क्रिया। और यह संवर की अर्थात् धार्मिक शान्ति की शुद्ध उपयोगरूप

क्रिया, उसे भगवान संवर कहते हैं। सूक्ष्म तत्त्व है। ऐसा का ऐसा सब धारा है अनन्त भव से। मूल तत्त्व समझा नहीं। ऊपर से मानो ऐसे से हो जायेगा, यहाँ से हो जायेगा। करो यात्रा और करो भक्ति और करो पूजा, करो व्रत और करो सामायिक और करो प्रौषध और करो प्रतिक्रमण। वह तो सब विकल्प की लगनी राग की है। करना है, उसमें जीव के स्वभाव का घात है। मार्ग ऐसा है, भगवान! क्या हो? लोग बाहर के कारण से निवृत्त नहीं होते और बहुत निवृत्त हो तो वे पुण्य के परिणाम करे, वहाँ कहे कि हमारे धर्म हो गया।

मुमुक्षु : आस्रव में पुण्यधर्म, ऐसा कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म अर्थात् पुण्यधर्म अर्थात् व्यवहार धर्म। व्यवहार धर्म अर्थात् धर्म नहीं, उसे धर्म कहना, इसका नाम व्यवहार धर्म। धर्म अर्थात् पुण्यधर्म अर्थात् व्यवहार धर्म। व्यवहार धर्म अर्थात् धर्म नहीं, उसे धर्म कहे, इसका नाम व्यवहार धर्म।

मुमुक्षु : लम्बा बहुत हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु व्यवहार का लक्षण ही यह है। जो जिसका स्वरूप नहीं, उसे उस प्रकार से कहना, इसका नाम व्यवहार। आता है न यह? मोक्षमार्गप्रकाशक, टोडरमलजी। समझ में आया?

भगवान आत्मा परम आनन्द और अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द आत्मा है। उस परम आनन्द के रस के कुण्ड में एकाकार होकर जो शुभ-अशुभ परिणाम के राग से विरक्त होकर और स्वभाव में लीन होकर जो परिणाम प्रगट हों, शुद्ध उपयोग, उसे भगवान धर्म की शुरुआत और संवर कहते हैं। उसे पाप रुके। संवरना अर्थात् रुक जाना। समझ में आया? आहाहा!

'जो उपयोग स्वरूप धरि' जो आत्मा के जानने-देखने के परिणामरूपी शुद्ध उपयोग को धारे, स्वयं धारे, ऐसा कहते हैं। कुछ कर्म का अभाव हो और धारे, ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया? यहाँ तो कहते हैं, भगवान की भक्ति करो, वहाँ तुम्हारे निर्जरा होगी, पुण्य होगा। बहुत धुन लगाओ भगवान की भक्ति की। भगवान तो परद्रव्य है। उनकी भक्ति का विकल्प, वह तो राग है। उसमें धुन लगाकर कर्तापना हो तो मिथ्यात्व है। आहाहा! मार्ग, वह मार्ग भाई! इसने अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी वह

प्रगट नहीं किया। इससे इसे अन्दर में महँगा लगता है और आनादि का आदतन राग के रस में वह का वह किये जाता है; इसलिए इसे सरल लगता है। समझ में आया?

दो बातें की। कि '**जो उपयोग स्वरूप धरि वरतै जोग विरत्त**', यह नास्ति से की। अस्ति से ऐसा कहा। जाननेवाला-देखनेवाला प्रभु आत्मा... ज्ञायकता और चैतन्यता कहा था न पहले? ऐसा चैतन्य भगवान आत्मा अपने शुद्ध उपयोग को धारे और पुण्य और पाप के अशुद्ध उपयोग से विरक्त हो, उसे धर्म की दशा, उसे संवर कहा जाता है। कहो, पण्डितजी! है या नहीं उसमें वह? आहाहा! गजब करता है न अनादि से। उल्टे अर्थ करे, उल्टा माने और फिर ऐसा कहे, बराबर है। हम अनेकान्त को माननेवाले हैं। यह एकान्त है। आहाहा! व्यवहार से भी धर्म होता है, निश्चय से भी धर्म होता है, यह अनेकान्त कहा जाता है। एकान्त निश्चय से धर्म, वह एकान्त कहा जाता है। आहाहा! अरे भाई! तुझे खबर नहीं एकान्त-अनेकान्त की। शब्द लेकर झगड़े खड़े किये हैं।

यहाँ यह अनेकान्त सिद्ध किया। क्या कहा, देखो न! '**जो उपयोग स्वरूप धरि**' यह अस्ति कहा। और '**वरतै जोग विरत्त**' शुभ-अशुभ विकल्प का योग व्यापार है, शुभ-अशुभ, उससे विरक्त हो। यह अस्ति-नास्ति। भाई! यह अनेकान्त सिद्ध किया इसमें। योग से भी धर्म होता है और शुद्ध उपयोग से धर्म होता है, यह अनेकान्त नहीं। शब्द कैसे रचे हैं, देखो न! कवि है न, महाकवि है। है या नहीं वजुभाई? हो इतना तो जाने, कुछ हिम्मतभाई जितना न जाने कहीं इतना बहुत। जाने कुछ हो न थोड़ा-बहुत। कहते हैं... यह दो लाईन में सब है। धर्म अर्थात् संवर। संवर अर्थात् विकार की उत्पत्ति का नहीं होना और निर्दोष दशा की उत्पत्ति का होना, इसका नाम संवर धर्म कहा जाता है। देखो, भाषा तो बहुत सरल है, भाव भले महँगा हो। आहाहा!

'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान, सेवे नहीं गुरु सन्त को छोड़ा नहीं अभिमान।' अभिमान छोड़ा नहीं अन्दर। मैं जानता हूँ, मुझे खबर है, हमको खबर। हम शास्त्र जानते हैं, शास्त्र को। ऐ पण्डितजी! हम संस्कृत के खां हैं। धूल भी खां नहीं। क्यों पण्डितजी? पण्डितजी इनकार करते थे कि अब भाई समझा नहीं था और अब छोड़ो न... संस्कृत के प्रोफेसर हैं, तथापि यह संस्कृत का पढ़ना, वह तो रागभाव है। उसमें से कहीं आत्मा का... शुद्ध प्रगट होगा?

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु निर्मलानन्द, जैसा सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने देखा और तीर्थंकरदेव ने कहा, ऐसा जो आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि समाज का पिण्ड प्रभु, उसके सन्मुख होकर जिसने शुद्ध उपयोग को धारा है। आहाहा! यहाँ तो पहले से बाँध दिया है चौथे गुणस्थान में... उसे शुद्ध उपयोग नहीं होता, शुभ होता है। अरे भगवान! तुझे खबर नहीं भाई! नहीं। परन्तु मुनि की बात कुछ अलग है। वह तो अलौकिक बात है। यहाँ तो अभी शुरुआत में शुद्ध उपयोग धरे, उसे संवर कहते हैं। सम्यग्दर्शन, वह संवर है। वहाँ से शुरुआत होती है।

आत्मा महाप्रभु है। अनन्त-अनन्त आनन्द के रस का कन्द है। उसमें पुण्य और पाप के विकल्प की गन्ध वस्तु में नहीं। आहाहा! निरंजनभाई! बात तो ऐसी है, भाई! परन्तु क्या हो अब? सत् ही ऐसा है, वहाँ हो क्या? सत् को कैसे असत् करे या कहा जाये और असत् को सत् कैसे माना जाये? पुण्य-पाप के विकल्प तो स्वरूप के सत् में नहीं। इसलिए कहा कि कर्म के उदय में उत्पन्न करता है नये योग शुभ-अशुभभाव, ऐसा कहते हैं। कहा था न, '**कर्मउदोत धरि**' आस्रव में ऐसा कहा था। यह भाषा ऐसी ली है। '**जो इ कर्मउदोत धरि**' समझ में आया? आहाहा! दोनों के साधारण पुण्य-पाप का वर्णन करके यह दोनों का इकट्ठा करके कर्म के उदय के जुड़ान में शुभ-अशुभ विकारी भाव उत्पन्न करता है। वह स्वरूप में नहीं। इसलिए वह कर्म के खेंचने में कारण वह क्रिया राग की है। क्या हो? वस्तुस्थिति ही ऐसी है, वहाँ दूसरी कोई गड़बड़ करने जाये तो वहाँ चले, ऐसा नहीं है।

'**जो उपयोग स्वरूप धरि**' भाषा कैसी है, देखो! जो अपना जानना-देखना ज्ञाता-दृष्टा भगवान जगत का साक्षी, जगत का एकत्वरूप से माननेवाला नहीं। जगत अर्थात् पुण्य और पाप के विकल्प, वह जगत। उससे भिन्न विरक्त तत्त्व, वह आत्मा है। जगत में कहा था न उसमें? जगत में सुख और संसार में दुःख, ऐसा कहा था न वहाँ? संसार में सुख और... वह जगत का सुख को संसार में दुःख, ऐसा कहा था। भाषा बहुत सरस। समझ में आया? परन्तु आस्रव में ऐसा कहा कि स्वभाव में से छूटकर कर्म के उदय में जुड़ जाना, ऐसे शुभ-अशुभ विकल्प के भाव को—क्रिया को रागरस की क्रिया करके नये कर्म को खींचने में कारण है। कर्म को रोकने में वह कारण नहीं। समझ में आया?

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग विरत्त... यहाँ 'धरि' कहा। और योग (विरत्त) अर्थात् पुण्य-पाप की क्रिया से पृथक् पड़ा है। देखो, यह अनेकान्त! संवर धर्म का यह अनेकान्त। कहे, शुभभाव से भी धर्म होता है, संवर होता है और शुद्ध से भी संवर होता है तो उसे अनेकान्त कहते हैं। ऐसा अनेकान्त नहीं है, भाई! तुझे खबर नहीं।

श्रीमद् ने कहा न, 'अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज (पद की प्राप्ति के) अतिरिक्त (अन्य) किसी (हेतु से उपकारी नहीं है)।' ऐसा हो, तब फिर सम्यक् स्वभाव की ओर ढला और शुद्ध उपयोग हुआ, तब फिर शुभ है, उसका ज्ञान होता है, इसलिए उसे अनेकान्त कहते हैं। यह टुकड़ा है न, उसकी व्याख्या हुई है। ववाणिया (में) एक घण्टे। यहाँ तो शुरुआत... एक वनेचन्द सेठ थे वांकानेर के। और इस लाईन का अर्थ हुआ कि आहा! श्रीमद् का समझना हो तो यहाँ आना ही पड़ेगा, नहीं तो समझ में आये, ऐसा नहीं है यह। इस लाईन का अर्थ हुआ था। यहाँ वनेचन्द सेठ थे न (संवत्) २००३ के वर्ष पहले। टी.बी. में गुजर गये।

बापू! उसे वस्तु को समझना चाहिए। ऐसे तुम्हारी कल्पना से अर्थ करो, ऐसा नहीं चलता। वस्तु का अभिप्राय, जो आचार्य का है, उस अभिप्राय से अर्थ हो तो वह वस्तु की स्थिति हाथ आवे। समझ में आया? सम्यक् एकान्त कहा है न? अनेकान्त भी... भले पर्याय का ज्ञान हो, राग का ज्ञान हो, परन्तु सम्यक् यह (स्वभाव) की ओर एकान्त ढले बिना उसे राग का ज्ञान भी यथार्थ नहीं हो सकता। समझ में आया?

वस्तु... वस्तु भगवान आत्मा जिसमें अनन्त स्वभावरूपी धर्म भरे हैं, ऐसे स्वाभाविक वस्तु का आश्रय लेकर जिसने शुद्ध परिणाम, शुभ-अशुभ परिणाम से भिन्न पड़कर, भेद होकर, शुद्धस्वभाव का आश्रय लेकर शुद्ध उपयोग को धारण किया है... '**रोकै आवत कर्मकौ**' फिर तो उसका फल कहा कि जहाँ शुभ-अशुभभाव से विरक्त है, इससे कर्म नहीं आते, उसे संवर कहा जाता है।

जामनगर में सवेरे आवे, महाराज! कराओ संवर। लो, बैठे फिर २४ घण्टे, संवर हो गया, कहेंगे।

मुमुक्षु : द्वेष का भाव तो रुका?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ रुका नहीं, धूल भी रुका नहीं।

मुमुक्षु : बैठे-बैठे गप्पा मारे।

पूज्य गुरुदेवश्री : गप्पा भी न मारता हो, परन्तु वह आकर बैठा, वह जड़ की क्रिया मेरी है और मैं निवृत्त हुआ हूँ पर के काम से—यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। पर से निवृत्त होने का अर्थ... **जोग विरत्त** ऐसा कहा है न यहाँ? शुभ-अशुभ विकल्प जो है, उससे निवर्तना और स्वभाव सन्मुख स्थिर होना, इसका नाम धर्म है। निवर्तना, दुकान में धन्धा कब कर सकता है कि निवर्ते? वह तो जगत में दुनिया की जड़ की क्रिया है। उससे कहाँ निवर्तना है इसे? आहाहा! जिससे निवृत्त है, उससे निवृत्त होना, वह तो क्या कि प्रवृत्ति को अपना माना, परन्तु योग में प्रवर्तता था—शुभ और अशुभ राग में प्रवर्तता था, वह उसकी क्रिया अपनी (मानकर) अज्ञानी उसमें जुड़ता था, उससे विरत्त—विरक्त और स्वभाव में रुक्त।

निवर्तना और स्वभाव सन्मुख स्थिर होना, इसका नाम धर्म है। निवर्तना, दुकान में धन्धा कब कर सकता है कि निवर्ते? वह तो जगत में जड़ की क्रिया है दुनिया की, उससे कहाँ निवर्तना है इसे? आहाहा! जिससे निवृत्त है, उससे निवृत्त होना, वह तो क्या कि प्रवृत्ति को अपनी माना। परन्तु योग में प्रवर्तता था, शुभ और अशुभराग में प्रवर्तता था, वह उसकी क्रिया अपनी (मानकर) अज्ञानी उसमें जुड़ता था, उससे विरत्त—विरक्त और स्वभाव में रक्त अर्थात् शुद्ध उपयोग। वह कर्म '**रोकै आवत कर्मकौ**' लो।

देखो, यह बनारसीदास! **सो है संवर तत्त...** सो है अर्थात् जो उपयोग स्वरूप धरे, वह संवर तत्त्व, ऐसा। समझ में आया? परन्तु कठिन भाई! दूसरे को तो ऐसा लगे, ...यह तो सब व्यवहार का लोप होता है। है, बात सच्ची है उसकी, हों!

मुमुक्षु : अशुद्धभाव का तो लोप होना ही चाहिए न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या कहा? **वरतै जोग विरत्त...** जड़ की क्रिया नहीं, शुभ-अशुभ विकल्प है योग का व्यापार, उससे निवृत्त होता है। ओहोहो! समझ में आया?

समकिती के कथन हों या पाँचवें गुणस्थान(वर्ती) के, मुनि के हों या केवली

के, कथन में कहीं अन्तर नहीं होता। वह तो समकिती कहे, वही केवली कहते हैं और केवली कहे (वही समकिती कहता है)। उसकी अपनी स्थिरता में अन्तर है, यह बात अलग है। समकिती को स्थिरता कम है। ऐसे मुनि चारित्र में आनन्दकन्द में झूलते हों, उनकी विशेष स्थिरता है। केवली की पूर्ण स्थिरता है। यह चारित्र के भेद की अपेक्षा से भेद है। वस्तु की दृष्टि की अपेक्षा से तीनों में कोई भेद नहीं है। समझ में आया? जैसा केवली माने स्वरूप से, वैसा ही समकिती मानता है स्वरूप से।

मुमुक्षु : आ गया गणधर जैसा...

पूज्य गुरुदेवश्री : 'गणधरकौ सो' आया था न?

बहुत अच्छा रचा है। आठवीं कविता है न? आठवाँ। **'जा कै घट प्रगट विवेक गणधरकौ सो'** आठवाँ पृष्ठ। **'जा कै घट प्रगट विवेक गणधरकौसो हिरदै हरखि महामोहकौ हरतु है'** सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में, नारकी का हो या पशु का जीव हो। गणधर जैसी जिसे श्रद्धा होती है, कहते हैं। जो तीर्थंकर के वजीर, धर्मराजा के दीवान उनके जैसी श्रद्धा, समकिती की श्रद्धा ऐसी ही होती है। उसमें अन्तर नहीं है। वह तो चारित्र की रमणता में कचास है। तथापि आया है न छहढाला में? उसमें भी आया था। **'चारित्रमोहवश लेश न संयम पर सूरनाथ जजै है।'**

चारित्रमोह के आधीन हो जाता है तो उसकी आसक्ति छूटती नहीं समकिती को। आसक्ति से विरक्त है, इसीलिए तो समकित है, परन्तु आसक्ति छूटी नहीं, इसलिए चारित्र नहीं है। तथापि चारित्रमोह के वश में आवे, इसलिए उसे संयम आंशिक उस जाति का नहीं होता, तथापि **'सूरनाथ जजै है'** आता है न? इन्द्र जिसका आदर करते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! भ्रमणा में भूला है न अनादि का, उसे सुलटे रास्ते आना भारी कठिन पड़ता है। अब बाहर का उसे अच्छा लगे। कुछ इस प्रवृत्ति में, कुछ क्रिया में, दुकान छोड़कर बैठे और धर्म में आये न। कौन सी दुकान?

मुमुक्षु : प्रवृत्ति सब निवृत्ति के लिये है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं। प्रगट प्रवृत्ति तो योग की—पुण्य-पाप की करता है, उससे निवृत्त होना, उसका नाम यहाँ संवर है। समझ में आया?

देखो! **'रोके आवत कर्म कौ सो है संवर तत्'** इसका नाम निर्मल वीतरागी पर्याय होना, शुभ-अशुभ अशुद्ध रागवाली क्रिया से रहित होकर उसे यहाँ संवरतत्त्व—निर्दोषदशा को संवरतत्त्व—धर्मतत्त्व की शुरुआत कहा जाता है। समझ में आया?

योगों की क्रिया से विरक्त होता है और आस्रव को रोक देता है,... 'रोक देता है' का अर्थ आस्रव उत्पन्न होता ही नहीं। रोक देता है, यह तो वह संवर है न, वह रोकता है, इसलिए ऐसा अर्थ किया। परन्तु यह पुण्य-पाप होते थे, उन्हें रोकता है, ऐसा है? (नहीं)। पूर्व में होते थे उसे, आत्मा के स्वभाव सन्मुख हुआ तो पुण्य-पाप उत्पन्न नहीं हुए, उसने आस्रव को रोका, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? देखो, आस्रव को रोक देता है। **'रोकै आवत करमकौ।'** यह रजकण आये उन्हें रोके, ऐसा होगा? कर्म के रजकण आते हैं, उन्हें रोके, ऐसा है वर्तमान? परन्तु पूर्व में पुण्य और पाप के विकल्प में—राग में था, तब कर्म आते थे। जब यहाँ आत्मा के अन्तर शुद्ध उपयोग में आया, तब पुण्य-पाप के विकल्प से विरक्त हुआ। इसलिए जिस भाव से कर्म आते थे, वह भाव नहीं तो कर्म भी नहीं आते। समझ में आया? अरे गजब!

एक-एक तत्त्व का अर्थ समझने में बड़ा अन्तर है। प्रगटे तो कहाँ से? अपनी कल्पना से अर्थ करे और मनावे कि हम शास्त्र को बराबर जानते हैं, हम बराबर शास्त्र को जानते हैं। भाई! यह शास्त्र जानना, वह आँखें कोई दूसरी हैं। समझ में आया? आहाहा! देखो! कैसी बात करते हैं, लो। **'रोकै आवत करमकौ।'** अब इसका अर्थ करना पड़े वापस। कि कर्म आते थे, उन्हें रोका, ऐसा है? परन्तु शुद्धभाव आत्मा का प्रगट किया, इससे कर्म आने के कारण ही जहाँ उत्पन्न नहीं हुए, इसलिए कर्म आनेवाले ही नहीं थे। थे नहीं, उन्हें रोका—ऐसा व्यवहार से कथन किया जाता है। धरमचन्दभाई! मार्ग बहुत अन्तर। आहाहा! क्या हो? **'सो है संवर तत्'** लो ३१वाँ बोल (पद) हुआ। निर्जरातत्त्व कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन क्रमांक ९ उपलब्ध नहीं है।

प्रवचन नं. १०, पौष कृष्ण अमावस्या, मंगलवार, दिनांक २६-१-१९७१
उत्थानिका, पद—३१, ३२, ३३

गुजराती तो जानते हो न? ये तो जानते हैं। ... यह समयसार नाटक। उसका भूमिका अधिकार है। शुरुआत की उत्थानिका है। उसमें जीव, अजीव, आस्रव, पुण्य, पाप का अधिकार आ गया है। संवर किसे कहते हैं? धर्म किसे कहते हैं? धर्म उत्पन्न कैसे होता है? **संवर का वर्णन**। ३१, इकतीस।

काव्य-३१ पर प्रवचन

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग विरत्त।
रोकै आवत करमकौ, सो है संवर तत्त।।३१।।

बनारसीदास कहते हैं कि '**जो उपयोग स्वरूप धरि**' योग और उपयोग ऐसे दो प्रकार हैं। आत्मा में पुण्य और पाप के... दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव होता है, वह पुण्य आस्रवतत्त्व है और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, काम, क्रोध, माया आदि, वह पापरूपी आस्रवतत्त्व है।

'**जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग विरत्त**।' वह शुभ और अशुभ जो विकल्प अर्थात् भाव है, उसको रोककर अथवा उससे विरक्त होकर **जो उपयोग स्वरूप धरे—** आत्मा जानन-देखन शुद्ध उपयोगी परिणाम को धारण करे और पुण्य-पाप के शुभ-अशुभभाव से विरक्त हो, उसका नाम संवर है। समझ में आया? दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि भाव—वह शुभभाव, शुभयोग है, पुण्य है; धर्म नहीं। और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष—यह अशुभ पापभाव है। दो को रोककर अथवा **विरत्त... विरत्त** शब्द पड़ा है न? '**वरतै जोग विरत्त**' शुभ-अशुभ योग से विरक्त—भिन्न होकर '**जो उपयोग स्वरूप धरे**। अपना आनन्द और ज्ञान चैतन्यपूर प्रभु आत्मा, यह चैतन्य का ज्ञाता-दृष्टा का, शुभाशुभ परिणाम से रहित शुद्धभाव को धारण करे, उसका नाम संवर और धर्म है। यह सब दान-बान और दया-

बया, वह धर्म नहीं—ऐसा कहते हैं। उस रूप भाव आते हैं, शुभभाव आते हैं। उसमें क्या आया? ऐई लालचन्दजी! लालचन्दजी ने बहुत पैसे दिये वहाँ खोटे—कुशास्त्र लिखने में, रजनीश को। ऐसा सुना था, हम कहाँ देखने गये थे। कोई कहता था। लालचन्दजी बहुत पैसा... अब निकला अजैन। जैन रहा नहीं। रजनीश है न तुम्हारा मुम्बई में है। बड़ी गड़बड़ी चलाता था। गीता का ज्ञान... आहाहा!

वस्तु क्या है, खबर नहीं। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव वीतराग परमात्मा ने... देखो! यह आत्मा उन्होंने कहा हुआ, देखा हुआ, हों! अज्ञानी कहे, वह नहीं। समझ में आया? ऐसा जो भगवान शरीर, वाणी, कर्म के अजीवतत्त्व से तो भिन्न है, परन्तु दया-दान-व्रत-भक्ति, पूजा के भाव और हिंसा झूठ के भाव से भी भगवान चैतन्यतत्त्व तो उससे भिन्न है। समझ में आया? ऐसा प्रभु अपनी चैतन्यशक्ति का माहात्म्य करके अन्तर के भाव में शुद्ध त्रिकाली भाव में एकाकार लगाकर जो शुद्ध उपयोग हो, राग के—मैल के अंशरहित अपने द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करके शुद्ध परिणाम (अर्थात्) पुण्य-पाप के विकल्प से रहित हो, उसका नाम परमात्मा संवरतत्त्व कहते हैं। कहो, सेठ! ऐ डालचन्दजी! मार्ग ऐसा है। दुनिया माने इसलिए कहीं दूसरा हो जाता है, ऐसा नहीं है।

'**जो उपयोग स्वरूप धरि**'—धरि अर्थात् पुरुषार्थ से (किया) कहते हैं। सेठ! यह छोटे सेठ तो यहाँ बहुत समय से रहते हैं यहाँ हमारे। आहाहा! अरे भगवान! इसे अभी खबर नहीं कि धर्म कैसे, कैसे होता है और धर्म क्या है? यहाँ तो कहते हैं कि शुद्ध ज्ञानानन्द चैतन्यस्वभाव आनन्ददल चैतन्य के प्रकाश का पूर आत्मा है, उस ओर का सावधान सन्मुख होकर, यह शुभ और अशुभ जो विकल्प अर्थात् राग भाग है, उससे विमुख होकर... समझ में आया? अपना शुद्ध... आत्मा शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन है। ऐसा पवित्र प्रभु उसके सन्मुख होकर अपने शुद्धभाव को धारण करे, उसका नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संवर कहने में आता है। धर्म की शुरुआत वहाँ से होती है। कहो, पण्डितजी! आहाहा! कठिन बात, भाई! दुनिया को तो यह सब बाहर का क्रियाकाण्ड और उसमें धर्म हो गया। समझ में आया?

जो उपयोग... उपयोग... अन्तर चैतन्य में उपयोग समीप होकर अन्तर के शुद्धभाव,

पुण्य-पाप के राग से रहित शुद्ध का धारण करना और **वरतै जोग विरत्त...** अस्ति-नास्ति की है। पहले अस्ति कहा, अस्ति। ज्ञानानन्दस्वभाव का शुद्धभाव का व्यापार होना, वह अस्ति और शुभ-अशुभभाव जो विकल्प राग है, उससे विरक्त होना, वह नास्ति। समझ में आया? **सो है संवर तत्त...** उसे परमात्मा संवरतत्त्व कहते हैं। अब क्या होता है कि '**रोकै आवत करमकौ**' यह तीसरा पद है। उसमें भी अर्थ में अन्तर है। '**रोकै आवत करमकौ**' का अर्थ वह कर्म आता था और रोकते हैं, ऐसा है? शब्द में तो ऐसा है उसमें। शब्द क्या है?

'**रोकै आवत करमकौ**' कर्म आता था, उसको रोकते हैं। तो कर्म आते थे और रोकते हैं, ऐसा है? इसका अर्थ यह कि शुद्ध उपयोग अपना ज्ञानानन्द चैतन्य का वीतरागी परिणाम उत्पन्न हुआ, तो पहले जो शुभ-अशुभ परिणाम जो कर्म आने में परिणाम निमित्त थे तो (कर्म) आता था। यहाँ शुभ-अशुभ से विरक्त होकर शुद्ध में आया, तो कर्म आने का है नहीं, उसको कर्म (आते हुए) रोका, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? कठिन, भाई! शब्द का अर्थ करना, उसमें बड़ा अन्तर है। चार शब्द हैं, लो। छे का है समझ लेना तुम्हारे। छे तो आवे न। ....काठियावाड़ी भाषा गुजराती है न यहाँ की भाषा। समझ में आया?

चार पद है, पद चार। एक पद देखो। **जो उपयोग स्वरूप धरे,** स्वरूप, स्वरूप। शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु सिद्धस्वरूपी चैतन्य भगवान के सन्मुख होकर अपने वीतरागी निर्मल परिणाम को धारण करना और शुभाशुभराग परिणाम से विरक्त होना... यह दूसरे पद का अर्थ। अब तीसरा पद। उससे पूर्व में कर्म आते थे, अभी आते नहीं हैं, तो उसको —कर्म को रोका, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया या नहीं डालचन्दजी? क्या कर्म आते थे यहाँ? कर्म आते थे और धक्का लगाया? शब्द तो ऐसा है।

मुमुक्षु : ....काल रुक जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ धूल भी रुकता नहीं।

यह तो नहीं होने का था, तब नहीं हुआ। तब 'कहना' का तो पहले आया। नहीं होने का फिर आया। यह 'नहीं होने का था' यह आया है, 'कहना' के साथ आया है?

परन्तु न ले कौन? और ले कौन? वह तो जड़ की क्रिया है। 'पुराने' का एक-एक रजकण उसका और (कर्म) रोकना—वह अपने अधिकार की बात नहीं है। वह तो जड़ है। आता नहीं वह? दाने-दाने पर खाने-पीने (वाले) का नाम लिखा है, क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : दाने-दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका अर्थ क्या है? उसका अर्थ क्या? बोल तो जाते हैं न ऐसा? हमारे काठियावाड़ में ऐसा बोलते हैं, खानेवाले का नाम दाने-दाने पर है। उसके अर्थ का क्या? दाने में लिखाते होंगे नाम वहाँ?

मुमुक्षु : नाम उसे खबर है?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसका अर्थ यह है कि जो रजकण-परमाणु का दल जिसके पास जो आनेवाला है, वह आयेगा, आयेगा और आयेगा और नहीं आनेवाला है, वह नहीं आयेगा। उसमें आत्मा का अधिकार कुछ नहीं है। मैं आहार लूँ, यह आत्मा का अधिकार नहीं है। विकल्प हो या राग हो या परमाणु यह (चाहिए)। परन्तु आहार आना और आहार न आना, (वह) जड़ की क्रिया है।

अज्ञानी जड़ का स्वामी होता है कि मैं लेता हूँ और मैं छोड़ता हूँ, (वह) मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु : इतना छोड़े तो भी....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन छोड़ता है? धूल। वह तो बाहर ही पड़ा है। कहाँ छूट गया है? वह तो बाहर ही है। स्पर्शा है आत्मा में? घुस गयी है कोई चीज़? घुस गयी है कोई चीज़? अजीव चीज़ घुस गयी है आत्मा में? अजीव तो अजीवरूप से रहा है। यह शरीर अजीवरूप से रहा है या जीवरूप से रहा है? शरीर है, वह अजीवरूप होकर रहा है या जीवरूप होकर रहा है? अजीवरूप होकर रहा है। यह तो मिट्टी है, जड़-अजीव है।

अजीव की पर्याय—द्रव्य-गुण, वह अपनी जीव की पर्याय में नहीं आयी है। वह तो उसका होकर रहा है। अज्ञानी मूढ़ मानते हैं कि मेरा है। क्या कहलाये? वह

उठाईगीर है। किसी की चीज़ अपनी मानता है, मिथ्यादृष्टि है। वह अजीव को अपना मानता है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : आयुष्य तो.... उसका है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं। कहा न, यह क्या कहा? अजीवरूप से रहा है या जीवरूप से रहा है? सिद्धान्त निश्चित करो। यह शरीर है, वह अजीवरूप होकर रहा है या जीव होकर रहा है? जीव होकर रहे तो अरूपी हो जाये, यह तो रूपी है। सेठ! बराबर है? अब इनकार किया जाये, ऐसा नहीं कुछ, ऐसी बात है। आहाहा!

वाणी अजीव होकर रही है और यह धूल... धूल क्या समझे? पैसा। यह तो समझते हैं न, आते हैं बहुत बार। यह तुम्हारे पाँच, पचास, साठ लाख, करोड़, वह धूल, धूल, धूल ही होकर रही है या तुम्हारी होकर रही है? आहाहा!

मुमुक्षु : किसकी होकर रही है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अजीव की होकर रही है? सेठ की होकर रही है? तब तो (सेठ) रूपी हो जाये, तुम तो आत्मा हो। इस धूल के... सब ऐसी की ऐसी बातें बोलनेवाले हैं सब। यहाँ तो परमात्मा तो ऐसा कहते हैं कि शुभ-अशुभरागवाला आत्मा मानना, वही मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। शरीरवाला और पैसेवाला मानना, वह तो बात कहीं रह गयी। वह तो अजीवतत्त्व है।

परन्तु आत्मा में पुण्य और पाप का विकल्प भाव होता है, वह आस्रवतत्त्व है, मैलतत्त्व है, विकारतत्त्व है। अपने निर्विकारी स्वभाव में अपना मानना, उसका नाम मिथ्यादृष्टि—अजैन कहा जाता है। आहाहा! भारी कठिन काम। लोगों ने धर्म क्या है, सत्य क्या है (वह) सुना ही नहीं। ऐसे का ऐसा अनादि गड़बड़... गड़बड़... गड़बड़... अनादि से ऐसा चला है। पण्डितजी! '**रोकै आवत करमकौ**' कर्म तो अजीवरूप से रहा है। यह अजीवरूप से आना नहीं था, यहाँ आत्मा का शुद्ध उपयोग हुआ। शुद्ध... सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! लोगों को, अन्तर धर्म, अन्तर में अपूर्व चीज़ क्या है (वह) अन्तर में उसके सुनने में आयी नहीं। बाहर से यह क्रिया की, व्रत लिये, तप लिया और अपवास किये, यात्रा-बात्रा कर ली, हो गया धर्म। धूल में भी धर्म नहीं। कौन कहता है

धर्म है उसमें ? वीतराग त्रिलोकनाथ परमात्मा तो कहते हैं कि उस शुभ-अशुभ परिणाम का रुकना, उससे विरक्त होना और आनन्दकन्द प्रभु में लीन होना, यह संवर है। है उसमें देखो ! बनारसीदास का श्लोक है। बनारसीदास हो गये न, समयसार नाटक (के रचयिता), उसमें है।

'**रोकै आवत करमकौ**' अर्थात् शुद्ध स्वरूप की अन्तर अनुभव दृष्टि होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का आत्मा में स्वाद आना, उसका नाम शुद्ध उपयोग अर्थात् शुद्ध परिणाम (का) व्यापार कहा जाता है, वह संवर है। समझ में आया ? ३१। यह तो चल गया था कल। यह तो निर्जरा के साथ जरा सम्बन्ध करना है न, इसलिए वह लिया। (पद) ३२। निर्जरा, संवरपूर्वक निर्जरा होती है, ऐसा बताना है। समझ में आया ? जिसको भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा है। चैतन्यस्वरूप तो वीतरागस्वरूपी आत्मा अनादि-अनन्त है। उसमें वीतरागभाव की दृष्टि करके, वीतरागभाव हों अन्दर, दृष्टि करके वीतरागभाव का अनुभव-प्रतीति हुई, तो नया कर्म आता (हुआ) रुक गया। इतनी संवर की भूमिका की।

अब आगे। पुराने कर्म है, उनका क्या करना ? यह बात चलती है। संवरपूर्वक निर्जरा। जिसको संवर नहीं है, उसको तो निर्जरा कभी होती नहीं है। जिसकी दृष्टि, पुण्य धर्म है, पाप में मजा है—ऐसी दृष्टि है, उसको तो संवर नहीं तो उसको निर्जरा (भी नहीं)। उपवास करके मर जाये, छह-छह महीने अपवास करे, करोड़ों-अरबों रुपये का दान करे (तो भी) धर्म नहीं, निर्जरा नहीं। समझ में आया ? आहाहा !

कहते हैं, पूर्व का कर्म सत्ता में पड़ा है। नया तो रोका। आत्मा का शुद्धस्वभाव जैसा है, उस आत्मतत्त्व को पहिचानकर, आत्मज्ञान करके, स्वसन्मुख की—स्वभाव की अन्तर्दृष्टि करके, जो शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, उससे नये कर्म तो आये नहीं। अब, पुराने हैं, उनका क्या करना ? उसकी बात अब निर्जरा में कहते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ३२

निर्जरा वर्णन (दोहा)

जो पूरव सत्ता करम, करि थिति पूरन आउ।
खिरबेकौ उद्यत भयौ, सो निर्जरा लखाउ।।३२।।

शब्दार्थ:-थिति=स्थिति। सत्ता=अस्तित्व। खिरबेकौ=झड़ने के लिये। उद्यत= तैयार, तत्पर।

अर्थ :- जो पूर्वस्थित कर्म अपनी अवधि पूर्ण करके झड़ने को तत्पर होता है, उसे निर्जरा पदार्थ जानो।।३२।।

काव्य-३२ पर प्रवचन

जो पूरव सत्ता करम, करि थिति पूरन आउ।
खिरबेकौ उद्यत भयौ, सो निर्जरा लखाउ।।३२।।

सत्ता में पड़े हुए जो पूर्व के कर्म... पूर्व में जो अज्ञान और विकारभाव से बँधे थे कर्म... अब समकिती को निर्जरा कैसे होती है? संवरपूर्वक उसको आत्मभान की दशा में पूर्व के कर्म का खिरना—झरना—टलना—गलना—मरना कैसे होता है? कि '**पूरव सत्ता करम**' सत्ता में जो कर्म पड़े हैं। '**करि थिति**' उसकी स्थिति पूर्ण हो गयी, वह खिरने के योग्य हो गया। स्थिति पूर्ण (होकर) उसकी खिरने की तैयारी है। '**खिरवेकौ**' वह तो खिरने में... उसकी स्थिति ऐसी ही है। परन्तु '**उद्यत भयौ**' भगवान आत्मा अपने आनन्दस्वरूप में पुरुषार्थ करके आया, तो कर्म खिरते हैं। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, सेठ!

यह पैसा-बैसा बाहर मिल जाये न, उसमें कहीं तुम्हारी चतुराई-बतुराई काम करे, ऐसा नहीं है, हों! तुमको ऐसा (लगे) कि होशियार हुए इसलिए पैदा हुए। हमने जिन्दगी में बहुत बुद्धि के बारदान देखे हैं।

मुमुक्षु : डालचन्दजी बहुत ध्यान रखते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्यान रखे तो धूल भी मिले नहीं कुछ। वह तो पूर्व के पुण्य के परमाणु सत्ता में पड़े हों, वह गलने की तैयारी हो, तब ऐसा संयोग दिखता है, गोठी बैठ जाती है। डालचन्दजी! कितने ही करोड़ोंपति तुमने देखे हैं। अरबोंपति नहीं अभी? सुना है या नहीं सेठ? अपने शान्तिलाल खुशाल, गोवा। दो अरब चालीस करोड़। अपना बनिया है। यहाँ हमारी जाति है न दशाश्रीमाली। दो अरब चालीस करोड़। धूल है। परन्तु क्या है वह कुछ पुरुषार्थ से मिला है? पूर्व के साता के परमाणु बँधे हुए (कि जो) कुछ निगोद और नरक में कहीं हो। डालचन्दजी! ऐसी बात है यहाँ तो भगवान!

उन परमाणु में (कर्म में) पाक का काल हो... जैसे वृक्ष में फल हो। डीटीयुं, डीटीयुं कहते हैं न, क्या कहते हैं? गंठन कहते हैं। सब भाषा तुम्हारी आती नहीं हमको। डीटीयुं गल जाये (तो फल) गिर जाये नीचे। इसी प्रकार पूर्व के पुण्य के परमाणु खिरने की तैयारी हो, उस समय गोटी बैठ जाये कि यह व्यापार हुआ और यह फलाना... ऐसा सब व्यवस्थित हो जाये वहाँ। यह माने कि मैंने व्यवस्था बराबर बनायी, मेरे हाथ में रखी पतंग... पतंग, पतंग। हाथ में रखी तो उड़ने नहीं दी आगे। ऐ डालचन्दजी! मैंने बराबर व्यवस्था रखकर यह सब लड़के और भाई और पाँच-छह जो काम करते हों... चार और दो यह छह। एक व्यक्ति बीमार पड़ा हो। ऐसे बराबर ध्यान रखा कहलाये। सेठ! तेरी खोटी मान्यता है भ्रमणा की।

यहाँ कहते हैं कि वस्तुस्थिति क्या है, उसकी खबर नहीं। वह तो पूर्व के पुण्य के परमाणु का पाक काल खिरने का हो, तो उस समय वैसी योग्यता की गोटी बैठ जाती है। उसमें आत्मा का पुरुषार्थ कुछ काम नहीं करता। काम नहीं करता। ऐसा थोड़ा समझ लेना। थोड़ी गुजराती आती है न!

यहाँ कहते हैं, ओहो! पुण्य तो भिन्न चीज़ हो गयी, पापतत्त्व दूसरी चीज़ हो गयी और पुण्य-पाप दो मिलकर आस्रव, वह भी दूसरी चीज़ हो गयी। उस पुण्य-पाप के भाव से विरक्त होकर पवित्रता का स्वभाव में जहाँ घुसा और अन्तर आत्मा के आनन्द का स्वाद आया—अतीन्द्रिय आनन्द का (स्वाद आया), तब सम्यग्दर्शन हुआ। तब

उसको नया कर्म मिथ्यात्व का आता था, वह रुक गया। समझ में आया? आहाहा! अब, पूर्व मिथ्यात्व में बन्ध पड़ा था, कर्म की सत्ता पड़ी है, उसका क्या? वह कहते हैं। '**पूरव सत्ता करम, करि थिति पूरन**' भाषा भाई क्रमसर ली है। उसकी स्थिति पूरी हुई है और खिरता है, उसके कारण यह है? ऐई पण्डितजी!

कर्म की निर्जरा होती है। निर्जरा के प्रकार तीन हैं। एक तो स्वरूप का शुद्ध उपयोग चैतन्य की उग्रता करना, इस शुद्ध उपयोग को भी निर्जरा पंचास्तिकाय में भगवान कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं। दूसरी, अशुद्ध जो पुण्य-पाप का परिणाम है, उसकी उत्पत्ति न होना, उस अशुद्ध उपयोग का नाश होना, उसको भी निर्जरा कहते हैं। तीसरी, कर्म के रजकण हैं, वे खिर जाना, उसे जड़ की निर्जरा कहने में आता है। आहाहा! फिर से। समझ में आया या नहीं? तुम्हारे भाई की बात करते हैं। कहाँ गये? नहीं समझता, उलझता है। कभी अभ्यास की सीढ़ी चढ़े नहीं, क्या करें? यह तो सब अभ्यास करे तो समझ में आये ऐसा है। आहाहा!

तीन प्रकार की निर्जरा की व्याख्या चली है। एक तो मुख्य निर्जरा उसको कहते हैं, शुद्ध उपयोग की पवित्रता की अन्दर में प्राप्ति। पुण्य-पाप के भाव—दोनों हैं अशुद्ध उपयोग, वह बन्ध का कारण है। उससे रहित अपना निर्मलानन्द चैतन्य भगवान सम्यग्दर्शन-ज्ञान के निर्मल परिणाम की उत्पत्ति होना, उस शुद्ध उपयोग को निर्जरा कहते हैं। अस्तिरूप से, अस्तिरूप से। पवित्रता की उग्रता प्राप्ति, उसका नाम निर्जरा। यह अस्ति हुई। उस समय पूर्व का अशुद्ध परिणाम पुण्य-पाप का था, वह गल गया—खिर गया, वह नास्ति से निर्जरा अशुद्ध उपयोग की कही, यह अपने में हुई। ऐसा अशुद्ध (भाव) का नाश हुआ तो कर्म के रजकण अपनी स्थिति पूरी करके खिर जाते हैं, वह जड़ की निर्जरा हुई। अरे! यह बात नहीं एक भी। समझ में आया है या नहीं? आहाहा!

अशुद्धता नाश हो गयी और कर्म उसके कारण से (नाश हुआ), आत्मा कर्म को नाश नहीं करता। कर्म तो जड़ है। क्या जड़ का आत्मा स्वामी है कि जड़ को बाँधे और जड़ को छोड़े? वह तो अजीवतत्त्व स्वतन्त्र है। जगत का स्वयंसिद्ध अजीवतत्त्व स्वयंसिद्ध है। वह किसी का स्वामी (और) उसका कोई स्वामी है या उसका—आत्मा

का दास है कर्म, ऐसा नहीं है। परन्तु यहाँ आत्मा में जहाँ शुद्ध उपयोग की दशा हुई, धर्म की दशा की उग्रता हुई। संवर में धर्मदशा शुद्ध उपयोग हुआ, परन्तु यहाँ तो पूर्व के कर्म का नाश करने में निमित्त (और) अशुद्धता का नाश करने में कारण, ऐसा पवित्रता शुद्ध उपयोग अतीन्द्रिय आनन्द का रमना, जम जाना, अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करना... गजब बात! मैसूर-बैसूर (वह भोजन) नहीं।

वह खिरने की योग्यता, उसके कारण से खिरते हैं। '**आतम उद्यत भयौ**' अपने शुद्ध उपयोग में जीव उद्यम करता है। भाई! रूपचन्दजी ने ऐसा अर्थ किया है। रूपचन्दजी ने ऐसा अर्थ किया। वह अर्थ बराबर है। परन्तु उन लोगों को उस समय चर्चा चलती होगी न! पाँच व्यक्ति थे वहाँ बनारसीदास के समय। पहले तो बहुत शृंगारी पुरुष (कवि) थे न? बनारसीदास शृंगारी व्यभिचारी बहुत थे। फिर उनको रूपचन्दजी का समागम, योग मिला। (सच्ची) समझ के पश्चात् यह बनाया। उसमें से रूपचन्दजी ने अर्थ किया है। रूपचन्दजी का है न, उसमें अर्थ। उसमें यह शब्द है, प्रकण्डरत्नाकर।

देखो! निर्जरा... निर्जरातत्त्व की पहिचान कराते हैं। जो पूर्व का सात सत्तारूप कर्म... ऐसा लिया। वह सात-सात कर्मवाली सत्ता... वह आयुष्य अलग पड़ा है न, इसलिए शब्द ऐसा किया है। आयुष्य शब्द पड़ा है न। '**करि थिति पूरन आउ**' ऐसा शब्द है। अर्थात् आयुकर्म वर्तमान काल में सत्तारूप है। उसकी स्थिति पूर्ण करके फिर निरस कर्म के '**खिरवेकौ**' निरस कर्म—रस बिना के कर्म को झरने में जीव '**उद्यत भयौ**' अपने में उद्यम भयो। भाषा तो मानो ऐसी (है कि) उसे खिराने में उद्यम है।

मुमुक्षु : अपने भाव में उद्यम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

यह अपवास-बपवास करे और निर्जरा हो, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। ऐसे कहते हैं। समझ में आया? वैसे तो नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया और अनन्त बार ऐसी क्रिया की है। '**मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रैवेयक उपजायौ, आतम ज्ञान बीन लेश सुख न पायो**' छहढाला में आता है, छहढाला। मुनिव्रत धारण किया, पंच महाव्रत लिये, अट्ठाईस मूलगुण लिये। चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो क्रोध न करे, ऐसी क्षमा,

(परन्तु) आत्मा का भान नहीं। उस पुण्य की क्रिया को धर्म मानते थे। समझ में आया? आहाहा!

उससे भगवान भिन्न, सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने इन्द्रों और गणधरों के समक्ष दिव्यध्वनि द्वारा यह कहा हुआ है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव दिगम्बर सन्त संवत् ४९ में भरतक्षेत्र में हुए। भगवान के पास गये थे। सीमन्धर परमात्मा वर्तमान केवली विराजमान हैं तीर्थंकररूप से महाविदेहक्षेत्र में (विराजमान हैं)। उस समय भी थे। उसको २००० वर्ष हुए। अभी भी हैं और अरबों वर्ष अभी रहेंगे। आगामी चौबीसी में मोक्ष जायेंगे, यहाँ तेरहवें तीर्थंकर होंगे, तब मोक्ष जायेंगे। उनकी इतनी लम्बी स्थिति है। करोड़ पूर्व की स्थिति सीमन्धर भगवान की है। ऐ डालचन्दजी! करोड़ पूर्व किसको कहते हैं, खबर है? पैसे की खबर है घर में कितना है। खबर है या नहीं? करोड़ पूर्व किसको कहते हैं? भगवान जाने। भगवान तो जानते ही हैं न। भगवानदास जानता है? वह भी नहीं जानता हो। पैसे की खबर हो कि मेरे पास पचास, साठ लाख या सत्तर लाख है और लोग करोड़पति कहते हैं। भले कहे, परन्तु है तो इतने, ऐसा जाने। मन में और मन में जाने। ऐ सेठ! आहाहा!

करोड़ पूर्व की ऐसी स्थिति है। कही थी, बहुत बार (बात) आयी है। एक पूर्व में सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष चले जाते हैं, एक पूर्व में। कितने? सत्तर लाख करोड़। भगवान की आयुष्य की स्थिति इतनी है वहाँ। एक पूर्व में सत्तर लाख (छप्पन हजार) करोड़। एक करोड़, दो करोड़, हजार करोड़, ऐसा नहीं। सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़। इतने वर्ष का एक पूर्व होता है। ऐसे करोड़ पूर्व। इसमें क्या स्थिति लगती है, थोड़ी हुई। अनन्त काल (के सामने) इसकी स्थिति कितनी है! आहाहा! समझ में आया?

भगवान के पास गये थे कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में। आठ दिन वहाँ रहे थे। पश्चात् समयसार बनाया है। उसके कलश बनाये अमृतचन्द्राचार्य ने। अभी ९०० वर्ष पहले। कलश में से टीका बनायी राजमल टीका। एक राजमल हुए हैं। है न टीका! पाण्डे राजमल। है या नहीं सेठ तुम्हारे घर में? उसमें से ये शास्त्र बनाया है। राजमल

टीका। पाण्डे राजमल हुए हैं। हिन्दी में टीका बनायी है। यहाँ हजारों पुस्तकें हैं। यहाँ तो बहुत, साढ़े सात लाख पुस्तकें यहाँ से प्रकाशित हो गयी हैं।

राजमल टीका में से यह समयसार नाटक बनाया है। आगे आयेगा। यहाँ तो कहते हैं, '**जीवो उद्यमवत भयौ**' पण्डितजी! शब्दार्थ भले ऐसा हो, परन्तु यहाँ भावार्थ ऐसा है। तात्त्विक अर्थ यह। कर्म क्या है? कर्म तो परमाणु-जड़ है। उसका तो खिरने का—झरने का उसका समय था, परन्तु यहाँ आत्मा ने अपने स्वभाव-सन्मुख जागृत दशा में शुद्धता में विशेष शुद्धता प्रगट की, वह पुरुषार्थ आत्मा ने किया। पुण्य-पाप के विकल्प से हटकर निर्विकल्प चैतन्य भगवान आत्मा में उग्र पुरुषार्थ से अन्दर जम गया। उसका नाम जीव को अपने आत्मा में पुरुषार्थ किया तो कर्म खिरे, तो उसको निर्जरा कहा जाता है। समझ में आया? ऐसा स्वरूप है, भाई! आहाहा!

अरे! अनन्त बार मनुष्यपना मिला, अनन्त बार त्यागी हुआ, साधु हुआ। परन्तु तत्त्व क्या चीज़ क्या है, पता लिया नहीं। साधु... नौवें ग्रैवेयक... दिगम्बर साधु अनन्त बार हुआ। पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण परन्तु वह तो विकल्प है, आस्रव है। वह कहाँ संवर और धर्म था? समझ में आया? यहाँ तत्त्व क्या है, उसकी दृष्टि के बिना किंचित् भी निर्जरा और संवर उसको होता नहीं। कहते हैं कि वह तो '**खिरबेकौ उद्यत भयौ**' परमाणु सत्ता में से निकलने की तैयारी हो गयी। आत्मा अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में जुड़ गया। आहाहा!

चैतन्य नूर, अपने स्वभाव का पूर उसमें घुसकर विशेष शुद्धता प्रगट की, उसका नाम अपने जीव में पुरुषार्थ किया, (ऐसा) कहने में आता है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! महँगी बातें ऐसी लगे न! साधारण समाज के लिये बेचारे ऐसे के ऐसे भटक मरते हैं। ऐ लालचन्दजी! पैसेवाले को क्या हो? पैसा दान में दे तो धर्म हो, वे वहाँ रुक गये हों। शरीर के बलवाले वहाँ रुके हों कि उपवास-बपवास करना, व्रत करना। पैसे के बलवाले दान में धर्म माने, यह शरीर के बलवाले शरीर की क्रिया से धर्म माने और मन के बलवान क्षयोपशमवाले अकेला ज्ञान का जिन्हें उघाड़ हो, वे बातें करके धर्म माने। आहाहा!

अनादि आत्मा प्रभु चौरासी के अवतार में एक-एक (जीव योनि) में अनन्त-

अनन्त अवतार किये। भूल गया। भूल गया, इसलिए कहीं नहीं था? आहाहा! वह नरक की वेदना सुनी जाये नहीं। इसने भोगी और भगवान ने जानी। इतनी अनन्त बार नरक में गया है। पहले नरक में दस हजार वर्ष की स्थिति न्यूनतम, बड़ी (उत्कृष्ट) स्थिति (३३ सागर की), एक सागर की। एक सागर अभी कहा। एक सागर में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम जाते हैं और एक पल्योपम के असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष जाते हैं। वह करोड़ पूर्व कहा। पल्योपम के असंख्य भाग में ऐसे करोड़ पूर्व असंख्य जाते हैं।

मुमुक्षु : यह हिसाब गिनना कैसे?

पूज्य गुरुदेवश्री : गिनना पड़ेगा। यह तो वस्तु की स्थिति ऐसी है। आहाहा! ऐसे सातवें नरक में ३३ सागर (की स्थिति में) अनन्त बार गया। आत्मा का ज्ञान नहीं। सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, खबर नहीं। मान लिया कि हम जैन हैं, देव-गुरु-शास्त्र को मानते हैं, नौ तत्त्व को मानते हैं और उससे हम धर्मी हैं। धूल में भी धर्म नहीं है, सुन तो सही! वह तो विकल्प है, राग है। समझ में आया?

अनन्त-अनन्त बार नरक में, अनन्त बार पशु में। नरक से अनन्त बार असंख्यगुने अनन्त बार तो स्वर्ग में गया। नरक के (भव की) संख्या अनन्त, उससे असंख्यगुना अनन्त स्वर्ग के भव किये। जहाँ अकेला पुण्य का फल। आहाहा! दुनिया तो ऐसा मानती है कि यह अमर और अक्षरधाम बैकुण्ठ है, ऐसा माने। ऐसे ३१ सागर की स्थिति में अनन्त बार-अनन्त बार गया। परन्तु भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप, पुण्य-पाप के राग रहित की चीज़, उसे विकल्प के सहारे की अन्तर धर्म को आवश्यकता नहीं, ऐसी अन्तर अनुभव दृष्टि की नहीं। आहाहा! समझ में आया? उसे संख्या की आवश्यकता नहीं (कि) इतने अधिक माने तो सच्चा। वह तो सत्य है, वह सत्य है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा तीर्थंकरदेव अनन्त तीर्थंकर कह गये, भगवान वर्तमान में कहते हैं। तीर्थंकरदेव महाविदेह में विराजते हैं, लाखों केवली विराजते हैं। यह बात परमात्मा कहते हैं, इसे अन्तर में बैठी नहीं। कुछ न कुछ बचाव करके, यह ऐसे होता है, ऐसे होता है, कुछ ऐसे होता है न, सीधे चढ़ जाता होगा? सीधे इसे गिना जाता होगा? पहले एकड़ा घोंटना चाहिए, फलाना करके, ऐसा करके बचाव कर-करके मर गया...। समझ में आया? पण्डित!

'**खिरबेकौ उद्यत भयौ**' निर्जरा की व्याख्या तो ऐसी की है न, भाई! मोक्षमार्ग-प्रकाशक में, एकदेश बन्ध का अभाव। पण्डितजी! एकदेश बन्ध का अभाव। सर्वदेश बन्ध का अभाव, वह मुक्ति। एक अंश में भी बन्ध के अभावरूपी पवित्रता प्रगट होने पर एक अंश में वास्तव में बन्ध का अभाव हो, उसे निर्जरा-शुद्धता कहा जाता है। समझ में आया? थोड़ा परन्तु सत्य होना चाहिए। लम्बा और बड़ा-बड़ा पूंछड़ा लम्बावे और हो खोटा-खोटा गप्प ही गप्प। समझ में आया? आहाहा!

'**खिरबेकौ उद्यत भयौ, सो निर्जरा लखाउ**' उसे निर्जरा जानो। '**लखाउ**' अर्थात् जानो। अभी तो संवर, निर्जरातत्त्व किसे कहना, उसकी भी खबर नहीं होती और उसे धर्म हो जाये! अरे! भारी मार डाला जगत को। 'अनन्त काल से भटक रहा भान बिना भगवान सेवे नहीं गुरु सन्त को....' तत्त्व क्या है, ऐसा सन्तों ने जाना, यह बात इसे मिली नहीं। अभिमान में और अभिमान में हम भी जानते हैं और हमको आता है, ऐसा करके इसने अनन्त काल शास्त्र का ज्ञान भी अनन्त बार किया। वह कहीं चीज नहीं है। चीज़ तो भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द प्रभु आत्मा है, उसकी अन्तर में दृष्टि होकर अन्तर में स्थिरता होना, उसे यहाँ निर्जरा कहा जाता है। आहाहा! बाकी सब अपवास करके लंघन करके मर जाये तो भी जरा भी निर्जरा नहीं। ऐई! मार्ग ऐसा है। बैठे, न बैठे जगत का भाग्य। डालचन्दजी! आहाहा!

भगवान कहे, यहाँ कहीं मक्खन नहीं मेरे पास कुछ। पैसेवाले को धर्म होता है और गरीब को नहीं होता, ऐसा कुछ यहाँ नहीं है।

मुमुक्षु : पैसेवाला का धर्म तो होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी होता नहीं, अभिमान अधिक हो। परमात्मप्रकाश में योगीन्द्रदेव ने कहा। अब सुने तो सही। एक बार कहा था परमात्मप्रकाश है या नहीं? यह लाओ न। यहाँ शास्त्र हो तो... हमारे रामजीभाई कायदा (कानून) निकालकर जज को (राड) बुलाते थे। एक व्यक्ति कहे, भरी दोपहरी तारे बतावे। तब रामजीभाई ऐसे थे न! रामजीभाई का जमाना था उस समय।

मुमुक्षु : इसके लिये तो बड़ी काली चौकड़ी मारी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो होता है, परन्तु यह तो बाहर की बात है, इस अपेक्षा से है। वकील चिल्लाहट मचाते थे। रामजीभाई.... उसके पास २००० का दनियारो हो तो सामने रामजीभाई है। कितनी है यह? इसमें होगा सामने। पुण्य का फल वैभव। २०१, २०१ है। २०१ क्या होगा? पृष्ठ है।

योगीन्द्रदेव महा मुनि दिगम्बर सन्त जंगल में अतीन्द्रिय आनन्द में बसनेवाले, उन्होंने यह बनाया है। '**पुण्णेव होई विहवो**' पुण्य से वैभव मिले। यह पंचम काल के वैभव-पैसेवाले कैसे हैं, ऐसा वर्णन करते हैं। पुण्य से वैभव मिले, वैभव से मद चढ़े। यह ६०वीं गाथा है। (परमात्मप्रकाश अध्याय-२)। तिलोयपण्णत्ति में भी है। यह दूसरा अधिकार है। दो अधिकार हैं, तिलोयपण्णत्ति में है। लिखा है, सब लिखा है। तिलोयपण्णत्ति भाग दूसरा, पृष्ठ ८७९, गाथा ५२। तिलोयपण्णत्ति है न बड़ा ग्रन्थ। यह तो सब शास्त्र देखकर इसमें मिलाया हो और लिखा हो।

विभव से मद। '**मएण मइ मोहो**' मतिभ्रम हो जाये। मानो हम कुछ बड़े हैं, ऐसा। गरीबों को गिने नहीं। समझ में आया? देखो अर्थ। 'पुण्य से घर में वैभव, धन होता है और धन से अभिमान होता है और बुद्धि भ्रम हो जाती है। बुद्धि के भ्रम होने से अविवेक से पाप होता है।' इसलिए '**मइ-मोहेण य पावं तो पुण्णं अम्ह मा होउ**' आचार्य कहते हैं, ऐसा पुण्य हमारे न होवे। योगीन्द्रदेव दिगम्बर मुनि सन्त हैं।

मुमुक्षु : अभी की बात लेनी या?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह गृहस्थ के लिये कहते हैं। किसे कहते हैं? ऐई!

आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शनपूर्वक में शुभभाव आवे और पुण्य बँध जाये, उसमें उसे शुभभाव का आदर नहीं। इससे उसके फल के समय 'यह मेरे हैं', ऐसा अभिमान नहीं है। यह तो अज्ञानी के लिये बात करते हैं। समझ में आया? यह परमात्मप्रकाश शास्त्र है। 'ऐसा पुण्य हमारे न होवे।' ठीक। 'अज्ञानी जीव मिथ्यादृष्टि संसारी अज्ञानी जीव उसने पहले उपार्जन किये हुए भोगों की वांछारूप पुण्य... उसके फल से प्राप्त हुई घर में सम्पदा (होने से) अभिमान—घमण्ड होता है। अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है। बुद्धि भ्रष्टकर पाप कमाता है। पाप से भव-भव में अनन्त दु:ख पाता है। इसलिए ऐसी

मिथ्यादृष्टि का पुण्य, पाप का ही कारण है।' अर्थ किया दौलतरामजी ने। दौलतरामजी हैं न छहढाला के कर्ता। उन्होंने अर्थ किया। बहुत अच्छा अर्थ किया है। वाँचन हो गया है। यहाँ तो सब वाँचन हो गया है एक-एक (शास्त्र)।

कहते हैं... उसे निर्जरा कहते हैं, भाई! रजकण के और राग के अंश से प्रभु भिन्न है। यह रजकण है, वह अजीवतत्त्व है और पुण्य के-पाप के भाव, वह राग का अंश है। भगवान आत्मा तो राग के आस्रवतत्त्व और अजीवतत्त्व से भिन्न है। समझ में आया? ऐसा परमात्मा स्वयं चैतन्यमूर्ति, 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसे चैतन्यस्वरूप में अन्तर्दृष्टि के अनुभव में उपयोग उग्ररूप से शुद्धता प्रगट करे, उसे यहाँ निर्जरातत्त्व कहा जाता है। ऐसे भाव के कारण कर्म उसके कारण से गलकर खिर जाता है—खिर जाते हैं।

यह ३२। (अब) ३३। यह एक-एक तत्त्व की व्याख्या की है। बन्ध का वर्णन। ३३ है न! संवर में क्या कहा था कि अपना शुद्धस्वरूप के अनुभव की दृष्टि से शुद्ध उपयोग से नया कर्म नहीं आता। पुराना कर्म, अपने शुद्ध स्वभाव के अनुभव में अन्तर स्थिरता आनन्द द्वारा खिर जाता है। तो अब बन्ध कैसे होता है? यह नये-पुराने दोनों का इकट्ठा किया। ऐसा इनका कहना है। उस संवर में नये आते हुए रुके, निर्जरा में पुराने खिरे, तो यहाँ पुराने के साथ नये को जोड़ दिया, इसका नाम बन्ध। ऐसी शैली ली है। बहुत कवि भी जोरदार कवि!

★ ★ ★

काव्य - ३३

बन्ध[१] का वर्णन (दोहा)

जो नवकरम पुरानसौं, मिलैं गांठि दिढ़ होइ।
सकति बढ़ावै बंसकी, बंध पदारथ सोइ।।३३।।

१. बन्ध के नष्ट होने से मोक्ष अवस्था प्राप्त होती है। इससे यहाँ मोक्ष के पूर्व बन्ध तत्त्व का कथन किया है और आस्रव के निरोध पूर्वक संवर होता है। इसलिए संवर से पहिले आस्रव तत्त्व का कथन किया है।

शब्दार्थ:-गांठि=गाँठ। दिढ़ (दृढ़)=पक्की। सकति=शक्ति।

अर्थ :- जो नवीन कर्म पुराने कर्म से परस्पर मिलकर मजबूत बँध जाता है और कर्मशक्ति की परम्परा को बढ़ाता है, वह बन्ध पदार्थ है।।३३।।

काव्य-३३ पर प्रवचन

जो नवकरम पुरानसौं, मिलैं गांठि दिढ़ होइ।
सकति बढ़ावै बंसकी, बंध पदारथ सोइ।।३३।।

नीचे नोट है न! बन्ध का है न!

मुमुक्षु : मोक्ष के पहले कैसे आया? आगे क्यों नहीं आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस आस्रव में भी इन्होंने कहा है न वह, राग साम्परायिक क्रिया है, ऐसा। आया था आस्रव का अधिकार। 'योगों की राग सहित प्रवृत्ति होती है।' वह साम्परायिक क्रिया की अपेक्षा से बात की है। ऐसा नीचे लिखा है न, वह गौण है। यहाँ तो दो है।

बन्ध के नष्ट होने से... पुण्य-पाप का विकल्प जो है, वह भावबन्ध है और परमाणु जड़ है, वह द्रव्यबन्ध है। समझ में आया? भगवान अबन्धस्वरूप आत्मा। पुण्य-पाप के भाव हैं, वे भावबन्ध हैं, उसका नाश होना, उसका नाम मोक्ष अथवा निर्जरा है। यह तो जो शुभ-अशुभभाव होता है नया... **बन्ध के नष्ट होने से मोक्ष अवस्था प्राप्त होती है, इससे मोक्ष के पूर्व बन्धतत्त्व का कथन किया।** समयसार की शैली ही इसमें है। समयसार की शैली से ही यह वर्णन किया है। **आस्रव के निरोधपूर्वक संवर होता है।** पुण्य-पाप के विकल्प के रुकने से अपने आनन्दस्वरूप में संवर होता है। इसलिए संवर से पहले आस्रव तत्त्व का कथन किया है। नीचे, नीचे नोट में है। (२)

'**जो नवकरम पुरानसौं**' नये कर्म पुराने कर्म के साथ '**मिलै गांठि दिढ़ होइ**' आहाहा! यह रजकणों का कर्म का दल पक्का हो। स्वरूप के भान बिना मिथ्यादृष्टि को अपने चैतन्य की दृष्टि की खबर नहीं। उसके बिना मिथ्यादृष्टि को पुराने कर्म के साथ

नये कर्म '**मिलै गांठि दिढ़ होइ, सकति बढ़ावै बंसकी**' देखो! गाँठ पक्की शक्ति... है न? **नवीन कर्म पुराने कर्म से (परस्पर) मिलकर मजबूत बँध जाता है...** कर्म की शक्ति परम्परा से वंश बढ़ाती है। कर्म का वंश बढ़ाती है। निर्जरा में शुद्धता का वंश बढ़ता है। आहाहा! संवर में धर्म की शुरुआत हुई, निर्जरा में शुद्धता का वंश बढ़े, बन्ध में पुराने के साथ नये मिलकर कर्म का वंश बढ़ता है। आहाहा!

यह तो जिसे चार गति में से निकलना हो, चार गति दुःखरूप लगी हो, उसकी बात है। बाहर में कहीं भी मजा लगता हो, वह तो मिथ्यादृष्टि है। स्वर्ग में भी मजा मानता हो, वह मूढ़ है। सुख तो आत्मा में है। सुख कहीं लक्ष्मी में, शरीर में, स्वर्ग में, राजाई में, सेठाई में माने, वह मूढ़ है—मूढ़ है। अपने में आनन्द है (और) वह आनन्द पर में मानता है, वह तो मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसी चार गति के दुःख जिसको लगे, वह आत्मा की शोध में आवे। यह तो शक्ति बढ़ावे बन्ध की। वस्तु की खबर नहीं होती। पुण्य और पाप के भाव विकारी, अपना माने। शरीर लक्ष्मी आदि परद्रव्य भिन्न है, उसे भी अपना माने। ऐसा मिथ्यादृष्टि पुराने कर्म के साथ नये कर्म को मिलाकर पक्की गाँठ, गाँठ पक्की करता है। आहाहा! वीतराग का तत्त्व दूसरा है, भाई! सर्वज्ञ परमेश्वर का कथन कोई अलौकिक है। दुनिया के साथ कुछ मिलाना चाहेगा तो कुछ मिले, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

'**जो नवकरम पुरानसौं**' जिसकी आत्मा में दृष्टि नहीं, जिसकी दृष्टि पुण्य-पाप के विभाव में पड़ी छे—पड़ी है और जिसकी दृष्टि अजीव का संयोग मेरी चीज़ है, ऐसा मानती है। ऐसा जीव, पुराने कर्म तो पड़े ही हैं उसकी सत्ता में, नये मिथ्यात्व के कर्म पक्के होकर मिला देता है।

'**मिलैं गांठि दिढ़ होइ, सकति बढ़ावै बंसकी**' बन्ध की शक्ति और बन्ध का वंश बढ़ाने को है। कवि भी जोरदार हैं न! बन्धपदार्थ, देखो! यहाँ पदार्थ शब्द प्रयोग किया है यहाँ पर। उसमें तत्त्व प्रयोग किया था। यह तो तत्त्व कहो, द्रव्य कहो, सब बोल—नाम आयेंगे। पदार्थ कहो, तत्त्व कहो, द्रव्य कहो, भाव कहो, धन कहो—सब नाम आयेंगे। ऐसा नहीं कि और द्रव्य को तत्त्व नहीं कहना तथा तत्त्व को द्रव्य नहीं कहना,

ऐसा है ही नहीं। यह आयेगा ३५ में। ३५-३५। '**बंध पदारथ सोइ**' उपोद्‌घात ऐसा बाँधा है ऊपर। नौ पदार्थ का ज्ञान अनुभव के लिये कारण है। ऊपर उपोद्‌घात बाँधा है न २६ (पद) के ऊपर। नौ पदार्थ का ज्ञान अनुभव के लिये कारण है, उनका विवेचन किया जाता है। पाठ में तत्त्व... तत्त्व लिया, ऊपर पदार्थ लिया। पाठ में भी पदार्थ लिया और तत्त्व नाम लिया है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो शब्द चाहे जो हो... पद्य है न पद्य, पद्य में मिलान आवे न! कहो, यह बन्धतत्त्व इसको कहते हैं। भगवान आत्मा तो भावबन्ध और द्रव्यबन्ध से रहित है। भावबन्ध का अर्थ, शुभ-अशुभ विकल्प जो राग है, वह भावबन्ध है और कर्म का रजकण, वह द्रव्यबन्ध है। वस्तुरूप से प्रभु, द्रव्य और भावबन्ध से रहित है। ऐसी दृष्टि है नहीं और भावबन्ध से द्रव्यबन्ध सहित मैं हूँ, ऐसी मिथ्यादृष्टि की दृष्टि पुराने कर्म के साथ नये कर्म मिलाकर दृढ़ करते हैं। बराबर है? आहाहा!

उस बन्ध की व्याख्या यह है। पुरुषार्थसिद्धियुपाय में लिया है न? .....भगवान आत्मा... अमृतचन्द्राचार्य का ही है। आत्मा तो कर्म और कर्म के निमित्त से होनेवाला पुण्य-पाप का भाव, उससे रहित है। सहित मानना भव का बीज—मिथ्यात्व है। आहाहा! पुरुषार्थसिद्धियुपाय, अमृतचन्द्राचार्य (कृत)। भगवान आत्मा... यह १४वीं गाथा। आत्मा कर्म, शरीर, अजीव से तो रहित है और कर्म के निमित्त से सब होनेवाला पुण्य-पाप के विकल्प से भी रहित है। '**असमाहितोऽपि युक्त एव प्रतिभाति**' परन्तु उस राग से और शरीर से सहित हूँ—ऐसा भान, वह मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व संसार का बीज है, वह बन्ध का कारण है। उसको—अज्ञानी को बन्ध होता है, यह बात करते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ११, माघ शुक्ल १, बुधवार, दिनांक २७-१-१९७१
उत्थानिका, पद—३४, ३५, ३६

समयसार नाटक, उत्थानिका। ३४वाँ बोल (पद) है ३४। मोक्ष का वर्णन। मोक्षतत्त्व किसको कहते हैं?

★ ★ ★

काव्य - ३४

मोक्ष का वर्णन (दोहा)

थिति पूरन करि जो करम, खिरै बंधपद भानि।
हंस अंस उज्जल करै, मोक्ष तत्त्व सो जानि।।३४।।

शब्दार्थ:-भानि=नष्ट करके। हंस अंस=आत्मा के गुण।

अर्थ :- जो कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके बन्ध दशा को नष्ट कर लेता है और आत्मगुणों को निर्मल करता है, उसे मोक्ष पदार्थ जानो।।३४।।

काव्य-३४ पर प्रवचन

थिति पूरन करि जो करम, खिरै बंधपद भानि।
हंस अंस उज्जल करै, मोक्ष तत्त्व सो जानि।।३४।।

मोक्ष किसको कहते हैं कि कर्म की मर्यादा—स्थिति है, उसको पूर्ण करके जो कर्म खिरते हैं। खिरते हैं, '**बंधपद भानि**' बन्धभाव का नाश करके। पहले धर्म-निर्जरा में यह व्याख्या आई थी न? '**खिरबेकौ उधत भयो**' प्रथम धर्मदृष्टि में एक अंश—देशबन्ध—बन्ध का एक अंश नाश करते हैं। क्या अर्थ? आत्मा आनन्दस्वरूप अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा है। उसमें जो रागादि बन्धभाव है, उसका एकदेश—एक

अंश बन्ध का अभाव, उसका नाम निर्जरा अथवा धर्म है। समझ में आया? अगम्य बातें हैं। क्या कहा, समझ में आया या नहीं?

एक अंश बन्ध का अभाव, राग और मिथ्यात्व आदि भाव है, उसका एक अंश अभाव। सर्व अंश अभाव हो तो मुक्ति है। एक भाग का—अंश का अभाव। आत्मा तो अबन्धस्वरूपी भगवान आत्मा है। उसमें जितना राग और द्वेष, मिथ्यात्व है, वह बन्ध है, भावबन्ध। भावबन्ध में से एक अंश मिथ्यात्व का बन्ध का नाश और एक अंश राग-द्वेष का आंशिक नाश, ऐसी निर्मल परिणति अपनी वीतरागी अन्दर उत्पन्न हो, उसका नाम निर्जरा अथवा धर्म कहते हैं।

मुमुक्षु : एक अंश भी हो तो धर्म?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक अंश का नाश। सर्वथा अंश नाश हो तो मुक्ति होती है। समझ में आया? अरे, गजब बातें भाई! जगत को धर्म कैसे (हो इसकी खबर नहीं)। बाहर खोजकर मर गया तो भी कहीं नहीं मिला।

अन्तर स्वभाव में आनन्द और ज्ञान अनन्त-अनन्त धर्म से सम्पन्न प्रभु आत्मा है। परमात्मा ही है। नाम देंगे बाद में। ऐसा आत्मा स्वरूप शुद्ध आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का पिण्ड, उसमें जो राग-द्वेष का बन्धन—भावबन्धन है। यह राग-द्वेष आंशिक नाश होकर आत्मा की उज्ज्वल दशा—वीतरागी दशा प्रगट हो, उसका नाम संवर और निर्जरा धर्म कहते हैं। समझ में आया? '**थिति**' आवे वह मोक्ष? '**खिरै बंधपद भानि**' जो राग-द्वेष आदि कम्पन दोष है, वह सब नाश हो। बन्ध पद का नाश हो।

'**हंस अंस उज्जल करै**' हंस अर्थात् भगवान आत्मा... हंस क्षीर और नीर को भिन्न करने में (समर्थ है क्योंकि) हंस की चोंच में खटास है। समझ में आया? इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने निर्मल आनन्द के आश्रय से राग-द्वेष आदि का नाश होकर अपनी पर्याय में, **हंस** अर्थात् आत्मा की दशा में **अंस** अर्थात् उसकी दशा उज्ज्वल करता है। पूर्ण निर्मलदशा करे, उसका नाम मोक्ष कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : आठ कर्म का अभाव कहा जिसमें....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निमित्त की बात है।

'मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पावे सो पंथ; समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ' वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकर प्रभु ने, 'मोक्ष कहा निज शुद्धता...' अपनी वीतरागी परिणति निर्मल पूर्ण अनन्त ज्ञान की हो, उसका नाम मोक्ष कहा। अपनी पर्याय में पूर्ण शुद्धता हो, उसका नाम मोक्ष। अपूर्ण शुद्धता हो, उसका नाम साधक और समकिती और संवर-निर्जरा। समझ में आया? अरे! इसने अपने निज घर में क्या है, उसकी कभी सम्हाल ली नहीं और बाहर में सिरपच्ची करके मर गया। समझ में आया? भगवान आत्मा, उसका सारा असंख्य प्रदेश निर्मल आनन्दघन, उसमें से बन्ध अर्थात् राग-द्वेष के भाव का अभाव होकर वीतरागी पर्याय पूर्ण केवलज्ञान होना, उसका नाम **'हंस अंस उज्जल करै।'**

आत्मा अपनी पर्याय में उज्ज्वलता पूर्ण प्रगट करे, उसका नाम मोक्ष कहा जाता है। आहाहा! पण्डितजी!

मुमुक्षु : कर्म है, वह क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं, '**बंध भानि**' यह उसका अर्थ है। कर्म, वह विकार कर्म है न? विकारी कर्म है न, वह भी भावकर्म है, भावकर्म है। उस भावकर्म का आंशिक नाश और भाव शुद्धभाव का आंशिक प्रगट (होना), उसका नाम धर्म, साधकपना, सम्यग्दर्शन आदि। और पूर्ण राग-द्वेष का अभाव और पूर्ण आत्मा की पर्याय की निर्मलता, उसका नाम मोक्ष। आहाहा! बात तो ऐसी है, भाई!

मोक्षतत्त्व तू जान। कहा न? इसको तू मोक्षतत्त्व जान। '**हंस अंस उज्जल करै**'— परमात्मा स्वयं निजस्वरूप में अनन्त पर्याय की निर्मलता अन्दर दशा प्रगट करे, उसका नाम मोक्ष जान। समझ में आया? अरे.. अरे! मोक्ष अर्थात् जहाँ सिद्ध होकर ऊपर जाकर लटकना, वह मोक्ष नहीं। अपनी निर्मल पर्याय, मलिन पर्याय का नाश होकर निर्मल पर्याय की पूर्ण प्राप्ति, उसका नाम मोक्ष। आहाहा! यह मोक्षतत्त्व की व्याख्या हुई। अपना निजस्वरूप मुक्तस्वरूप ही है। वस्तु जो आत्मा है, आत्मा द्रव्य; द्रव्य अर्थात् वस्तु, वह तो मुक्तस्वरूप है। पर्याय में—हालत में—दशा में अज्ञान और राग-द्वेष है, उसका अभाव करके ज्ञान और वीतरागता पूर्ण प्रगट करना, उसका नाम मोक्ष है। बात तो यह है।

अरे! एक भी बात की खबर नहीं और इसे धर्म हो जाये। अनादि से भ्रम में इसने अनन्त काल व्यतीत किया। अनन्त-अनन्त बार स्वर्ग का देव हुआ, अनन्त बार अरबोंपति राजा हुआ, अनन्त बार रंक (हुआ)। सौ बार माँगे और एक ग्रास मिले, ऐसा भिखारी अनन्त (बार) हुआ। वह कोई नयी चीज़ (नहीं)। अपना आत्मा आनन्द का धाम भगवान, उसका ज्ञायकभाव में घुसना और राग से, पुण्य से हटना—ऐसी बात कभी उसने एक समय भी की नहीं। आहाहा! यह कहते हैं। भगवान आत्मा पूर्ण निर्मल चिद्‌कन्द है। चिद् अर्थात् ज्ञान का कन्द है। उसकी दशा में मिथ्यात्व और राग-द्वेष का नाश होकर... मिथ्यात्व का सम्पूर्ण नाश, राग-द्वेष का आंशिक नाश—ऐसी आत्मा की निर्मलदशा, अरागी—वीतरागी निर्विकल्प वस्तु आत्मा में निर्विकल्पदशा प्रगट करना, उसका नाम धर्म और (वह) मुक्ति का कारण है। समझ में आया? आहाहा!

समाधिशतक में तो पूज्यपादस्वामी कहते हैं। पूज्यपादस्वामी हैं न? समाधिशतक। 'मैं दूसरे को समझाऊँ' ऐसा विकल्प उन्माद है। समझ में आया?

मुमुक्षु : उन्माद कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्माद। राग है न? किसको समझाऊँ? वह चैतन्य निजपिण्ड है। दिखता है, वह तो समझता नहीं। न दिखे उसको समझाना। समाधिशतक है न! पूज्यपादस्वामी। (जिन्होंने) 'सर्वार्थसिद्धि वचनिका' लिखी है। क्योंकि आत्मा तो राग अर्थात् विकल्प से रहित स्वरूप ही उसका है। वह तो निर्विकल्प प्रभु आत्मा है। पर विकल्प उठते हैं कि मैं दूसरे को समझाऊँ, मैं समझानेवाले से समझूँ—दोनों ही विकल्प को आचार्य भगवान उन्माद कहते हैं। आहाहा!

क्योंकि आत्मा में वाणी तो है नहीं। वाणी तो जड़ की निपज (उपज) कहा है और विकल्प उठते हैं, वह तो राग है, विकार है। आहाहा! राग कहाँ समझता है और राग कहाँ समझाता है? आहाहा! मार्ग ऐसा है भगवान! निर्विकल्प चैतन्यबिम्ब यह तो है, जिसमें समझाने का विकल्प अथवा दया, दान, व्रत के विकल्प की गन्ध नहीं जिसमें, ऐसी वह चीज़ है। उस चीज़ में जो राग-द्वेष आदि से एकत्व होकर मलिनता हुई है, उसको भिन्न करके अपनी निर्मलता प्रगट करना, वह प्रथम संवर और निर्जरा और धर्म है। लाख बात कहे दुनिया चाहे जो।

यह छहढाला में आता है। भाई... 'लाख बात की बात निश्चय उर आणो...' पण्डित दौलतराम। वह छहढाला है न, छहढाला। अपने नवनीतभाई को कण्ठस्थ है। नवनीतभाई अभी गये न। दो महीने रह गये। उनको सारी कण्ठस्थ है, बहुत वर्ष से। उपाधि—धन्धा तो बहुत है। मशीन है ढाई करोड़ की।

मुमुक्षु : पावर हाउस।

पूज्य गुरुदेवश्री : पावर हाउस लो, तुम्हारी भाषा में।

मुमुक्षु : इलेक्ट्रिक पावर।

पूज्य गुरुदेवश्री : इलेक्ट्रिक पावर हाउस। (उनको) छहढाला कितने वर्ष से कण्ठस्थ है। नवनीतभाई अभी दो दिन पहले गये, हों! भोपाल जाना है पंचमी को। उसमें है। वह तुरन्त बोले। 'लाख बात की बात निश्चय उर आणो...' तेरी करोड़ बात और अनन्त बात कर। परन्तु भगवान आत्मा पूर्णानन्द निर्लेप—पुण्य और पाप के राग से रहित भगवान की अन्तर्दृष्टि करना और निर्मलता प्रगट करना, उसका नाम धर्म और मोक्ष का मार्ग है। बाकी सब बातें हैं। समझ में आया?

और पूर्ण निर्मल अंश... वह किसको कहते हैं? कि दूध और पानी इकट्ठा हो, चोंच डाले तो भिन्न हो जाये। दूध की लच्छी हो जाये, पानी निकल जाये। इसी प्रकार भगवान हंस, तो पुण्य-पाप के विकल्प वह पानी—जल समान है। ऐसे भगवान आत्मा ज्ञानानन्द है। उस ज्ञानानन्द में एकाकार होकर राग-द्वेष का जल निकल जाता है, उसका नाम धर्म है। उस धर्म करनेवाले आत्मा को हंस कहते हैं। हंस कहा न, हंस! हंस और परमहंस होता है न! वे सब नाम हैं। भाव समझे बिना हंस और परमहंस कहाँ से आये? '**हंस अंस उज्जल करै, मोक्ष तत्त्व सो जानि।**' लो, यह तत्त्व का नाम हुआ।

अब वस्तु का नाम कहते हैं। पदार्थ है न छह द्रव्य? भगवान तीर्थंकर परमात्मा ने केवलज्ञान में एक समय में त्रिकाल देखा, उसमें छह द्रव्य भगवान ने देखे। छह द्रव्य—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। संख्या से अनन्त, जाति से छह। तो इन (छह) द्रव्यों को इस नाम से कहा जाता है, यह बात कहते हैं। नाटक बनाना है न! नाटक में जो पहले खेल आवे न तब भाई, पहले बता दे कि यह आनेवाला

है। समझ में आया? अथवा यह पात्र आनेवाला है, ऐसा नाटक में बताते हैं न?

मुमुक्षु : प्रवेश पहला।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रवेश पहला। फलाना यह। सब देखा है न! हमने तो नाटक बराबर देखा है।

बडोदरा में बड़ा थियेटर भी देखा है। वह माल लेने जाते थे तो निवृत्ति हो रात्रि को... तभी वैराग्य के नाटक थे। अभी तो सब गन्दगी फिल्म-फिल्म...

मुमुक्षु : देश बहुत आगे बढ़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आगे बढ़ा है या पीछे घट गया है? नीति का ठिकाना नहीं होता। आहाहा! अराजकता, अनीति। उस समय नाटक वैराग्यवाले, बहुत वैराग्य! समझ में आया? वह क्या था? हंसला...

मुमुक्षु : ऐसा तत्त्व कहाँ था?

पूज्य गुरुदेवश्री : अब तत्त्व नहीं था, परन्तु उनकी लौकिक नीति बहुत साधारण थी। ऐसी यह अनीति हो गयी। काला बाजार, झूठा, धर्म के नाम से झगड़ा। सेठ! पचास वर्ष पहले हमने देखा है... साठ वर्ष पहले की चीज़। ओहोहो! कितना नैतिक जीवन था। धर्म, धर्म की तो खबर नहीं। धर्म किसे कहते हैं, यह सुना ही नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि नाटक करते हैं न, तो उसमें पहले प्रवेश में पात्र बताते हैं। इसी प्रकार यह पहले प्रवेश में पात्र बताते हैं। नाटक हमें बताना है आत्मा का, तो प्रवेश में पात्र का नाम क्या-क्या है। **वस्तु के नाम।**

★ ★ ★

काव्य - ३५

वस्तु के नाम (दोहा)

भाव पदारथ समय धन, तत्त्व वित्त वसु दर्व।
द्रविन अरथ इत्यादि बहु, वस्तु नाम ये सर्व।।३५।।

अर्थ :– भाव, पदार्थ, समय, धन, तत्त्व, वित्त, वसु, द्रव्य, द्रविण, अर्थ आदि सब वस्तु के नाम हैं।।३५।।

काव्य-३५ पर प्रवचन

यहाँ छह द्रव्य है न छह द्रव्य, उसको वस्तु कहते हैं। वस्तु क्यों कहते हैं? कि पदार्थ है उसमें अनन्त गुण बसते हैं तो उसको वस्तु कहते हैं। कोई भी आत्मा हो, परमाणु हो, उस वस्तु में अनन्त गुण बसते हैं, इसलिए वस्तु कहते हैं। यह गोम्मटसार में है श्लोक। गोम्मटसार में। पुस्तक ली है या नहीं? वस्तु के नाम। छह द्रव्य हैं न, छह द्रव्य। अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति और एक आकाश। भगवान ने छह (द्रव्य) देखे हैं। एक (द्रव्य) का नाम भगवान ने इतने प्रकार का कहा, विशेष-विशेष नाम बहुत हैं।

वस्तु को '**भाव**' भी कहते हैं, देखो! '**भाव**'... '**नमः समयसाराय**' आता है न! '**स्वानुभूत्या चकासते, चित्स्वभावाय भावाय...**' भाव (अर्थात्) यहाँ द्रव्य का अर्थ किया है पहले श्लोक में। अभी आगे आयेगा। '**भावाय।**' अमृतचन्द्राचार्य। '**भावाय।**' भगवान आत्मा भावस्वरूप है, शुद्ध आनन्द और ज्ञान ऐसे भावस्वरूप है। तो पदार्थ को भाव भी कहने में आता है। '**पदारथ**'—पदार्थ कहते हैं। आत्मा को, परमाणु को, छह द्रव्य को पदार्थ भी कहते हैं और पदार्थ को '**समय**' भी कहते हैं। **सम+अय।** सम्यक् प्रकार से अपने में परिणमन करनेवाला, ऐसे छह द्रव्य को समय भी कहते हैं। **सम+अय।** प्रत्येक पदार्थ अपने में सम्यक् प्रकार से परिणमन करता है, उसको 'समय' कहा जाता है।

आत्मा, आत्मा अपने में परिणमन करता है; जड़, जड़ में परिणमन करता है।

जड़ का परिणमन आत्मा से नहीं होता, आत्मा का परिणमन जड़ से नहीं होता। उसको समय कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ.... यह एक पॉईन्ट है। यह (स्कन्ध) कोई मूल चीज़ नहीं है। यह (शरीर) तो अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है। उसका टुकड़ा करते... करते... करते... अन्तिम पॉईन्ट रहे, उसको परमात्मा तीर्थंकरदेव परमाणु कहते हैं। उस परमाणु को समय कहते हैं। क्योंकि परमाणु अपनी पर्याय से—अवस्था से परिणमन करता है, आत्मा से नहीं। समझ में आया? देखो! अँगुली चलती है, वह आत्मा से नहीं।

मुमुक्षु : अपने आप से।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने आप से हिलती है, उसको समय कहते हैं।

अपने से परमाणु परिणमन करते हैं। मूढ़ लोग ऐसा मानते हैं कि हमसे हाथ चलता है। बीड़ी बाँधते हैं या नहीं यह तुम्हारे वे सब... ? डालचन्दजी! चिमुर में वह क्या कहते हैं भाई? ऑपरेट... क्या कहलाता है वह? चिमूर कहलाता है, क्या कहलाता है? एक छोटा पान।

मुमुक्षु : आप्टा।

पूज्य गुरुदेवश्री : आप्टा। आप्टा, आप्टा होता है न! सब देखा है न हमने तो सब। हमारी दुकान में बहुत लाखों... आप्टा, आप्टा नहीं होता? इतना छोटा पत्ता, छोटा पत्ता।

मुमुक्षु : आप्टा को कटळा बोलते हैं हमारे में।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो छोटा पत्ता आता है।

मुमुक्षु : डबल पत्ता रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो-तीन-चार पत्ते की बीड़ी होती है। वह चिमुर में एक पत्ते की बीड़ी होती है। हमारे चिमुर बहुत आते थे, खबर है।

यहाँ कहते हैं कि 'समय' कहते हैं सर्व द्रव्य को। आत्मा को भी 'समय' कहते हैं, परमाणु को भी 'समय' कहते हैं। क्योंकि आत्मा अपने से... **सम+अय** दो शब्द हैं 'समय' में। अपने से परिणमन करता है। अशुद्ध परिणमन करो या शुद्ध करो, परन्तु अपने से है। पर से बिल्कुल नहीं है। समझ में आया? ऐसे एक-एक परमाणु... बीड़ी

बाँधते हैं तो उसके कारण से है। बीड़ी बाँधने का विकल्प है तो बीड़ी ऐसे होती है, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। डालचन्दजी!

मुमुक्षु : अपना परिणाम....

पूज्य गुरुदेवश्री : .... यह बीड़ी एक स्थान से दूसरे स्थान तुम्हारे ले जाते हैं न? क्या कहलाता है?

मुमुक्षु : जीप गाड़ी में।

पूज्य गुरुदेवश्री : जीप... जीप। जीव में ले जाते हैं या नहीं?

मुमुक्षु : वह तो घर की गाड़ी में ले जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी ले जाते नहीं।

यहाँ तो कहते हैं, एक-एक परमाणु अपने से परिणमन समय-समय में करता है। इस बात से भगवान उसको 'समय' कहते हैं। समझ में आया? तत्त्व की खबर नहीं, क्या .... है और कैसे होता है? भगवान कहते हैं कि प्रत्येक को हम 'समय' कहते हैं, पदार्थ कहते हैं, भाव कहते हैं। और वस्तु को '**धन**' कहते हैं। देखो अब! आहाहा! उसकी मालिकी की चीज़ है न! परमाणु, परमाणु की मालिकी की चीज़ है। आत्मा, आत्मा की मालिकी की चीज़ है। तो वस्तु को धन कहते हैं। पैसा धन है, वह तो रजकण, रजकण को धन कहते हैं, उसकी चीज़। (वह) आत्मा का धन नहीं। यह तो छहों द्रव्यों को धन कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

विष्टा का एक रजकण है पॉईन्ट, उसको भी धन कहते हैं। क्योंकि अपनी चीज़ अपने से रहती है। अपनी लक्ष्मी, अपने धन की लक्ष्मी अपने से है। इस कारण से द्रव्य को धन कहा जाता है। लक्ष्मी को ही धन कहते हैं, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। धन शब्द है न! छहों द्रव्यों को धन कहते हैं, छहों को। जीवास्तिकाय, अजीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल—छह द्रव्य। संख्या से अनन्त। सबको भगवान धन नाम से कहते हैं। उसका (अपना) धन उसके (अपने) पास है। आहाहा! यह (अज्ञानी) धनी हो जाता है किसी का। पैसा है, यह हमारा है? देता है तो कौन देता है पैसा?

आया है, अभी समाचारपत्र में आया था। अभी दो-तीन दिन पहले समाचारपत्र

देखा था। भगवानदास ने २२ हजार दिये। सागर। क्या कहलाये तुम्हारा ? सागर। यह तो समाचारपत्र में आया। यहाँ तो जैन का समाचारपत्र हो न, उसमें आया था जैन में। कोई लाया था। अपने को कुछ खबर नहीं। दो-चार दिन में वह आता है। वह दिया है और मनोहरलालजी को प्रार्थना की है कि तुम अब यहाँ रहो। एक बात आयी थी। यहाँ तो पढ़ी थी....

मुमुक्षु : समाचारपत्र में आया....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहो, समझ में आया ? कुछ गुप्त नहीं रहती अब तो बात, एक बात हो तो चारों दिशा में चली जाती है।

धन कहते हैं धन। आहाहा! किसको ? परमाणु को धन कहते हैं, आत्मा को धन कहते हैं, काल को धन कहते हैं, धर्मास्तिकाय को धन कहते हैं। धर्मास्तिकाय तत्त्व है न एक। चौदह ब्रह्माण्ड को... जीव गति करते हैं, उसमें निमित्त है धर्मास्तिकाय अरूपी, उसको भी धन कहते हैं।

'**तत्त्व**' कहते हैं, लो। छहों द्रव्यों को तत्त्व कहते हैं। कोई कहे कि भाई, तत्त्व को द्रव्य नहीं कहना और द्रव्य को तत्त्व नहीं कहना। द्रव्य अलग चीज़ है और तत्त्व अलग चीज़ है। यहाँ तो कहे कि एक ही चीज़ है। आहाहा! समझ में आया ? तत्त्व को द्रव्य भी कहो और द्रव्य को तत्त्व भी कहो। आहाहा! सब आ जाता है। छहों द्रव्य, छहों द्रव्यों को तत्त्व कहते हैं। उसका तत्त्व है न, उसका सत्त्व है न, उसका भाव है न! '**वित्त**' कहते हैं, लो दूसरा पैसा। वित्त—पैसा। अपनी-अपनी लक्ष्मी अपने में सब है तो उसको सबको वित्त कहते हैं।

मुमुक्षु : पैसे को....

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे को नहीं, सब द्रव्य को। आत्मा भी वित्त है, परमाणु भी वित्त है, धर्मास्ति भी वित्त है। छहों द्रव्य के नाम हैं न!

'**वसु**'। 'वसु बिना का नर पशु' ऐसा कहते हैं न लोग। वहाँ तो वसु का अर्थ पैसा है, परन्तु यह तो वसु तो छहों द्रव्यों को कहते हैं। आत्मा को वसु कहते हैं, परमाणु को वसु कहते हैं, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल को भी वसु कहते हैं। क्योंकि

अपनी लक्ष्मी अपने में रहती है। पर को देते नहीं और पर से कुछ लेते नहीं। आहाहा!

'**द्रव्य**' कहते हैं, लो। द्रव्य तो कहते हैं न! सिद्ध-प्रसिद्ध है छह द्रव्य। छह द्रव्य कहते हैं न! वह तो प्रसिद्ध है वीतरागमार्ग में। छह द्रव्य। गुण और पर्याय के समुदाय को द्रव्य (कहते हैं)। यह तो आता है उसमें। द्रव्य किसे कहते हैं? आवे न। गुण के पुंज को द्रव्य कहते हैं। उसमें आता है, क्या कहलाता है? सिद्धान्त प्रवेशिका। आता है या नहीं ऐई तुझे? नहीं आता? सीखा नहीं? द्रव्य किसे कहते हैं? प्रश्नोत्तरी में आता है। यह व्याख्या बहुत आती है सबको। गुण के पुंज को द्रव्य कहते हैं। तो परमाणु भी गुण का पुंज है, आत्मा भी गुण का पुंज है। धर्मास्ति भी गुण का पुंज है तो उसको द्रव्य कहते हैं। आहाहा! द्रव्य अर्थात् पैसा, ऐसा नहीं अकेला। समझ में आया?

वहाँ है न, 'द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि।'

मुमुक्षु : पैसादृष्टि....

पूज्य गुरुदेवश्री : समझे न तुम बराबर। 'द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि।' बड़ा अक्षर है। तो कोई ऐसा पूछता था यहाँ कि यह द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि क्या? श्वेताम्बर जैन था। पहले यहाँ था पाटिया, यहाँ था। बाहर बैठे थे। बहुत वर्ष की बात है। यह 'दृव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि' क्या? यहाँ बहुत करोड़पति आते हैं, बहुत लखपति आते हैं तो वह द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि? कुछ खबर नहीं होती। लोगों को वाड़ा में जन्में, तो मजदूरी कर-करके मर जाये बेचारे? यह राग-द्वेष की मजदूरी। राग-द्वेष की मजदूरी, हों! बाहर की तो कर सकते नहीं। संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष मजदूरी करके मर जाये। आहाहा!

क्या आत्मा है? धर्म कैसा होता है? अधर्म कैसे? कुछ खबर नहीं। बाहर के क्रियाकलाप में पड़े हैं। पूछे कि यह क्या द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि? यहाँ कहाँ से आया? बराबर यह गृहस्थ लोगों के लिये? अरे! यह नहीं होता। अरे भाई! क्या कहते हो यह? द्रव्यदृष्टि अर्थात् वस्तु जो आत्मा है द्रव्य त्रिकाली अनन्त गुण का पुंज प्रभु, ऐसे द्रव्य की अन्तर्दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दृष्टि है। अब यह लक्ष्मीवाले सम्यग्दृष्टि हैं, यह किसने कहा? आहाहा! धूल भी करना हो ऐसा हो। हो ऐसा हो या न हो, ऐसा हो? (**मुमुक्षु :** हो वैसा हो।)

'द्रव्य' आत्मा को द्रव्य कहते हैं। त्रिकाली वस्तु अभेद अखण्ड एकरूप उसकी अन्तर्दृष्टि करके राग, एक समय की पर्याय की रुचि छोड़ना और द्रव्य त्रिकाली अभेद के अनुभव की दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। यहाँ द्रव्य, छहों द्रव्य को कहते हैं। आहाहा! छहों द्रव्य को द्रव्य कहते हैं।

'द्रविन'... यह धन के अर्थ में आता है। **'द्रविन'...** द्रविन शब्द है न। द्रविन अपने आया है १९३। १९३, प्रवचनसार। १९३ गाथा में आया है। **देहा वा दविणा...** १९३ गाथा प्रवचनसार में आया है। देह और द्रविण सब—सब अध्रुव है। समझ में आया? देह और द्रविण अर्थात् लक्ष्मी, सब अध्रुव है, नाशवान चीज़ है, अपनी नहीं। ध्रुव तो अपना आत्मा अखण्डानन्द प्रभु शाश्वत् अविनाशी रहनेवाली चीज़, वही ध्रुव है। एक समय की पर्याय भी ध्रुव नहीं। आहाहा! क्या करे? एक समय की उसकी दशा है न, दशा-पर्याय, वह भी ध्रुव नहीं। वह तो समय-समय में उत्पन्न होती है और जाती है, होती है और जाती है। अब वह लक्ष्मी तो कहीं रह गयी, वह तो बाहर रह गये। शरीर भी कहाँ है, वह तो बाहर है, वह तो जड़ है। आहाहा! कहते हैं कि **द्रविन...** छहों द्रव्यों को द्रविन अर्थात् लक्ष्मी कहने में आता है।

अरथ... छहों द्रव्यों को अर्थ कहते हैं। पदार्थ। उसमें आया न पद। पद अर्थात् वाक्य और उसका अर्थ—पदार्थ, ऐसा। वाचक का वाक्य वह पदार्थ। जैसे शक्कर, वह वाचक, उसका पदार्थ वह वाच्य, वह पदार्थ। ऐसे पदार्थ कहा था। यहाँ अर्थ कहा। छहों द्रव्यों को अर्थ कहा जाता है। आत्मा अर्थ है, परमाणु अर्थ है, धर्मास्ति अर्थ है। **इत्यादि बहु...** लो। **वस्तु नाम ये सर्व...** ये सब वस्तु के नाम हैं। अब प्रवेश बताते हैं प्रवेश। नाटक बाद में कहेंगे आत्मा का। इतने-इतने द्रव्य के नाम। ऐसे कोई भी नाम आवे तो समझ लेना कि द्रव्य का नाम है।

अब **शुद्धजीव द्रव्य के नाम...** लो। शुद्ध जीवद्रव्य भगवान आत्मा। विकार नहीं, संयोग नहीं। जैसी अन्दर चीज़ है, शुद्ध परमात्मस्वरूप निज परमात्मा अपना—निज आत्मा शुद्ध द्रव्य, उसका क्या नाम है, वह कहते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ३६

शुद्ध जीवद्रव्य के नाम (सवैया इकतीसा)

परमपुरुष परमेसुर परमज्योति,
परब्रह्म पूरन परम परधान है।
अनादि अनंत अविगत अविनाशी अज,
निरदुंद मुकत मुकुंद अमलान है।।
निराबाध निगम निरंजन निरविकार,
निराकार संसारसिरोमनि सुजान है।
सरवदरसी सरवज्ञ सिद्ध स्वामी सिव,
धनी नाथ ईस जगदीस भगवान है।।३६।।

अर्थ :– परमपुरुष, परमेश्वर, परमज्योति, परब्रह्म, पूर्ण, परम, प्रधान, अनादि, अनन्त, अव्यक्त, अविनाशी, अज, निर्द्वन्द्व, मुक्त, मुकुन्द, अमलान, निराबाध, निगम, निरंजन, निर्विकार, निराकार, संसार–शिरोमणि, सुज्ञान, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सिद्ध, स्वामी, शिव, धनी, नाथ, ईश, जगदीश, भगवान–ये सब शुद्ध जीवद्रव्य के नाम हैं।।३६।।

काव्य–३६ पर प्रवचन

परमपुरुष परमेसुर परमज्योति,
परब्रह्म पूरन परम परधान है।
परमपुरुष परमेसुर परमज्योति,
परब्रह्म पूरन परम परधान है।

आहाहा! अब यहाँ शुद्ध जीवद्रव्य के नाम कहते हैं। भगवान! ऐसा नहीं, रागवाला और हम तो पामर प्राणी हैं न, भाई! अरे! सुन न अब। पामर कैसा? पामर तो वह मिथ्या मान्यता को उधार लिया है, वह पामरता तेरी चीज़ (नहीं है)। आहाहा! हम

तो पामर हैं भैया। आहाहा! यह तो पर्याय में मिथ्या बुद्धिवाले पामर मानते हैं, अज्ञानी। अपना द्रव्य पामर है (नहीं)। समझ में आया?

परमपुरुष... भगवान आत्मा को परमपुरुष कहते हैं। पुरुष शब्द से यह शरीर ऐसा नहीं। परमपुरुष अर्थात् परम आत्मा। समझ में आया? स्त्री का शरीर हो, परन्तु आत्मा तो परमपुरुष है। शुद्धद्रव्य तो परमपुरुष ही है। जो दृष्टि का विषय—सम्यग्दर्शन का ध्येय उस परमपुरुष भगवान आत्मा को भगवान कहते हैं।

परमेश्वर... लो, आत्मा को परमेश्वर कहते हैं। शुद्ध जीववस्तु है, वह तो परमेश्वर ही है। निर्मलदशा हो गयी, वह तो परमेश्वर है ही, परन्तु शुद्धवस्तु ही परमेश्वर है अपना। आहाहा! अपना कोई दूसरा परमेश्वर है नहीं। आहाहा! कठिन भाई! अरे! हम परमेश्वर? हाँ, परमेश्वर तो परमात्मा तीर्थंकर हो गये। भाई! तीर्थंकर तो परमात्मा पर्याय से परमात्मा-दशा से परमात्मा हुए। परन्तु तेरा स्वभाव तो परमात्मा त्रिकाल है। आहाहा! परमेश्वर स्वभाव न हो तो परमेश्वरता पर्याय में आयेगी कहाँ से? कहाँ से आयेगी? आहाहा!

पीपर में चौंसठ पहरी चरपराहट रस पड़ा है। पीपर—छोटीपीपर। अन्दर चरपरा—तीखा अर्थात् चरपरा रस पड़ा है, तो घोंटने से प्रगट होता है। है, उसमें से आता है या बाहर से आता है? ६४, घोंटते हैं न चौंसठ पहर? चौंसठ पहर कहते हैं न? चौंसठ पहर। चौंसठ पहरी तीखाश—चरपराई रस कहाँ से आयी? पत्थर में से आयी? कोयला घोंटे न कोयला। वह चौंसठ पहरी कहाँ से आयी? कंकड़ घिस डाले न! कहाँ से आयी? है नहीं, उसमें कहाँ से आती है? अन्दर में पीपर में पड़ी है चौंसठ पहरी। चरपराई पूरी भरी है। कद में छोटी, रंग में काली, रस से चौंसठ पहरी है। छोटी पीपर। चौंसठ पहरी अन्दर है। चौंसठ पहरी अर्थात् रुपया। वह तो अब सौ पैसे का रुपया हो गया न! चौंसठ-चौंसठ पैसे का रुपये (पहले होता था)। चौंसठ पहर कहो या रुपया कहो या सोलह आना कहो।

इसी प्रकार आत्मा में... जैसे पीपर में चौंसठ पहरी—रुपया-रुपया चरपराई पूरी पड़ी है, उसी प्रकार आत्मा में पूरा-पूरा परमेश्वर पद पड़ा है। आहाहा! रंक होकर राग

में रौंद डाला है रत्न को। आहाहा! रागी हूँ और द्वेषी हूँ और विकल्प की दृष्टि की। निर्विकल्प भगवान आत्मा परमेश्वर पद में पड़ा है, उसको—यहाँ आत्मा को ही परमेश्वर—परमात्मा कहते हैं। पर्याय जो अवस्था है, उसमें मिथ्यात्व और अज्ञान हो। इससे कहीं वस्तु परमेश्वरपना छूट जाता है अन्दर में? पीपर में चौंसठ पहरी चरपराई है और बाहर में काली है और अल्प चरपराई है। तो कोई चौंसठ पहरी चरपराई चली जाती है? समझ में आया? इसी प्रकार भगवान आत्मा परमेश्वर हैं। सब अनन्त आत्मायें द्रव्यरूप से तो परमेश्वर ही है।

परम ज्योति... परम चैतन्य का नूर का पूर है वह तो। आहाहा! कहाँ होगा? यह भगवान तो चैतन्य की ज्योति है। चैतन्य के प्रकाश की अनन्त ज्योति है। आहाहा! एक समय में विकार है, वह संसार है। वह दृष्टि छोड़ दे। तेरी चीज़ तो परमज्योति से भरी है ऐसी। चैतन्य ज्योति हो, वह तेरी लक्ष्मी और वह तेरी ज्योति और वह तेरा गाँव और वह तेरा स्वधाम। आहाहा! उसकी अन्तर्दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। प्रथम में प्रथम धर्म की प्राप्ति ऐसे होती है, बाकी सब थोथे थोथा है। आहाहा! ऐसा मनुष्यपना मिला, इसमें यदि इस भव के अभाव की चीज़ दृष्टि में न ली, (तो) कुछ किया नहीं। संसार वृथा जन्म लिया चार गति में। पाँच-पच्चीस लाख मिला और रुपया-बुपया मिला और बाहर में नाम पड़े तो कुछ वापस रहेगा या नहीं?

कहो, सेठ! यह बुन्देलखण्ड के बादशाह कहलाते हो तुम तो। समाजभूषण बड़ी पदवी नहीं दी? दोनों सेठिया यहाँ रहे। समाजभूषण। तारणस्वामी में समाजभूषण का पद दिया है।

मुमुक्षु : आत्मा तो समाजभूषण ही कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा समाजभूषण अर्थात् अनन्त गुण के समाज का भूषण है, यह समाजभूषण है। परमात्मा कहते हैं कि तेरी चीज़ में अनन्त गुण पड़े हैं। अनन्त संख्या से, हों! अनन्त। कायम रहनेवाली तो अनन्त काल है। एक, दो, तीन ऐसे अनन्त गुण आत्मा में हैं। तो यह तेरा समाज है और समाज का भूषण, तुम समाज के स्वामी हो। आहाहा! कठिन बातें भाई गजब की! धर्म की बात दुनिया से एकदम अलग। वीतराग सर्वज्ञ की बात पूरी दुनिया से अलग।

परम ज्योति... ज्योति की ज्योत परमात्मा चैतन्यमूर्ति भगवान परम ज्योति है। ऐसी अन्तर में दृष्टि करना, वह शुद्धद्रव्य की दृष्टि, वह समकित है। वह सम्यग्दर्शन यथार्थ है। **परमब्रह्म...** परब्रह्म-परब्रह्म। उत्कृष्ट आनन्दकन्द आत्मा को परमब्रह्म कहते हैं। आत्मा को ही परमब्रह्म कहते हैं। समझ में आया? आहा! परब्रह्म—उत्कृष्ट ब्रह्म आनन्दस्वरूप प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का धाम, वही परमब्रह्म, आत्मा ही परमब्रह्म है। पर्याय में राग-द्वेष का बन्ध करते हैं, वह उसकी चीज़ नहीं। नया कृत्रिम उत्पन्न करता है और दु:खी होता है। उसका स्वरूप तो परमब्रह्म है। देखो, यह समयसार नाटक। बनारसीदास ऐसा प्रवेश में बनाते हैं। अभी तो प्रवेश कहा, फिर नाटक शुरु होगा। परब्रह्म, भगवान परमब्रह्म है। पुण्य-पाप के विकल्प—राग से रहित उत्कृष्ट ब्रह्मस्वरूप प्रभु आत्मा है। ऐसे आत्मा को निमित्त और राग की एक समय की अवस्था का लक्ष्य छोड़कर, परमब्रह्म भगवान आत्मा की दृष्टि करना प्रथम, वही प्रथम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया?

'अप्पा सो परमअप्पा' आता है न बहुत? तारणस्वामी में बहुत आता है। 'अप्पा सो परमअप्पा'। आत्मा ही परमात्मा है। दूसरी कोई चीज़... परमात्मा बाहर से आता नहीं। परन्तु यहाँ बीड़ी बिना चले नहीं, तम्बाकू बिना चले नहीं, उसे ऐसा मानते हैं। ऐ डालचन्दजी! वह उड़द की दाल, उड़द की। छाछ होती है न, मठ्ठा... एकरस न हो एकरस। दाल न चढ़ी हो बराबर—एकमेक न हो तो ऐसे ढींचणियाँ (पुराने जमाने में भोजन के समय थाली के नीचे का लकड़ी का टुकड़ा) उड़े। अनाज तो जब माँगते हैं तो लाते हैं और ऐसा धान का धूल कर दिया। अब धूल ही है, सुन तो सही!

उड़द की दाल और चूरमा का लड्डू। एक आदमी को ऐसी आदत थी। लड्डू तो बनाया हो, परन्तु बाद में अधसेर घी चाहिए।

मुमुक्षु : ऊपर से।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊपर से कटोरी में। वाटका समझते हैं? क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : कटोरी।

पूज्य गुरुदेवश्री : कटोरी। चूरमा के टुकड़े ले और घी में डुबोकर खाये। यहाँ

तो कहते हैं, आत्मा आनन्दकन्द परमब्रह्म है, पूर्ण है। आहाहा! भाई! तेरा भोजन तो तेरे पास है। आहाहा! अमृतभोजन भगवान तेरे पास है। खबर नहीं बेचारे को! वह बेचारा है, रंक है, ऐसा कहते हैं। सेठ! परमब्रह्म प्रभु है न तू और पूर्ण है पूर्ण। वस्तु में तो पूर्ण तेरी शक्ति और पूर्ण स्वरूप तेरा पड़ा है। उसको यहाँ शुद्ध जीव का नाम कहने में (आया है)। पर्याय-अवस्था में अपूर्ण और विकार और संसार है। वस्तु में कोई अपूर्णता है (नहीं)। आहाहा!

पूरन... परम—उत्कृष्ट.... **परधान** है, लो। प्रधान अर्थात् ऊँची चीज़। प्रधान अर्थात् दीवान की बात नहीं यहाँ, हों! यहाँ प्रधान अर्थात् उत्कृष्ट चीज़। सबमें ऊँचे में ऊँची चीज़ वह भगवान आत्मा है। अतीन्द्रिय महापदार्थ। ९२ में आया था, परम प्रधान सुख। आहाहा! ऐसी चीज़ की (महिमा) सुनकर अन्तर में दृष्टि करना और बहिर्दृष्टि छोड़ना, इसके लिये यह कहते हैं। समझ में आया?

अनादि है। भगवान तो अनादि है। सत् है, उसकी आदि क्या? है, उसकी आदि क्या? है, उसका नाश क्या? है, उसकी उत्पत्ति क्या? है अनादि। आहाहा! समझ में आया? अनादि हूँ, अनादि हूँ। परन्तु पहले तो हुआ होगा या नहीं? पहले हुआ होगा तो (उससे) पहले नहीं था? असत् चीज़ थी? उसका बनानेवाला होगा या नहीं? किसको बनावे? है, उसको कौन बनावे? नहीं है, उसको कौन बनावे? अनादि भगवान आत्मा है। उसका कोई समय देखो... देखो... देखो... ऐसे भूतकाल तो है... है... है... है... ऐसे चला आता है। अनादि का है। है, उसकी आदि होती ही नहीं। आहाहा! वह तो चीज़ें आवे और जाये बाहर में धूल में... यह भगवान आत्मा तो अनादि है। उसकी तो दृष्टि की नहीं और यह सादि-सान्त चीज़ मिले, जाये। अरे! एक समय की पर्याय भी आती है और जाती है, उसकी दृष्टि करना, वह भी मिथ्यात्व है। आहाहा! अनादि भगवान आत्मा...

और **अनन्त** है। है, ऐसा का ऐसा रहता है अनन्त काल। कभी उसका नाश होता है? सत् है, उसका नाश कभी हो? (नहीं)। है... है... अनादि से है। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... भविष्य काल। सब काल में है, है और है। है, उसका नहीं है—ऐसा कभी होगा (नहीं)। आहाहा! एक-एक शब्द में एक-एक दृष्टि, एक-एक दृष्टि का विषय क्या है, (यह) बताते हैं।

अविगत... अविगत है। उसमें सब जानने में आता है। जानने में न आवे, ऐसा नहीं। सब जानने में आता है। आहाहा! तीन काल—तीन लोक, उससे अनन्तगुणा लोक और अलोक हो, तो भी भगवान आत्मा का ज्ञान सबको जाने, ऐसा आत्मा है। समझ में आया? **अविगत...** वि+गत—विशेष जाननेवाला। (जाननेवाला) नहीं, ऐसा नहीं है। सबको जाननेवाला है। किसी को करनेवाला नहीं। पर को करता नहीं, राग को करनेवाला नहीं। आहाहा! शुभभाव होता है न, शुभभाव। शुभभाव कब होता है? कब कर्ता मानते हैं? कि रागसहित आत्मा मानते हैं, वे राग का कर्ता मानते हैं। समझ में आया?

जाननेवाला मैं तो हूँ त्रिकाल। राग का कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं और राग का (छोड़नेवाला) भी नहीं। आहा! छोड़ता भी नहीं। आहाहा! मैं तो त्रिकाल अविगत (हूँ)। विशेष ज्ञान का गम्य हूँ, बिल्कुल कुछ ज्ञात न हो कोई चीज़—ऐसा मैं हूँ नहीं। मैं तो सबका जाननेवाला हूँ। समझ में आया? ओहोहो! ऐसा आत्मा, उसकी खबर नहीं, उसका ज्ञान नहीं, उसकी श्रद्धा की खबर नहीं कि क्या चीज़ है (तो) कैसे श्रद्धा हो? ऐसे धर्म बिना अनन्त काल गँवाया। धर्म के नाम में भी किया अधर्म और धर्म किया—ऐसा माना।

अविनाशी... वह अनन्त रहने की अपेक्षा थी। अब त्रिकाल अविनाशी। ध्रुव चीज़ अविनाशी है। अ+विनाश—विशेष नाश नहीं। किसी भी अंश का नाश नहीं। ध्रुव चीज़ है अनादि-अनन्त अविनाशी भगवान आत्मा। शरीर आदि विनाशीक, मैं अविनाशी। राग आदि विनाशीक, मैं अविनाशी। एक समय की पर्याय विनाशीक... क्षणभंगुर आया था न भाई! एक समय की पर्याय होती है, वह क्षणभंगुर है। एक क्षण में उत्पन्न होती है और दूसरे क्षण में नाश होती है। भगवान आत्मा ध्रुव, वह तो अविनाशी है। आहा! ऐसी उसकी खबर ली नहीं कभी। दृष्टि में लिया नहीं, बाहर में मन्थन करके मर गये। आहाहा!

अज—जन्म बिना की चीज़ है। अज—जन्मना है नहीं। आत्मा जन्मता नहीं। क्या जन्मे? वह तो अविनाशी अनादि है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....मरण नहीं रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : मरण भी कहाँ और जन्म भी कहाँ? आहाहा!

मुमुक्षु : जन्म नहीं तो मरण नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : है ही नहीं। परमात्मा अपना निजस्वरूप। अपनी सत्ता अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... ऐसे का ऐसा है। जन्मना-मरना तो शरीर के संयोग से कहने में (आता है)। आत्मा में कोई जन्म-मरण है (नहीं)। आहाहा!

योगसार में कहा है। योगीन्द्रदेव। जन्म कलंक है। शरीर का संयोग होना कलंक है। जैसे छठवीं अँगुली होती है न, छठवीं अँगुली, वह काटने की चीज़ है, रखने की नहीं। पंजा समान दिखे, इसके लिये काटने की चीज़ है। इसी प्रकार शरीर आदि रखने की चीज़ नहीं, अपनी चीज़ नहीं। कलंक है, कहते हैं। आहाहा! राग-द्वेष अपने में होना, वह भी चैतन्य भगवान में कलंक है।

मुमुक्षु : पुण्य कलंक हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य कलंक है। पुण्य का भाव हो। पुण्य के भाव में धूल मिले, उसकी बात नहीं, वह तो परचीज़ है। यह तो पुण्य के भाव—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा शुभभाव, वह भी आत्मा में कलंक है, मैल है। आत्मा तो '**अज**' है। राग की उत्पत्ति करनेवाला नहीं और अपना स्वरूप कभी किसी से उत्पन्न हुआ (नहीं)। आहाहा! देखो, कितने शब्द प्रयोग किये, देखो!

'**निरदुंद**'—द्वंद्व भी नहीं उसमें। दो प्रकार भी नहीं। वह तो अद्वैत चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा है। आहाहा! 'निर्द्वंद्व'—पुण्य और पाप, हर्ष और शोक और ऐसा द्वन्द्व अन्दर उसमें है नहीं। द्वन्द्व नहीं। 'छोड़ी जगत द्वंद्व फंद...' यह आता है या नहीं? छहढाला में आता है।

मुमुक्षु : लाख बात की....

पूज्य गुरुदेवश्री : 'लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ, तोड़ि सकल जगदंद-फंद नित आतम ध्याओ।' यह छहढाला में आता है। परन्तु अर्थ न करे और ऐसा का ऐसा हाँक रखे। पहाड़ा बोल जाये।

मुमुक्षु : मुखपाठ।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुखपाठ। सेठ! आहाहा!

मुमुक्षु : मुखपाठ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मुखपाठ कहते हैं न वह? मुख से बोलना। भाव की खबर नहीं। यहाँ तो कहते हैं, भगवान निर्द्वन्द्व है। द्वन्द्व कैसा? एकरूप चीज़ भगवान में और द्वन्द्व—यह राग-द्वेष, संसार-फंसार कैसा? इस वस्तु की चीज़ में संसार और द्वन्द्व है ही नहीं। ऐसा भगवान आत्मा, उसको निर्द्वन्द्व कहते हैं। यह छहढाला में आता है न पण्डितजी?

'मुकत'... यह तो मुक्तस्वरूप ही है। आहाहा! बन्ध और मुक्त—दोनों ही नहीं। यह तो त्रिकाली मुक्त है। यह पर्याय की मुक्ति होती है और पर्याय में बन्ध होता है—उससे रहित मुक्त है, ऐसा कहते हैं। सिद्धपर्याय की प्राप्ति होना, वह तो पर्याय में मुक्ति (होती है), परन्तु द्रव्य तो त्रिकाल मुक्त ही है। आहाहा! कठिन काम, भाई! **'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध'** आता है न वह? जिसको आत्मा अबद्धस्पृष्ट देखने में आता है, उसने जैनशासन देखा। अबद्ध कहो या बन्धरहित कहो या मुक्त कहो। १५वीं गाथा में आता है, समयसार। **'पस्सदि जिणसासाणं सव्वं'** जिसने भगवान आत्मा को कर्म का बद्ध अर्थात् सम्बन्ध रहित अपनी दृष्टि (में) किया और वीतरागभाव सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ और भावश्रुतज्ञान उपयोग प्रगट हुआ, उसने सब जैनशासन सब देखा। ऐसा नहीं देखा, उसने कुछ नहीं देखा। समझ में आया?

'मुक्त-मुक्त...' 'मुक्त एव' आता है न? पर्याय में सम्यग्दृष्टि हुआ तो 'मुक्त एव' ही है। वह तो द्रव्य मुक्त की बात है यहाँ। वस्तु मुक्त त्रिकाल... वस्तु कैसे बन्ध(रूप) हो? वस्तु बन्ध(रूप) हो तो वस्तु का अभाव हो जाये। चैतन्यदल है। चैतन्यदल आनन्दकन्द ध्रुव में बन्ध कैसा? वह तो एक समय की पर्याय में रागादि, विकारादि बन्ध है। वस्तु में बन्ध-फन्द है (नहीं)। आहाहा! ऐसा आत्मा है। यह तो नौ तत्त्व में ऐसा आत्मद्रव्य ऐसा है, ऐसा बताते हैं। **'मुकत'**।

'मुकुंद'... मुक्त का देनेवाला मुकुन्द। यह मोक्ष का देनेवाला आत्मा है। मुकुन्द।

नाम पाड़ते हैं न मुकुन्द। अभी आये थे, मुकुन्दभाई थे न अभी। मुकुन्द। भगवान पवित्र धाम। एक समय की दशा रागादि संसार सब एक समय है। उसको छोड़कर वस्तु देखो तो मुक्त ही वस्तु है। वही मुक्ति की देनेवाली है। कोई व्यवहारमोक्षमार्ग मुक्ति को देता है और निश्चयमोक्षमार्ग देता है—वह पक्ष भी छोड़ दिया है। आहाहा! क्या कहते हैं? अपनी मुक्ति अर्थात् परमात्म पद को देनेवाला आत्मा है। जिसमें है, उससे चीज़ आती है। तो व्यवहार सम्यग्दर्शन आदि राग है, उससे तो मुक्ति आती नहीं, परन्तु निश्चय मोक्षमार्ग जो सम्यग्दर्शन है, उससे भी मुक्ति नहीं। मुक्ति देनेवाला द्रव्य है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! बात सुनते हुए इसे... ऐसा पामर माना है न, इसलिए इसे ऐसा लगता है कि अरेरे! यह क्या मानते हैं यह? मुकुन्द है। वह तो मुक्ति का देनेवाला परमात्मा अपना निज स्वरूप, हों! दूसरा परमात्मा नहीं। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १२, माघ शुक्ल २, गुरुवार, दिनांक २८-१-१९७१
उत्थानिका, पद—३६

आत्मा वस्तु क्या है और कैसे आत्मा की दृष्टि करने से प्रथम धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है—यह बात चलती है। ३६, ३६। '**मुकुन्द**' तक आया है।

यह आत्मा वस्तुरूप से तो '**अमलान**' है। है न चौथा। उसकी वर्तमान दशा में राग-द्वेष आदि हो, उससे वर्तमान दशा में हीन, मुरझाई हुई, शिथिल दशा दिखती है, वस्तु में ऐसा नहीं है। समझ में आया? पर्याय में—अवस्था में राग-द्वेष, विकार, विकृत और मानो आत्मा का स्वभाव कम हो गया, विरुद्ध हो गया, मलिन हो गया। वर्तमान दशा में पर्यायदृष्टि से देखने से ऐसा दिखता है, वस्तु में नहीं। वस्तु अमलान है। क्या कहते हैं, तुम्हारी हिन्दी भाषा में? करमाई जाये न वह।

मुमुक्षु : मुरझाना

पूज्य गुरुदेवश्री : मुरझाना, मुरझाना। वह सब्जी हो—तरकारी कच्ची—वह मुरझाती है न! वैसे आत्मा मुरझाता नहीं, ऐसा कहते हैं। पर्याय में—अवस्था में मुरझाया जैसा दिखता है, परन्तु वह तो वर्तमान अवस्था और राग-द्वेष देखने से दिखता है, वह वास्तविक आत्मा नहीं है।

आत्मा तो '**अमलान**' है। अखण्डानन्द प्रभु मुरझाता नहीं, कुमलाता नहीं, सूखता नहीं, हीन नहीं होता। आहाहा! ऐसी चीज़ की दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है और उसके बिना सब व्यर्थ है। समझ में आया? ऐसा आत्मा का अमलान स्वभाव... अन्तर में चिदानन्द भगवान पूर्ण आनन्द है तो उसमें कमी नहीं, मुरझाना नहीं, विपरीतता नहीं, ऐसा त्रिकाली स्वभाव उसको यहाँ जीवद्रव्य—तत्त्व अमलान कहने में आता है। मलान है तो (नास्ति से) अमलान (कहा जाता है)। मलान पर्याय में है, अवस्था-दशा में है। दशा में न हो तो संसार किसका? परन्तु वस्तु की दृष्टि करने से, अन्तर्मुख चैतन्य भगवान को देखने से प्रभु आत्मा तो अमलान ही है।

'**निराबाधा**' है। भगवान वस्तु है अखण्ड चिद्रस... चिद्रस—ज्ञान का रस,

ऐसा जो आत्मा निराबाध—बाधा, पीड़ा कोई उसमें है नहीं। ऐसी चीज़ को आत्मा कहते हैं और उस आत्मा की दृष्टि करना (और) सब दृष्टि छोड़ देना। निमित्त की, राग की, एक समय की दशा की रुचि छोड़कर ऐसे निराबाध आत्मा की दृष्टि करना, वह शुद्धजीव की दृष्टि सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? धर्म करनेवाले को यह करना है। दूसरा कुछ करना है नहीं। अवस्था में जो राग-द्वेष आदि दिखते हैं, आत्मा को इतना मानना, वह तो मिथ्यादृष्टि है। वह तो संसार में रुलनेवाला है।

जिसको धर्म करना हो, संसार का दुःख—परिभ्रमण का अभाव करना हो तो निराबाध भगवान—जिसको बाधा नहीं, पीड़ा नहीं, विरोधता नहीं, ऐसी चीज़ भगवान परमात्मा निजस्वरूप निराबाध है। वह कहाँ से खोजना, वह शोधना कहाँ से? कभी सुना नहीं, सेठ! सुना नहीं न? सुनानेवाला... एक बार कहते थे कि सुनानेवाला मिला नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : यह पण्डितों की भूल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : माननेवाले की भूल ही नहीं? समझ में आया? अपनी निज निधान चीज़ सच्चिदानन्द प्रभु—सत् अर्थात् शाश्वत्, चिद्घन आनन्दकन्द, वह तो निराबाध चीज़ है। पण्डितजी! आहाहा!

मुमुक्षु : आपने तो पण्डितों को भी अच्छा बोझा डाल दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा यहाँ हुआ था एक बार। सेठ आये थे न सर हुकमीचन्द। तो एक बार ऐसा हुआ। वह पुंजीलाल... कौन?

मुमुक्षु : परशुराम।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक परशुराम है न ब्रह्मचारी। इन्दौर में, उदासीन आश्रम में। तब यहाँ था। तो उसने सुना (और) सुनकर, 'ओहोहो! ऐसी चीज़ तो हमने कभी सुनी नहीं। हम ब्रह्मचर्य पालते हैं' ऐसा कहा और उस आश्रम में रहना है न, तो शास्त्र-पाठ खोज करना, घण्टे—एक-एक घण्टे सब ब्रह्मचारी को अनाज साफ करना और उसमें अभी समय जाता है। हमें तो स्वाध्याय करने का समय नहीं मिलता। और यह चीज़! सच्ची है, कहे।

फिर एक बार बैठे थे वे देवकीनन्दनजी। देवकीनन्दन है न इन्दौरवाले।

मुमुक्षु : सेठ के साथ में आये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ के साथ में आये थे। वे वहाँ बैठे थे। तो उसने (परशुराम ने) कहा, महाराज! उसने कहा, हों! परशुराम ने। 'क्या करे? पण्डित लोग ने जैसा हमको समझाया, ऐसा हमने समझा।' और देवकीनन्दन गुस्से में आ गये। हमारे पास स्वीकार किया यह देवकीनन्दन ने सब। आप कहते हैं ऐसी बात किसी पण्डित, किसी त्यागी के पास है ही नहीं। आप कहते हैं, ऐसा पढ़ा ही नहीं है, ऐसा बोले। भाई! देवकीनन्दन ने स्वयं ही कहा। (संवत्) २००३ के वर्ष में।

आप कहते हैं, ऐसा पढ़ा ही नहीं। वस्तु तो कहाँ से लावे? हमारी सबकी निमित्तप्रधान दृष्टि सबकी पढ़ाई ही ऐसी है। वह हमारे पास स्वीकार किया। पंचाध्यायी (टीका) की भूल स्वीकार की। उसने पंचाध्यायी में लिखा है न? निकालो, कहा, ऐसी भूल है। लाओ, बताओ कहे। परशुराम ने जहाँ कहा, पण्डित लोग ने हमको समझाया हम... फिर कहे, क्या तुम हमारा दोष निकालते हो? हमारा उपकार तो मानते नहीं। आहाहा! वस्तु क्या... अपनी योग्यता भी नहीं उसकी (श्रोता की) और सब समझानेवाले की समझ में भूल है। सारी प्रवृत्ति इसमें लग गयी सारी दुनिया। धर्म के नाम से पूजा करना और व्रत करना और तप करना और विकल्प करना, ऐसा करना और वैसा करना। सब राग की, पुण्य की प्रवृत्ति धर्म की मानकर करते हैं।

मुमुक्षु : उसी को ही धर्म मान रहे थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म ही मानते हैं। हमको तो बहुत खबर है न? समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, '**निराबाध**' भगवान। शरीर-फरीर नहीं, राग नहीं। दया-दान का विकल्प भी आत्मा में नहीं। ओहोहो!

मुमुक्षु : पर्याय में सब है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो, विकल्प में विकल्प हो। मेरी चीज़ तो निराबाध है वस्तु!

ऐसी अन्तर में सम्यक् दृष्टि करना, उसका नाम प्रथम में प्रथम धर्म की शुरुआत कहने में आती है। कहो, लालचन्दजी!

'**निगम**'। भगवान आत्मा को निगम कहते हैं, निगम। अगम-निगम आता है न? निगम—इन्द्रियों से गम्य नहीं। और अन्दर दया-दान विकल्प—पुण्य परिणाम से भी वह गम्य नहीं। ऐसे शुद्ध आत्मा को निगम कहते हैं। समझ में आया? '**निगम**'। अपने आत्मा को ही निगम कहते हैं, वस्तु। सिद्ध भगवान जैसा अपना स्वरूप है। सिद्ध का स्वरूप है, ऐसा अपना निज स्वरूप अन्दर ऐसा ही है। ऐसी अन्तर्दृष्टि करना, उसका नाम परमात्मा (रूप) आत्मा का स्वीकार किया, ऐसा कहने में आता है। ऐसा शुद्धात्मा परिपूर्ण प्रभु अन्तरज्ञान में ज्ञेय बनाकर प्रतीति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन का विषय निगम है, शुद्धात्मा है। आहाहा! सुजानमलजी! आहाहा!

मुमुक्षु : बराबर टंकोत्कीर्ण।

पूज्य गुरुदेवश्री : टंकोत्कीर्ण। ऐसी कठिन बातें, भाई!

'**निरंजन**'... अंजन-बंजन वस्तु में है ही नहीं, मैल-मैल। वह एक समय की पर्याय—दशा में विकार और विकार का निमित्त कर्म का सम्बन्ध है, वह तो व्यवहारनय का विषय है, वह धर्म का विषय नहीं। निरंजन है। अंजन नहीं, मैल नहीं। निर्मलानन्द प्रभु निरंजन निराकर अखण्डानन्द प्रभु है, ऐसे ही आत्मा को यहाँ आत्मा कहते हैं।

'**निर्विकार**' 'र' का व्युत्सर्ग होता है, व्युत्सर्ग। नि:विकार। संसार का विकारमात्र आत्मा में है नहीं। आहाहा! जिसको उदयभाव कहते हैं न, चार गति, राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया-दान, विकल्प—वह सब विकार से भगवान आत्मा तो भिन्न निर्विकार है। यह नि:विकार... 'र' का व्युत्सर्ग है। नि:विकार... शुद्ध चिदानन्द प्रभु अविकार का पिण्ड है और विकार से रहित है। अस्ति-नास्ति करते हैं। आहाहा! यह चैतन्य देवल में परमात्मा स्वयं भगवान तन मन्दिर में देव जिन। मन्दिर, मूर्ति और देव, वह तो सब व्यवहार है। पुण्यबन्ध के भाव में निमित्त है, धर्म नहीं। सम्मेदशिखर की यात्रा और पूजा और भक्ति, मन्दिर में भक्ति (आदि) शुभभाव आता है, अशुभ से बचने को (शुभभाव) हो, परन्तु वह भाव पुण्यरूप भाव है, धर्म नहीं। धर्म तो अपना आत्मा निर्विकारी, ऐसी

अन्तर में निर्विकल्प दृष्टि करने से जो सम्यग्दर्शन होता है, उसका नाम धर्म कहा जाता है। अनन्त काल में कभी यह किया नहीं और यह करनेयोग्य है, दूसरा नहीं—ऐसा श्रद्धा में भी लिया नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'**निराकार**'... जड़ का आकार उसमें है ही नहीं। अपना स्वरूप है तो उसका क्षेत्र है। जड़ का आकार जैसा आकार है, परन्तु ऐसा आकार उसमें—आत्मा में नहीं है। है शरीर प्रमाण है, परन्तु शरीर से भिन्न है। शरीर का आकार उसमें नहीं है। समझ में आया? शुद्ध चैतन्य अरूपी ज्ञानघन, अपना अपनी अपेक्षा से अरूपी आकार है। परन्तु शरीर और कर्म और जड़ के आकार से उसमें आकार नहीं है। समझ में आया? ऐसे आत्मा की दृष्टि करना, उसका नाम आत्मा जाना, माना कहा जाता है। बाकी सब बिना एक के शून्य हैं। बिना एक के शून्य, क्या कहते हैं? बिना एक के बिन्दी... बिन्दु। आहाहा! कठिन काम! जगत को वीतरागदर्शन समझना बहुत कठिन है।

'**निराकार**'... जैसे काशीघाट का वह कलश होता है न कलश... कलश।

मुमुक्षु : लोटा।

पूज्य गुरुदेवश्री : लोटा। लोटा का आकार भिन्न है और अन्दर जल भरा है, उसका आकार भिन्न है। लोटा के आकार जल दिखता है, परन्तु जल का आकार लोटा से अत्यन्त भिन्न है। इसी प्रकार यह (देह) काशीघाट का कलश है, देखो! उसका आकार जड़ का—मिट्टी—धूल का आकार है, वह तो अजीवतत्त्व का आकार है और उसमें ज्ञानजल स्वभाव भगवान आत्मा भिन्न है, उसका आकार शरीर प्रमाण होने पर भी शरीर से नहीं है। आहाहा! उसकी अस्ति भिन्न है। शरीर जड़—मिट्टी—धूल, माँस, हड्डियाँ, चमड़ी है वह तो। उसकी जो आकृति है, वह तो जड़ की है। और उसमें जल भरा है—ज्ञानजल, आनन्द जल। ऐसा आत्मा का आकार शरीर के आकार से भिन्न है। समझ में आया? उसके घर की खबर हो सब कि इस आकार खिड़की होती है और इस आकार से ऐसा होता है। भगवान आत्मा कैसा है? निवृत्ति—फुरसत नहीं मिलती, फुरसत, फुरसत नहीं। काम बहुत! यह वकील है। आहाहा!

'**संसारशिरोमणि**'... देखो! क्या कहते हैं कि आत्मा तो संसार का शिरोमणि

अद्धर रहनेवाला है। पुण्य-पाप, और काम-क्रोध और दया-दान—विकल्प संसार है, उससे शिरोमणि भिन्न रहनेवाला है। समझ में आया? संसार शिरोमणि (अर्थात्) संसार का नायक होगा? संसार से अधिक—भिन्न पड़ा हुआ आत्मा है। संसार किसे कहते हैं? राग-द्वेष और मिथ्यात्वभाव। स्त्री-पुत्र संसार नहीं है, वह तो परचीज़ है। वह संसार कहाँ से आया? समझ में आया? वह संसार हो तो देह छूटने से देह नहीं रहता। स्त्री, पुत्र तो कहीं पड़े रहते हैं। यदि वह संसार हो, तो देह छूटने से संसार छूट गया, मुक्ति हो जाये। संसार उसको नहीं कहते हैं परमात्मा। संसार इसको कहते हैं कि शरीर मेरा, राग मेरा, पुण्य मेरा, पाप मेरा, विकारीभाव मेरा—ऐसी मान्यता और राग-द्वेष, वह संसार है। वस्तु ऐसी है। समझ में आया?

यह संसार का शिरोमणि है। आहाहा! परमात्मप्रकाश में लिया है न योगीन्द्रदेव ने, कि यदि सिद्ध में सर्व गुण न हो तो लोग सिर के ऊपर कैसे धारते हैं उनको? अग्र है न सिद्ध भगवान! यह चौदह राजु के अग्र हैं न, अन्तिम—आखिर में सिद्ध भगवान। यदि सर्व गुणसम्पन्न, शुद्ध और आदरणीय न हो, तो वे सर्व संसारी प्राणियों से अग्र—ऊपर (क्यों) रहते हैं? चौदह राजु ब्रह्माण्ड से ऊपर सिद्ध भगवान, मुक्तिशिला के ऊपर, आगे, हों! मुक्तिशिला तो बहुत दूर है। ७५७५ धनुष दूर है। मुक्तिशिला के ऊपर नहीं है। अन्त में—लोक के अग्र में। उन सिद्ध समान भगवान (आत्मा) भी शिरोमणि है। आहाहा!

विकल्प से निर्विकल्प चीज़ अत्यन्त भिन्न है, ऐसा बताना है। तुम्हारे मकान-बकान किसका? मकान, मकान का। इसे वास्तु लेना है न परसों। परसों नहीं, अब पंचमी को।

मुमुक्षु : रविवार को।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पंचमी को। परसों सेठ का आहार है। कहो, समझ में आया? आहाहा! किसका मकान, किसका शरीर, किसकी वाणी, किसका बेटा, किसका बाप? भगवान! तू तो आत्मा है न, प्रभु! तो आत्मा तो संसार के विकृत विकार से भी भिन्न है। ऐसे आत्मा को यहाँ आत्मा परमात्मा त्रिलोकनाथ कहते हैं। उस आत्मा को

राग और संसार और विकार सहित मानना, वह मिथ्यात्व है। वह मिथ्यादृष्टि है। कहो, समझ में आया?

'सुजान' है... सु-जान—बराबर यथार्थ ज्ञान करनेवाला है वह तो। राग को रागरूप से, शरीर को शरीररूप से, अपने को अपनेरूप से। दो का भिन्न जैसा है, वैसा ज्ञान करनेवाला है वह तो। समझ में आया? सुजान है न! सुजान शब्द है न उसमें। **'सुज्ञान'**। जान का अर्थ ज्ञान है मूल तो। सुज्ञान। अन्तर अकेला ज्ञान का चेतनरस का पिण्ड आत्मा है, चैतन्य का नूर है। आहाहा! उसमें पुण्य, पाप, दया, दान, व्रत आदि विकल्प की तो गन्ध अन्दर में नहीं, उसको यहाँ आत्मा कहते हैं। शुभ-अशुभभाव तो आस्रवतत्त्व है; शरीर, कर्म तो अजीवतत्त्व है; भगवान तो सुज्ञान तत्त्व है। आहाहा! खबर नहीं, खबर नहीं। जहाँ है वहाँ खोजता नहीं। नहीं है वहाँ खोजता है, शोधता है। राग में खोजे, पुण्य की क्रिया में खोजे कि मुझको उसमें आत्मा मिल जायेगा। कहो, सेठ!

वह एक बुढ़िया का दृष्टान्त देते हैं। बुढ़िया थी, डोसी समझे? बुड्ढी, बुड्ढी... बुढ़िया थी बुढ़िया। उसकी सुई खो गयी। सुई, सुई होती है न? सुई। सुई कहाँ खोई? खो गयी अन्धेरे में। अन्धेरे में खोजे-शोधे, हाथ नहीं आयी। अन्धेरे में पड़ गयी। फिर बाहर निकली, उजाले में खोजे। एक जवान व्यक्ति निकला। माताजी! क्या करती हैं आप? बेटा! सुई खो गयी है। कहाँ (गिरी) है? अन्धेरे में खोई है। परन्तु वहाँ दिखती नहीं, इसलिए उजाले में खोजती हूँ। परन्तु यहाँ कहाँ है? यहाँ कहाँ अन्धेरा है? यहाँ खोई है? खोई तो वहाँ है अन्धेरे में।

इसी प्रकार अज्ञान में खोया है। तो खोजे अज्ञान में वापस राग में, राग से। अज्ञान से खोई है और अज्ञान में खोजता है। राग और द्वेष तथा पुण्य और पाप, विकल्प में से कोई आत्मा मिल जायेगा? आहाहा! चैतन्य भगवान तो अकेला ज्ञान का पिण्ड है, चैतन्यसूर्य है। चैतन्यप्रकाश, प्रकाश का प्रकाशक है। पूरी दुनिया का इन्द्र यह सूर्य-चनद्र, तारा का प्रकाश, मणिरत्न का प्रकाश, हीरा का प्रकाश—सब प्रकाश का प्रकाशक है, जाननेवाला है। पर को अपना माननेवाला यह आत्मा नहीं है। पर को अपना माने, वह आत्मा नहीं, वह अनात्मा जड़ है। आहाहा! समझ में आया? **'सुजान'**।

‘**सर्वदर्शी**’.... आहाहा! यह क्रमबद्ध का आज प्रश्न आया है उसमें, भाई! वह क्या जैनगजट। भाई! इस प्रमाण तो पर्याय है, वह तो क्रमसर होती है, काल क्रमसर। तो क्रमबद्ध में क्या हरकत है? ऐसा प्रश्न किया है। रतनलाल ने जवाब दिया, ‘नहीं, ऐसा नहीं।’

मुमुक्षु : ऐसा मतलब क्रमबद्ध नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, क्रमबद्ध ऐसा होता ही नहीं। जैसा-जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मिले, ऐसी पर्याय होती है।

मुमुक्षु : उसका मतलब वह मिलनेवाला नहीं था।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहचानते हो या नहीं तुम रतनलालजी को? जाने न उसको। उसने जवाब दिया है जैनगजट में। वही कहते हैं, यह बराबर पक्का कर दिया है उसने। पर्याय क्रमसर होती है, एक के बाद एक, परन्तु यही होती है, ऐसा नहीं। अनियत है। (ऐसा उनका कहना है।) आहाहा!

तो सर्वदर्शी कहाँ रहा? सर्वदर्शी, भगवान सर्वदर्शी है न? तो भगवान ने सब देखा है या नहीं तीन काल-तीन लोक? एक समय में तीन काल-तीन लोक देखा भगवान ने। तो उनके ज्ञान में आया या नहीं कि इस द्रव्य की इस समय में यह पर्याय होगी, इस द्रव्य में इस समय यह पर्याय होगी।

मुमुक्षु : हाँ, परन्तु जयधवल में सिद्ध करते हैं न....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या सिद्ध करते हैं?

मुमुक्षु : वह वस्तु नहीं....

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु नहीं, वह तो किस अपेक्षा?

मुमुक्षु : वर्तमान पर्याय वस्तु सही।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! वह गप्प ही गप्प। प्रगट नहीं न। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा का दृष्टान्त दिया है। ऐसा कि पर्याय अन्दर पड़ी है और प्रगट होती है, ऐसा नहीं। असत् पर्याय उत्पन्न होती है। वह तो पूर्व में नहीं थी, इस अपेक्षा से। अरे भगवान! क्या हो,

भाई! मूल में गड़बड़ खड़ी हुई है। आहाहा! समझ में आया? उसमें है। बहुत लम्बा है। आज आया है।

यहाँ तो कहते हैं कि परमात्मा (आत्मा) तो सब सर्वदर्शी है। उसका स्वभाव सर्वदर्शी है। उसकी दृष्टि करने से, एकाग्र होने से सर्वदर्शीपना पर्याय में प्रगट होता है। क्या कहा, समझ में आया? यह तो अध्यात्म बात है, सूक्ष्म बात है। कभी सुना नहीं उसने यथार्थ रुचि से। भगवान आत्मा तो सर्वदर्शी पिण्ड है। सर्वदर्शी अर्थात् सर्वदृष्टा। एक समय में तीन काल—तीन लोक और अपने को 'है' ऐसी महासत्ता एक समय में देखता है। ऐसा शक्तिवन्त है, उसे आत्मा कहते हैं।

उस आत्मा की अन्तर्दृष्टि करने से, 'सर्वदर्शी मैं हूँ' ऐसी प्रतीति अन्दर हुई। 'मैं विकल्प नहीं, मैं एक समय की पर्याय भी नहीं', ऐसी अन्तर अनुभव में प्रतीति हुई, उसका नाम सम्यग्दर्शन कहते हैं। धर्म की पहली शुरुआत। और सर्वदर्शी में एकाकार होने से, जैसे चौंसठ पहरी चरपराई पीपर में पड़ी है तो चौंसठ पहरी बाहर प्रगट होती है, वैसे सर्वदर्शीपना आत्मा में पड़ा है। सर्वदर्शी कहो, चौंसठ पहरी शक्ति कहो। है अन्दर। अब खबर नहीं न परन्तु कुछ... शक्तिरूप से सर्वदर्शी ही आत्मा है। उसकी अन्तर में प्रतीति सर्वदर्शी मैं हूँ। राग नहीं, निमित्त नहीं, अल्पदर्शीपने की पर्याय जितना भी नहीं। आहाहा! शुद्ध जीवद्रव्य का नाम लिया है न, देखो! आहाहा!

'सर्वज्ञ'... अब अपने अधिक विशेष यहाँ लेते हैं। उसका सर्वज्ञ स्वभाव है। 'ज्ञ' स्वभाव है न 'ज्ञ' स्वभाव। जैसे शक्कर का मिठास और सफेद स्वभाव है, नमक का खारा स्वभाव है, कलई का सफेद स्वभाव है, अफीम का कड़वा स्वभाव है; उसी प्रकार भगवान आत्मा का सर्वज्ञ स्वभाव है। सर्वज्ञ है न! सर्व-ज्ञ। सर्वज्ञस्वरूप ही आत्मा है। आहाहा! ऐसा सर्वज्ञ स्वभाव अन्दर है। तो पहले समकित होता है, तो मैं सर्वज्ञ ही हूँ, ऐसी प्रतीति आती है। वाह रे धर्म वाह! मूल रीति ऐसी! समझ में आया?

बाद में सर्वज्ञ स्वभाव में एकाग्र होकर एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में तीन काल—तीन लोक देखते हैं। ऐसी शक्ति में से व्यक्ति—प्रगट पर्याय होती है, ऐसा सर्वज्ञ स्वभावी भगवान आत्मा है। तो तीन काल—तीन लोक देखने में क्या कमी है? सर्वज्ञ

को खबर नहीं है पहले से ? कि इस जीव की इस समय यह पर्याय होगी और उस समय में वही निमित्त होगा। तीन काल—तीन लोक सर्वज्ञपद में ऐसा जानने में आया है। वहाँ फेरफार होगा ? समझ में आया ?

मुमुक्षु : उपदेश किसलिए देते हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन देता है उपदेश ? कौन कहता है कि उपदेश देते हैं ? यह तो वाणी है, (स्वतः) निकलती है। समझ में आया ?

यह प्रश्न है उसमें। सर्वज्ञ... सर्वज्ञ। क्रमबद्ध का पूछा है क्रमबद्ध का। यहाँ बताया है, देखो ! तीसरे नम्बर की शंका है, लो ! जितनी तीनों काल की पर्यायें हैं, उतना ही द्रव्य है। क्या समझे ? शिष्य का प्रश्न है। एक समय की, (दूसरे समय) की पर्याय है, ऐसी जितनी अनन्त त्रिकाल(वर्ती) पर्याय है, उतना द्रव्य है। पर्याय एक-एक समय की है, ऐसी तीन काल की पर्याय का पिण्ड द्रव्य है। अरे... अरे ! जितनी तीनों काल की पर्यायें हैं, उतना ही द्रव्य है। द्रव्य अर्थात् वस्तु। वे पर्यायें क्रम से होती हैं। एक के बाद दूसरी हुआ करती है। पर्याय क्योंकि कालक्रम से होती है, इसलिए वे नियत हैं। अतः उनको क्रमबद्ध मानने में क्या हानि है ?

यहाँ का प्रश्न है। किसी ने प्रश्न किया होगा ?

मुमुक्षु : वे तो स्वयं खड़ा करके लिखा करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊपर लिखा है न। कोई मानते हैं। पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है। उत्तर देते हैं: एक के बाद एक होती है। परन्तु एक के बाद यही होती है, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : तो क्रम कहाँ रहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पूरा जवाब बड़ा। यह तो पहले से आता है। परन्तु सर्वज्ञ कहो, एक समय में सर्व का ज्ञाता आत्मा कहो और प्रगट हुआ, ऐसा कहो तो तीन काल—तीन लोक जैसा है, जहाँ-जहाँ जो पर्याय जैसी होती है, वह सब ज्ञान में आ गया। आगे-पीछे होती नहीं। तब कोई कहे कि ऐसा हो तो फिर हमारे पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ?

मुमुक्षु : यहाँ कठिनाई खड़ी होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ कठिनाई (नहीं), भान नहीं होता।

हमारे तो यह प्रश्न पहले भी उठा था (संवत्) १९७२ के वर्ष में। ७२। कितने वर्ष हुए? ५५ वर्ष हुए। ५५। पचास और पाँच। यहाँ तो पहले से बहुत चलती है न! ५८ वर्ष तो उस दीक्षा का चलता है। ५५ वर्ष पहले ऐसा प्रश्न उठा था। हमारे गुरुभाई सम्प्रदाय में थे। वे बहुत कहे... कहे... करते थे। हम दीक्षित तो हुए ७० के वर्ष में। सीत्तेर समझते हैं न?

मुमुक्षु : सत्तर

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्तर। (हम) सुनते थे ऐसा (कि) भगवान ने देखा है, ऐसा होगा। अपना पुरुषार्थ कुछ काम नहीं करनेवाला है। भवभ्रमण जब नाश होनेवाला, तब होगा, ऐसा कहे। ऐसा बारम्बार कहा करे। तो दो वर्ष तो सुना। परन्तु फिर एक बार बोल दिया। वरना तो बोलते नहीं थे, बहुत कहते नहीं थे कुछ। भले जैसे चलता हो, अपने क्या?

भाई! जसदण .... बताया था। जसदण का दरवाजा। जसदण है न वह दरबार। वह गाँव कौन सा?

मुमुक्षु : सरवा।

पूज्य गुरुदेवश्री : खरवा... खरवा। खरवा गाँव है। खरवा। रास्ते के ऊपर। खरवा में उतरे हुए थे। ७२ के वर्ष (की) बात है, ७२। फाल्गुन शुक्ल ग्यारस। ५५ वर्ष हुए, ५५। प्रश्न ऐसा चला तो उसमें ऐसी बात कही। भगवान की वाणी ऐसी निकलती नहीं। भगवान की वाणी में तो जैसे हम हैं, ऐसा तुम जानो। तो उसको पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन हुए बिना रहता नहीं। जिसकी दृष्टि सर्वज्ञ (स्वभाव) के ऊपर है कि सर्वज्ञ एक समय में तीन काल-तीन लोक देखते हैं। ऐसी जिसकी पर्याय में प्रतीति आती है, उसको स्वभाव सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन होता है। ५५ वर्ष पहले की बात है। यह बात भी कहाँ थी? प्रवृत्ति क्रियाकाण्ड ही सब चलता है। स्थानकवासी में यही, मन्दिरमार्गी

में यही, यहाँ भी यही है तुम्हारे। ऐई सेठ! नहीं भाई! यहाँ तो सत्य हो, ऐसा वह बैठे। ऐसी असत्य बात हमकों नहीं बैठती।

सर्वज्ञ भगवान ने एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में तीन काल—तीन लोक देखे। सर्वज्ञ पर्याय से ऐसा (निर्णय हुआ कि) जैसा होनेवाला है, वैसा ही होगा। परन्तु उस सर्वज्ञ को स्वीकार करनेवाला—सर्वज्ञ है, ऐसी स्वीकार करनेवाला, उसकी दृष्टि सर्वज्ञस्वभाव पर जाती है। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म विषय! तत्त्व की दृष्टि ऐसी सूक्ष्म है। पण्डितजी! समझ में आया? कि सर्वज्ञ है एक समय... समय किसको कहते हैं? आँख मींचे और ऊँची करे, उसमें असंख्य समय जाते हैं। एक 'क' बोलने में असंख्य समय जाते हैं। उसमें एक समय—काल का छोटा भाग। उसमें तीन काल—तीन लोक को परमात्मा—सर्वज्ञ देखे। ऐसी सर्वज्ञ की एक समय की महान पर्याय तीन काल—तीन लोक देखे (और देखा) वैसा ही होता है।

तब उस सर्वज्ञ की पर्याय की प्रतीति करनेवाला, 'इस जगत में सर्वज्ञ है' ऐसी प्रतीति करनेवाला जीव अपनी पर्याय के ऊपर लक्ष्य करके प्रतीति नहीं कर सकता है। विकल्प पर लक्ष्य करके नहीं कर सकता है। द्रव्यस्वभाव में सर्वज्ञपद पड़ा है, वह दृष्टि करने से सर्वज्ञ की प्रतीति होती है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। मूल अनन्त काल से वास्तविक तत्त्व क्या है, उसकी पहिचान नहीं, बाकी सब क्रियाकाण्ड करके मर गये, सूख गये। आता है न समयसार में। क्लेश करो तो करो, अपवास, व्रत, नियम और तप। आत्मा ज्ञान से प्राप्त होता है, वह क्रियाकाण्ड से प्राप्त होता नहीं। समझ में आया?

सर्वज्ञ स्वभाव... देखो! सर्व-ज्ञ है? सर्व+ज्ञ, सर्व+ज्ञ। सबको जाने। सबको जानने में क्या बाकी रहा? तीन काल—तीन लोक एक समय में भगवान को जानने में आ जाते हैं। ऐसा तो इस आत्मा का अन्दर सर्वज्ञस्वभाव है। आहाहा! सर्वज्ञस्वभाव में से पर्याय में सर्वज्ञ पर्याय आयी। अन्दर में चौंसठ पहरी तीखाश—चरपराई थी, वह बाहर आयी। ऐसा सर्वज्ञ अर्थात् चौंसठ अर्थात् पूरा। रुपया-रुपया (पूर्ण) सर्वज्ञस्वभाव अन्दर है, उसमें एकाकार होकर सर्वज्ञ पर्याय प्रगट हुई। तो ये तीन काल—तीन लोक देखनेवाली एक समय की पर्याय जिसको प्रतीति में आती है, उसका पुरुषार्थ स्वद्रव्य

की ओर झुके बिना सर्वज्ञ की प्रतीति सच्ची होती नहीं। अरे! क्या कहते हैं यह समझ में आया? आहाहा! भगवान ऐसे सर्वज्ञ प्रभु! वह आता है या नहीं प्रवचनसार में? भाई! ८० गाथा है न? प्रवचनसार।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स भयं॥

उस समय तो यह गाथा भी वाँची नहीं थी। शास्त्र हाथ में आया नहीं था। परन्तु अन्दर से बात आती थी। यह (संवत्) ७२ की बात है। समयसार तो बाद में हाथ में ७८ में आया। (संवत्) १९७८। ४९ वर्ष हुए। पचास में एक कम। यह बात है ५५ वर्ष पहले की, ७२ की। अन्दर से बात आती थी कि यह नहीं। क्या कहते हैं यह बात। गुरु को कहा कि तुमको भी जो यह मान्य न हो तो हमारे यह गुरु नहीं चाहिए। यह सम्प्रदाय नहीं चाहिए। ऐसा तब उस समय (कह दिया था)। हम यह बात सुनना नहीं चाहते कि सर्वज्ञ, जिसको सर्वज्ञ कहते हैं, वह तीन काल—तीन लोक देखते हैं, ऐसी सर्वज्ञ की जिसको श्रद्धा हुई, उसको जन्म-मरण न मिटे, ऐसा तीन काल में होता नहीं। समझ में आया? आहाहा!

लोगों को शोध नहीं, अन्तर आत्मा क्या चीज़ है, यह शोधने की दरकार नहीं। बाहर में... बाहर में... एक तो संसार के पाप में पड़ा है। यह बीड़ियाँ धन्धा और ऐसा और फैसा... जिसे-जिसे (जो) हो वह। तुम्हारे यह... इन्हें बर्तन का। ऐई! तुम्हारे क्या है? दूसरा। जिसे जो हो, उसमें मानो फँसे हों २०-२० घण्टे। उसमें भी निवृत्ति एक-दो घण्टे मिले तो सुनने में मिले अन्धेरा। यह राग करो और ऐसा करो और पुण्य करो, तुम्हारा कल्याण होगा। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, उसका यहाँ समयसार नाटक में पहले प्रवेश में नाम लिया है। जीवतत्त्व का वर्णन बाद में करेंगे। जो समयसार में है, उसे पहले प्रवेश करते हैं, प्रवेशिका बनाते हैं कि शुद्ध जीवद्रव्य का नाम ऐसा कहना। भगवान तो सर्वज्ञस्वभावी प्रभु है, हों! आहाहा! वह रागवाला नहीं, पुण्यवाला नहीं, शरीरवाला नहीं, अल्पज्ञ नहीं। ऐसा भगवान सर्वज्ञस्वरूपी, उसने जो जाना है....

यह तो उसमें भी कहते हैं, श्वेताम्बर में यह सब भाषा कहते हैं, अर्थ की खबर नहीं। श्वेताम्बर में यह आता है, स्तुति में आता है। 'द्रव्य, क्षेत्र अरु काल भाव राज नीति से चार जी।' राज नीति है। फिर... आज्ञा...

मुमुक्षु : कोई लोपे नहीं भगवान को।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'त्रास बिना जड़ चैतन्य, प्रभु की कोई न लोपे कार जी।' ऐसा शब्द है। 'द्रव्य, क्षेत्र अरु काल भाव राज नीति से चार जी, त्रास बिना जड़ चैतन्य, प्रभु की कोई न लोपे कार जी।' कार अर्थात् आज्ञा। भगवान की आज्ञा कोई लोपता नहीं। भगवान के ज्ञान में जैसा देखा है, ऐसी पर्याय उस-उस द्रव्य में, उस-उस समय में होगी। यह भारी कठिन काम! बापू! उसमें तेरा स्वभाव का माहात्म्य देखा है। भगवान! तू कैसा है? तेरा अल्पज्ञपना भी तेरा नहीं, यह राग तेरा नहीं, पुण्य, तेरा नहीं, शरीर तेरा नहीं। तेरा तो सर्वज्ञस्वभाव है। समझ में आया? यह सर्वज्ञ का तेरापंथ है। आहाहा!

सर्वज्ञ प्रभु, यह आत्मा ही सर्वज्ञस्वरूप है। आत्मा की बात चलती है या नहीं?

मुमुक्षु : उसके तो नाम हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में तीन काल—तीन लोक एक साथ जाने, ऐसी शक्ति में पड़ा है भगवान, उस सर्वज्ञस्वभावी को आत्मा कहते हैं। आहाहा! भारी कठिन काम, भाई! दुनिया को कैसे पहुँचना अन्दर अब! अभी तो सुनने में आवे नहीं, वह विचारे कब, रुचि करे कब और परिणमन करे कब? डालचन्दजी! इन बीड़ियों में और बीड़ियों में जाये धन्धे में, रास्ते में। जिसे जो हो वह। जब अवसर आवे, फिर शरीर निर्बल पड़ जाये। हाय! अब काम करता नहीं। काम करने के काल में किया नहीं और फिर अब शरीर बैठता नहीं। हम बैठ सकते नहीं, आँख में से पानी आता है, कान से सुनते नहीं। तो पहले कर न, पहले। आहाहा!

वह आता है न, छहढाला में आता है।

मुमुक्षु : जबलौं न रोग....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जबलौं न रोग जरा गहै.... तब तक कर ले आत्मा का

काम, नहीं तो फिर नहीं होगा। पुरुषार्थ कम है तेरा। आहाहा! छहढाला में आता है। दौलतराम (कृत)। क्या कहा?

मुमुक्षु : जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति नित हित करौ।

पूज्य गुरुदेवश्री : झटिती-झट। रोग, वृद्धावस्था या मरण न आवे, उससे पहले तेरा काम कर ले। फिर ऐं... ऐं... हो जायेगा। सेठ! यहाँ तो ऐसा है भगवान! यह तो भगवान है सब आत्मा।

देखो! अन्त में कहेंगे। भाई! है न अन्तिम शब्द। अन्तिम शब्द है। ऐ, तुम्हारा नाम है उसमें, देखो! अन्तिम... अन्तिम में। भगवान है। नाम, हों, भाव नहीं। भगवान आत्मा है। आहाहा! चिल्लाहट मचाये अन्दर से। अरर... अरे! सुन तो सही, प्रभु! अभी नहीं। अभी नहीं तो कभी नहीं।

मुमुक्षु : वृद्धापन आवे तब करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वृद्धापन आवे तब मर जायेगा तब? हो गया। चौरासी के अवतार में मरता है, ऐसा होगा। जाये कौवे, कुत्ते, कंथवा, ढोर में अवतरित होगा। माया और कपट और कुटिल की बातें की हों, आड़ा हो जायेगा ऐसे आड़ा-आड़ा वांका। वे पशु वांका होते हैं न ऐसा। तिरछा होता है न पशु। गाय, भैंस, चूहा, छिपकली, घोड़ा ऐसे (तिरछे) होते हैं। ऐसे (सीधे) नहीं। यह मनुष्य ऐसा (सीधा) होता है, देखो! ऐसा होता है। भगवान कहते हैं कि क्यों ऐसा हुआ? कि पूर्व में टेढ़ाई बहुत की थी उसने—वक्रता, माया, कपट, कुटिल और दम्भ। ऐसी टेढ़ाई की थी कि उसका शरीर टेढ़ा हो गया। आत्मा तो टेढ़ा हो गया, परन्तु उसका शरीर टेढ़ा हो गया।

गोम्मटसार में... तिर्यंच है न। तिरछा... तिरछा... कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है। आहाहा! एक स्वभाव भी स्वीकार करे... मैं तो सर्वज्ञस्वभावी आत्मा, उसको भगवान, आत्मा कहते हैं। मैं तो सर्व का जाननेवाला हूँ, ऐसा मेरा स्वभाव है। कोई विकल्प का करना या पर का करना या पर से लेना, यह कुछ मुझमें है नहीं। आहाहा! संसार ने बाहर से मिठास सेवन की हो न! चन्द्रकान्तजी! मिठास सेवन करे उसे चोट लगे यह तो। पोपटभाई!

मुमुक्षु : चोट लगे तो कहीं दवा लेने जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु चोट लगने देता नहीं.... !

'**सर्वज्ञ**'... एक समय अर्थात् सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। आहाहा! शंका का स्थान कहाँ वहाँ? कि कब मेरा कल्याण होगा? परन्तु कल्याणमूर्ति सर्वज्ञस्वभाव है तेरा। ऐसी दृष्टि हुई तो कल्याण को कब्जे में कर लिया। समझ में आया? कल्याणमूर्ति प्रभु वीतरागमूर्ति सर्वज्ञस्वभावी—ऐसे आत्मा की प्रतीति अन्तर्मुख सन्मुख होकर की, सारे कल्याण को कब्जे में कर लिया। आहाहा! परन्तु स्वतत्त्व की क्या शक्ति है, क्या माहात्म्य है, उसकी खबर नहीं। सब पर की बातें, स्व को छोड़कर। 'सर्वज्ञ' स्वभावी।

'सिद्ध' अब। लो, आत्मा सिद्ध है। आहाहा! 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' आता है या नहीं बनारसीदास में? आ गया अपने। 'चेतन रूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो' मेरा स्वरूप तो सिद्धस्वरूपी है। 'मोह महातम आतम अंग कियो, परसंग महातम घेरो।' मैं हूँ तो ऐसा, परन्तु मेरी पर्याय में राग और पुण्य आदि विकल्प को मेरा मानकर मैंने महातम अज्ञान खड़ा किया। 'मोह महातम आतम अंग कियो, परसंग महातम घेरो। ज्ञानकला उपजी अब मौकू।' मैं तो सर्वज्ञस्वभावी हूँ। राग नहीं, अल्पज्ञ नहीं। ज्ञानस्वभाव... उपजी ज्ञानकला। केवलज्ञान नहीं, परन्तु यह वहाँ 'ज्ञानकला उपजी अब मौकू, कहुं गुण नाटक आगम केरो, जसु प्रसाद सधै शिवमार्ग, वेगे मिटे घट वास वसेरो।' आहाहा! यह पहले आ गया है। समझ में आया?

देखो, पहले आया है। ११ पद (उत्थानिका)। ११वें पद में आया है, देखो, यह पृष्ठ है नौ। नौ पृष्ठ है न नीचे। '**चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्धसमान सदा पद मेरौ**' लो, सिद्ध। यहाँ अपने सिद्ध कहना है न! आत्मा सिद्ध है। शक्ति से, द्रव्य से, स्वभाव से सिद्ध है। आहाहा! न हो तो सिद्धपद कहाँ से आयेगा? '**मोह महातम आतम अंग**' परन्तु मैंने अज्ञान से पर और राग को अपना मानकर, मिथ्यात्व का अंग, अपने स्वभाव में मिथ्यात्व का अंग जोड़ दिया। '**कियो परसंग**' मैंने परसंग किया। पर को तो कुछ नहीं किया। '**महातम घेरौ**' अज्ञान का घेरा हुआ।

ग्यानकला उपजी अब मोहि, कहौं गुन नाटक आगमकेरौ।
जासु प्रसाद सधै सिवमारग, वेगि मिटै भववास बसेरौ॥

लो, बनारसीदास स्वयं कहते हैं। 'सिद्ध' आया न उसमें। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो...' यह सिद्ध कहा, देखो! सिद्ध ही मैं हूँ स्वभाव में—वस्तु से। आहाहा! दृष्टि का विषय तो आत्मा सिद्धसमान स्वरूप है। दृष्टि—सम्यग्दर्शन में अल्पज्ञ और राग आदि उसका विषय है नहीं।

'**स्वामी**' है वह तो। यह तीन लोक का नाथ अनन्त गुण का स्वामी आत्मा है। क्या कहते हैं? मैं तो अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप स्व—अपना धन, उसका मैं स्वामी हूँ। पत्नी का पति मैं नहीं, ऐसा कहते हैं। लक्ष्मीपति नहीं। लक्ष्मीपति—लक्ष्मी-जड़ का पति जड़! नृपति—यह नर—मनुष्य का पति राजा कहते हैं न! धूल भी नहीं अब सुन न! लक्ष्मीपति और धूलपति और लखपति, ऐसा कहते हैं या नहीं? ऐसे जड़ का धनी!

यहाँ तो कहे, अपना आनन्द और ज्ञान अनन्त गुण का स्व-स्वामी मैं हूँ। आहाहा! मैं तो मेरा स्वामी हूँ। मैं तो राग का भी नहीं और पुण्य का नहीं और पर का स्वामी मैं (नहीं)। ऐसा उसका स्वरूप है। बहुत मकान है तुम्हारे वहाँ। मकान का स्वामी नहीं? मकान का स्वामी मकान जड़।

मुमुक्षु : मकान के किस भाग का स्वामी कहलाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरे मकान का स्वामी कहे, देखो!

मुमुक्षु : ....घर के जितने व्यक्ति हो, उतने कहे हम स्वामी।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब कहे, सब कहे, हम करोड़पति हैं, सब कहे हम करोड़पति हैं।

और कन्या जहाँ बीस वर्ष की हुई... सब कहते हैं कि मैं करोड़पति। बीस वर्ष की हुई और जहाँ सगाई की, ख्याल में आया कि ओहो! मूरतिया है, बीस वर्ष की उम्र है और लाख-दो लाख की पूँजी है। बस, समाप्त हो गया। करोड़पति... करोड़पति मानती थी, बदल गयी दृष्टि। सम्बन्ध हुआ, बदल गयी दृष्टि। सब कहते हैं, पुत्री को देना। परन्तु यह दे नहीं कुछ एकदम। परन्तु यह बँटवारे में लड़की को-पुत्री को देना,

ऐसा कहते हैं न, लड़को को देना। कोई दे नहीं, सब (उसके) भाग का खाये।

मुमुक्षु : कानून ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कानून आवे तो यह सब छुपा दे, ऐसे हैं सब।

यहाँ कहते हैं कि उस पुत्री को ख्याल आ गया। बीस वर्ष की उम्र में जहाँ सगाई हुई। यह लक्ष्मी हमारी नहीं अब। यह बात कान में पड़ी, वहाँ अन्तर पड़ गया, स्वामित्व (छूट गया)। अब तो वह वर और स्वामी वह। यह नहीं। घर और वर वह। ख्याल में आ गया कि यह (करोड़) तो (मेरे) नहीं। दृष्टि बदल गयी। इसी प्रकार अज्ञानी की दृष्टि थी कि मैं राग हूँ और पुण्य हूँ। दृष्टि गुलाँट खा गयी (तो) मैं राग नहीं। जैसी लड़की की दृष्टि बदली, वैसी ही दृष्टि बदल गयी। ओहो! मैं तो मेरे अनन्त आनन्द, ज्ञान का स्वामी हूँ, कि जो मेरी चीज़ है। राग और पुण्य, वह मेरा नहीं, मैं उसका स्वामी नहीं। आहाहा! कितनी देर लगे? कान में पड़ी वहाँ। अरे! अब तो माँ-बाप दे वह सही। पाँच-पचास हजार, लाख-दो लाख। बाकी कुछ अपने इसके स्वामी नहीं। घर की वह....

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन में; पहले जो अज्ञान में राग और पुण्य को यह मेरा सब था और मैं स्वामी था। दृष्टि गुलाँट खा गयी। मैं तो सर्वज्ञ सिद्ध समान हूँ। यह मेरी चीज़ और उसका मैं स्वामी हूँ। रागादि मेरी चीज़ नहीं और मैं उसका स्वामी नहीं। समझ में आया? कठिन बातें, भाई! ऐसी महँगी बातें, कहे। वह कहे कि पचे नहीं। और ऐसा कहा एक व्यक्ति ने। यह सत्य न पचे तो असत्य पचे? असत्य तो पचा है अनादिकाल से। फेरा लगाकर चौरासी के अवतार में भटकने गया है।

यहाँ भले राजा हो, हीरा के उसमें (पलंग में) पड़ा हो, लो। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती। सोलह हजार देव सेवा (करे), बत्तीस हजार राजा चँवर ढाले। मरकर सातवें नरक में गया दूसरे क्षण में। एकदम नीचे उतरा नीचे। वह तो बाहर की चीज़ संयोगी है। वह कहाँ रह गयी तेरी? ममता करके पाप किया तो पाप का बोझा चढ़ा तो गया हेठे—नीचे। तेरी चीज़ में तो कुछ पुण्य और पाप कोई चीज़ भी नहीं न! आहाहा! किसका स्वामी? मेरा आनन्द, ज्ञान पूर्ण, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी सिद्ध समान, उसका मैं स्वामी। धर्म होते ही ऐसी दृष्टि हो जाती है, ऐसा कहते हैं। बाकी सब नाम ले धरम... धरम... धरम। स्वतन्त्र हैं।

‘**शिव**’... आत्मा शिव है। शिव कौन, वह शंकर नहीं। शिव का अर्थ कल्याणमूर्ति। उपद्रव नहीं। शिव का अर्थ ऐसा है, जिसमें कोई उपद्रव ही नहीं। उपद्रव बिना की चीज़ मैं हूँ, उसको शिव कहा जाता है। वह ‘नमोत्थुणं’ में आता है। ‘सिवमलयमरुमणंत...’ आता है। शिव हूँ। यह तो आत्मा को शिव कहते हैं, अनादि-अनन्त शिव है। सुख का धाम परमात्मा है। उपद्रव अर्थात् दु:ख जिसमें गन्ध नहीं, उसको आत्मा कहते हैं। तो शिव है, लो।

‘**धनी**’ है। अपने स्वरूप के धन का धनी है। धनी तो आत्मा को कहते हैं, आत्मा को। पैसेवाले को धनी, धनी कहते हैं, वे तो मुफ्त के जड़ हैं। कैसा धनी? अपना आनन्द आदि अनन्त गुण, वह अपना धन है और अपने धन का वह धनी है। आहाहा! वह आत्मा। पर का धनी हो जाता है तो अनात्मा—जड़ हो जाता है। दृष्टि मिथ्यात्व होती है।

‘**नाथ**’ है। नाथ आत्मा है। नाथ का अर्थ कि अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप की दृष्टि हुई, प्रगट हुआ कि मैं तो नाथ, पहले अपना नाथ ही हूँ और नहीं प्रगट की हुई पर्याय प्रगट होगी। वह (प्रगट) है, उसको रखता है और नहीं है, उसको प्राप्त कराता है, उसका नाम नाथ कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा अपना नाथ है। अपनी स्वरूपलक्ष्मी की प्रतीति हुई, ज्ञान हुआ कि मैं तो शिवस्वरूपी नाथ हूँ। जितनी पर्याय प्रगट हुई और (जितनी) पर्याय प्रगट नहीं हुई, उसको प्राप्त करायेगा। अन्तर (अनुभव) होकर ऐसी पर्याय प्रगट होगी, तो उसको यहाँ नाथ कहने में आता है। ...क्षण-क्षण में उसको नाथ कहते हैं न!

‘**ईश**’ मैं ईश्वर हूँ। लो, चिल्लाहट मचाये। आत्मा ईश्वर, अपना आत्मा ईश्वर है। अपना कोई दूसरा ईश्वर है नहीं, नहीं है तीन काल में। कैसे जँचे? ‘**ईश**’ है न ईश। फिर ‘**जगदीश**’। जगत का मैं ईश हूँ। जाननेवाला हूँ जगत का। तीन काल—तीन लोक का मैं जाननेवाला हूँ। और ‘**भगवान**’ है, लो। मैं भगवान हूँ। आत्मा भगवान है। आहाहा! ‘भग’ अर्थात् ज्ञान और आनन्द की लक्ष्मी, ‘वान’ अर्थात् रूप। अपने ज्ञान और आनन्द की लक्ष्मी का रूप भगवान है। ऐसे नाम उतार दिये।

(**श्रोता** : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १३, माघ शुक्ल ३, शुक्रवार, दिनांक २९-१-१९७१
उत्थानिका, पद—३७ से ४२

काव्य - ३७

सामान्यत: जीवद्रव्य के नाम

चिदानंद चेतन अलख जीव समैसार,
बुद्धरूप अबुद्ध असुद्ध उपजोगी है।
चिद्रूप स्वयंभू चिनमूरति धरमवंत,
प्रानवंत प्रानी जंतु भूत भवभोगी है।।
गुनधारी कलाधारी भेषधारी विद्याधारी,
अंगधारी संगधारी जोगधारी जोगी है।
चिन्मय अखंड हंस अक्षर आतमराम,
करमकौ करतार परम विजोगी है।।३७।।

अर्थ :- चिदानन्द, चेतन, अलक्ष, जीव, समयसार, बुद्धरूप, अबुद्ध, अशुद्ध, उपयोगी, चिद्रूप, स्वयंभू, चिन्मूर्ति, धर्मवन्त, प्राणवन्त, प्राणी, जन्तु, भूत, भवभोगी, गुणधारी, कलाधारी, भेषधारी, अंगधारी, संगधारी, योगधारी, योगी, चिन्मय, अखण्ड, हंस, अक्षर, आत्माराम, कर्म-कर्ता, परमवियोगी-ये सब जीवद्रव्य के नाम हैं।।३७।।

काव्य-३७ पर प्रवचन

पहला नाम तो है **चिदानन्द...** पहला नाम चिदानन्द है। ज्ञानानन्द उसका नाम ही है। चिद् अर्थात् ज्ञान+आनन्द। वह तो ज्ञान और आनन्द का स्वरूप आत्मा है। उस आत्मा का नाम चिदानन्द आत्मा। सहजानन्द आत्मा। आत्मा का नाम ही सहजानन्द है। **चेतन...** उसे चेतन कहते हैं। चेतनेवाला है न, जाननेवाला चेतना—चेतन भी कहते हैं। वह शुद्ध है। **अलख—**इन्द्रियों से जानने में न आवे, इस प्रकार से अलख भी कहने में आता है। अलख। अलख—लखा न जाये। अलख अर्थात् इन्द्रिय और विकल्प से

जानने में न आवे, ऐसा आत्मा है। अलख। **जीव...** यह तो साधारण नाम है। जीव—स्वरूप से जीवे वह जीव। जीव उसका नाम है।

समैसार... लो। आत्मा का समयसार नाम है। यह समयसार ग्रन्थ है न, समयसार—सम्+अय और सार। जिसमें द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म से रहित इसका नाम समयसार। नाम है। ३७, ३७। ३७ श्लोक (पद)। तीन और सात। पाँच नाम हो गये। **समैसार...** समयसार—सम्+अय और सार। आत्मा को समयसार कहते हैं। क्योंकि सम्यक् प्रकार से अपने आनन्द और ज्ञान का परिणमन करके, सार अर्थात् शरीर—नोकर्म, द्रव्यकर्म-जड़कर्म और पुण्य-पाप के भाव, (वह) भावकर्म—उनसे रहित ऐसे आत्मा को समयसार कहा जाता है। आत्मा ही समयसार है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो वाचक शब्द है। वास्तव में आत्मा समयसार है। आहाहा!

बुद्धरूप... वह तो बुद्धरूप है, ज्ञान का पिण्ड है। 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन...' श्रीमद् में आता है। बुद्धरूप है। बुद्धरूप अकेला ज्ञानस्वरूपी आत्मा है। **अबुद्ध...** अपने स्वरूप को नहीं जानते हैं तो अबुद्ध भी है अज्ञान में। पर्याय में जब तक आत्मा न जाने, तब तक अपने स्वरूप का अबुद्ध है—जाननेवाला नहीं है। वह भी आत्मा। यहाँ ऐसा कहना है कि अबुध, जो अज्ञान है, वह भी आत्मा है। अज्ञान पर से होता है या पर के कारण से होता है, ऐसा नहीं है। अपनी चीज़ ज्ञान और आनन्द की निधान उसको न जाने और राग आदि अपना माने, वह अबुद्ध भी आत्मा है। आत्मा ही है न, वह कहीं जड़ नहीं है। आहाहा! और (अबुद्ध) ऐसा अज्ञानरूप से कहने में आता है, राग-द्वेषपनेरूप भाव होता है, वह जीव की दशा में होता है। 'अपने को आप भूलके हैरान हो गया।' परन्तु यह भूलता है, वह अपने से भूलता है। कर्म से, पर से भूलता नहीं। कैसा नाम भाई का? वे, यह नहीं। सुनो-सुनो। मैंने कहा, वे मैनेजर हैं। सुने तो सही अब। मैनेजर नहीं। दूसरे कोई होंगे।

भवभोगी... भव का भोगनेवाला भी आत्मा है। मनुष्यगति, नरकगति की विकारी दशा भोगनेवाला आत्मा है, वह कोई जड़ नहीं भोगता। आहा! सुख-दुःख की कल्पना, उसका भोगनेवाला अज्ञानी आत्मा है, वह आत्मा भोगता है। शरीर का धर्म दूसरा है

और आत्मा का धर्म भोगना ऐसा... भाई! रोग आदि हैं, वे शरीर का धर्म है तो शरीर भोगे, वह तो दूसरी चीज़ हुई। परन्तु रोग के समय प्रतिकूलता का अंश द्वेष आता है, वह जीव भोगता है। श्वास चलता है न बहुत, तो उस अज्ञानरूप से राग-द्वेष का भोक्ता, भव का भोक्ता जीव है। जैसे सिद्ध परमात्मा की दशा का भोक्ता जीव है, वैसे विकारी पर्याय, भव का भोक्ता जीव है। पर का भोक्ता नहीं। जड़ का—लड्डू, दाल, भात, सब्जी का भोक्ता आत्मा तीन काल में नहीं। वह तो जड़ है, जड़ को क्या भोगे? परन्तु जड़ के प्रसंग में अनुकूल में राग और प्रतिकूल में द्वेष—मनुष्यगति तो गम्य और अच्छी है, देवगति अच्छी है, नरकगति खराब है, ऐसे राग और द्वेष का, भव का भोगनेवाला आत्मा है। कहो, समझे?

गुनधारी... गुण का धराक। अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि गुण है, उसका धरनेवाला आत्मा है। उसको गुणधारी कहते हैं। गुणधारी—गुण का धरनेवाला। **कलाधारी...** आनन्द आदि कला, ज्ञान आदि कला का धरनेवाला आत्मा है। समझ में आया? **कलाधारी। भेषधारी...** संवर, निर्जरा, मोक्ष, संसार, राग आदि वेश का धरनेवाला भी आत्मा है। समझ में आया? राग-द्वेष भी वेश है और संवर, निर्जरा धर्म की पर्याय हो, वह भी वेश है, त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से। उस वेश का धरनेवाला आत्मा है। शरीर, वाणी, मन पर है। पर से आत्मा नहीं और आत्मा से शरीर नहीं। आहाहा!

देखो! यह समयसार नाटक। बनारसीदास (कृत)। जीव को इतने नाम से जानने में आता है। **भेषधारी... विद्याधारी...** विद्या का धरनेवाला आत्मा है। अज्ञान की विद्या हो या ज्ञान की। समझ में आया? केवलज्ञान की विद्या धरनेवाला भी आत्मा और अज्ञान की विद्या धारनेवाला भी आत्मा, उसको विद्याधारी कहने में आता है। **अंगधारी...** शरीर के अंग का धरनेवाला निमित्त से कहा जाता है। **अंगधारी...** है न अंग। शरीर का धरनेवाला व्यवहार से है। **संगधारी...** राग आदि संग का धरनेवाला आत्मा है। स्त्री, कुटुम्ब के संग का धरनेवाला नहीं। राग और द्वेष का संग कहा तो उस संग का धरनेवाला आत्मा है। आहाहा!

जोगधारी... जोग—मन, वचन और काया। शरीर जड़ नहीं, परन्तु अन्दर कम्पन।

आत्मा में मन, वचन और काया जड़ के निमित्त से अपने में अपने कारण से कम्पन होता है, उस जोग का धरनेवाला आत्मा है। **जोगधारी**। और **जोगी...** जोग को धरनेवाला जोगी। धर्मात्मा को जोगी भी कहने में आता है। समझ में आया? सुलटी दृष्टि से लो तो अपने शुद्ध आत्मा में योग करके निर्मल श्रद्धा, ज्ञान करके रहता है तो वह **जोगधारी...** है। यह लोग कहे, जोग साधन करना—साधन करना, वह बात सब झूठ है। ध्यान... ध्यान करो ध्यान। परन्तु किसका ध्यान? चीज़ क्या है, समझ में आयी नहीं, श्रद्धा में आयी नहीं तो ध्यान किसका?

जोगधारी... अपना ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, उसमें जोग—जुड़ान करके रहना, वह 'जोगधारी' है और वह योगी है। आहाहा! शुद्धस्वरूप पवित्र भगवान की श्रद्धा-ज्ञान करके शान्ति का धरनेवाला वह **जोगी** आत्मा है। आत्मा को **जोगी** कहते हैं। भोगी भी आत्मा और जोगी भी आत्मा। राग-द्वेष का भोगनेवाला भी आत्मा और आनन्द का भोगनेवाला भी आत्मा।

चिन्मय... वह चिन्मूर्ति थी, यह **चिन्मय...** यह तो ज्ञानमय वस्तु है। जैसे शक्कर मिठासमय है, वैसे आत्मा ज्ञानमय है। शक्कर मिठासमय है, वैसे आत्मा चिन्-ज्ञानमय है। कितने नाम दिये हैं। **अखंड...** भगवान अखण्ड वस्तु है, कुछ खण्ड नहीं। असंख्य प्रदेश होने पर भी अभेद अखण्ड है। उसमें टुकड़े नहीं कि भाई! इस अँगुली का टुकड़ा भिन्न है (और) यहाँ का टुकड़ा भिन्न है। आत्मा के प्रदेश में सब अखण्ड, असंख्य प्रदेश में अखण्ड है। **हंस** है। **हंस** कहते हैं उसको। क्योंकि राग-द्वेष और स्वभाव को भिन्न करने की सामर्थ्य रखता है तो हंस कहने में आता है। भेदज्ञान करने की सामर्थ्य रखता है, तो हंस है हंसला। उसको कहते हैं... भजन में आता है। भजन में भी आता है। बहुत सुनते थे न पहले।

'मारो हंसलो नानो ने देवळ जूनुं थयुं। जूनुं थयुं रे देवळ जूनुं थयुं।' यह शरीर देवल। जूना अर्थात् जीर्ण हुआ। समझ में आया या नहीं? नहीं आता है? शब्द तो तुम्हारे हैं। जूना है। जीर्ण अब क्या शब्द? जीर्ण हुआ।

मुमुक्षु : पुराना हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुराना हुआ। जीर्ण हुआ, देखो यह क्या है? 'मारो हंसलो नानो ने देवळ जूनुं थयुं।' पुराना हो गया। वह हंस छोटा (आत्मा) ऐसा को ऐसा है। उसमें कुछ वृद्धावस्था या बाल अवस्था है नहीं। आहाहा! वह भजन आता है। हम बहुत सीखते थे न! पहले भजन गाते थे न! समझ में आया?

पहले से भगत कहलाते थे, छोटी उम्र से। दुकान का धन्धा करें तो भी कहलायें भगत। बहुत रस नहीं न, (इसलिए लोग कहते), भगत है, यह भगत। कहते हैं कि हंसलो... प्रभु आत्मा हंस। हंस और परमहंस नहीं कहते हैं? परमहंस किसे कहते हैं? राग-द्वेष, अज्ञान से हटकर अपने स्वरूप के आनन्द का अनुभव करे, उसका नाम हंस कहते हैं। और विशेष वीतरागदशा प्रगट करे, उसका नाम परमहंस है। वस्त्र पहन लिये बाहर के लाल और पीले और हाथ में लकड़ी है, वह हंस है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? **हंस।**

अक्षर... लो, अक्षरधाम आया। **अक्षर** है। कभी खिरे नहीं कभी। अनादि-अनन्त अविनाशी भगवान आत्मा है... है... क्षीरना (खिरना)—नाश होना कभी है नहीं। यह अक्षरधाम आत्मा है। स्वामीनारायण में कहते हैं न (कि) अक्षरधाम में गया। अक्षरधाम वहाँ कहाँ था? वह तो यहाँ है अक्षरधाम।

मुमुक्षु : नाम रखा है अक्षरधाम।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ कहाँ है? यहाँ तो अक्षरधाम आत्मा है।

मुमुक्षु : यह भाव की बात करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया? आत्मा राग और द्वेष के, पुण्य-पाप के विकल्प को छोड़कर अपनी अविनाशी शक्ति है, उसको प्रगट करता है, वही अक्षरधाम है। आहाहा!

आतमराम... अपने स्वरूप में—निजपद में रमे सो राम कहिये। निजपद रमे.... अपना ज्ञान और आनन्दस्वरूप, उसमें रमे और विकार से हट जाये, ऐसे भाव को, ऐसे द्रव्य को आतमराम कहते हैं। समझ में आया? **करमकौ करतार...** आत्मा ही स्वयं भावकर्म विकारी को करनेवाला है। जड़ कर्म-बर्म उसको विकार कराते हैं, ऐसा है

नहीं। आहाहा! अज्ञानरूप से स्वरूप का भान नहीं, मैं ज्ञान और आनन्द हूँ—ऐसी दृष्टि के अभाव में वह पुण्य-पाप विकल्प का कर्ता तो आत्मा ही है। 'करे कर्म सो ही करतारा, जो जाने सो जाननहारा...' जाननहार कर्ता नहीं और कर्ता, वह जानता नहीं... तो राग-द्वेष का कर्ता आत्मा है। कर्म है न कर्म। **करमकौ करतार...** विकारीभाव का कर्ता। जड़ का कर्ता व्यवहार से कहने में आता है। वास्तव में तो अपने स्वरूप को भूलकर विकारी शुभ-अशुभभाव जो हैं—दया, दान, व्रत, भक्ति, वह शुभभाव; हिंसा, झूठ, चोरी, अशुभभाव—उसका करनेवाला अज्ञानी आत्मा ही है।

परम... लो। **परम विजोगी...** पूरा शब्द लिया है। **परम विजोगी...** राग से अत्यन्त परम वियोगी आत्मा है। शुद्ध चैतन्यघन इस राग से, पुण्य की क्रिया से परम वियोगी है। उसमें परम वियोग है। विकार का परम वियोग उसको यहाँ आत्मा कहते हैं। लो, इतने नाम साधारण दिये। पहले कल आया था 'शुद्ध'। अब, आकाश के नाम। यह तो प्रवेश कराते हैं न कि ऐसे-ऐसे नाम आयेंगे, उसमें समझ लेना कि यह नाम जीव का है, यह नाम आकाश का है। ऐसे भिन्न-भिन्न नाम आयेंगे।

आकाश पदार्थ है अरूपी लोकालोक व्यापक। लोक—चौदह ब्रह्माण्ड और खाली (अलोकाकाश मिलकर) व्यापक आकाश है। अरूपी है, अनन्त प्रदेशी है, एक वस्तु है। उसके नाम शास्त्र में क्या चलते हैं। भिन्न-भिन्न नाम चलते हैं, ऐसा कहते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ३८

आकाश के नाम (दोहा)

खं विहाय अंबर गगन, अंतरिच्छ जगधाम।
व्योम वियत नभ मेघपथ, ये आकाश के नाम।।३८।।

अर्थ :- खं, विहाय, अम्बर, गगन, अन्तरिक्ष, जगधाम, व्योम, वियत, नभ, मेघपथ-ये आकाश के नाम हैं।।३८।।

काव्य-३८ पर प्रवचन

खं... उसको—आकाश को **खं** कहते हैं। 'ख' अर्थात् आकाश। खग... खग... पंखी को कहते हैं, सूर्य को खग कहते हैं। ख—आकाश, ग—गमन करनेवाला। आकाश में गमन करे, वह सूर्य। सूर्य को खग कहते हैं और पक्षी को भी खग कहते हैं। समझ में आया? 'खग पद गगन मीनपद जल में, जो खोजे सो बोरा।' खग पद गगन... खग। ख अर्थात् आकाश में गमन करनेवाला पंखी। कहाँ चला (था), ऐसा पैर कोई खोजे-शोधे, वह मूर्ख है। वहाँ पैर कहाँ पड़ा है नीचे?

खग पद गगन... गगन—आकाश में पंखी का पैर... यहाँ उड़ा था, यहाँ पैर था, यहाँ पैर था। मूर्ख है? वहाँ कहाँ पैर है? खग पद गगन, मीन पद जल में... और मछली के पैर पानी में शोधे। मछली चली हो... मूर्ख है, वहाँ कहाँ पैर है? जो खोजे सो बोरा। ऐसे आनन्दघन चेतन अन्दर खेले। आत्मा अखण्ड आनन्द... यह राग में और पुण्य में आत्मा शोधे, मूर्ख है। समझ में आया? जैसे आकाश में पंखी का पैर खोजे, वह मूर्ख है। बोरा अर्थात् मूर्ख। जल में मछली का पैर खोजे, वह मूर्ख। इसी प्रकार देह और पुण्य-पाप के राग में आत्मा खोजे, वह मूर्ख है। गोते कहते हैं या नहीं? शोधे-ढूँढ़े उसमें, मूर्ख है। आहाहा! '**खं**' उसको कहते हैं, लो। आकाश को।

विहाय... यह आकाश का नाम है। **विहाय... अंबर...** यह आकाश का नाम है। अम्बर कहते हैं न? दिगम्बर-दिगम्बर। आकाश जिसका अम्बर है। जिनको वस्त्र नहीं। दिगम्बर—'दिग्' अर्थात् आकाश। 'अम्बर' है वस्त्र (जिसका)। यहाँ 'अम्बर' आकाश को कहते हैं। **गगन...** यह तो कहा। गगन कहलाये न, गग्... आकाश को गगन कहते हैं। **अंतरिच्छ....** अन्तरिक्ष, किसी का आधार नहीं उसको। आकाश का आधार आकाश। अरूपी महापदार्थ सर्वव्यापी, जगत और अलोक में व्यापक, वह अन्तरिक्ष है।

जगधाम... यह जगत का स्थान। पूरी दुनिया जिसमें रहती है व्यवहार से, ऐसे आकाश को 'जगधाम' कहते हैं। **व्योम...** आकाश का नाम है। **वियत...** ये आकाश का नाम है। 'वियत' अर्थात् विस्तार। विस्तार है न विस्तार आकाश का। **नभ...** यह आकाश

का नाम है। नभ और **मेघपथ...** मेघ का पथ—वर्षा का रास्ता। बादल चलते हैं न। वह अरूपी आकाश है, उसमें चलते हैं। **मेघपथ—**वर्षा-मेघ का पंथ, पंथ है। **ये अकाशके नाम...** लो। **आकाश के नाम...** (ऐसा) यहाँ शब्द है न! आकाश नाम का पदार्थ है हों अरूपी। भगवान ने देखा है। वह आकाश इतने नाम से प्रसिद्ध है, विशेष नाम बहुत हैं। अब काल के नाम।

★ ★ ★

काव्य - ३९

काल के नाम (दोहा)

जम कृतांत अंतक त्रिदस, आवर्ती मृतथान।
प्रानहरन, आदिततनय, काल नाम परवान।।३९।।

अर्थ :- यम, कृतांत, अन्तक, त्रिदश, आवर्ती, मृत्युस्थान, प्राणहरण, आदित्यतनय-ये काल के नाम हैं।।३९।।

काव्य-३९ पर प्रवचन

जम... जम... यह यम आवे, वह नहीं—ऐसा कहते हैं। यम आता है न लेने को। कौन आता है धूल। काल को ही 'जम' कहते हैं। जिस समय देह छूटने का काल है, उसको ही 'जम' कहते हैं। आता है न वह फोटो में आता है कुछ, नहीं?

मुमुक्षु : यम के दूत।

पूज्य गुरुदेवश्री : यम का दूत और वह शंकर का लिंग है, उसमें एक आदमी है, तो यम आया भैंसे पर चढ़कर। पाड़ा समझे? भैंसा। भैंसा पर चढ़कर यम आया। आता है न फोटो में आता है। देखा है न, हमने तो बहुत देखा है न सारा। चित्र आता है। एक भैंसा था। एक भैसा था और भैंसा पर यम बैठा है। एक मनुष्य को लेने को (आता है)।

तो उस मनुष्य ने शंकर के लिंग को पकड़ लिया कि मुझे बचाओ। ऐसा फोटो, बड़ा फोटो है। देखा है न कुछ? ऐसे यम-बम कोई लेने नहीं आता, धूल भी लेने आता नहीं। उसमें ऐसा कहे, स्वामीनारायण लेने को आते हैं। ऐई! कहते हैं न? कौन लेने आवे? वह काल की अवधि, उसको ही 'यम' कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? वस्तु की स्थिति ऐसी है। '**जम।**'

कृतांत... लो, काल को कृतान्त कहते हैं। अन्त आया न काल का! अन्त, अन्त अर्थात् पूरा करनेवाला काल। **कृतांत... अंतक...** लो, अन्त का करनेवाला—अन्त का करनेवाला। देह की स्थिति पूरी हो, वह काल। कोई भी अवधि हुई, वह अन्त... **त्रिदस...** लो, यहाँ त्रिदस कहते हैं काल को।

मुमुक्षु : तेरहवाँ करते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो और लोग तेरहवाँ करते हैं, परन्तु ऐसे तो समुच्चय यह शब्द है। वह तो वैष्णव तेरहवाँ करते हैं। वैष्णव में तेरहवाँ करते हैं। बारह दिन के बाद तेरहवाँ मृत्युभोज करते हैं। दा'डा समझे? मर जाने के बाद का भोजन—मृत्युभोजन। और यह त्रिदस यहाँ शब्द है। देव को त्रिदस कहते हैं।

आवर्ती... परावर्तन करनेवाला अंश को काल कहते हैं। **आवर्ती...** जड़ और चैतन्य को पलटते हैं, उस पलटने की पर्याय को भी काल कहते हैं। आता है न भाई स्वकाल? आहाहा! निश्चयकाल वह है। आत्मा और जड़ समय-समय में परिवर्तन करते हैं, उसका नाम ही काल है। भगवान ने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव लिया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है और पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपना द्रव्य अर्थात् वस्तु—गुण-पर्याय का पिण्ड, क्षेत्र अर्थात् अवगाहन, काल अर्थात् दशा, भाव अर्थात् शक्ति। आहाहा! बहुत थोड़े में समाहित कर दिया है। वह सप्तभंगी का पहला बोल है। अपने स्वचतुष्टय से अस्ति, परचतुष्टय से नास्ति। है या नहीं? वह अपनी पर्याय जो है, वही स्वकाल है। समझ में आया? तो उसको यहाँ 'आवर्ती' कहते हैं। '**आवर्ती'—बदलना।**

मृतथान... लो, आया। यह मरने का स्थान, उसे काल कहते हैं। कि भई! काल

यम ले गया। कौन यम लेता था? यम आवे फिर कौन पकड़े उसे? आहाहा! वह तो अरूपी चैतन्यघन है। उसकी देह की स्थिति—मुद्दत पूरी होगी, उसको **मृतथान** कहते हैं। **प्रानहरन...** लो, ठीक! यह दस प्राण हैं न—पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वास और आयुष्य छूट जाये, उसको **प्रानहरन,** इस काल को 'प्राणहरण' कहते हैं। आहाहा!

आदिततनय... यह सूर्य का पुत्र। आदित्य—सूर्य। आदित्य है न, आदि इस दिवस की आदि करनेवाला है न? सूर्य है, दिवस की आदि करनेवाला। आदित्य... आदित्य। सूर्य आदि का करनेवाला। उससे काल का माप होता है न! तो **आदिततनय...** यह काल सूर्य का पुत्र है। सूर्य की गति का माप देने में निमित्त, इसीलिए उसे **आदिततनय** कहने में आता है। यह तो अध्यात्म की बात है भैया! बाहर के साथ कुछ मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! **काल नाम परवान...** लो। **काल नाम परवान... ये काल के नाम हैं... परवान...** हाँ, प्रमाण। काल का प्रमाण है, काल का।

अब पुण्य के नाम। कितने नाम से पुण्य परखने में—जानने में आता है।

★ ★ ★

काव्य - ४०

पुण्य के नाम (दोहा)

पुन्य सुकृत ऊरधवदन, अकररोग शुभकर्म।
सुखदायक संसारफल, भाग बहिर्मुख धर्म।।४०।।

अर्थ :- पुण्य, सुकृत, ऊर्ध्ववदन, अकररोग, शुभकर्म, सुखदायक, संसारफल, भाग्य, बहिर्मुख, धर्म - ये पुण्य के नाम हैं।।४०।।

काव्य-४० पर प्रवचन

पुन्य... शुभभाव को भी पुण्य कहते हैं और परमाणु बँधें, उसको भी पुण्य कहते हैं। सवेरे कहा था, नहीं? 'लक्ष्मी खरचने से कम नहीं होती, पुण्य क्षीण होने से लक्ष्मी

क्षीण हो जाती है।' पूर्व का जो पुंज पड़ा है जड़ परमाणु, वह जो समाप्त हो गया, पैसे खर्चे बिना समाप्त हो जाता है। खर्चने से कम नहीं होता। ऐसा पुण्य उसको कहते हैं। पुण्य के दो प्रकार—एक दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम को पुण्य कहते हैं और उससे परमाणु बँधे, उसको जड़ पुण्य कहते हैं। यह भाव पुण्य और वह जड़ पुण्य। **सुकृत...** शुभभाव को सुकृत कहते हैं न लोग। अच्छा काम किया, ऐसा कहे। पाप की अपेक्षा से, शुभभाव—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा, वह सब सुकृत है। सुकृत कहो या पुण्य कहो। ऐसा ही कहे न लोग, भाई! यह ठीक किया। है पुण्य, धर्म नहीं। समझ में आया? कितने नाम से पहिचानते हैं, देखो! वे तो गृहस्थ हैं।

ऊरधवदन... पुण्यभाव से क्षेत्र से ऊँचा होता (-जाता) है। उसका मुख ऊँचा है, कहते हैं। स्वर्ग में जाये, यह धूल का सेठिया हो, वह सब पुण्य के कारण से, इसलिए **ऊरधवदन** कहने में आता है। परमार्थ नहीं, हों! व्यवहार की बात है। लोक में तो ऐसा कहे न! ऐसा देखो, सर हुकमीचन्दजी बाजार में निकलते थे। इन्दौर। पैसा, नाम, कितनी खम्मा... खम्मा... लोग दुकानदार हों न, नीचे उतर जाये। खम्मा... बिना मुकुट के राजा, ऐसा कहे। इन्दौर, सर (सेठ) हुकमीचन्द। यहाँ तो तीन बार आ गये, तीन बार आये थे। (संवत्) २००१ के वर्ष, २००२ के वर्ष, २००३—२००१, २, ३ (वर्ष)। तीन बार आये थे। लोगों को... हाईट और कपड़े-बपड़े ऐसे पहने, वह टोपी जरी की, छत्री, जरी के जूते और सत्तर लाख का लिया हुआ एक हार गले में था। फोटो है उधर।

जब पहले आये थे न। (संवत्) २००१ के वर्ष में आये थे। छब्बीस वर्ष हुए। सत्तर लाख का (हार), परन्तु सत्तर लाख में न मिले ऐसा था। अपने यहाँ थे न नानालालभाई, (उन्होंने) कहा। ७१ के वर्ष में १७ लाख में हार लिया था। नीले टुकड़े, पत्थर के टुकड़े नीले।

मुमुक्षु : गर्दन में बोझा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ बोझा लगे मुझे तो, कहा, यह सेर-सवासेर-डेढ़ सेर का हार। ऐई, सेठ! पाँच-पाँच, छह दिन रहे, पाँच दिन। तीन बार आये थे। राजकुमार एक बार आये थे। उनका लड़का है न! यहाँ तो कहते हैं कि यह भाई... क्या कहा?

ऊरधवदन... पुण्य दुनिया में ऊँचा कहने में आता है। पुण्य का मुख ही ऊँचा है। सेठाई, दस-दस। पन्द्रह, बीस हजार का मासिक वेतन। कहो, वह सब पुण्य **ऊरधवदन। अकररोग...** रोग नहीं करनेवाला पुण्य। पुण्य से कहीं रोग होता है? उस पुण्य को अकररोग (कहे)। अकर—नहीं करनेवाला, रोग नहीं करनेवाला, वह पुण्य। **शुभकर्म...** उस शुभभाव को भी शुभकर्म कहते हैं और सातावेदनीय बँधे, उसे शुभकर्म कहते हैं। आहाहा!

है न भाई... ऐसा कहते हैं, हों! शान्तिलाल खुशाल। वह कहे, मैं कहाँ खोजने जाता हूँ लक्ष्मी, परन्तु मुझे जहाँ-तहाँ लक्ष्मी दिखाई दे उसमें मैं क्या करूँ? शान्तिलाल खुशाल गोवा। पहले साधारण था। यहाँ लींबड़ी के पास एक गाँव है पानसणा। अपने भाई नहीं प्रेमचन्दभाई? उसके मामा के पुत्र, सगे मामा के पुत्र। थोड़े साधारण थे, फिर चालीस करोड़, अभी दो अरब चालीस करोड़। तो कहते हैं कि हम क्या करते हैं लाने को। जमीन में से हमारा पुण्य निकलता है तो क्या करें? समझ में आया? यह शुभकर्म है, धर्म नहीं। ...शुभकर्म में तो अभिमान चढ़ जाये कि हम क्या हैं! आहाहा! धूल है। वह तो पुण्य है और पुण्य का फल संयोग मिलना। पुण्य का फल क्या आत्मा प्राप्त होता है, ऐसा है पुण्य में?

सुखदायक... दुनिया में, हों! संसारफल देखो। दुनिया में सुखदायक है। लोग ऐसा मानते हैं कि हम सुखी हैं, पैसे-टके से बादशाही है, ऐसा कहते हैं न लोग।

मुमुक्षु : है वह कहे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : है नहीं, धूल भी नहीं। है कहाँ? वह पैसे हों तो भी सेठ घर में ऐसे सड़े और ऊं... ऊं... करके ऐसे पड़ेंगे एक ओर।

मुमुक्षु : अभी अस्पताल में गये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : गये थे। अभी अस्पताल में। पाप का उदय होकर वह संयोग ऐसे आवें, ऐसा कहते हैं। वह संसार का फल है, भाई! उसमें आत्मा का फल कुछ है नहीं। आहाहा!

भाग... भाग्य कहो या पुण्य कहो, पुण्य कहो या भाग्य कहो। भाई! हमारे भाग्य

में लिखा था तो मिला, कहते हैं न लोग। भाग्य अर्थात् परमाणु है पुण्य का। पूर्व में कोई शुभभाव हुआ हो। ऐसा शुभभाव तो एकेन्द्रिय में भी होता है। निगोद का जीव है (जो) कभी त्रस नहीं हुआ, उसमें भी वह भाग्य—पुण्यभाव होता है। वह कहीं नयी चीज़ (नहीं है)। यह आलू, शकरकन्द होता है न, आलू... आलू। आलू में एक टुकड़े में असंख्य तो शरीर हैं। एक राई जितना टुकड़ा लो आलू का, तो असंख्य औदारिकशरीर हैं और एक शरीर में अभी तक सिद्ध हुए, उससे अनन्तगुने जीव हैं। उसको भी पुण्य होता है अन्दर में। शुभभाव है न। भले मन नहीं, वाणी नहीं, आहार देने की चीज़ नहीं, कोई पात्र नहीं। परन्तु भाव आत्मा का है, वहाँ बाहर का क्या कारण है ? आहा! निगोद में क्षण में ऐसा शुभभाव बाँधते हैं, क्षण में पाप बाँधते हैं—ऐसा भगवान का वचन है। तो वहाँ भी पुण्य है, परन्तु वह शुभकर्म है।

बहिर्मुख... देखो अब। पुण्य बहिर्मुख दृष्टि का भाव है, अन्तर्मुख भाव नहीं।

मुमुक्षु : महिमा कर-करके वापस छेद डाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : छेद डाला। भगवान आत्मा अन्तर्मुख का भाव स्वभाव सन्मुख हो, वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान, परमार्थधर्म है। परन्तु यह तो बाह्य बहिर्मुख है। पर के ऊपर लक्ष्य करने से राग की मन्दता (हो, वह) बहिर्मुख भाव है, अन्तर्मुख भाव नहीं। आहाहा! कितना चित्रित किया है। वर्णन-विस्तार। और **धर्म...** पुण्य को धर्म कहते हैं, व्यवहार धर्म, बन्ध का कारण। बन्ध का कारण ऐसा पुण्य को व्यवहारधर्म कहा जाता है, परमार्थ धर्म नहीं।

पाप का नाम। अब पाप-पाप।!

★ ★ ★

काव्य - ४१

पाप के नाम (दोहा)

पाप अधोमुख एन अघ, कंप रोग दुखधाम।
कलिल कलुस किल्विस दुरित, असुभ करमके नाम।।४१।।

अर्थ :- पाप, अधोमुख, एन, अघ, कंप, रोग, दुखधाम, कलिल, कलुष, किल्विष और दुरित - ये अशुभ धर्म के नाम हैं।।४१।।

काव्य-४१ पर प्रवचन

पाप अधोमुख एन अघ, कंप रोग दुखधाम।
कलिल कलुस किल्विस दुरित, असुभ करमके नाम।।४१।।

४१, यह हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोगवासना को **पाप** परिणाम कहते हैं और उससे परमाणु जो बँध जाये, उसको पाप—जड़पाप कहते हैं। **अधोमुख...** पाप का करनेवाला अधोमुख जाता है। वह ऊर्ध्वगमन कहा था। आहाहा! तीव्र पाप करते हैं तो नरक में जाते हैं। यह सब राजा-महाराजा ऐसे उड़ाते हैं मृग को—हिरणों का शिकार करते हैं। लाख-लाख रुपये की मोटर, दो-दो लाख की मोटर। वह मोटर आती है न वह, क्या कहलाती है? इम्पाला। कौन जाने, होगा। पाला है, पाप का पाला।

एन... अर्थात् पाप, देखो यहाँ। **एन** आयेगा इसमें। **एन** अर्थात् पाप। है, देखो! तीसरा बोल है। यहाँ तुम्हारे है न लड़के के पास, भतीजा के पास क्या इम्पाला है? एक बड़ी मोटर है न लाख रुपये की। कुछ नाम था। सामने लेकर आया था नहीं वहाँ मुम्बई? कहते हैं कि **अधोमुख** है। आहाहा! पाप तो अधोमुख है।

एन कहते हैं। देखो, भाषा है न! पाप को ही **एन** कहते हैं। इम्पाला, वह पाप का पाला है।

मुमुक्षु : वह तो कम्पनी का नाम है अमेरिका में।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो होगा। उसकी कम्पनी का नाम होगा न! आहाहा! नाम दे नये।

मुमुक्षु : अलग-अलग प्रकार के।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मोटर के बहुत नाम... हमारे है न। प्लीमाउथ को क्या कहा जाता है उस मोटर को?

मुमुक्षु : प्लीमाउथ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ आता है। सब पूर्व के पुण्य के फल हैं, परन्तु यह पाप वर्तमान भोगने का पाप, वह पाप सब अधोमुख ले जानेवाला है। **एन।**

अघ... इस पाप को अघ कहते हैं। **कंप...** पाप, वह कम्परोग है। कम्प... कम्पन है। अस्थिरता बहुत है पाप में, ऐसा कहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोगवासना, मान, बड़ाई इस पाप के परिणाम को **कंप** कहते हैं। उसको कम्प उठा है, कहते हैं। ऐसा होता है न कम्पवा। आत्मा पाप में कम्प उठा है। आहाहा! **रोग...** पाप को रोग कहते हैं। उसमें अकर रोग था न! उसके सामने रोग। पाप रोग। पाप का नाम रोग है। क्योंकि पाप से रोग आता है और पाप को यहाँ रोग कहने में आता है। समझ में आया? असाता का उदय हो तो शरीर में रोग आता है तो उसकी सारसम्हाल लाख करो तो भी रोग आये बिना नहीं रहता। इसलिए उसको—पाप को ही रोग कहते हैं।

दु:खधाम... लो। यह हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, काम, क्रोध, मान...

मुमुक्षु : पाप करे और पैसा मिले तो दु:खधाम कैसे कहलाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा मिले, कहाँ मिलते हैं? भाव करता है, वह है भाव। भाव तो पाप है, दु:खधाम है। वह तो पूर्व का पुण्य का फल है वह संयोग, वह तो जड़ है, परन्तु भाव में जो रळने का—कमाने का भाव है, वह तो दु:खधाम है।

मुमुक्षु : कमाने का भाव, वह दु:खधाम या रोटियाँ खाने का भाव?

पूज्य गुरुदेवश्री : रोटियाँ खाने का भाव, वह पाप और कमाने का भाव, वह पाप, यह वकालत करने का भाव पाप।

मुमुक्षु : वह तो बड़ा पाप।

पूज्य गुरुदेवश्री : रामजीभाई तीस वर्ष पहले एक दिन के २०० रुपये लेते थे। वकालत में कोर्ट में। तीस वर्ष पहले, हों! अभी उस पैसे की कीमत घट गयी। दो सौ रुपये। वकालत थी, वह अकेला पाप था।

मुमुक्षु : अभी के पाँच-छह हजार....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी तो इनका पुत्र आठ हजार लाता है, तो भी कहे, नहीं,

इसकी अपेक्षा मैं अधिक लाता था, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : वह तो महीने के आठ, यह तो रोज के २०० रुपये।

पूज्य गुरुदेवश्री : रोज के २०० रुपये। यह बात सच्ची। अभी पैसे घट गये। पहले के सोलह लाख और अभी के एक लाख, ऐसी कीमत घट गयी।

मुमुक्षु : मनुष्य की भी कीमत घट गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! **दुःखधाम**। आहाहा!

'सुखधाम अनन्त सुसन्त चही...' आता है न श्रीमद् में। यहाँ पाप तो दुःखधाम है, दुःख का स्थान है, दुःख के ठिकाने ले जानेवाला दुःखधाम है। आहाहा! कहो, यह बुद्धियाँ और कला है न, सब देखो, लो। अमेरिका में वह एक कसाई है न। एक मील-डेढ़ मील में कारखाना है कसाई का। अमेरिका में काटने का।

मुमुक्षु : परन्तु इस प्रकार से काटता है कि दुःख न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख न हो अब... वह तो ऐसे रखे, एकदम ऊँचा कर ले। महापाप है, दुःखधाम है। अभी उसे भान नहीं, परन्तु परिणाम ही दुःखधाम है और दुःख के धाम में जायेगा। आहाहा! समझ में आया?

कलिल... मैल है। पाप तो कलिल—मैल है। **कलुष...** कलुष दुःखदायक परिणाम है। कलुष—मलिन परिणाम है। **किल्विष...** लो, किल्विष कहते हैं। वह हल्का देव होता है न, उसको किल्विष देव कहते हैं। यहाँ किल्विष—मैले परिणाम। **दूरित...** बुरी रीति, खोटी रीति, झूठी रीति। पाप, यह झूठी रीति है। पुण्य को 'सुकृत' कहा था व्यवहार से। है न! और **अशुभ...** कर्म का नाम लो, वह सब अशुभकर्म का नाम है।

अब मोक्ष के नाम।

★ ★ ★

काव्य - ४२

मोक्ष के नाम (दोहा)

सिद्धक्षेत्र त्रिभुवनमुकुट, शिवथल अविचलथान।
मोख मुकति वैकुंठ सिव, पंचमगति निरवान।।४२।।

अर्थ :- सिद्धक्षेत्र, त्रिभुवनमुकुट, शिवथल, अविचलस्थान, मोक्ष, मुक्ति, वैकुंठ, शिव, पंचमगति, निर्वाण-ये मोक्ष के नाम हैं।।४२।।

काव्य-४२ पर प्रवचन

सिद्धक्षेत्र त्रिभुवनमुकुट, शिवथल अविचलथान।
मोख मुकति वैकुंठ सिव, पंचमगति निरवान।।४२।।

सिद्धक्षेत्र... अपना आत्मा पूर्ण पवित्र हो जाये... अपना क्षेत्र, वही सिद्धक्षेत्र है। और ऊपर जाते हैं, वह व्यवहार सिद्धक्षेत्र है, लोक के अन्त में। आत्मा को मुक्ति तो यहाँ होती है। शरीर में शरीर से, राग से भिन्न होकर केवलज्ञान और केवलदर्शन आदि पर्याय तो यहाँ ही होती है। आत्मा में पूर्ण, उसका नाम यहाँ सिद्धक्षेत्र कहते हैं। अपने असंख्य प्रदेश, यह निर्मल सिद्धक्षेत्र है। और यहाँ से ऊर्ध्वगति जाते हैं, सिद्ध लोकान्त में, वह व्यवहार सिद्धक्षेत्र है। अरूपी आनन्दकन्द अपने असंख्य प्रदेश में आत्मा विराजता है आत्मा, वह सिद्धक्षेत्र है। **त्रिभुवनमुकुट...** व्यवहार लिया। सिद्ध भगवान लोक के अन्त में है। जैसे धुँआ है, वह ऊपर चला जाता है, ऐसे मूँगफली हो और जब फली टूटे तो मूँग एकदम ऊँचे जाता है। इसी प्रकार देह छूट जाये तो आत्मा त्रिभुवनमुकुट—तीन लोक के ऊपर रहता है।

त्रिभुवन... अधो, मध्य और ऊर्ध्व—तीन भुवन के मुकुट सिद्ध को मोक्ष कहते हैं। आहाहा! वह त्रिभुवनमुकुट है क्या वे? त्रिभुवनतिलक।

मुमुक्षु : हाँ, मन्दिर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मन्दिर। मन्दिर, नहीं ?

मुमुक्षु : मूडबिद्री।

पूज्य गुरुदेवश्री : मूडबिद्री। बड़ा मन्दिर है न त्रिभुवनतिलक। गये थे न, दो बार गये थे हम तो वहाँ। सारा संघ हिन्दुस्तान में गये हैं सब। कोई क्षेत्र बाकी रह गया होगा कोई यात्रा का, हों! त्रिभुवनतिलक, नहीं ? थे या नहीं ?

मुमुक्षु : त्रिभुवनतिलक चूड़ामणि।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, क्या कहा ? त्रिभुवनतिलक चूड़ामणि नाम है। सच्ची बात है। बड़ा मन्दिर भगवान...

मुमुक्षु : बहुत लम्बा है, एक हजार खम्भे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत खम्भे हैं। त्रिभुवनतिलक चूड़ामणि। कहते हैं कि त्रिभुवनमुकुट तो मोक्ष को कहते हैं। समझ में आया ?

शिवथल... शिव नाम आनन्द का स्थल। शिव नाम शंकर। शंकर अर्थात् सुख। सुख का स्थल है आत्मा, उसको मोक्ष कहते हैं। शिव अर्थात् निरुपद्रव—जिसमें राग आदि का उपद्रव नहीं। अकेले आनन्द के भान में अन्तर में रमना। यह आत्मा जहाँ रहता है, उसको यहाँ **शिवथल** कहते हैं। परन्तु ऐसे आत्मा की दशा को शिवथल, हों! कहीं कोई देव-देवियाँ हैं, ऐसा नहीं है वहाँ। **अविचलथान...** यह थोड़ा कल चलेगा। फिर इसे पंचम का कोई मुहूर्त करना है। इस जीव (द्वार) का मुहूर्त तुम्हारे यहाँ होगा, ऐसा लगता है। शुरुआत यह तो भूमिका है न! **अविचलथान...** सिद्धक्षेत्र तो अविचलस्थान है, वहाँ से कभी छूटते नहीं। आहाहा! गति है, परन्तु आगति नहीं। वहाँ जाते हैं, वहाँ से निकलते नहीं। ऐसी आत्मा की पूर्ण दशा मोक्ष शुद्ध पवित्र दशा, उसको अविचलथान कहते हैं, उसको मोक्ष कहते हैं, उसको मुक्ति कहते हैं।

लो, उसको **वैकुंठ** कहते हैं। **वैकुंठ...** दूसरी कोई चीज़ नहीं है। आत्मा की परम शुद्ध आनन्ददशा की प्राप्ति (होने पर) जिस स्थल में रहते हैं, उसको वैकुंठ कहा जाता है। वहाँ कोई देव है और उसकी कोई सेवा करता है, ऐसा कुछ नहीं है। और **पंचमगति**

कहते हैं उसको, लो। **शिव... शिव** और **पंचमगति।** यह चार गतियाँ हैं न? नरकगति, पशुगति, मनुष्यगति, देवगति—चार गतियाँ हैं। उससे पंचम गति है वह। अत्यन्त आत्मा अक्रिय राग रहित होकर अपने पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होकर जिस स्थल में रहता है, उसको **पंचमगति** कहते हैं। और उसको **निरवान** कहते हैं, लो। शीतलीभूत हो गया शान्त आनन्दमय। उपद्रव और अकल्याणभाव रहा नहीं। ऐसे भाव को—मोक्षपर्याय को मोक्ष कहते हैं और स्थल को भी मोक्ष कहते हैं। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १४, माघ शुक्ल ४, शनिवार, दिनांक ३०-१-१९७१
उत्थानिका, पद—४३ से ५१

(समयसार) नाटक चलता है। बनारसीदास (कृत)। कुन्दकुन्दाचार्य के श्लोक में से टीका बनायी अमृतचन्द्राचार्य ने, उसमें कलश बनाये। उसमें से यह पद्य बनाया। शुरुआत है न यह तो! उत्थानिका—भूमिका है भूमिका। जीव-अजीव अधिकार तो बाद में शुरु होगा। यह तो उसकी भूमिका प्रवेश करते हैं कि ऐसे-ऐसे नाम से पहिचानना! मोक्ष का नाम आ गया है। ४२। ४२ (पद) है न। ४३ (पद) नीचे। बुद्धि के नाम।

★ ★ ★

काव्य - ४३

बुद्धि के नाम (दोहा)

प्रज्ञा धिसना सेमुसी, धी मेघा मति बुद्धि।
सुरति मनीषा चेतना, आसय अंश विसुद्धि।।४३।।

अर्थ :- प्रज्ञा, धिषणा, सेमुषी, धी, मेधा, मति, बुद्धि, सुरती, मनीषा, चेतना, आशय, अंश, और विशुद्धि - ये बुद्धि के नाम हैं।।४३।।

काव्य-४३ पर प्रवचन

प्रज्ञा... 'प्रज्ञा' बुद्धि का नाम है। प्रज्ञाछैनी... पहला शब्द आया, देखो! जो ज्ञान से आत्मा-रागादि भिन्न होते हैं, उसका नाम प्रज्ञा। अपना स्वभाव चैतन्य निर्मल और पुण्य-पाप के विकल्प—दो के बीच में सन्धि है, उसमें प्रज्ञा (छैनी) पड़ती है। राग से अपना आत्मा भिन्न अनुभव में आवे, उसको प्रज्ञा अथवा बुद्धि कहा जाता है। दुनिया की बुद्धि, वह नहीं, ऐसा कहते हैं। यह दुनिया की, यह वकालत की, उसकी यह मोटर के

पार्ट्स की और इसकी यह बर्तन की, यह सब बुद्धि, बुद्धि नहीं है। इन सेठ की बीड़ी की... बालक बीड़ी। प्रज्ञा—प्र-विशेष ज्ञ। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द निर्मलस्वरूप (को) राग से जीव (ज्ञान) भिन्न करता है, उसको बुद्धि अथवा प्रज्ञा कहा जाता है। शास्त्र में तो पहला बोल लिया है। समझ में आया? पण्डितजी! प्रज्ञा इसको कहते हैं, (यह) बुद्धि का नाम है। परन्तु बुद्धि क्या? जो बुद्धि रागादि से भिन्न करके अपने स्वरूप का अनुभव करे, वह बुद्धि, उसको प्रज्ञा कहते हैं।

धिसना... धि भी बुद्धि है। **धिसना...** पूरा शब्द लिया है। तुम्हारे पण्डितजी ने स्पष्टीकरण नहीं किया **धिसना** का। क्योंकि हमारे पण्डितजी ने सबको पूछा है शब्दार्थ में—सबमें। तो उन्होंने पूछा, धिसना क्या है? उत्तर नहीं दिया। **धिसना...** धि अर्थात् बुद्धि। जिसमें राग से और पर से भिन्न करे, छान डाले उसका नाम **धिसना** कहते हैं। समझ में आया? खोपरापाक बनाते हैं न खोपरा...

मुमुक्षु : खमणी।

पूज्य गुरुदेवश्री : खमण। ऊपर से छाल निकाल देते हैं और (मूल) चीज़ भिन्न पड़ जाती है। ऐसे रागादि को भिन्न करे—छाने, जो बुद्धि रागादि छिलके को निकाल दे और अपने स्वभाव की दृष्टि करे, उसका नाम **धिसना** कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? कहाँ गया भूषणदास? गया? पालीताणा गया।

सेमुषी... सेमुषी है। उसमें है.... उसमें सेमुसी कहा है। घिसना और सेमुषी। उसका—सेमुसी का कुछ अर्थ अपने को बराबर आता नहीं। शब्दार्थ, व्याकरणवाले हमारे पण्डितजी हैं। तो वे कहते हैं कि शब्द आता हक। अच्छा। **सेमुषी—**जिसकी बुद्धि से अपने स्वभाव सन्मुख हो, उस बुद्धि को सेमुषी कहते हैं। आहाहा! शरीर, वाणी, मन तो जड़ है। पुण्य-पाप का भाव राग है, वह तो आस्रव है, उसके सन्मुख रहना, वह बुद्धि नहीं। अपने स्वभाव सन्मुख होना, उसको यहाँ सेमुषी—बुद्धि कहते हैं। कहो, सेठ! यह बालक बीड़ी में बुद्धि लगायी, वह बुद्धि नहीं, ऐसा कहते हैं। भाई डालचन्दजी! ऐसे है भैया! आहाहा! सब करके करना तो वह है बुद्धि में से। स्वभाव चिदानन्द भगवान अनाकुल आनन्द का धाम भगवान आत्मा है। उसके सन्मुख बुद्धि

हो, उसका नाम सेमुषी बुद्धि कहते हैं बुद्धि को। आहाहा! समझ में आया? राग और पुण्य और पाप तथा पर—उसके सन्मुख बुद्धि तो अनादि से चली आती है, वह अज्ञान है।

धी... धी को भी बुद्धि कहते हैं। **धी...** धीरती वह ऋद्धि। अपने शुद्ध चैतन्य में जो बुद्धि ध्येय करके रहे, उसका नाम धी कहते हैं। जो धी ध्येय पर लक्ष्य करके रहे, उसका नाम धी। आहाहा! देखो, यह नाटक समयसार! बनारसीदास पहले तो बहुत शृंगारी थे, व्यभिचारी थे। पीछे सत्संग हुआ, एकदम पलट गये। शृंगारी (रस की कविता की) पुस्तक गंगा में डाल दी। आहाहा! यह शास्त्र अन्तरदृष्टि से बनाया है। कहते हैं कि धी... धी अर्थात् बुद्धि। परन्तु वह धी—बुद्धि किसको कहते हैं? बुध...धि, परन्तु यहाँ अकेला धी रखा। अखण्ड परमात्मा निजस्वरूप में जो बुद्धि ध्येय करके रहे, ध्येय बनावे, उसका नाम धी अर्थात् बुद्धि कहते हैं। सेठ! ऐसा मार्ग है। कभी वाँचा ही नहीं यह। वाँचे नहीं... कभी पढ़ा है समयसार नाटक?

पहले तो बहुत थे न भैया! बहुत छप गये हैं पहले तो। बहुत वर्ष से चलता है। बनारसीदास का है। बहुत छपते हैं। हमने तो बहुत वष्र से देखा है। ७८ के वर्ष से, समयसार नाटक ७८ के वर्ष से देखा है। ७८। कितने वर्ष हुए? ४९ वर्ष हुए, पचास में एक कम। तब दामनगर में थे। सारा देखा है समयसार नाटक। अभी नये छपते हैं तो नयी पुस्तक छपती है, परन्तु भाव वह चीज़ तो पहले से ही है। आहाहा! कहते हैं कि **धी** वह बुद्धि का नाम है। उसका नाम बुद्धि कहते हैं भगवान। आहाहा! **मेधा—** चतुराई। मेधा अर्थात् चतुरपना कहते हैं न! बुद्धि को चतुरपना कहते हैं। परन्तु जो चतुराई... डहापण क्या कहते हैं हिन्दी में? शाणपना... शाणपना, बुद्धि उसको कहते हैं कि जो आत्मा का ज्ञान करे, उस बुद्धि को शाणपन कहते हैं। दूसरे को पागलपन कहते हैं। पागल... पागल... समझ में आया? आहाहा! **मेधा**।

मति.... बुद्धि को मति कहते हैं। यहाँ मति धर्म के अर्थ में है, हों! वरना एक 'मति' आती है अपने भाई! अध्यवसाय के नाम में बन्ध अधिकार में। आठ नाम आते हैं न, परन्तु वह अज्ञानबुद्धि, वह अज्ञान की बुद्धि, दोनों की एकताबुद्धि। वह मति पर

से भिन्न करने की बुद्धि। आहाहा! **मति...** अन्दर स्वरूप में जो मतिज्ञान राग से भिन्न करके अपने स्वरूप में लगा दे, उसका—बुद्धि का नाम मति कहने में आता है। और मति, ऐसी गति। समझ में आया? मति स्वरूप की ओर है तो उसकी गति मोक्ष होगी।

जो राग की ओर मति है, वह मति यथार्थ मति है ही नहीं। विकार की ओर जो मति है, उसकी गति चार गति भटकने में है। समझ में आया? परमात्मप्रकाश में आता है न, भाई! परमात्मप्रकाश में। 'मति वैसी गति...' श्लोक है। अपने शुद्ध स्वरूप की ओर मति गयी है, राग से भिन्न करके, तो उसकी गति मोक्ष ही होती है। आहाहा! जो मति राग-द्वेष में एकत्व हो, उस मति को कुबुद्धि कहते हैं। पण्डितजी! शास्त्र का पढ़ना-पढ़ना प्रोफेसर... क्या कहलाता है वह सब तुम्हारा? संस्कृत। ऐसी बात है, भगवान! आहाहा!

बुद्धि... लो, बुद्धि का नाम बुद्धि वापस आया न! 'बुद्धि' वह 'बुध्यते इति बुद्धि'। जो अपने आत्मा को जाने, उसकी बुद्धि, बाकी पर को जाने, वह बुद्धि, बुद्धि नहीं। समझ में आया? **सुरती...** बुद्धि का नाम सुरती। अपने शुद्ध आनन्द में रमे, वह सुरती, उसे बुद्धि कहते हैं। आहाहा! गजब! नाटककार ने भी... नाटक में आता है न पहले प्रवेश। प्रवेश में बताते हैं, पात्र को बताते हैं कि ऐसा है... ऐसा है। बाद में नाटक आता है। पहले नाटक देखा था बहुत वर्ष पहले। वडोदरा। बहुत बड़ा नाटक था। हमारे पालेज में दुकान थी न। तो वहाँ गये थे। बड़ोदा है न बड़ोदा। वहाँ यह नाटक था अनुसूईया। बड़ा नाटक था। बड़ा थियेटर था। परन्तु ६४ के वर्ष की बात है। ६४, संवत् १९६४। कितने वर्ष हुए? ६३ हुए।

वहाँ दुकान थी न हमारी, गुजरात में। एकबार गये थे। नाटक, पहले आया नारद। नारद आया पहले। बड़ा नाटक था, हों! बारह आने का टिकिट। पुस्तक लेकर हम नजदीक बैठते थे। क्या बोलते हैं यह समझे बिना हमारे क्या नाटक देखना? कहा, लाओ, पुस्तक लाओ। पुस्तक की कीमत अन्दर... बारह आने की टिकिट... उस समय, हों! ६४ के वर्ष। नारद आया। 'ब्रह्मापुत्र मैं नारद कहाऊँ, जहाँ हो संप वहाँ कुसंप कराऊँ।' यह उसका प्रवेश। ऐसे, नाटक में ऐसे आता है पहले। नाटक में।

मुमुक्षु : स्पष्ट वक्ता कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : ब्रह्मापुत्र मैं नारद कहाऊँ... हाथ में वीणा, चोटी, ब्रह्मचारी, हों। जहाँ हो संप वहां कुसंप कराऊँ। ऐसा आया था।

इसी प्रकार यहाँ प्रवेश... यहाँ प्रवेश में मति का प्रवेश है कि जहाँ एक(त्व) बुद्धि है, वहाँ मैं (एकत्व) तोड़ डालता हूँ। उसका नाम यहाँ बुद्धि कहने में अथवा सुरती कहने में आता है। आहाहा! **सुरती...** राग में रति, वह कुबुद्धि है। स्वभाव में रति, वह सुबुद्धि है। आहाहा! गृहस्थाश्रम में थे, बनारसीदास, हों! पहले व्यभिचारी (श्रृंगारी कवि) थे, फिर सुधर गये। स्त्री-पुत्र थे, बाद में सब गुजर गये। नौ बालक थे, सब गुजर गये। परन्तु ऐसे तत्त्व की दृष्टि के स्पष्ट थे। बहुत जोरदार कवि। दिगम्बर अध्यात्म कवि। **सुरती।**

मनीषा—विचारक। मनीषा है न। मनीषा अर्थात् विचारक। मनीष... मनीष नाम नहीं देते हैं? मनीष है न, अपने रतिभाई का भानेज है। प्रवीणभाई का पुत्र है। यहाँ लिखते हैं, नहीं? मनीष अर्थात् मनी-ष। विचारक, मनीषी अर्थात् विचारक है। मैं कौन? पर कौन? ऐसा विचार करनेवाले को मनीष अर्थात् बुद्धिवन्त कहते हैं। **चेतना...** देखो, बुद्धि को चेतना कहते हैं। अपना चेतनास्वरूप ज्ञानानन्दस्वभाव में जो बुद्धि घुस जाये तो उसको चेतना कहते हैं। समझ में आया?

आसय... देखो, आशय लिया भाई इसमें। वरना आशय तो अभिप्राय का नाम है, परन्तु यहाँ बुद्धि को आशय कहा गया है। मेरा आशय यह है, ऐसा कहते हैं न! मेरा आशय यह है, ऐसा कहते हैं या नहीं? मेरा कहने का अभिप्राय यह है। ऐसा कहा न भैया! भाषण देते हैं तो उसमें कहते हैं कि मेरा कहने का अभिप्राय यह है। इसी प्रकार यहाँ आशय, मति को आशय कहते हैं। उसका आशय अपना स्वरूप को पूर्ण मानना, उसका नाम मति और आशय कहा जाता है।

अंश... बुद्धि अंश है न! विकारी फिर भी एक समय की दशा है। केवलज्ञान भी एक समय की दशा है। मति जो स्व सन्मुख की दृष्टि है ज्ञान की, वह भी एक समय का अंश है, वह अंश है। पर्याय को अंश कहने में आता है। और त्रिकाली भगवान अंशी है।

पूर्णानन्द का नाथ स्वरूप अंशी है और जो मति–बुद्धि है, उसको अंश कहा जाता है। परन्तु वह अंश, अंशी की ओर ढले तो अंश कहने में आता है।

विशुद्धि... देखो, विशुद्धि के तीन प्रकार हैं। एक विशुद्धि शुभभाव को भी कहते हैं, एक विशुद्धि शुद्धभाव को भी कहते हैं। समझ में आया? यहाँ तो शुद्ध के अर्थ में विशुद्धि है। अन्तर की ओर की बुद्धि में विशुद्धि हो, निर्मलता। बुद्धि में अपने स्वभाव का अवलम्बन लेकर पर्याय में विशुद्धि हो, उस बुद्धि को विशुद्धि कहा जाता है। बाकी शुभ को विशुद्धि कहते हैं और पूर्ण शुद्ध हो, उसको भी विशुद्धि कहते हैं। ४३ (पद)।

४४ (पद)। विचक्षण पुरुष के नाम। पण्डित पुरुष के नाम। निगम की व्याख्या इसमें आ गयी है, हों! भाई! निगम... निगम। भाई! अपने इसमें है। **निगमकौ नाटक परमरसपौष है...** यह पीछे आयेगा। यह पीछे अन्तिम बोल है न? अन्तिम बोल में ५१ में। **निगमकौ नाटक...** निगम शब्द से ही आत्मा है। शुद्ध आत्मा का नाटक... है न। निगम... यह निगम कहते हैं। आत्मा को निगम पहले कहा था न? निगम। निगम अर्थात् शुद्ध आत्मा पूर्णानन्द सच्चिदानन्द आनन्दकन्द उसको ही निगम कहते हैं। उस निगम का नाटक हम कहते हैं परम रसपौष। बाद में आयेगा। अपना आनन्द का पोषक ऐसा स्वभाव, ऐसा आत्मा, उसका नाटक कहूँगा। उस आत्मा को निगम कहा जाता है।

★ ★ ★

काव्य - ४४-४५

विचक्षण पुरुष के नाम (दोहा)

निपुन विचच्छन विबुध बुध, विद्याधर विद्वान।
पटु प्रवीन पंडित चतुर, सुधी सुजन मतिमान।।४४।।
कलावंत कोविद कुसल, सुमन दच्छ धीमंत।
ज्ञाता सज्जन ब्रह्मविद, तज्ञ गुनीजन संत।।४५।।

अर्थ :– निपुण, विचक्षण, विबुध, बुद्ध, विद्याधर, विद्वान्, पटु, प्रवीण, पण्डित, चतुर, सुधी, सुजन, मतिमान, कलावन्त, कोविद, कुशल, सुमन, दक्ष, धीमन्त, ज्ञाता, सज्जन, ब्रह्मवित्, तज्ञ, गुणीजन और सन्त, ये विद्वान् पुरुष के नाम हैं।।४४, ४५।।

काव्य-४४-४५ पर प्रवचन

निपुन विचच्छन विबुध बुध, विद्याधर विद्वान।
पटु प्रवीन पंडित चतुर, सुधी सुजन मतिमान।।४४।।
कलावंत कोविद कुसल, सुमन दच्छ धीमंत।
ज्ञाता सज्जन ब्रह्मविद, तज्ञ गुनीजन संत।।४५।।

देखो, यह सन्त भी ज्ञानी को कहा जाता है। **निपुन...** प्रवीण है अपना आत्मा और विकार को भिन्न करके अपनी प्रवीणता प्रसिद्ध की है। आहाहा! भाई गजब! अभ्यास चाहिए यह तो अभ्यास... दुनिया का अभ्यास तो दूसरा है। यह तो दूसरी चीज़ है। जिसको जन्म-मरण रहित (होना) हो और दुःख से—चौरासी के अवतार से भिन्न करना हो, उसकी बात है। अभ्यास नहीं है, उसको यह समझने में देरी लगे, समझना तो पड़ेगा। इसके बिना उसका जन्म-मरण से उद्धार होता नहीं। निपुण पुरुष कहने में आता है, देखो! यह संसार के निपुण, होशियार-चतुर कहते हैं, वे नहीं। सयाने, संसार के सयाने कहते हैं न! ऐ भगवानदासजी! तुमको वे पैसेवालों को बहुत मक्खन चुपड़े लोग। कैसे चतुर हैं, सयाने हैं और बुद्धिवाले हैं न... यहाँ तो कहते हैं, निपुण तो उसको कहते हैं कि परमात्मा को जो आत्मा आनन्दस्वरूप कहा, उसमें जो निपुण अर्थात् प्रवीण हो तो निपुण कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : अपने को पहिचाने वह निपुण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह निपुण है। आहाहा! अपनी कीमत करना जाने। हीरा की, माणेक की कीमत करते हैं न! 'परखे माणेक मोती परखे हेम कपूर, एक न परखा आत्मा वहाँ रहा दिग्मूढ।' आत्मा क्या है, उसकी परीक्षा कभी की नहीं।

निपुन... पहला शब्द आया। बुद्धि में पहले प्रज्ञा थी। यह तो निपुण पुरुष है, यह प्रवीण पुरुष है, सयाना पुरुष है। उसका अर्थ कि जो अपनी चीज़ है, उसमें निपुण है। निपुणता, यही निपुणता है और बाकी निपुणता है ही नहीं। आहाहा! दुनिया की चतुराई करे और ऐसा और फैसा यह और वह, कहो। यह कारीगर की बुद्धियाँ। चन्द्रकान्तजी! वह सब अनिपुण है। आहाहा! निपुणता तो उसको कहते हैं, भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द घन की बुद्धि प्रगट हुई, वह निपुण पुरुष है। पीछे शास्त्र का ज्ञान कम-अधिक हो, थोड़ा बहुत, उसके साथ सम्बन्ध नहीं। यह आत्मा, भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो कहा, उस आत्मा में जो निपुण हुआ, जानकार हुआ, वह निपुण है। देखो, यह संस्कृत, व्याकरण, भाषा के (जानकार को) निपुण नहीं कहते हैं। यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

विचच्छन... विचिक्षण उसको कहते हैं। दुनिया की जान जाये, वह विचिक्षण नहीं। अपनी चीज़ को जान ले, वह विचिक्षण है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! विचिक्षण पुरुष है, भाई!

मुमुक्षु : समझ में नहीं आये ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपना शुद्धस्वरूप अनन्त गुण का पिण्ड चैतन्य प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द, उसका जो ज्ञान रखते हैं, उसका नाम विचिक्षण कहते हैं। दुनिया में तो बहुत विचिक्षण का नाम आता है कि यह तो बड़ा विचिक्षण है, ऐसा और वैसा सब विचिक्षण... विचिक्षण वह ही है।

विबुध—विशेष जाननेवाला। वि-बुद्ध। वह एक पण्डित का नाम है न। विबुध है, सम्यग्दृष्टि विबुध है। आहाहा! जिसने आत्मा त्रिकाल शुद्ध राग से रहित, शरीर से रहित, उसका बोध किया, वह विबुध है—वह विशेष बुद्धिवाला है। आहाहा! यह तो संस्कृत पढ़ते हैं, उसको विबुध कहते हैं न! पण्डित को विबुध कहते हैं। यह नहीं। यह तो अन्तर का भान करे, उसका नाम विबुध है।

बुध, 'बुध्यते इति बुध'। अपने शुद्ध आनन्दस्वभाव को जाने, उसका नाम बुध पुरुष कहने में आता है। **विद्याधर...** यह (ज्ञानी) विद्याधर। वे विद्याधर हैं, वे नहीं। वे

वैताक पर्वत पर है न। वैताड पर्वत पर विद्याधर रहते हैं। पचपन नगरी है। वह विद्याधर लौकिक के विद्याधर। यह तो अपनी विद्या चिदानन्द स्वरूप की विद्यमान चीज़ त्रिकाली ध्रुव, उसकी विद्या रखनेवाले को विद्याधर कहते हैं। **विद्याधर**। जो विद्या विद्यमान चीज़ त्रिकाली ध्रुव को जाने, उसका नाम विद्या और उस विद्या को धरनेवाला विद्याधर। आहाहा!

विद्वान.... देखो, उसको **विद्वान** कहते हैं। प्रोफेसरजी! समयसार नाटक प्रवेश करने में ऐसे बोले आयेंगे, वहाँ विचिक्षण का ऐसा अर्थ समझना। **विद्वान—**विद्+वान। विद्यमान भगवान आत्मा का स्वरूप जाननेवाले को विद्वान कहते हैं। **पटु...** पटु, पटु। होशियार कहते हैं न बहुत, वे पटु। अपना स्वरूप का पटु, वह पटु।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह और अलग। यहाँ तो यह पटु। अपना स्वरूप... ओहोहो! जो पटुता स्वभाव सन्मुख ढले, वह पटुता। समझ में आया? **प्रवीण...** लो, प्रवीण—प्रवीण। वह प्रवीण भी यह है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो... सिद्ध समान सदा पद मेरा।' ऐसा सिद्धपद का अपना पण्डित प्रवीण है, उसको प्रवीण कहते हैं। मैं पामर हूँ, मैं रागवाला हूँ—वह तो प्रवीण नहीं। आहाहा!

पश्चाताप करते हैं, रोते हैं... एक दृष्टान्त दिया था उसमें—अमरमणि में। कहीं उतरे होंगे। वह अमरमणि, नहीं? आगरा। कहीं उतरे होंगे। बाबा की जगह होगी। बाबा मनुष्य बेचारा नरम। .... उसमें रात्रि का समय—रात्रि का टाईम हुआ। बाबा-बाबा सब इकट्ठे हों, रोवे, छातीफाड़ रोवे। यह कहे, क्या हुआ? क्या हुआ? कोई मर गया है या क्या हुआ? बाबा समझे? मठ में उतरे हुए। यह साधु था स्थानकवासी, आगरा। तो उसने लिखा है कि हम गये वहाँ तो बेचारे ने सज्जनता बताई। आओ, यहाँ रहो। रात्रि का समय हुआ वहाँ लगभग थोड़ा समय... सब इकट्ठे होकर रोवे... रोवे... रोवे। रोवे समझते हैं? रुदन। यह क्या हुआ? अरे! क्या हुआ? वहाँ उनसे पूछा, सब रो रहे फिर। कि ऐसा कैसे? कहे, हम यह भगवान के पास पश्चाताप करते हैं। परन्तु अकेले दोष को देखना, वही पश्चाताप है या स्वरूप को देखना? वह तो भूल गया पूरा। उसने लेख

लिखा है। यह वह क्या है?

एक बार देखा था राणपुर में। (संवत्) १९८४ में। लोटिया वोरा की जगह के सामने। वह भी दरवाजा बन्द करके रोवे, रोने जैसा बोले। ताबूत का अवसर हो न ताबूत। रोवे ही वह। रोने की भाषा... हम सुनते थे वहाँ उपाश्रय में। यह क्या कहते हैं? कि बस, हे भगवान! हे खुदा! ऐसा मैंने किया, ऐसा हुआ। परन्तु... खुदा किया क्या? राग का गीत गाना है या तेरे वीतराग का गीत गाना है? राग का गाना तो अभी तक गाया है। राग से भिन्न करके अपने स्वरूप में पण्डित हो, उसको प्रवीण कहता जाता है। देखो, यह प्रवीणचन्द्र और आते हैं न नाम सब।

पंडित... यह आत्मा को जाने, वह पण्डित। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है, परमात्मप्रकाश में आता है। पण्डित उसे कहते हैं... निजस्वभाव की जिसने कीमत की और रागादि की कीमत उड़ा दी, वह पण्डित है। **चतुर...** उसको चतुर कहते हैं। देखो, सयाना। सयाना तो वह है। अपनी चतुराई, स्वभाव सन्मुख होकर आत्मा को प्रगट किया, ऐसी चतुराई के धरनेवाले को चतुर कहा जाता है। पुरुष की बात है न।

सुधी... सु-धी, सु-धी—भली बुद्धि। सु अर्थात् भली, बुद्धि। जिसको भली बुद्धि है, उसको—पुरुष को विचिक्षण कहते हैं। जगत की बुद्धि लाख बात हो, चाहे जिसकी हो, वह सब कुबुद्धि है, सुबुद्धि नहीं। यह तुम्हारे मोटर के पार्ट्स-बार्ट्स की चतुराई कुबुद्धि है, ऐसा कहते हैं। **सुधी...** अपनी स्वरूप की आनन्द सत्ता का जिसने स्वीकार बुद्धि से किया, वह सुधी। सुधी। वह बुद्धि का, शुद्ध चीज़ का धरनेवाला कहा जाता है। कहो, पोपटभाई! यह सब टाईल्स-टाईल्स के विचिक्षण उड़ा देते हैं यहाँ। इस टाईल्स में ऐसा डालना और ऐसा छींटा करना। क्या कहते हैं, वह डालते हैं उसे? भात-भात पड़ता है न टाईल्स में? डिजाईन। वह देखी है न डिजाईन वहाँ। कोई है न वढवाणवाला, नहीं? वहाँ जामनगर। एक है। वहाँ डिजाईन इतनी अधिक डिजाईन ऐसे, ओहोहो! यह क्या? कहे, हम छिड़क डालते हैं। उसमें ऐसे डालते हैं और उसमें ऐसे डालते हैं। कहते हैं कि वह सुधी नहीं। वह तो जड़ की क्रिया जड़ से होती है, अपने से नहीं। आहाहा!

सुजन... लो, भला जन। भला जन उसको कहते हैं कि जो आत्मा का ज्ञान किया और आत्मा की शुद्धि की पहिचान की। आहाहा! **मतिमान...** उसको मतिमान कहते हैं। मतिवाला—मतिवाला। बुद्धि को मति कहते हैं और मतिमान, मतिमान। आहाहा! **कलावंत....** अपनी केवलज्ञान कला प्रगट करे, ऐसा मति-श्रुतज्ञान धरनेवाले को कलावन्त कहते हैं। कलावन्त कहते हैं न! कलाबाज है। बाज नाम का पक्षी होता है न! बाज पकड़े न, वैसे कला को चाहे जिस कला को पकड़ ले। वह कला, आत्मा की कला पकड़े, वह कलावन्त है। समझ में आया?

कोविद... यह भी विचिक्षण का नाम है। सयाना। कोविद। चतुर। अपना स्वरूप का भान... कोविद पैसा दे। कोविद का नाम दे, क्या कहलाता है? डिग्री। कोविद की डिग्री दे न। कोविद की डिग्री दे न हिन्दी में। कोविद संस्कृत शब्द है। आता है न, कोविद की पदवी आती है। परन्तु वह संस्कृत पढ़े हुए को कोविद की पदवी आती (मिलती) है। यह तो आत्मा का भान-संस्कार हुआ वह कोविद है।

मुमुक्षु : प्रश्न कोविद है न अपने।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रश्न कोविद है, हिम्मतलाल कोविद है।

कुशल... उसका नाम कुशल। आहाहा! कुशल आत्मा है। अपने आनन्द और अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु उसका जिसको ज्ञान हुआ, वह समकिती कुशल है। **कुशल... सुमन...** सुमन—भला है मन जिसका। जिसने सारा आत्मा पवित्र अखण्ड आनन्द को स्वीकार किया और प्रतीति हुई, वह सुमन पुरुष है। लो, यह तो सुमनभाई आये। नाम सुमन है, ऐसा कहते हैं। रामजीभाई के पुत्र का नाम है न सुमन। सुमन इसे कहते हैं, देखो! आहाहा! पूर्ण शान्तरस का पिण्ड प्रभु शान्त... शान्त... शान्त... उसकी दृष्टि जो हुई, उसको सुमन कहते हैं, बाकी कुमन है। आहाहा!

दक्ष... दक्ष, दक्ष। चतुर। दक्ष (अर्थात्) चतुर। यह व्यक्ति दक्ष है, नहीं कहते हैं? यह मनुष्य चतुर है, सयाना है। आत्मा के भानवाले को दक्ष कहते हैं। ऐसे-ऐसे नाम आवे वहाँ आत्मा विचिक्षण, पण्डित, ऐसा समझना, ऐसा प्रवेश करते हैं। **दक्ष।**

धीमंत.... लो, श्रीमन्त और धीमन्त कहते हैं न? श्री अर्थात् लक्ष्मीवाले को

श्रीमन्त कहते हैं और बुद्धिवाले को धीमन्त कहते हैं। कहते थे अपने में एक (संवत्) ९५ में। वहाँ तो उनके पास धीमन्त और श्रीमन्त सब इकट्ठे हुए हैं। वह गौशालावाले पैसा लेने आये थे न! परन्तु वहाँ राजकोट बड़ा संघ था स्थानकवासी का। वहाँ पैसे नहीं हुए और यहाँ तो थोड़े समय में कितने हो गये। भाई! वहाँ तो श्रीमन्त और धीमन्त है। ऐई! श्रीमन्त भी उसका नाम कहे। 'श्री' अर्थात् स्वरूप की लक्ष्मी के जाननेवाले को श्रीमन्त कहते हैं। यह श्रीमन्त सेठ नाम है न उसका। सेठ! बात ऐसी है दुनिया से...

मुमुक्षु : निराली।

पूज्य गुरुदेवश्री : धीमंत... धी अर्थात् बुद्धि। बुद्धिवाले। धी (अर्थात्) बुद्धि। बुद्धि का धरनेवाला, अपने आत्मा की बुद्धि करनेवाला धीमन्त है।

ज्ञाता... आहाहा! जाननेवाला-देखनेवाला आत्मा। राग आदि कोई क्रिया करनेवाला नहीं। भगवान तो जानने-देखनेवाला है। राग और शरीर की क्रिया करनेवाला आत्मा नहीं है—ऐसा जाने, वह ज्ञाता है, वह विचिक्षण है। समझ में आया?

सज्जन... सत्-जन। लो, सत्... सज्जन है न! सज्जन में दो 'ज' है। सत्-जन—सज्जन। एक आधा 'त्' का 'ज' होता है। सत्-जन। आहाहा! सत्जन... सत्स्वरूप भगवान आत्मा उसका भान रखनेवाले को सत्जन कहते हैं। ऐसे नहीं कहते सज्जन लौकिक में? नीतिवाले लोग। अच्छी नीति। कहे कि भाई! यह सज्जन व्यक्ति है। कहते हैं या नहीं? यह तो सत्जन, अविनाशी भगवान आत्मा को जाने, वह सज्जन है।

ब्रह्मविद... ब्रह्म अर्थात् आनन्द का जाननेवाला। आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसको जाननेवाले को विचिक्षण कहते हैं। **ब्रह्मविद...** ब्राह्मण को ब्रह्मविद कहते हैं न! ब्रह्म सेवे सो ब्राह्मणा। आहाहा! अपना स्वरूप शुद्ध आनन्द, उसको जाने वह ब्रह्मविद् है। **तज्ञ...** त+ज्ञ—उसका जाननेवाला। तज्ञ—उसका जाननेवाला अर्थात् आत्मा का जाननेवाला और **गुणीजन...** यह आत्मा अनन्त आनन्दस्वरूप है, उसका जाननेवाला गुणीजन कहते हैं, उसको गुणीजन कहते हैं।

और **संत...** लो, अन्तिम शब्द 'शान्ति प्राप्त कराये, उसे सन्त कहते हैं। उसके दासानुदास होकर रहते हैं....' यह भजन आता है। भजन आता है भजन। 'शान्ति प्राप्त कराये, उसे सन्त कहते हैं। उसके दासानुदास होकर रहते हैं....' ऐसी भक्ति आती है।

परन्तु यह सन्त, हों! बाहर के बाबा-फावा फकीर, वह सन्त नहीं। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने जो आत्मा कहा, उसका अन्तरबोध करके शान्ति में रहते हैं, उसको— समकिती को सन्त कहने में आता है। देखो, समकिती-विचिक्षण को सन्त कहते हैं। 'शान्त दशा तिन्हकी पहिचानी' आया था। उसमें सन्तदशा ऐसी है। रूपचन्दजी ने वह सन्तदशा ली है। वह तो ठीक है। **मुनिश्वर के नाम**।

★ ★ ★

काव्य - ४६

मुनीश्वर के नाम (दोहा)

मुनि महंत तापस तपी, भिच्छुक चारितधाम।
जती तपोधन संयमी, व्रती साधु ऋषि नाम।।४६।।

अर्थ :- मुनि, महंत, तापस, तपी, भिक्षुक, चारित्रधाम, यती, तपोधन, संयमी, व्रती, साधु और ऋषि - ये मुनि के नाम हैं।।४६।।

काव्य-४६ पर प्रवचन

मुनि... मुनि। मुन्यते इति मुनि। अपने आनन्द को जानकर आनन्द का अनुभव करे, वह मुनि। **महंत...** महन्त हुआ। यह बाहर के बाबा-बाबा, महन्त, वे महन्त नहीं। जिसने अपनी बुद्धि परमात्मा अपने निजस्वरूप में लगा दी है, ऐसे आत्मा को महन्त कहते हैं। दुनिया में तो साधारण हाथी और घोड़ा (पर) घूमे उसको महन्त कहे। ऐसा आता है, 'रानी बिन राजा फिरे, उसको कहे महन्त...' ऐसा श्लोक आता है तुलसीदास का। यहाँ तो कहते हैं कि अपने स्वरूप का अधिष्ठाता हो, उसका नाम महन्त। कोई मन्दिर का अधिष्ठाता हो और महन्त कहते हैं, वह महन्त नहीं है। आहाहा! रजकण और राग के कण से भगवान भिन्न, उसका अधिष्ठाता हो, उसका नाम महन्त कहा जाता है। आहाहा! भारी बात करते हैं, लो! बनारसीदास (ने) खोजकर नाटक कैसा निकाला!

तापस... तापस कहते हैं न! अपने स्वरूप में से इच्छा निरोध कर अपने अमृतसागर की दशा को प्राप्त होना, उसका नाम तापस कहते हैं। समझ में आया? अमृतस्वरूप भगवान की दशा प्रगट करके आनन्द में रहनेवाले को तापस कहते हैं। बाहर की तपस्या करे, मर जाये क्रियाकाण्ड करके, उसको तापस कहते (नहीं)। कहो, प्रकाशदासजी! यह सब कितना नाम आया। आहाहा!

तपी... तपी इसको कहते हैं। कबीर का साधु है। इसमें रस लग गया है अभी। मार्ग तो यह है। समझ में आया? वहाँ आये थे, राजकोट आये थे प्रकाशदासजी। उसको रुचि-जिज्ञासा हुई है। मार्ग तो कोई दूसरा है। वे तपी और महन्त करके घूमते हैं न, क्या कहलाते हैं? तुम्हारे बड़े मठ धारक महन्त। ऐई! ऐसा बड़ा शरीर, लड्डू उड़ावे और महन्त कहते हैं। महन्त-बहन्त वह नहीं। आहाहा! पुण्य-पाप के राग से महामठ चैतन्य भगवान का स्वामी हो, उसका नाम महन्त है। उसका नाम तपी है, लो! अपना स्वरूप में इच्छा का निरोध करके अमृतस्वरूप भगवान आत्मा प्रगट किया और अमृतस्वरूप मोक्ष के सन्मुख हुआ, उसकी दशावन्त को तप कहते हैं, तपी कहते हैं।

भिक्षुक... आहाहा! भिक्षा से भोजन करनेवाला, वह भिक्षुक। अन्तर में आत्मा के आनन्द की शोध करे, ऐषणा करके आनन्द का अनुभव करनेवाला भिक्षुक। समझ में आया? **चारितधाम...** आहाहा! मुनि अर्थात् कि आत्मा के आनन्द और शान्ति का धाम यह तो आत्मा है। अन्तर शान्ति इतनी बढ़ गयी है कि चारित्र अर्थात् अन्तर स्वरूप में रमने का तो स्थान प्रगट हो गया। आहाहा! नग्न हुए और २८ (मूल) गुण पालते हैं, वे मुनि नहीं, ऐसा कहते हैं। अन्तर भगवान निर्विकल्प स्वभाव, ऐसे स्वभाव में लीन होकर अपने असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण का स्थान प्राप्त कर लिया, उसका नाम चारित्रधाम है। यह बात ही दूसरी है। जगत से न्यारी है।

जति... जो वे जति बाबा कहते हैं न जति, वह जति नहीं। अपने आनन्द और सुख स्वभाव की जतना—रक्षा करे, वह जति। बात बहुत अच्छी आयी। आहाहा! **जति...** जति अर्थात् आत्मा अनन्त गुण का स्वरूप साम्राज्य राज जिसका है अन्दर, उसकी जतना—रक्षा करे, वह जति। राग और पुण्य की रक्षा करे, वह अजति। कहो, सेठ!

व्यवहार की रक्षा करनेवाला जति नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अपना शुद्ध स्वरूप पवित्रधाम उस ओर की दृष्टि हुई, स्वरूप में रमणता का क्षेत्र प्रगट हो गया। चारित्रधाम। वीतरागीभाव चारित्रधाम, उसको मुनि कहते हैं। जति, उसको जति कहते हैं।

तपोधन... जिसके पास इच्छा निरोध करके अपने आनन्द का भाव प्रगट हुआ, उसके पास तपधन है। यह धूलधन इन सेठिया के पास कहते हैं। यह तपोधन मुनि के पास है। तपोधन। ब्राह्मण भी होता है न तपोधन एक। आता है। गढडा में है तपोधन। तपोधन ब्राह्मण में (जाति होती है)। वह तपोधन तो यह आत्मा है। जिसमें आत्मा 'तपयन्ति इति तपः'... जैसे सुवर्ण को गेरुं लगाने से (वह) शोभता है, वैसे भगवान आनन्दस्वरूप की शोभा अन्तरदशा में बढ़ाई है, इसका नाम तपोधन कहा जाता है। उसके पास तप आनन्दरूपी धन है।

संयमी... अणीन्द्रिय आत्मा में लीन है, उसका नाम संयमी। भगवान अणीन्द्रिय आत्मा... इन्द्रिय से गम्य नहीं, विकल्प से गम्य नहीं, ऐसा अणीन्द्रिय आत्मा में रमनेवाले को संयमी कहते हैं। **व्रती...** लो, उसे व्रती कहा जाता है। अन्दर आनन्दस्वरूप में लिपट गये हैं। शुद्ध चैतन्य में लिपट गया है। विटा गया (को) क्या कहते हैं? लिपट गया है। अन्तर स्वरूप में लिपट गया है, उसे व्रती कहते हैं। **साधु...** अपने स्वरूप को साधे, वह **साधु**। आहाहा! **ऋषि...** जिसको आनन्द की दशा लब्धि अन्दर में प्रगट हुई है, उसको ऋषि कहते हैं। आत्मा का साक्षात्कार हुआ और आनन्द की वृद्धि हुई, उसको ऋषि, साधु कहते हैं। यों ही बड़े केश लगाये, टीका-टपका किया, इसलिए ऋषि-विषि नहीं। लो, यह नाम हैं उसके।

अब, **दर्शन के नाम,**

★ ★ ★

काव्य - ४७

दर्शन के नाम (दोहा)

दरस विलोकनि देखनौ, अवलोकनि दृगचाल।
लखन दृष्टि निरखनि जुवनि, चितवनि चाहनि भाल।।४७।।

अर्थ :– दर्शन, विलोकन, देखना, अवलोकन, दृगचाल, लखन, दृष्टि, निरीक्षण, जोवना, चितवन, चाहन और भाल – ये दर्शन के नाम हैं।।४७।।

काव्य-४७ पर प्रवचन

देखना, देखना। **दरस...** देखना। स्व–पर सम्पूर्ण चीज़ अन्दर सत्ता, महासत्ता को देखना, उसका नाम दर्शन।'है' सब चीज़, यह देखना, उसका नाम दर्शन है। **विलोकनि—** विशेष अवलोकना। स्व और पर का एकसाथ बराबर आवलोकना, उसका नाम विलोकनी। **देखनौ...** वह भी आया। **देखनौ...** स्व–पर सब चीज़ है, 'है' ऐसा देखना। मुझमें पर है और मैं पर में हूँ, ऐसी बात नहीं है। 'है' ऐसा देखना। **अवलोकनि...** अवलोकन करना। अपना स्वरूप और पर सत्ता का देखना, उसका नाम **अवलोकनि** है। दर्शन को भी अवलोकनि (कहते) हैं। **दृगचाल...** अपने दर्शन की चाल यह है। देखने की चाल, स्व और पर सब 'है' ऐसा देखने की चाल को दर्शन कहते हैं।

लखन... लो, लक्षण। लक्षण, लक्षण है। दर्शन है वह उसका—आत्मा का लक्षण है। ज्ञान जानना, देखना... वह देखना अर्थात् सामान्य सत्ता को देखना, वह उसका लक्षण है। **दृष्टि...** दृष्टि भी कहते हैं। यह दर्शनोपयोग की बात है, हों! **निरखनि...** निरखना। **जुवनि...** देखना। यह सब दर्शन के नाम हैं। **चिंतवनि...** चिन्तवन करना अथवा सब 'है' ऐसा चिन्तवन वह दर्शन उपयोग है। **चाहनि...** लो, चाहना। 'है' उसको देखना, उसका नाम चाहना। **भाल...** भालना (देखना)। भाल—देखना, वह भी भाल का अर्थ देखना है। भालना कहते हैं न। भालना अर्थात् देखना।

अब, ज्ञान और चारित्र का नाम।

★ ★ ★

काव्य - ४८

ज्ञान और चारित्र के नाम (दोहा)

ग्यान बोध अवगम मनन, जगतभान जगजान।
संजम चारित आचरन, चरन वृत्ति थिरवान।।४८।।

अर्थ :– ज्ञान, बोध, अवगम, मनन, जगत्भानु, जगत्ज्ञान – ये ज्ञान के नाम हैं। संयम, चारित्र आचरण, चरण, वृत्त, थिरवान – ये चारित्र के नाम हैं।।४८।।

काव्य-४८ पर प्रवचन

यह कल चन्द्रकान्तभाई के यहाँ है न वह मांगलिक। आज पूर्णाहुति करके कल तुम्हारे यहाँ जीव अधिकार की शुरुआत होती है। नाटक अधिकार। माँग की है। **ज्ञान...** नाम है, लो। जानना, वह **ज्ञान**। **बोध** का नाम ज्ञान। **अवगमन** करना, अव—निश्चय से जानना, वह ज्ञान। **मनन** करना। ज्ञान में एकाग्र होकर मनन करना, वह ज्ञान। **जगतभानु...** जगत का सूर्य। आहाहा! चैतन्यप्रकाश आत्मा जगत का सूर्य है, उसको यहाँ ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! **जगजान...** जगत को जाननेवाला, लो! ज्ञान का नाम जगत को जाननेवाला। जगत है, रागादि चीज़ परवस्तु सब है और स्व भी है। दोनों को जाननेवाले को जगतभानु कहा (जाता है)। यह सूर्य तो साधारण... वह तो महासूर्य प्रभु!

संजम... लो, चारित्र का नाम, यह चारित्र, चारित्र। स्वरूप में संयम। इन्द्रिय से हटकर अनीन्द्रिय में रुककर रहना, उसका नाम जति अर्थात् चारित्र कहने में आता है। **चारित** स्वरूप में रमना, चरना, चरना। उस शुद्ध आनन्द का भोजन करना, वह चारित्र। यह तो गजब बात है। **आचरन...** यह स्वरूप में रमना, वह आचरण। दया-दान की क्रिया राग, वह आचरण, यह आचरण नहीं। चारित्र नहीं (बात) अलग है, जगत से अलग है।

चरन... लो, चरना। स्वरूप में चरण करना, रमना। और **वृत्ति...** लो, स्वरूप की वृत्ति—राग रहित वृत्ति, स्वरूप का परिणमन। आहाहा! चारित्र आत्मा आनन्द की वृत्ति

परिणमन है, उसका नाम चारित्र है। पंच महाव्रत का विकल्प-विकल्प नग्नपना, वह चारित्र नहीं। आहाहा! और **थिरवान...** लो। स्थिरवान—स्थिरपना। अपने आनन्दस्वरूप में स्थिरपना, उसका नाम चारित्र है।

★ ★ ★

काव्य - ४९

सत्य के नाम (दोहा)

सम्यक सत्य अमोघ सत, निसंदेह निरधार।
ठीक जथारथ उचित तथ, मिथ्या आदि अकार।।४९।।

अर्थ :- सम्यक्, सत्य, अमोघ, सत्, नि:संदेह, निरधार, ठीक, यथार्थ, उचित, तथ्य - ये सत्य के नाम हैं। इन शब्दों के आदि में अकार लगाने से झूठ के नाम होते हैं।।४९।।

काव्य-४९ पर प्रवचन

सम्यक सत्य अमोघ सत, निसंदेह निरधार।
ठीक जथारथ उचित तथ, मिथ्या आदि अकार।।४९।।

सत्य के नाम **सम्यक्...** जैसा स्वरूप है, वैसा जानना, उसका नाम सत्य। **सम्यक्** उसका नाम सम्यक्। उसका नाम **सत्य...** ओहो! अनादि-अनन्त अविनाशी भगवान आत्मा, वह सत् का साहिबा है, उसको सत् कहते हैं। सत्साहेब आता है या नहीं? तुम्हारे कबीर में बहुत आवे सत्साहेब... सत्साहेब। सत्साहेब की वन्दना। यह सत्साहेब आत्मा। **अमोघ...** सफलपना। अमोघ अर्थात् सफल। रामचन्द्रजी का बाण अमोघ था। बाण मारा वह मारा, वापस फिरे नहीं। अमोघ अर्थात् सफलता। बाण मारा, वह लगे ही, इसी प्रकार सत् अमोघ है। जिसका आत्मा परमानन्द स्वरूप में सत्यपना आया, अमोघ

है, अब फिरे नहीं। मुक्ति के पंथ में चढ़ा, सो चढ़ा, ऐसा सत् है।

सत्.... सत्य का नाम सत् है। सत्य, वही सत् है। आत्मा सत्स्वरूप है, वही सत् है। उसकी खबर नहीं और झूठ बोलना, कहाँ से सत् होगा? **निसंदेह...** सत् का नाम निःसन्देह। सन्देह बिल्कुल नहीं। भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द शुद्ध का भान, उसकी भाषा भाव, उसका नाम यहाँ निःसन्देह कहते हैं। **निरधार—**निश्चित करना। सत् का निर्णय करना वह निर्धार। **ठीक...** लो, ठीक है। सत् का नाम ही ठीक है।

जथारथ... सत् का नाम ही यथार्थ है। वस्तु आत्मा त्रिकाल द्रव्य, उसका गुण, उसकी पर्याय—जैसा है, वैसा जानना, ख्याल करना, वह यथार्थ। **उचित** है। सत् को उचित कहते हैं। **तथ्य...** जैसा है वैसा। यह सत्य के नाम हैं। इन शब्दों के आदि में अकार लगाने से झूठ के नाम होते हैं, लो। असम्यक्, असत्य, अणमोघ, असत्, सन्देह, निर्धार नहीं ऐसा, अठीक, अयथार्थ, अनुचित, अतथ्य—ये मिथ्यात्व के नाम हैं, मिथ्यात्व के नाम हैं।

★ ★ ★

काव्य - ५०

झूठ के नाम (दोहा)

अजथारथ मिथ्या मृषा, वृथा असत्त अलीक।
मुधा मोघ निःफल वितथ, अनुचित असत अठीक।।५०।।

अर्थ :– अयथार्थ, मिथ्या, मृषा, वृथा, असत्य, अलीक, मुधा, मोघ, निःफल, वितथ, अनुचित, असत्, अठीक – ये झूठ के नाम हैं।।५०।।

काव्य-५० पर प्रवचन

अजथारथ... अयथार्थ अर्थात् जथार्थ नहीं, यथार्थ नहीं। उल्टा असत्य है। **मिथ्या...** झूठा है। **मृषा...** भी झूठा है। सम्यक् के साथ असम्यक्। मिथ्या, मृषा। **वृथा...** बकवाद,

झूठा, वह झूठा। सर्वज्ञ परमात्मा ने जैसा द्रव्य-गुण-पर्याय आत्मा का कहा, वैसा न मानकर (उल्टा) कहे, वह सब वृथा है। **असत्** है। सत् के सामने।

अलीक... है। झूठा है, **मुधा...** है। मूर्खाई है। **मोघ...** है। मोघ, मोघ। झूठापना मोघ है। अमोघ है न अमोघ, उसके सामने मोघ। **निःफल...** झूठ को निष्फल (कहा)। इसमें धर्म का कोई फल नहीं होता। **वितथ...** तथ के सामने वितथ। उचित के सामने अनुचित, सत् के सामने असत्, ठीक के सामने अठीक।

लो, समयसार नाटक के बारह अधिकारों के नाम।

★ ★ ★

काव्य - ५१

नाटक समयसार के बारह अधिकार (सवैया इकतीसा)

जीव निरजीव करता करम पुन्न पाप,
आस्रव संवर निरजरा बंध मोष है।
सरव विसुद्धि स्यादवाद साध्य साधक,
दुवादस दुवार धरै समैसार कोष है।।
दरवानुयोग दरवानुजोग दूरि करै,
निगमकौ नाटक परमरसपोष है।
सो परमागम बनारसी बखानै जामैं,
ग्यानकौ निदान सुद्ध चारितकी चोष है।।५१।।

शब्दार्थः-निरजीव=अजीव। करता=कर्त्ता। दुवादस=द्वादश (बारह)। दुवार= अधिकार। कोष=भंडार। दरवानुजोग=द्रव्यों का संयोग। नियमकौ=आत्मा का।

अर्थ :- समयसारजी के भण्डार में जीव, अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, सर्वविशुद्धि, स्याद्वाद और साध्यसाधक ये बारह अधिकार हैं। यह उत्कृष्ट ग्रन्थ द्रव्यानुयोगरूप है, आत्मा को परद्रव्यों के संयोग से पृथक् करता है अर्थात् मोक्षमार्ग में लगाता है। यह आत्मा का नाटक परमशान्तिरस को

पुष्ट करनेवाला है, सम्यग्ज्ञान और शुद्धचारित्र का कारण है, इसे पण्डित बनारसीदासजी पद्य-रचना में वर्णन करते हैं।।५१।।

काव्य-५१ पर प्रवचन

जीव निरजीव करता करम पुन्न पाप,
आस्रव संवर निरजरा बंध मोष है।
सरव विसुद्धि स्यादवाद साध्य साधक,
दुवादस दुवार धरै समैसार कोष है।।
दरवानुयोग दरवानुजोग दूरि करै,
निगमकौ नाटक परमरसपोष है।
सो परमागम बनारसी बखानै जामैं,
ग्यानकौ निदान सुद्ध चारितकी चोष है।।५१।।

भण्डार है, भण्डार। देखो, परमागम... देखो, अपने परमागम होता है न बाहर।

क्या कहते हैं, देखो! जीव अधिकार कहेंगे। पहले जीव अधिकार कहेंगे। कल सुबह में जीव अधिकार शुरु होगा। चन्द्रकान्तभाई के यहाँ बाहर। निर्जीव अधिकार। निर्जीव अर्थात् अजीव। दूसरा अजीव (अधिकार)। तीसरा कर्ता-कर्म। राग का कर्ता आत्मा नहीं। कर्ता माने, वह अज्ञान है—ऐसा कर्ता-कर्म का अधिकार है। पुण्य-पाप का अधिकार। पुण्य-पाप शुभ-अशुभभाव दोनों ही बन्ध के कारण हैं, उसका अधिकार कहेंगे। आस्रव... पुण्य-पाप दोनों मिलकर आस्रव है। संवर... आस्रव का रोधन करके समकित दर्शन आदि स्वभाव की ओर की शान्ति का प्रगट करना, यह संवर है। निर्जरा अधिकार... अशुद्धता का नाश करने से कर्म की निर्जरा होती है, उसका अधिकार कहेंगे। बन्ध का अधिकार कहेंगे और मोक्ष का अधिकार, लो! सर्वविशुद्धि कहेंगे। सर्वविशुद्धि है न अन्त अन्त में। स्याद्वाद अधिकार कहेंगे और साध्य-साधक कहेंगे।

स्याद्वाद अपेक्षा से अनेकान्त धर्म होता है। साध्य अर्थात् पूर्णस्वरूप साध्य है और साधक—आत्मा की अपूर्ण दशा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह साधक है। द्वादश—

बारह द्वार। बारह द्वार हैं। यह बारह द्वार। **धरै समैसार कोष है...** यह आत्मा का भण्डार है। अर्थ में लिखा है अन्त में, देखो! **समयसारजी के भंडार में...** यह समयसाररूपी भण्डार है। उसमें ऐसा अधिकार आयेगा, ऐसा कहते हैं। द्रव्यानुयोग... तत्त्वज्ञान की बात आयेगी। द्रव्यानुयोग है, यह चरणानुयोग और करणानुयोग नहीं। वस्तुस्वरूप जो है, उसके अनुसार अन्तर होना, यह बतलानेवाला द्रव्यानुयोग है।

'**दरवानुजोग दूरि करै**' वह द्रव्यानुयोग है, आत्मा को परद्रव्य से, संयोग से पृथक् करे। **द्रव्यानुयोग, द्रव्यानुयोग,** ऐसा दूरि करै। '**निगमकौ नाटक परमरसपोष है।**' शुद्ध आत्मा का नाटक है यह। परमरस आनन्द का पोषनेवाला है। '**सो परमागम बनारसी बखानै जामैं, ग्यानकौ निदान**' यह तो है। आहाहा! और '**सुद्ध चारितकी चोष है।**' शुद्ध चारित्र का आनन्द है उसमें। **परमशान्तिरस को पुष्ट करनेवाला है,...** इसका अर्थ किया। शान्ति... शान्ति... शान्ति... अकषायस्वभाव को पोषनेवाला है। उस नाटक को हम कहेंगे। यहाँ जीव समयसार... यह तो उसकी उत्थानिका हुई, प्रवेशद्वार हुआ। अब मूल समयसार का जीव अधिकार जो भगवान आचार्यदेव ने कहा है, वह कल सुबह शुरु होगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१. जीवद्वार

प्रवचन नं. १५, माघ शुक्ल ५, रविवार, दिनांक ३१-१-१९७१
जीवद्वार, पद—१, २

जीवद्वार का मांगलिक चलता है। मांगलिक... मांगलिक है, देखो। **चिदानन्द भगवान की स्तुति**। ....शब्द है। समयसार कलश की (टीका)... कलश का यह भाग है। कुन्दकुन्दाचार्य ने यह ग्रन्थ बनाया, बाद में टीका बनायी अमृतचन्द्राचार्य ने। उसका पहला श्लोक है। उसका वह भावार्थ। नीचे श्लोक है।

नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय, सर्वभावांतरच्छिदे ॥१ ॥

लो, यह मांगलिक किया। पहली यह शुरुआत करनी थी न इनको... क्या अर्थ है उसका ? देखो। '**स्वानुभूत्या चकासते**' जो दूसरा पद है, उसका अर्थ पहले किया है। कैसा है आत्मा ? '**शोभित निज अनुभूति जुत**'। दूसरा शब्द है न। ... उसका अर्थ लिया है। '**स्वानुभूत्या चकासते**'—यह आत्मा अपनी अनुभूति से प्रकाशमान होता है। क्या कहा उसमें ? जो आत्मा है ज्ञान आदि अनन्त-अनन्त (गुण) सम्पन्न स्वरूप, वह तो अपने अनुभव से प्रकाशमान होता है कि मैं तो हूँ। पुण्य-पाप के विकल्प से या निमित्त से आत्मा प्रसिद्धि में, अनुभव में नहीं आता। यह मांगलिक करते हैं। उसको देव करके सिद्ध की स्तुति करते हैं। आहाहा ! समझ में आया ?

★ ★ ★

काव्य - १

चिदानन्द भगवान की स्तुति (दोहा)

शोभित निज अनुभूति जुत चिदानंद भगवान।
सार पदारथ आतमा, सकल पदारथ जान।।१।।

शब्दार्थ:-निज अनुभूति=अपनी आत्मा का स्वसंवेदित ज्ञान। चिदानन्द (चित्+आनंद)=जिसे आत्मीय आनन्द हो।

अर्थ :- वह चिदानन्द प्रभु अपने स्वानुभव से सुशोभित है। सब पदार्थों में सारभूत आत्मपदार्थ है और सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता है।।१।।

काव्य-१ पर प्रवचन

यह आत्मा '**शोभित निज अनुभूति जुत**' कहा है न! यह सब साथ में ले लेते हैं। '**जुत चिदानन्द भगवान।**' भगवान '**भावाय**' है, चिदानन्द '**स्वभावाय**' है। यह उससे सहित है और स्वानुभूति सहित है। दो अर्थ है उसमें। क्या कहा? देखो! जरा सूक्ष्म बात है। पहला श्लोक है न!

अमृतचन्द्राचार्य मुनि दिगम्बर सन्त ९०० वर्ष पहले हुए। उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य की टीका (कि जो) बहुत गम्भीर गूढ़ अध्यात्म के कलश हैं अन्तिम-आखिर, वह बनायी है। कहते हैं कि आत्मा... पहले मांगलिक... वह कहा। भगवान आत्मा... यह समयसार की व्याख्या ली। सार पदार्थ यह आत्मा। यह तीसरा पद है। '**नमः समयसाराय:**'। सार पदार्थ भगवान आत्मा है, वह पुण्य और पाप के राग से रहित है, शरीर और कर्म से रहित तो है ही। ऐसा आत्मा '**शोभित निज अनुभूति, प्रकाशते**' कहा न उसमें शुद्ध शब्द ले लिया।

'**प्रकाशते**' भगवान आत्मा अपना शुद्ध आनन्दस्वभाव और संवेदनज्ञान से आत्मा प्रसिद्धि पाता है। समझ में आया? '**स्वानुभूत्या चकासते।**' ओहो! पहले महा मांगलिक किया। दिगम्बर सन्त थे जंगल में बसनेवाले। ओहो! यह प्रभु आत्मा कैसे भान में, प्रकाश में, अनुभव में आता है? कि '**स्वानुभूति चकासते।**' अपना आनन्द और ज्ञानस्वरूप जो है, उसकी एकाग्रता कर उसके अनुसरकर होना। पुण्य-पाप के राग से अनुसर कर होना, वह तो अनादि से होता है, वह तो अज्ञान है। समझ में आया? ...अच्छा कथन है।

'**शोभित निज अनुभूति जूत-शोभित**' अर्थात् प्रकाशते... ओहो! निजस्वरूप

की प्राप्ति, भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वभाव धर्मी जीव को—सम्यग्दृष्टि को अनुभूति से प्रसिद्धि में आता है। समझ में आया? आहाहा! इसका नाम... भारी सूक्ष्म!

अपना भाव... पहले। '**सार पदारथ आतमा।**' यह '**नमः समयसाराय**' का अर्थ किया। '**समयसार—सम्+अय**' अन्दर आनन्दमूर्ति भगवान, पुण्य-पाप के राग और शरीर से रहित, ऐसा अपना सार आत्मा पदार्थ जो है, वह '**शोभित निज अनुभूति**' अपने आनन्द की ओर का लक्ष्य करके अपनी वर्तमान ज्ञानदशा में जो भगवान आत्मा ध्रुव चैतन्य है, वह अनुभूति आनन्द का वेदन है। आहाहा! प्रथम होता है तो ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : यही होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभूति... शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु, वह समयसार। सम्+अय+सार। पदार्थ। '**स्वानुभूत्या चकासते।**' ऐसा अर्थ है। उसका स्वभाव ही ऐसा है।

अलिंगग्रहण में ऐसा आया न! अपने स्वभाव से प्रकाशमान प्रत्यक्ष ज्ञाता है। छठवाँ बोल है। अलिंगग्रहण। अलिंगग्रहण के २० बोल हैं। बहुत सूक्ष्म बात है। यह तत्त्व तो ऐसी चीज़ है कि यह जैन (धर्म) नहीं, यह तो वस्तु की स्थिति है। जैन कोई दूसरी चीज़ है? जैनस्वरूप ही आत्मा है। वीतराग निर्विकल्प—राग बिना की चीज़ उसको यहाँ जैन अथवा आत्मा कहते हैं। यह आत्मा अपने स्वभाव सन्मुख होकर, पुण्य-पाप के राग से विमुख होकर अपनी अनुभूति से आनन्द के वेदन में, स्वसंवेदन ज्ञान के वेदन में 'यह आत्मा' ऐसी प्रतीति होती है। तब उसको आत्मा की प्रतीति—यथार्थ श्रद्धा होती है। यह सूक्ष्म बात है पहले श्लोक की।

मुमुक्षु : मांगलिक ऐसा ही होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मांगलिक है वास्तु, लो आये। ऐसे अभी नजर की कि हेमचन्दजी कहाँ हैं? अभी पूछा था, मैंने कहा, क्यों आये नहीं? पुस्तक दो पुस्तक। पुस्तक दो एक। है, लो। देखो तो सही यह क्या है? यह बहियाँ तो बहुत खोजी। यह बहियाँ (पुस्तक) अलग प्रकार की है।

मुमुक्षु : यह अन्दर की बहियाँ हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरी बहियाँ हैं यहाँ। पहला शब्द है न भैया? '**शोभित निज अनुभूति**' उसका अर्थ चलता है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य महाविदेहक्षेत्र में गये थे, आठ दिन रहे थे और वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया है। इस शास्त्र के टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य मुनि आज से ९०० वर्ष पहले हुए। कुन्दकुन्दाचार्य २००० वर्ष पहले संवत् ४९ में हुए। (उनके शास्त्र) की टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त जंगलवासी आनन्द में झूलनेवाले उन्होंने यह टीका बनायी। उसका यह पहला श्लोक है। नीचे श्लोक, नीचे श्लोक है न?

'**नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते। चित्स्वाभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे॥**' इसका अर्थ चलता है। मांगलिक है, महामांगलिक। '**शोभित निज अनुभूति जुत**' ऊपर।

कहते हैं कि आत्मा को धर्म होता है, वह अपने आनन्द का अनुभव करने से होता है। आहाहा! गजब! धर्म कोई दूसरी चीज़ है, यह (राग का अनुभव) तो अधर्म है अनादि से। समझ में आया? '**शोभित निज अनुभूति**' ऐसा शब्द पड़ा है। अपना निजस्वभाव, ज्ञानस्वभाव, आनन्दस्वभाव—ऐसा भगवान आत्मा अपना निज (भाव) उसकी अनुभूति से शोभित है। आहाहा! राग के और पुण्य के अनुभव से तो वह अशोभित है। आहाहा! मार्ग अलौकिक है, भगवान! यह धर्म का मार्ग ही दूसरी चीज़ है। लोगों को धर्म क्या चीज़ है, (खबर नहीं)। ऐसे करो, बाहर करो, सेवा करो, ऐसा करो और फैसा करो और ढींकणा करो। धूल में है नहीं। समझ में आया?

कहते हैं कि निज अनुभूति से शोभित है। आहाहा! भगवान आत्मा की शोभा अथवा प्रकाशना अथवा जागृत होना, यह अपने निज स्वभाव की अनुभूति करने से जागृत होता है। पहले में पहली धर्म की बात चलती है। आहाहा! समझ में आया? अनादि से शुभ और अशुभ जो विकल्प-राग है, उस ओर का वेदन और झुकाव के कारण मिथ्यात्वभाव से चार गति में रुलते (हुए) दु:खी है। तो धर्म कैसे उत्पन्न होता

है ? भगवान आत्मा सार पदार्थ जगत के अन्दर, सारा—अनन्त पदार्थ खोजो तो उसमें सार भगवान आत्मा है। यह विकार और शरीर और कर्मरहित है। शरीर अर्थात् नोकर्म; कर्म अर्थात् जड़ (द्रव्यकर्म) और विकार अर्थात् भावकर्म।

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म तीन शब्द हैं। तो नोकर्म अर्थात् शरीर आदि, उनसे रहित है। कर्म अर्थात् जड़कर्म जो आठ रजकण आठ कर्म हैं, ज्ञानावरणादि उनसे भी भिन्न है और भावकर्म—दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध का विकल्प जो है, वह भावकर्म विकारभाव है। आहाहा! उसका तो अनुभव अनादि का है। पुण्य-पाप विकार का, जो स्वभाव में नहीं, स्वभाव में नहीं, उसका तो अनुभव अनादि से अज्ञानी को है। वह चीज़ कहीं यथार्थ नही, वह शोभित चीज़ नहीं, वह सुन्दर नहीं, वह उसका शृंगार नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है भैया! अनन्त काल में सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, वह सुना नहीं। बाहर से ऐसा होगा और ऐसा होगा। समझ में आया? '**शोभित निज अनुभूति जुत**' यह अभी छोड़ो। यह बाद में... यह बन्द रखो। दे दो देना हो तो। यह अभी तो यहाँ... यह कथा नहीं, यह तो धर्मकथा है, यह वार्ता नहीं। आहाहा!

भगवान! तेरे स्वभाव में तो अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, शान्ति अर्थात् वीतरागता—ऐसा तेरी चीज़ में पड़ा है अनादि से। उस ओर का झुकाव करने से जो आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द का सम्यग्दर्शन—प्रतीति—अनुभव होता है, वह धर्म है। सूक्ष्म बात है भैया! समझ में आया? वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा उसको धर्म कहते हैं। '**धारयति ते धरम**' विकार और चार गति से निकलने की भावना—अन्तर दशा, उसका नाम धर्म है। समझ में आया?

कहते हैं कि '**शोभित निज अनुभूति**'—भगवान सर्वज्ञ की अनुभूति, वह (अनुभूति) नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! पंच परमेष्ठी हैं, अरिहन्त सिद्ध (आदि) वे तो परद्रव्य हैं। भाई हेमचन्दजी! वे तो परवस्तु हैं। अरिहन्त, सिद्ध भी परवस्तु हैं, अपने से तो पर है। तो उसका अनुभव नहीं होता। उस ओर लक्ष्य जाता है तो विकल्प-राग उठता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह आत्मा चीज़ ही दूसरी है।

अरे! आत्मा को भगवानरूप से बुलाते हैं।

मुमुक्षु : इसमें बुलाया चिदानन्द भगवान।

पूज्य गुरुदेवश्री : चिदानन्द... देखो चिदानन्द भगवान। अभी उसका अर्थ नहीं चलता। अभी तो अनुभूति का—पर्याय का अर्थ चलता है, पर्याय का अर्थ चलता है। अनुभूति पर्याय है। पर्याय अर्थात् दशा है—अवस्था है। द्रव्य-गुण नहीं। द्रव्य-गुण त्रिकाल है। अनादि से वर्तमान दशा में राग और पुण्य-पाप का वेदन और अनुभव मिथ्यात्वभाव में है, वह अनात्मा का वेदन है, वह आत्मा का वेदन नहीं। भगवान आत्मा राग से रहित ऐसा पूर्णानन्द प्रभु अपना निजस्वभाव, उसमें अनुभव—अन्तर में जाकर स्वभाव को अनुसरकर भूति (—परिणमन, वह) अनुभूति।

स्वभाव जो त्रिकाल आनन्द और ज्ञान है, उसको अनुसरकर आनन्द की अनुभूति पर्याय में होती है, उससे यह आत्मा प्रकाशमान आता (-होता) है। उसको आत्मा की प्रतीति यथार्थ आती है। आहाहा! सूक्ष्म बात! समझ में आया या नहीं? यहाँ मकान बनाया है, फिर इसे समझना पड़ेगा या नहीं अब यहाँ?

मुमुक्षु : समझेगा न!

पूज्य गुरुदेवश्री : समझेगा। यह तो आता है न। यह तो भगवान! अन्तर का मार्ग है। प्रभु! क्या कहें? वीतरागमार्ग कोई अलौकिक अचिंत्य है। जगत के साथ कहीं मिलान करे तो ऐसा है नहीं। बाहर में तो इतनी माथापच्ची चली है बाहर में। प्रवृत्ति और यह करना और यह करना, उसमें धर्म, यह तो अनादि से राग को करता है और धर्म मानता है। आहाहा! वह तो मिथ्यात्वभाव है। निगोद और नरक में जाने का स्थान और खान है वह। आहाहा!

भगवान आत्मा... यह देह तो मिट्टी-धूल है, यह तो अजीव है। यह जीव नहीं। और उसमें पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, वह भी जीव नहीं, वह तो आस्रव है। नौ तत्त्व में तो आस्रवतत्त्व है। उससे भिन्न भगवान अपना शुद्ध आत्मद्रव्य समयसार -स्वभाव, उसकी अनुभूति करना, आहाहा! वह सार है और यह अनुभूति वही आत्मा को नमन है। यह नमन है भाई! नमन—अपना शुद्ध आनन्दस्वभाव, उसका अनुभव, वही नमा। आत्मा में नम गया, वही आत्मा में नम गया। आहाहा!

यह और नया निकाला। उसमें है तो निकालना है न? पश्चात् चीज में तो है ही। यह अनुभूति ही नमन है। अपने शुद्ध स्वभाव में अन्तर अनुभव करना, वही आत्मा में नमन है। नमन अर्थात् झुकाव अर्थात् विनय अर्थात् आत्मा का सत्कार, आदर। अनुभूति, वही उसका आत्मा में नमन कहा जाता है। सूक्ष्म बात, भगवान! सूक्ष्म बात है। साधारण जनता धर्म पावे, ऐसी चीज़ यहाँ बहुत दुर्लभ है। है आत्मा पावे ऐसी, परन्तु साधारण लोग ऐसे धर्म समझ ले, ऐसी चीज़ नहीं है, यह अलौकिक चीज़ है। अपूर्व है।

अनन्त काल में कभी एक सेकेण्ड भी आत्मा क्या है, इसका ज्ञान और अनुभव कभी हुआ नहीं। एक बार एक सेकेण्ड भी अनुभव हो, उसकी मुक्ति हुए बिना नहीं रहती। समझ में आया? चन्द्र की दूज उगे। दूज कहते हैं न? दुई, दूज। दूज-दूज। बीज—दूज उगे और पूर्णिमा न हो, ऐसा नहीं होता। दूज उगे और पूर्णिमा होती थी, होती है और होगी। उसी प्रकार जिसको एक बार भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य निर्मलानन्द प्रभु, उस ओर के झुकाव से आनन्द का, सम्यग्दर्शन का, सम्यग्ज्ञान का वेदन—अनुभूति हुई, तो दूज उगी। दूज-दूज। केवलज्ञान पूर्णिमा हुए बिना रहेगी नहीं। वह केवलज्ञान लेकर ही रहेगा, परन्तु यह धर्म हो तो। समझ में आया?

कहते हैं, '**शोभित निज अनुभूति**'। ऐसा तो कहा है न उसमें? '**नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते**' और है तो वह '**स्वभावाय भावाय**' ऐसा है न? भाव—स्वभावसहित है। इसलिए ऐसा '**जुत**' डालना और इसमें भी '**जुत**' लेना। कि अनुभूति सहित है, '**जुत**' अर्थात् सहित। और चिदानन्द भगवान... भगवान यह '**भावाय**' का अर्थ है। उसमें है देखो। '**स्वानुभूत्या चकासते**' यह पहले पद का अर्थ हुआ। फिर भावाय यह दूसरे पद में है न '**भावाय**', '**चित्स्वभावाय भावाय**'—यह '**भावाय**' भगवान के अर्थ (में) है और '**चित्स्वभावाय**' वह '**चिदानन्द**' के अर्थ (में) है। शब्द में है सेठ? समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा... '**भावाय**'—भावस्वभाव स्वरूप, अभावस्वरूप नहीं है वह चीज़। पर के अभावस्वरूप है। अपने स्वभावभाव स्वरूप आत्मा है, उसको यहाँ '**भावाय**' (ऐसी) व्याख्या भगवान ने की। शब्द का अर्थ है उसमें।

और '**चित्स्वभावाय**' इस दूसरे पद का पहला शब्द। उसका अर्थ किया

'**चिदानन्द**'। भाई! आहाहा! दरबार! ऐसी बात है। बनिया है, हों! यह दरबार नहीं। कोई कहे कि दरबार क्यों कहा?

मुमुक्षु : यह बनिया के दरबार हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा शरीर है न! पैसा भी बहुत है और शरीर भी बहुत है। समझ में आया? कहते हैं कि आत्मा दरबार है यहाँ तो। आहाहा! इसके अन्तर में अनन्त आनन्द आदि साम्राज्य पड़ा है। खबर नहीं क्या चीज़ आत्मा! धर्म करनेवाला आत्मा, परन्तु आत्मा कैसा, यह खबर नहीं। कहाँ से धर्म होगा? कल्याण करनेवाला आत्मा... कल्याण करनेवाला आत्मा, तो आत्मा है कैसा कि कल्याण कर सके? यह खबर नहीं और कल्याण हो जाता है, (ऐसे) अनादि से अज्ञानी मान लेता है।

यहाँ तो कहते हैं, '**चिदानन्द भगवान भावाय**' अपना द्रव्य—वस्तु। द्रव्य अर्थात् पदार्थ, उसको यहाँ भावाय कहकर भगवान कहा है। और '**चित्स्वभावाय**' (**भावाया**) वह तो आत्मवस्तु हुई भगवान वस्तु। तो वस्तु का स्वभाव क्या? स्वभाव क्या? कि '**चित्स्वभावाय**' यह पाठ में पड़ा है, तो उसका यहाँ अर्थ किया कि '**चिदानन्द**' स्वभावाय। उसका स्वभाव ज्ञानानन्द है। समझ में आया? आत्मा का स्वभाव चिदानन्द है। सेठ! ऐसी बात है। आहाहा! रस पड़ता है, हों! पहले से अधिक समय लेते हैं तुम्हारे अपेक्षा, फिर यह कहे कि उसमें से भाग लूँगा थोड़ा सा। भाग-बाग (मिले) ऐसा कुछ नहीं है। कहो, समझ में आया? क्या कहा?

भगवान चिदानन्द... आहाहा! स्वभाव कैसा है भगवान आत्मा का? वह तो चिदानन्द स्वभाव है, भाई! ज्ञान और आनन्द उसका स्वभाव है। कोई पुण्य-पाप का विकल्प या शरीर उसका स्वभाव नहीं। आहाहा! श्लोक बहुत सरस आया है। यह समयसार नाटक दूसरी बार या तीसरी बार वाँचन होता है। उसमें यह पहला था।

मुमुक्षु : इस प्रकार से आज पहली बार वाँचन हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वरना इस प्रकार से कहाँ चलता था पहले? क्यों पण्डितजी? रामजीभाई कहते हैं, वह बराबर है। आहाहा!

मुमुक्षु : तुमको .... तो शुरु हुआ न?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुरु हुआ न यहाँ। **चिदानन्द भगवान** यह शब्द, वह नीचे! श्लोक है, उसमें से निकाला है, हों!

अब, कहते हैं कि ज्ञान और आनन्द जिसका स्वभाव है। जैसे शक्कर का मीठा और सफेद स्वभाव है, अफीम का कड़ुवा और काला स्वभाव है, वैसे भगवान आत्मा का ज्ञान और आनन्द स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? '**चिदानन्द भगवान।**' पश्चात् '**सार पदारथ आत्मा**', यह समयसार की व्याख्या की। पहले पद में है न! '**नमः समयसाराय**' उसकी व्याख्या **सार पदार्थ आत्मा**। यह समय अर्थात् आत्मा का सार। उसमें से निकाला है।

अब '**सर्वभावांतरच्छिदे**' चौथा पद है नीचे। यह '**सकल पदारथ जान।**' कैसा है भगवान आत्मा? तीन काल—तीन लोक के पदार्थ को वह जाननेवाला है। यह मोक्ष बताया। समझ में आया? पण्डितजी! यह शब्दार्थ है। वह नीचे पाठ है न, उसका यह भाव है। पण्डित जयचन्द... '**सर्वभावांतरच्छिदे**' अपनी अनुभूति हुई। देखो, क्या कहते हैं?

एक तो '**भावाय**' अर्थात् द्रव्य सिद्ध किया। द्रव्य अर्थात् वस्तु। '**चित्स्वभावाय**' अर्थात् ज्ञान, आनन्द सिद्ध किया—गुण। द्रव्य सिद्ध किया। '**भावाय**' अर्थात् द्रव्य—वस्तु, '**चित्स्वभावाय**'**—**गुण, '**अनुभूति**' वह उसकी पर्याय। आहाहा! '**अनुभूति**' उसकी दशा—अवस्था। तीन चीज़ है—द्रव्य, गुण और पर्याय। नाम भी आते न हो द्रव्य-गुण-पर्याय के और जय-जय भगवान। समझ में आया? वह तीनों निकाला इसमें से, देखो। '**भगवान**' वह द्रव्य-वस्तु है। '**चिदानन्द**' वह गुण है। '**स्वानुभूत्या**' अनुभूति वह पर्याय है। परन्तु वह साधक की निचली दशा की पर्याय है, धर्म की पर्याय है। आनन्द का अनुभव, वह धर्म की पर्याय है। और उस पर्याय से क्या प्रगट होता है? कि '**सकल पदारथ जान**' सर्वज्ञ पदार्थ (पर्याय) प्राप्त होती है। समझ में आया?

अपना अनुभव करते-करते एक समय में सर्व पदार्थ जान। तीन काल—तीन लोक के पदार्थ जानने में आवे, ऐसी सर्वज्ञ प्रगट दशा है। अनुभूति से सर्वज्ञ पद प्रगट होता है। कोई राग या व्यवहार और निमित्त से होता नहीं, यह सिद्ध करना है। आहाहा! समझ में आया? '**सकल पदारथ, स्वानुभूत्या चकासते**' है न!

'**सर्वभावांतरच्छिदे**' है न! सर्वभाव अन्तर अर्थात् अपने सिवाय जगत के सर्व भाव। वह अपना (स्वभाव) तो अनुभव में आ गया, अब सर्व पदार्थ को भी '**च्छिदे**' जाननेवाला होगा, ऐसी आत्मा की स्वभावदशा है। अब उसमें क्या आया? देखो कि '**भावाय**' अर्थात् द्रव्य आया, '**चित्स्वभावाय**' अर्थात् गुण आये, '**अनुभूति**' धर्म की शुरुआत की पर्याय आयी, संवर-निर्जरा आये। इस '**स्वानुभूत्या चकासते**' में संवर-निर्जरा आये। यह संवर-निर्जरा है। आहाहा!

'**सर्वभावांतरच्छिदे**' तो यह मोक्ष आया। बस। अजीव, आस्त्रव, बन्ध तो उसमें नहीं हैं, तो वे लिये ही नहीं। समझ में आया? आत्मा में पुण्य, पाप, आस्त्रव, अजीव, बन्ध, वह तो है नहीं। नास्ति की बात की ही नहीं, अस्ति ऐसा है। समझ में आया? '**भावाय, चित्स्वभावाय, स्वानुभूत्या चकासते, समयसाराय:, सर्वभावांतरच्छिदे।**' आहाहा!

देखो! अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त जंगलवासी का मांगलिक। समयसार टीका बनाने में पहली शुरुआत मांगलिक से की है। समझ में आया? ऐसी अलौकिक चीज़ अभी भरत (क्षेत्र) में ऐसी चीज़ कहीं अन्यत्र है नहीं। समझ में आया? ऐसा अमृतचन्द्राचार्य ने अद्‌भुत अन्दर में से निकालकर सार बनाया है।

जैसे भैंस या गाय होती है न, उसके आँव में दूध होता है न दूध। तो जो जोरदार बाई हो, ऐसे मारकर दूध निकालती है। आँचल होता है न वह। ऐसे न ले, हों! ऐसे न निकले, ऐसे न निकले। वह खड्डा-गड्ढा है न, अँगूठा ऐसे रखे। अन्दर रखे। अन्दर उसके... खींचे तो दूध निकले। यह तो हमको तो सब अनुभव है न, देखा है न चारों ओर से। अँगूठे का बल यहाँ बीच में ले, खींचे। अन्दर में दूध है (उसे) निकालती है। उसी प्रकार शास्त्र के शब्द में कस है, वे आचार्य निकालते हैं। शास्त्र में क्या भरा पड़ा है, उसको अमृतचन्द्राचार्य जोर देकर टीका करके बनाते हैं।

मुमुक्षु : उनका जोर .... यहाँ आपके व्याख्यान होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पण्डितजी! समझ में आया? आहाहा! यह पहले श्लोक का अर्थ हुआ।

दूसरा श्लोक। सिद्ध भगवान मोक्ष की (दशा)... अन्त में—आखिर में कहा न

मोक्ष। **सकल पदारथ जान...** एक समय में त्रिकाल ज्ञान होता है, यह सर्वज्ञ कहो, मोक्ष कहो। तो मोक्ष की पर्याय, सिद्ध भगवान कैसे हैं, ऐसा दूसरे पद में बताते हैं। यह एक खास बनारसीदास की स्वतन्त्र (रचना) है, इस कलश से लगती हुई। ऐसा कलश नहीं है। हाँ, (पहले) कलश में है अन्दर।

सिद्ध भगवान की स्तुति, जिसमें शुद्ध आत्मा का वर्णन, शुद्ध आत्मा का वर्णन है।

★ ★ ★

काव्य - २

सिद्ध भगवान की स्तुति, जिसमें शुद्ध आत्मा का वर्णन है।

(सवैया तेईसा)

जो अपनी दुति आप विराजत,
है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक,
महा सुख सागरकौ विसरामी।
जीव अजीव जिते जगमैं,
तिनकौ गुन ज्ञायक अंतरजामी।
सो सिवरूप बसै सिव थानक,
ताहि विलोकि नमैं सिवगामी।।२।।

शब्दार्थः-दुति (द्युति)=ज्योति। विराजत=प्रकाशित। परधान=प्रधान। विसरामी (विश्रामी)=शान्तिरस का भोक्ता। शिवगामी=मोक्ष को जानेवाले सम्यग्दृष्टि, श्रावक, साधु, तीर्थंकर आदि।

अर्थ :- जो अपने आत्मज्ञान की ज्योति से प्रकाशित हैं, सब पदार्थों में मुख्य हैं, जिनका चैतन्य चिह्न है, जो निर्विकार हैं, बड़े भारी सुखसमुद्र से आनन्द करते हैं, संसार में जितने चेतन-अचेतन पदार्थ हैं, उनके गुणों के ज्ञाता घटघट की जाननेवाले हैं,

वे सिद्ध भगवान मोक्षरूप हैं, मोक्षपुरी के निवासी हैं; उन्हें मोक्षगामी जीव ज्ञानदृष्टि से देखकर नमस्कार करते हैं।।२।।

काव्य-२ पर प्रवचन

जो अपनी दुति आप विराजत,
है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक,
महा सुख सागरकौ विसरामी।
जीव अजीव जिते जगमैं,
तिनकौ गुन ज्ञायक अंतरजामी।
सो सिवरूप बसै सिव थानक,
ताहि विलोकि नमैं सिवगामी।।२।।

यह लो। कैसी टीका, देखो! नाटक पद्यकार है न। कवि-कवि कैसे? **विलोकी** कर, हों। सिद्धस्वरूप जैसा है, ऐसा भान करके नमते हैं, ऐसा कहते हैं। ऐसा-ऐसा सिद्ध... सिद्ध... करते हैं, णमो सिद्धाणं... णमो सिद्धाणं... परन्तु क्या सिद्धपद है और क्या स्वरूप है (उसकी) खबर नहीं, यह तो तुंबड़ी में कंकड़ जैसा है। तुंबड़ी में कंकड़ समझते हैं? वह तुंबड़ी होती है न दूधी। दूधी। तुंबड़ी, वह दूधी नहीं होती है? क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : दूधी ही बोलते हैं.... बोलते हैं। लौकी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बड़ल सूखी होती है न! सूख जाये तो उसमें वह बीज होते हैं न बीज, सूख जाये तो अन्दर पृथक् पड़ जाये। खड़के, मानो रुपये हों ऐसा खड़के (बजे)। रुपया-बुपिया है नहीं, वह तो सूखे बीज हैं अन्दर। रुपया कौन डाले अन्दर? बीज को बजावे तो मानो रुपया है या बीज है, खबर—भान नहीं होता।

इसी प्रकार सिद्ध भगवान का नाम लेते हैं, परन्तु सिद्ध भगवान का स्वरूप कैसा है, उसकी खबर नहीं।

मुमुक्षु : दरकार की....

पूज्य गुरुदेवश्री : दरकार कैसी? बीड़ी की कैसी दरकार की है? बताया था किसी न? कि ऐसा धन्धा करो और ऐसे रुपये मिले और करो। रुचि थी उसमें। बराबर है या नहीं?

मुमुक्षु : वह तो पुण्य पुकारता था न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पूर्व का पुण्य पड़ा हो न, उसके कारण से नहीं, परन्तु अपनी बुद्धि ऐसी सूझे कि ऐसा करूँ... ऐसा करूँ... ऐसा करूँ... परन्तु होनेवाला होता है बाहर से, हों! कहीं तुम्हारे से कुछ होता नहीं। आँख की पलक भी फिरती है, वह अपने से नहीं। वह जड़ की पर्याय जड़ से होती है, आत्मा से कभी तीन काल में होती नहीं। माने कि मुझसे होती है, (वह) मूढ़ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। समझ में आया?

यहाँ उसका अर्थ करते हैं, देखो। '**जो अपनी दुति आप विराजत**'—सिद्ध भगवान (जैसा) आत्मा का स्वभाव है। '**जो अपनी दुति**' अर्थात् ज्योति। '**चैतन्य ज्योति आप विराजत**'—चैतन्य ज्योति से सिद्ध भगवान विराजते हैं। सिद्ध भगवान कोई दूसरी चीज़ है नहीं। किसी का कर देना, भक्ति करे तो उसको लाभ देना, ऐसा है कुछ सिद्ध में? (नहीं)। हेमचन्दजी! है नहीं भैया! आहाहा! णमो सिद्धाणं... नमस्कार हो सिद्ध भगवान को। किसको नमस्कार? कैसी चीज़? भाव में भासन हुए बिना किसको नमते हैं? खबर तो है नहीं कि क्या सिद्ध है?

तो कहते हैं कि '**अपनी दुति**'—'**ज्योति**' चैतन्य ज्योति से आप विराजते हैं। चैतन्य का प्रकाश का नूर पूर्ण प्रगट हो गया है, उसका नाम सिद्ध भगवान कहते हैं। ऐसा प्रगट होने की शक्ति इस आत्मा में है। समझ में आया? सिद्धपना प्रगट हुआ, कहाँ से प्रगट हुआ? अन्दर में है। समझ में आया? वह आगे कहेंगे। पहले आ गया न! पहले आ गया। पहला, नहीं? '**चेतनरूप**' में आ गया न भाई।

मुमुक्षु : चेतनरूप अनुप अमूरत....

पूज्य गुरुदेवश्री : चेतनरूप में आ गया पहले। नौवाँ (पृष्ठ)। लो, ग्यारहवाँ बोल (पद) है। देखो!

मुमुक्षु : नौवाँ पेज है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पेज है। आहाहा!

देखो, '**चेतनरूप अनूप अमूरति**' मैं ऐसा हूँ—ऐसा कहते हैं। भैया है? यह नौवें पृष्ठ पर। '**चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्ध समान सदा पद मेरौ**', देखो, धर्मी अपना स्वभाव ऐसा जानते हैं। '**चेतनरूप अनूप अमूरति**'—मेरा तो चैतन्यज्योतिस्वरूप है। '**अनूप**'—कोई उपमा है (नहीं)। किसी की उपमा उसे दे नहीं सकते, ऐसी चीज़ है। किसकी उपमा दे? चैतन्यप्रकाश का नूर भगवान आत्मा... '**अमूरति**'—भगवान आत्मा में रंग, गन्ध, रस, स्पर्श है ही नहीं, वह तो अमूरति है।

कैसा है? '**सिद्ध समान**'—मेरा स्वरूप तो सिद्ध समान सदा... सदा... '**सदा पद मेरौ**' राग नहीं, पुण्य नहीं, शरीर नहीं, परन्तु अल्पज्ञपना भी मैं नहीं। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भगवान! अपूर्व बात... अनन्त काल में कभी की नहीं, ऐसी बात है। ऐसा तो सब अनन्त बार किया, वही का वही सब करे तो उसमें तो कुछ अपूर्वता है नहीं। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा तो अनन्त बार किये हैं, वह तो राग है, विकल्प है। आहाहा! वह कोई नयी चीज़ नहीं है, धर्म नहीं है। आहाहा!

कहते हैं, '**सिद्ध समान सदा**' तीनों काल मेरा स्वरूप तो सिद्धसमान ही है। सिद्ध समान है उसकी दृष्टि, एकाग्रता करने से एन्लार्ज होकर अपनी पर्याय में सिद्धपद प्राप्त होता है। समझ में आया? आत्मा सिद्धपद स्वरूप शक्ति सत्त्व में है, सदा से है, आहा! (उसकी) दृष्टि—अनुभव करते (ही) वर्तमान दशा में सिद्धपद पर्याय एन्लार्ज हो गयी—अन्दर है, वह प्रगट हो गया। समझ में आया? यह तो फोटो-बोटो... यहाँ अन्दर की बात है। बाहर के... भैया?

'**मोह महातम आतम अंग, कियौ परसंग महा तम घेरौ**' अरे! मैंने मेरे स्वरूप को न जानकर मोह अर्थात् मिथ्यात्व के कारण... '**मोह महातम**'—अन्धकार। ओहो! राग और विकल्प, शरीर और वाणी वे मेरे नहीं और मेरे माना, यह महामिथ्यात्व के कारण मान रखा है। आहाहा! समझ में आया? '**मोह महातम आतम अंग**' भगवान आत्मा चैतन्यज्योति सिद्ध समान होने पर भी, वर्तमान दशा में—वर्तमान पर्याय—हालत

में मैंने महा मोह—मिथ्याथ्व के कारण आत्मा की पर्याय में विकल्प को उत्पन्न किया और मिथ्यात्वभाव से '**घैरौ**' डाल दिया, अपने स्वभाव में घेरा डाला मिथ्यात्व से। आहाहा!

'**कियो परसंग**'—जो अपने में नहीं था, ऐसा राग और पुण्य का मैंने संग किया तो '**महातम घैरौ**'—महा अज्ञानरूपी अन्धेरा हो गया। कहो, समझ में आया? आहाहा! बाद में कहते हैं, '**ग्यानकला उपजी अब (मौकु) मोहि**' बनारसीदास कहते हैं, मुझे अब सम्यग्ज्ञान हुआ है, मुझे आत्मज्ञान हुआ है। देखो, गृहस्थाश्रम में हैं। '**ग्यानकला उपजी अब मोहि**'—मैं राग और विकल्प से रहित (हूँ—ऐसा) मेरा स्वरूप का भान मुझे हो गया।

'**कहौं गुन नाटक आगमकेरौ**'—तो समयसाररूपी आगम का नाटक—उसके गुण मैं कहूँगा। आहाहा! यह सारा नाटक उन्होंने बनाया है। '**जासु प्रसाद सधै सिवमारग**' यह सम्यग्ज्ञान कला द्वारा मैं नाटक कहूँगा और वह सम्यग्ज्ञान राग रहित अपने स्वसंवेदन द्वारा '**जासु प्रसाद सधै सिवमारग**'—उसके प्रसाद से मोक्ष का मार्ग सधता है। पुण्य-पाप की क्रिया से मोक्षमार्ग है नहीं। आहाहा!

लोकरंजन हो न... पुण्य की क्रिया (से) ऐसे धर्म (कहे) तो लोकरंजन हो—बहुत प्रसन्न हो।

मुमुक्षु : उसमें रंजन हो लोक, परन्तु उसमें लाभ क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ! तारणस्वामी कहते हैं न! जनरंजन करने को तुम पुण्य से धर्म और ...से धर्म मनाते हो, जनरंजन करनेवाले हो (तो) तुम नरकगामी हो, ऐसा कहा। दुनिया प्रसन्न रहे—खुश रहे, आहाहा! कठिन बात, भाई! ऐसा करो, शुभभाव करो, दया-दान-व्रत-भक्ति से तेरा कल्याण होगा। कहते हैं कि जनरंजन के लिये ऐसी बात तुम करते हो और लोग प्रसन्न-खुश रहते हैं, नरक में जाओगे तुम, याद रखो। उल्टा मार्ग बताकर दुनिया को प्रसन्न रखते हो और दुनिया उसमें बहुत मिले—मिल जाये... इसमें तो कोई प्रसन्न 'हाँ' करने में भी पसीना उतरे। वह तो सब बराबर है, बराबर है, बराबर है। यह मार्ग है, चलो भैया!

मुमुक्षु : शुरुआत में तो यही चाहिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले यह चाहिए, पहले यह चाहिए। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो सत्य बात ऐसी है। बहुत तर्क लिया है, हों उसने। हाँ, जनरंजन करनेवाला नरकगामी है, सेठ! आहाहा!

'**जासु प्रसाद सधै सिवमारग**'—मोक्षमार्ग... अपना स्वरूप शुद्ध आनन्द का अनुभव करते-करते मोक्षमार्ग सधेगा। '**वेगि मिटै भववास बसेरौ।**' अरे! यह भव, देह-मिट्टी, इसमें बसना, आहाहा! कलंक है, कहते हैं, कलंक है। यह हड्डियाँ-चमड़ी... मैसूर होता है न मैसूर। क्या है आज तुम्हारे मैसूर है? नहीं। मैसूर होता है न मैसूर ऊँचा, उस मैसूर को गधे का चमड़ा—मरे हुए (गधे का) चमड़ा हो, गधे का चमड़ा... चमड़ा समझते हो न? ताजा मर गये गधे का, उसमें मैसूर डाले, वैसे यह भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति मैसूर सरीखा है। यह चमड़ी, हड्डियाँ—चमड़ी में बसा है, ऐसा कलंक है। आहाहा! छोड़ दे अब, यह बात।

'**वेगि मिटै भववास बसेरौ**' भगवान आत्मा के सन्मुख होकर अनुभव करने पर मोक्षमार्ग सधेगा, तेरा भव में बसना छूट जायेगा। तेरा भव में बसना छूट जायेगा। भाई! यह तो बहुत अच्छी बात है। पहली, समझने की चीज़ समझना चाहिए पहली कि क्या है। फिर प्रयोग में रख सके। परन्तु अभी समझने में भूल है तो वह कहाँ वीर्य स्फुरित करेगा, कहाँ से हटना और कहाँ जाना, वह तो खबर नहीं।

तो यहाँ कहते हैं, '**जो अपनी दुति आप विराजत**' '**सिद्ध**' (जैसा) अपना स्वरूप है। '**है परधान पदारथ नामी**' ओहो! सर्वोत्कृष्ट पदार्थ आत्मा सिद्ध प्रभु (जैसा) है। '**पदारथ नामी**' नामी पदार्थ है, कहते हैं। आहाहा! लो, अर्थ लिखा है न! **अपने आत्मज्ञान की ज्योति से प्रकाशित है, सब पदार्थों में मुख्य है। परधान**' कहा न प्रधान। आहाहा! सिद्ध भगवान अशरीरी प्रभु सब पदार्थ में मुख्य—प्रमुख है, मुख्य है।

'**चेतन अंक सदा निकलंक**' आहाहा! कैसे हैं सिद्ध भगवान? जैसा है आत्मा। चैतन्य जिसका अंक अर्थात् लक्षण अर्थात् चिह्न है। चैतन्य—जानना, देखना उसका अंक अर्थात् ट्रेडमार्क है। जानना—देखना उसका लक्षण है। कोई पुण्य-पाप या विकल्प

आदि उसका लक्षण (नहीं है)। आहाहा! **'चेतन अंक सदा निकलंक'—** त्रिकाल निर्विकार सिद्ध हैं, ऐसे यह आत्मा भी त्रिकाल वस्तुरूप से तो निकलंक और निर्विकारी है। आहाहा! समझ में आया?

'महा सुख सागरकौ विसरामी'। आहाहा! यह भगवान भी महा आनन्द का सागर... आनन्द का सागर है। ओ सेठ! यह तुम्हारा सागर (गाँव) नहीं। आनन्दसागर है।

मुमुक्षु : नाम रखा है आनन्दसागर।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ?

मुमुक्षु : बँगला का।

पूज्य गुरुदेवश्री : बँगले का नाम रखा है, अच्छा। अब यहाँ आनन्दसागर है। बँगला में कहाँ आनन्दसागर है? **'महा सुख सागरकौ विसरामी'**। देखो, चौकड़ी की है न। **(बड़े) भारी सुख समुद्र में आनन्द करते हैं...** आहाहा! सिद्ध भगवान आनन्द का अनुभव करते हैं।

कोई ऐसा कहता है, प्रश्न किया, वहाँ जो सिद्ध होते हैं (वे) किसी का काम करते हैं या नहीं? हम तो यहाँ पाँच-दस-पच्चीस लोगों का काम करते हैं। कहा, हराम है, भगवान किसी का काम नहीं करते।

मुमुक्षु : भला तो करे न अपना?

पूज्य गुरुदेवश्री : भला-बला किसी का करते नहीं। सिद्ध किसका भला करे? अरे! ऐसे सिद्ध हमारे चाहिए नहीं। कहाँ है परन्तु, तू सुन न अब!

एक चतुराईवाला व्यक्ति था चतुर। विशाश्रीमाली। वह हीराभाई के मकान में आया था। 'सिद्ध भगवान आप कहते हो, अशरीरी परमात्मा है। किसी का काम करे?' (हमने कहा) हराम किसी का (करते नहीं), तू भी किसी का करता नहीं। मानता है कि हम पर का करते हैं। तब कहे, ऐसे हमारे नहीं चाहिए। अच्छा। हम तो इस गाँव में हैं तो कितने का काम करते हैं, लो! पच्चीस-पचास व्यक्तियों (को) सम्हालते हैं, सौ मनुष्य, पाँच सौ-हजार, पाँच-दस हजार। भाषण दे। ऐसा है, ऐसा है। धूल में... भौंके, ऊँट भौंके ऐसे भौंके। तत्त्व की तो खबर नहीं होती। समझ में आया?

ऐसे सिद्ध हमारे नहीं चाहिए। क्या है परन्तु तुझे? भटकने का भाव है तुझे। आहाहा! भगवान सिद्ध... यहाँ भी तुम किसका कर सकते हो? शरीर का कर सकते हो? हेमचन्दजी! इस शरीर में ऐसे रोग होता है, मिटा सकते हो? उसके कारण से मिटे?

मुमुक्षु : वह तो डॉक्टर मिटा सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : डॉक्टर भी धूल मिटा सकता (नहीं)। डॉक्टर मर जाते हैं।

भावनगर में बड़ा डॉक्टर हेमन्तभाई, हेमन्तकुमार। सर्जन डॉक्टर था। दूसरे का ऑपरेशन करता था। मुझे कुछ होता है, बस समाप्त, देह छूट गयी। यहाँ दो-तीन बार आये थे। बड़ा डॉक्टर है। अस्पताल है न भावनगर, उसका बड़ा क्या कहलाता है? मेडीकल सर्जन। तुम्हारी भाषा भाई आवे... सर्जन था। ऐसे ऑपरेशन करता था। मुझे कुछ.... बस ऐसे किया वहाँ समाप्त हो गया। यह देह की स्थिति जिस समय जिस क्षेत्र में (विलय) होने की है, वैसे होगी, होगी और होगी। सारा इन्द्र ऊपर से उतरे तो भी अन्तर नहीं पड़ता है। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो '**महा सुख सागरकौ विसरामी**' तू है भगवान। आहाहा! देखो, यह विश्राम-विश्राम, यह विराम। क्या कहलाता है तुम्हारे आराम। आराम कहते हैं न! आरामगृह है न! आरामगृह तो यह भगवान आत्मा है। '**महा सुख सागरकौ विसरामी**' ऐसा कहा न! महा सुखसागर में आनन्द करनेवाला है, विश्राम करनेवाला, ऐसा। आहाहा! देखो, ऐसे सिद्ध भगवान को पहले याद किया है। अपने सिद्ध भगवान होना है न? हमने तो उनको याद किया। प्रभु! तुम तो यहाँ नहीं आते, परन्तु हम तो तुम्हें याद करके नीचे उतारते हैं। क्या समझते हैं? '**वंदितु सव्वसिद्धे**' '**वंदितु सव्वसिद्धे**' ऐसा है न? आहाहा!

रामचन्द्रजी थे। छोटी उम्र में... दो वर्ष की उम्र। वे तो मोक्षगामी थे। देह छोड़कर मोक्ष (गये थे)। रामचन्द्र साधु—मुनि हुए थे। दो वर्ष की उम्र में ऊपर में, क्या कहलाता है तुम्हारे?

मुमुक्षु : अगासी (छत)।

पूज्य गुरुदेवश्री : अगासी। छत—अगासी में बैठे थे। चन्दा ऊपर था चन्द्र। तो

चन्द्र सामने देखकर ऐसे... ऐसे... ऐसे करे। चन्द्र उतारो। जरा गुंजा (जेब) था....

मुमुक्षु : जेब।

पूज्य गुरुदेवश्री : जेब में। ऐसा... क्योंकि वे मोक्षगामी जीव हैं। उस भव में मोक्ष गये। तो .... पुत्र का लक्षण पालने में। ऐसा चन्द्र नीचे उतारो। चन्द्र नीचे नहीं उतरता तो रोने लेगे।

पिताजी दशरथ (कहते हैं), दीवान! यह रामचन्द्रजी पुरुषोत्तम पुरुष क्यों रोते हैं? उनका दिखाव तो पुण्यवन्त दिखे। जो कुछ... भाग्य छुपे नहीं भभूत लगाया। वे तो पुण्यवन्त महापुरुष... ऐसा पूछा, ये क्यों रोते हैं? दीवान कहे, साहेब! मैं दीवानपना करूँ और लड़के को भी खिलाऊँ? वे क्यों रोते हैं, यह मैं ध्यान रखूँ? जान तो सही, ये महापुरुष हैं। .... परन्तु महापुरुष हैं। परन्तु क्यों रोते हैं? समाधान करो। ऐसा किया करे ऐसे रामचन्द्रजी। ठीक! उन्हें चन्द्रमा उतारना है। क्या करना? लाओ एक दर्पण। अरीसा कहते हैं न?

मुमुक्षु : आईना (दर्पण)।

पूज्य गुरुदेवश्री : शीशा। ऐसा दर्पण दिया, उसमें चन्द्र आया, जेब में डाल दिया। चन्दा आया, वह ऐसा करे न। जेब में डाल दिया। रोना बन्द हो गया।

इसी प्रकार आत्मा सिद्ध भगवान को जब याद करता है, तो सिद्ध तो नीचे आते नहीं। परन्तु सिद्ध समान मैं हूँ, ऐसी अनुभूति करते हैं तो सिद्ध अब अपने द्रव्य में आ गये—जेब में आ गये। समझ में आया? आहाहा! मैं ही सिद्ध समान (हूँ, ऐसा ही) स्वरूप मेरा है। मुझमें सिद्ध स्वभाव बसता है अनादि-अनन्त, ऐसी अनुभव दृष्टि हो तो वह सिद्ध तो नीचे नहीं आते परन्तु अपना आत्मा सिद्ध हो जाता है। कहो, समझ में आया?

'महा सुख सागरकौ विसरामी' यह सागर-समुद्र तो अल्प असंख्य योजन में है। भगवान का आनन्द अनन्त आनन्दस्वभाव है, ऐसा सागर जिसकी पर्याय में उछल गया है। पर्याय में आनन्द, आनन्द आ गया है। समुद्र के मध्य में जो पानी था, वह किनारे ज्वार आता है न? ज्वार क्या बाढ़। बाढ़ आती है न? अन्तर आनन्द था, वह

पर्याय में बाढ़ आ गयी है। समझ में आया? पूर्णानन्द की दशा महासागर विसरामी है, विश्राम का स्थान है। आहाहा!

और, '**सो शिवरूप**'—यह सिद्ध भगवान शिवरूप है, मोक्षरूप है। शिव कहो, मोक्ष कहो। पूर्णानन्द, निरुपद्रव, कल्याणमूर्ति ऐसी दशा आपको प्रगट हुई, ऐसा मैं प्रगट करने का कामी आपको वन्दन करता हूँ, ऐसा कहते हैं। देखो, यह मांगलिक। आहाहा! '**सो शिवरूप बसै शिवथानक**' देखो, ...शिवथानक है। ऊपर-ऊपर वहाँ बसते हैं। बँगला-बँगला नहीं वहाँ, हों! घर की गाड़ी, घोड़ी, लाड़ी कुछ नहीं है वहाँ। भगवान आत्मा आनन्द में रहे, वह चिदानन्द है। वाड़ी, गाड़ी, घोड़ी... राग है और दुःख उत्पन्न होता है।

कोई कहे, लो, भगवान सिद्ध हुए तो लटके रहना ऊपर। तुझे भान नहीं होता कुछ। क्या आया है तेरे। आहाहा! संयोगी चीज़ के ऊपर (लक्ष्य) है तो तुझे आकुलता होती है। उस आकुलता का नाश होकर अनाकुलता उत्पन्न हुई है। ऐसे सिद्ध भगवान को बाहर की चीज़ की आवश्यकता नहीं है। अपना आनन्द शान्ति उछल गये हैं अन्दर में से, उसका अनुभव करते हैं। वे अपने स्थानक में रहते हैं। आहाहा!

असंख्य प्रदेश और शिवलोक और शिवथानक.... '**ताहिं विलोकि नमैं सिवगामी**' आहाहा! देखो! **मोक्षपुरी के निवासी है, उन्हें मोक्षगामी जीव ज्ञानदृष्टि से देखकर...** देखो! अपने ज्ञान में पूर्ण सिद्ध जैसे हैं, ऐसा ज्ञान—ज्ञानकला में आ गया। धर्मी जीव को सिद्ध (जैसा) मेरा स्वरूप है, ऐसी दृष्टि हुई और सिद्धपर्याय ऐसी है, उसका ज्ञान हो गया। समझ में आया? आहाहा! 'सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में...' सिद्ध भगवान जब से सिद्ध हुए... सादि हुई न! सादि अर्थात् शुरुआत।

'सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में, अनन्त दर्शन, ज्ञान अनन्त सहित जो, अपूर्व अवसर...' अपूर्व अवसर वहाँ, यह गाथा में बोले। श्रीमद् राजचन्द्र हुए हैं, सुना है भाई? श्रीमद् राजचन्द्र, ववाणिया, यहाँ मोरबी के पास। सात वर्ष की उम्र में जातिस्मरण था। दशाश्रीमाली बनिया थे। सात वर्ष की उम्र में... और २९-३० वर्ष में यह (अपूर्व अवसर) बनाया। १६ वर्ष (की उम्र) में तो मोक्षमाला बनायी थी।

मोक्षमाला। १०८ पाठ हैं। १०८ मणके होते हैं न माला के! १०८ पाठ बनाकर मोक्षमाला नाम दिया। बहुत क्षयोपशम। १६ वर्ष की उम्र.... १६ वर्ष की उम्र।

'मैं कौन हूँ आया कहाँ से और मेरा रूप क्या... ?' १६ वर्ष में कहते हैं। ऐसे १०८ पाठ हैं। यह तो कड़ी अभी पूरी नहीं हुई है। 'मैं कौन हूँ आया कहाँ से...' गुजराती है, परन्तु समझ में (आये ऐसी) है। 'और मेरा रूप क्या, सम्बन्ध दु:खमय कौन है, स्वीकृत करूँ परिहार क्या, इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिये, तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये।' हेमचन्दजी! १६ वर्ष में... अभी... आत्मा में वर्ष-बर्ष क्या है? संवत् १९२४ में जन्म था और संवत् ४० में यह बनाया। १६ वर्ष में... यह एक कड़ी, ऐसे पाँच कड़ी का एक पाठ। ऐसे १०८ पाठ। भैया! १०८ पाठ। १६ वर्ष... परन्तु देह को १६ वर्ष, हों! आत्मा तो अनादि-अनन्त है। क्या उसकी खबर नहीं और कीमत नहीं, क्या चीज़ है? देह भी मैं, यह भी मैं, धूल भी मैं। आहाहा! उन्होंने यह बनाया। समझे?

'मैं कौन हूँ? मैं कौन हूँ? कहाँ से आया? कहाँ से आया? अनादि-अनन्त हूँ। मेरा शुद्ध वास्तविक स्वरूप क्या है? निर्दोष चिदानन्द भगवान। ऐसा मेरा शुद्ध स्वरूप है। ऐसा १६ वर्ष में गीत बनाया। कड़ी ऐसी, पाँच कड़ी का एक पाठ। ऐसे १०८ पाठ। तीन दिन में, तीन दिन में बनाये थे। बहुत शक्ति थी। एक आत्मसिद्धि है अपने। गुजराती में है। 'उसका विचार विवेकपूर्वक...' देखो, यह कितने शब्द डाले हैं। राग से और विकल्प से भिन्न करके विचार किया तो आत्मा का सिद्धान्त तत्त्व अनुभव किया। यह आत्मा आनन्दकन्द और शुद्ध चैतन्य है, ऐसा ज्ञान में आ गया।

यहाँ कहते हैं कि सिद्ध का ज्ञान करके '**विलोकि**' है न! '**ताहिं विलोकि**' अपने ज्ञान में अपनी अनुभूति तो हुई, परन्तु अपने ज्ञान में 'कैसे सिद्ध हैं' उसका विलोकन—अवलोकन करके '**नमैं सिवगामी**' मोक्षगामी सम्यग्दृष्टि ज्ञानदृष्टि से देखकर नमस्कार करते हैं, लो! ऐसे सिद्ध भगवान को नमो, ऐसा समझकर नमस्कार करते हैं। ऐसा-वैसा कुछ खबर न मिले, '**णमो सिद्धाणं**' क्या है? '**णमो अरिहंताणं**' परन्तु कौन है वे अरिहन्त? कोई पुरुष है? कोई राजा है? वह है कौन?

अपने स्वरूप का भान होकर जिसने 'अरि' अर्थात् अज्ञान और राग-द्वेष को 'हंता' अर्थात् नष्ट कर दिया और वीतराग केवलज्ञान प्रगट किया, उसका नाम अरिहन्त कहा जाता है। और सिद्ध आठ कर्म से रहित... अरिहन्त चार कर्म से रहित और चार कर्म बाकी है। महाविदेह में विराजते हैं, सीमन्धर परमात्मा अभी तीर्थंकर (विराजते हैं)। और सिद्ध भगवान तो आठों कर्मरहित हैं। उनको अकेला आत्मशरीर—चिदानन्द तन, जिसका ज्ञान ही तन, ज्ञान ही तन, आनन्द ही तन है, ऐसे अनुभव में रहते हैं, उनको विलोकन करके, बनारसीदास कहते हैं, मैं नमस्कार करता हूँ। उन्होंने मांगलिक किया। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १६, माघ शुक्ल ५, रविवार, दिनांक ३१-१-१९७१
जीवद्वार, पद—३, ४

समयसार नाटक। जीवद्वार चलता है। जीव... जीव... आत्मा किसको कहते हैं, इसका इसमें कथन है। पहले मांगलिक किया था। अब, तीसरे श्लोक में जिनवाणी की स्तुति। पहले देव इसको कहा—आत्मा अथवा सिद्ध। 'देव-शास्त्र-गुरु तीन' भक्ति में आता है पूजा में। पहले देव की स्तुति की, पश्चात् शास्त्र की स्तुति करते हैं। गुरु तो स्वयं हैं अमृतचन्द्राचार्य, स्वयं मुनि—सन्त हैं। यह तो अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त आनन्दकन्द तीन कषाय का अभाव, जिनकी मुद्रा नग्न दिगम्बर, उनको यहाँ जैनदर्शन कहते हैं, उनको जैनदर्शन कहते हैं। अष्टपाहुड़ में आया है दर्शनपाहुड़ में। जैनदर्शन क्या चीज़ है?

अपना स्वरूप वीतरागमूर्ति है, उसका अन्तर आश्रय करके तीन कषाय का अभाव करके वीतरागता प्रगट की और बाह्य में नग्न मुद्रा है, वस्तु के स्वरूप सहित, अकेली नग्नमुद्रा, वह कोई चीज़ नहीं। समझ में आया? मालसहित बारदान... बारदान समझते हैं? बारदान—बोरी। मालसहित बोरी। माल बिना की बोरी, वह कुछ नहीं—उसकी कीमत नहीं। मात्र नग्न दिगम्बर हो और २८ मूलगुण पालते हों, वह तो खाली बारदान है। अन्तर स्वरूप आनन्द और सच्चिदानन्द प्रभु सर्वज्ञ परमात्मा ने जैसा आत्मा देखा, ऐसा आत्मा अन्दर देखकर दृष्टि में अनुभव और स्थिरता प्रगट हुई हो, उसको जैनदर्शन कहा जाता है।

अब **जिनवाणी की स्तुति...** बनारसीदास जीव अधिकार शुरु करने से पहले मांगलिक में (जिन)वाणी की स्तुति करते हैं।

तीसरा बोल है। दो बोल (पद) सुबह चल गये थे। तीसरा कवित्त।

★ ★ ★

काव्य - ३

जिनवाणी की स्तुति (सवैया तेईसा)

जोग धरैं रहै जोगसौं भिन्न,
अनंत गुनातम केवलज्ञानी।
तासु हृदै-द्रहसौं निकसी,
सरितासम ह्वै श्रुत-सिंधु समानी।।
याते अनंत नयातम लच्छन,
सत्य स्वरूप सिधंत बखानी।
बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध,
सदा जगमाँहि जगै जिनवानी।।३।।

शब्दार्थ:- हृदै-द्रहसौं=हृदयरूपी सरोवर से। बुद्ध=पवित्र जैनधर्म के विद्वान्। दुरबुद्ध=मिथ्यादृष्टि, कोरे व्याकरण कोष आदि के ज्ञाता परन्तु नयज्ञान से शून्य[1]।

अर्थ:- अनन्त गुणों के धारक केवलज्ञानी भगवान यद्यपि सयोगी[2] हैं तथापि योगों से पृथक् हैं। उनके हृदयरूप द्रह से नदीरूप जिनवाणी निकलकर शास्त्ररूप समुद्र में प्रवेश कर गई है, इससे सिद्धान्त में इसे सत्यस्वरूप और अनन्तनयात्मक कहा है। इसे जैनधर्म के मर्मी सम्यग्दृष्टि जीव पहचानते हैं, मूर्ख मिथ्यादृष्टि लोग नहीं समझते। ऐसी जिनवाणी जगत में सदा जयवन्त होवे।।३।।

काव्य-३ पर प्रवचन

जोग धरैं रहै जोगसौं भिन्न,
अनंत गुनातम केवलज्ञानी।
तासु हृदै-द्रहसौं निकसी,
सरितासम ह्वै श्रुत-सिंधु समानी।।

१. ऐसे लोगों को आदिपुराण में अक्षर-म्लेक्ष कहा है।

२. तेरहवें गुणस्थान में मन, वचन, काय के सात योग कहे हैं परन्तु योगों द्वारा ज्ञान का अनुभव नहीं करते।

याते अनंत नयातम लच्छन,
सत्य स्वरूप सिधंत बखानी।
बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध,
सदा जगमाँहि जगै जिनवानी।।३।।

क्या कहते हैं, देखो। '**जोग धरै रहे जोगसौं भिन्न**' केवलज्ञानी परमात्मा, जिनको एक समय में तीन काल—तीन लोक जानने में आते हैं, ऐसे अरिहन्त भगवान... अरि अर्थात् राग-द्वेष और अज्ञान का नाश करके जो अपना शुद्ध आनन्द-ज्ञानस्वरूप है, वही पर्याय अर्थात् वर्तमान हालत अर्थात् दशा में सर्वज्ञ ने अनन्त आनन्द आदि प्रगट किया, उनको केवली कहते हैं। तो केवली '**जोग धरै,**' उनको योग होता है। मन, वचन और काया का कम्पन... काया यह शरीर नहीं। शरीर तो जड़ है। परन्तु आत्मप्रदेश में... वाणी निकलती है तो उस समय कम्पन तो स्वयं होता है। परन्तु '**जोग धरै रहे जोगसौं भिन्न**' अन्तर वस्तु तो योग से भिन्न है।

'**जोग धरै**' शरीर सहित हैं, केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। तीन काल—तीन लोक को जाने और अनन्त आनन्द (आदि) अनन्त चतुष्टय प्रगट हुआ है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त बल—ऐसी दशा जिसको प्रगट हुई है। वस्तु में तो है ही। आत्मा की शक्ति—स्वभाव में तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य-बल है। परन्तु जिसने ध्यान करके वर्तमान दशा में प्रगट किया, उसको अरिहन्त कहते हैं। वे अरिहन्त '**जोग धरै**' योग है—कम्पन है, परन्तु '**जोगसौ भिन्न**' लो! और '**अनंत गुनातम केवलज्ञानी**'—अनन्त गुण की दशा जिनको केवलज्ञान में प्रगट हो गयी है। भले वाणी का योग हो, शरीर का संयोग हो, परन्तु अन्तर में एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में पूर्ण केवलज्ञान—दर्शन (आदि) अनन्त गुण जिनकी दशा में प्रगट हो गये हैं। समझ में आया?

चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन धर्म में जितने गुण हैं, (उन) सब गुणों के अनन्तवें भाग में अंश तो उसको भी प्रगट होता है। धर्मी को भी... जैसे चन्द्र की दूज उगे—दुई... दूज, तो सारे चन्द्र का आकार उसमें आ जाता है सारा। इसी प्रकार आत्मा को पहला धर्म—सम्यग्दर्शन होता है, उसमें जितनी संख्या से अनन्त गुण हैं, उनका

सबका (शुद्ध) अंश व्यक्त—प्रगट सम्यग्दर्शन की दशा में होता है। केवलज्ञानी पूर्ण (शुद्ध) होते हैं, बस इतना अन्तर है। समझ में आया? '**अनंत गुनातम केवलज्ञानी**'—जितनी संख्या से अपनी अनन्त शक्ति हैं, संख्या से, हों! अनन्त काल है, वह तो ठीक है, परन्तु एक-दो... ज्ञान, आनन्द, शान्ति ऐसी-ऐसी संख्या से अनन्त शक्तियाँ आत्मा में है। तो सब गुण उनको पूर्ण प्रगट हो गये। परमात्मा शरीरसहित होने पर भी अन्तर पूर्ण आनन्ददशा प्रगट हुई।

'**अनंत गुनातम केवलज्ञानी**' अनन्त गुणों के धारक केवलज्ञानी भगवान यद्यपि योग धरते हैं। नीचे हैं। **तेरहवें गुणस्थान में मन-वचन-काय के सात योग कहे हैं, परन्तु योगों द्वारा ज्ञान का अनुभव नहीं करते...** परमात्मा... आत्मा में परमात्मदशा प्रगट होती है, (तब) शरीर सहित हों तो कम्पन—योग है, परन्तु योग द्वारा जानते नहीं। ज्ञान द्वारा पूर्ण तीन काल—तीन लोक को जानते हैं। योग को भी जानते हैं, चार कर्म बाकी रहे, उसको भी जानते हैं। अपने ज्ञान द्वारा जानते हैं। पूर्ण केवलज्ञान दशा में कम्पन भले शरीर सहित है, हो, परन्तु उस ज्ञान द्वारा जानते हैं, योग द्वारा जानते नहीं हैं। समझ में आया?

'**जोग धरै रहे जोगसौं भिन्न।**' भिन्न। '**अनंत गुनातम केवलज्ञानी**' अनन्त गुण (केवलज्ञानी के)। अब, '**तासु हृदै-द्रहसौं निकसी**'। भगवान पूर्ण ज्ञानरूपी अन्तर ज्ञानसरोवर, उसमें से वाणी निकली। निमित्त से कथन है न! समझ में आया? 'वीर हिमाचल से निकसी, गुरु गौतम के मुख कुण्ड धरी है...' भगवान की वाणी... आत्मा पूर्ण शक्ति का पिण्ड प्रभु अन्तर में से पूर्ण प्रगट हुआ, तो कहते हैं कि यह ज्ञान का निमित्त होकर वाणी '**हृदै-द्रहसौं निकसी**' ऐसा कहा है। ज्ञानरूपी सरोवर, पूर्ण केवलज्ञान आनन्द आदि सरोवर से निकली। नदी निकली—वाणी निकली। सरिता है न, देखो! उसमें भी है।

उनके हृदयरूपी द्रह से नदीरूप जिनवाणी निकलकर... निमित्त से बात है, हों! कहीं ज्ञान वाणी में नहीं आता। वाणी में ज्ञान आता नहीं, ज्ञान में वाणी आती नहीं। परन्तु पूर्ण ज्ञान हुआ तो वाणी ऐसी निकलती है, सर्वज्ञ अनुसारी वाणी। समझ में आया? यह

आता है न उसमें '**सर्वज्ञ अनुसारी**' कलश में। वह भी पूज्य है, ऐसा वहाँ लिया। कारण है। क्यों? वह यहाँ सर्वज्ञ अनुसारी कहना है न! नहीं तो वाणी तो जड़ है। परन्तु सर्वज्ञपद प्रगट हुआ पूर्ण... परमाणु—रजकण की भाषारूप पर्याय भी ऐसी निकलती है कि स्व-पर को बतावे, ऐसी वाणी निकलती है। उस ज्ञान सरोवर में से वाणी आयी, ऐसा निमित्त से कथन है। वाणी कहीं आत्मा में भरी नहीं है, वाणी तो जड़ है।

आत्मा तो ज्ञानसरोवर चिदानन्द सच्चिदानन्द प्रभु... पूर्ण केवलदशा सर्वज्ञदशा प्रगट हुई। परन्तु उस समय वाणी निकलती है, (उसे) ज्ञानसरोवर से निकली, ऐसा कहा जाता है। पण्डितजी! आहाहा! '**तासु हृदै-द्रहसौं निकसी, सरितासम**'—सरिता अर्थात् नदी। '**व्है श्रुत-सिंधु समानी**' लो। ऐसे सिद्धान्त में से निकलकर शास्त्ररूप समुद्र में प्रवेश कर गयी। उससे शास्त्र बना। वाणी निकली, उससे शास्त्र बना। बारह अंग चौदह पूर्व आदि की रचना गणधरों ने की। समझ में आया? उससे वह निकली और सिद्धान्त हुआ। बारह अंग रचना गणधरदेव ने की।

'**याते अनंत नयातम लच्छन**', कहते हैं कि वाणी अनन्त नय के लक्षणवाली है। समझ में आया? **सिद्धान्त में इसे सत् स्वरूप और अनन्त नयात्मक कहा**। वाणी सत्य है और अनन्त नय के ज्ञान को समझानेवाली है, तो अनन्त नयात्मक वाणी है। वाणी में अनन्त नय हैं। उपचारिकनय कहा था न भाई जयधवल में। नय के दो प्रकार हैं। एक वास्तविक नय जो ज्ञान का अंश है और वाणी, वह उपचारिकनय है। यह उपचारिकनय की बात चलती है। जैसा सर्वज्ञपद हुआ, ऐसी वाणी निकले। वाणी वाणी के कारण से निकलती है। जो प्राणी माँस न खाता हो, मदिरा न पीता हो, ब्रह्मचारी हो, तो उसकी वाणी में ऐसा... वाणी तो वाणी जड़ है, परन्तु उसकी वाणी में ऐसा नहीं आता कि माँस खानेयोग्य है। निकले?

ब्रह्मचारी को ऐसा निकले कि विषय सेवनयोग्य है? ऐसी वाणी ही नहीं निकलती। वाणी का योग ही ऐसा होता है। आहाहा! वाणी तो वाणी के कारण से है, परन्तु जैसा अन्दर में भाव है, वैसी अनुकूल वाणी वाणी के कारण से परिणमित होकर निकलती है। आहाहा! समझ में आया? (आत्मा) वाणी का कर्ता नहीं है। वाणी तो जड़ है।

ओम् ध्वनि उठती है। ओम्... शरीर में से निकलती है। (आत्मा) उसका कर्ता नहीं है। परन्तु वाणी ऐसी ही निकलती है जिसमें अनन्त नयस्वरूप है, अनन्त नयस्वरूप। ओहोहो! देखो! नय अर्थात् ज्ञान का एक अंश का ग्राहक... पदार्थ का एक अंश ग्राहक ज्ञान के अंश को नय कहते हैं। नय किसको कहते हैं? कि ज्ञान के एक अंश को नय कहते हैं। वह नय क्या करता है?—कि अनन्त पदार्थ में जो अनन्त गुण हैं, उसमें से एक अंश को एक नय ग्रहण करता है। ऐसा अनन्त नयात्मक स्वरूप जीव का है। आहाहा! भारी सूक्ष्म! समझ में आया?

'**अनंत नयातम लच्छन, सत्य स्वरूप सिधंत बखानी**'—परम सत्य वाणी। छह द्रव्य, मोक्षमार्ग, बन्धमार्ग—ऐसी यथार्थ वस्तु कहनेवाली जिनवाणी—वीतरागवाणी वीतरागता प्रगट हुई है, तो वाणी में वीतरागता ही आती है। समझ में आया? राग करनेयोग्य है या राग में ठीक है, ऐसी वाणी जिनवाणी में नहीं आती। क्योंकि राग रहित आत्मदशा प्रगट हो गयी। समझ में आया? वाणी में भी स्व-पर कहने की सामर्थ्य है। आत्मा (में) स्व-पर जानने की सामर्थ्य है। आत्मा में स्व-पर को जानने की सामर्थ्य है और वाणी में स्व-पर को कहने की सामर्थ्य है। वह वाणी सर्वज्ञ अनुसारी वाणी है तो सर्वज्ञ के द्रह में से निकली, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? '**अनंत नयातम लच्छन, सत्य स्वरूप सिधंत बखानी**'—इस वाणी में से सिद्धान्त प्रगट हुआ, तो वाणी ने मानो सिद्धान्त में प्रवेश किया।

'**बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध**'—सम्यग्ज्ञानी उस वाणी को यथार्थ जान सकते हैं। समझ में आया? श्रीमद् में आता है न! श्रीमद् में नहीं, अन्तिम क्या आती है कड़ी? 'अनन्त अनन्त नयनिक्षेपे वखाणी छे...' सोलह वर्ष में मोक्षमाला बनायी, उसमें पीछे अन्त में पाठ है। १०७। लो, १०७ पाठ। जिनेश्वर की वाणी। सोलह वर्ष में बनायी। मोक्षमाला है न, १०८ पाठ बनाये और १०७ वाँ पाठ यह है। सुबह में एक लाईन ६७वें पाठ की बोली थी। 'मैं कौन हूँ? आया कहाँ से?' ६७। यह १०७ है।

अनन्त अनन्त भावभेदथी भरेली भली....
अनन्त अनन्त भावभेदथी भरेली भली,

अनन्त अनन्त नयनिक्षेपे व्याख्यानी छे।
सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह,
सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह,
तारिणी भवाब्धि मोक्षचारिणी प्रमाणी छे।
उपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ,
आपवाथी निजमति मपाई में मानी छे।
अहो! राजचंद्रबाळ ख्याल नथी पामता
अे जिनेश्वरतणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे।

'छे' शब्द का 'है' लेना। गुजराती है न! पोपटभाई! यह सोलहवें वर्ष में (बनाया)। इसका अर्थ समझने में साठ वर्षवाले को (पसीना उतरे)। १६ का छह ऐसे कर डालो तो ६१। एकड़ा है और छह। छह और एकड़ा। क्या कहा है, देखो! भगवान की वाणी में अनन्त-अनन्त भावभेद—भाव के प्रकार से भरी हुई है। यहाँ कहा न यहाँ। 'अनन्त नयातम लच्छन...' अनन्त नयस्वरूप है। साधारण अज्ञानी प्राणी तो वाणी में गोता खाते हैं। उसमें से न्याय निकाल नहीं सकते। वह कहते हैं, देखो! 'अनन्त अनन्त नयनिक्षेपे व्याख्यानी।' अनन्त निक्षेप, आहाहा! 'सकल जगत हितकारिणी...' सकल जगत के हित का कारण ऐसी भगवान की वाणी है। सर्वज्ञ की ॐ ध्वनि उठती है अन्दर से। पूर्ण दशा प्रगट हो तो ऐसी वाणी नहीं होती। ऐसी भेदवाली वाणी नहीं निकलती। पूर्ण सर्वज्ञ को तो ॐ ध्वनि पूरे शरीर में से (निकलती है)।

'सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह...' वाणी तो मोह का नाश करनेवाली वाणी है। मोह का करना, राग का करना—ऐसा वाणी में आता नहीं। आहाहा! सोलह वर्ष में लिखते हैं। दरबार! कितने वर्ष हुए तुमको?

मुमुक्षु : ५२।

पूज्य गुरुदेवश्री : ५२ हुए अभी तो, ठीक। ६१ नहीं हुए अभी।

मुमुक्षु : यह वन में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वन में है। १६ हो न १६, तो ऐसे पहला एकड़ा और छह बाद

में (हो)। पहला छह और एकडा करे तो इकसठ हो जाये। कहते हैं '**तारिणी भवाब्धि...**' भवाब्धि—भवरूपी अब्धि—समुद्र जिनवाणी तारनेवाली है, निमित्तरूप से बात है न! वह तो भव के अभाव की ही वाणी है। आहाहा! समझ में आया?

'तारणी भवाब्धि...' भव, अब्धि अर्थात् समुद्र। 'मोक्षचारिणी प्रमाणी' है। मोक्ष की देनेवाली प्रमाणी है। वह तो पूर्णानन्द की प्राप्ति हो, ऐसी जिनवाणी है। १६ वर्ष में लिखते हैं, सेठ! 'उपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ।' उसे उपमा देना कि ऐसी वाणी, वह उपमा देनेवाला मप जाता है, कहते हैं। उसका माप नहीं। वाणी का माप है नहीं, अनन्त... अनन्त... अनन्त वाणी। आहाहा! 'उपमा आप्यानी जेने तमा—ख्याल राखवो ते व्यर्थ। आपवाथी निजमति मपाई में मानी...' तेरा मति का माप आया, परन्तु भगवान की वाणी का माप नहीं आता। ऐसी वाणी अगाध वीतरागवाणी है।

'अहो! राजचन्द्र...' अपना नाम डाला है यहाँ। 'बाळ ख्याल नथी पामता अे।' इसमें भाई मूलचन्दजी दोष निकलती हैं। देखो! अहो राजचन्द्र बाळ आया, कहते हैं। बालक है स्वयं। यह तो भाई... बहुत प्रकार से है।

मुमुक्षु : लघुपना बताते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भाव... भाव ख्याल नहीं, ऐसा।

मुमुक्षु : अज्ञान....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहते हैं। तब कहे, देखो, इसमें आया न बाळ। कहो, यह लोगों को...

मुमुक्षु : उसमें भी है, अज्ञानी ख्याल नहीं पाते।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं करते... आया न, दुर्बुद्धि ख्याल नहीं करता। आयेगा, अभी देर है न। 'अहो राजचन्द्र!' आश्चर्य बतलाते हैं। 'बाळ ख्याल नथी पामता अे... बाळ ख्याल नथी पामता अे।' अज्ञानी वीतराग की वाणी का ख्याल नहीं कर सकते। 'जिनेश्वरतणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे।' त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ की वाणी में क्या कहना है? क्या कहना है? वह तो जाना उसने जाना है। अज्ञानियों को पता नहीं लगता, यह कहते हैं, देखो यहाँ।

'बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध' यह जिनेश्वर धर्म की वाणी का मर्म सम्यग्दृष्टि जान सकते हैं। देखो, उसमें लिखा है। **सम्यग्दृष्टि जीव पहचानते हैं।** यह शास्त्र में लिखा है। लिखा, परन्तु किस नय का कथन है, समझे बिना? समझ में आया? **'बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध'** अज्ञानी, जिनवाणी का क्या मर्म है, यह सब समझते नहीं। अपनी कल्पना से अर्थ करे कि व्यवहार से निश्चय होता है और निमित्त से उपादान का कार्य होता है.... ऐसा कथन आवे, परन्तु किस अपेक्षा से (कथन है), उसको समझे नहीं। तो कहते हैं, **'बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध'** जैनधर्म के मर्मी सम्यग्दृष्टि जीव वीतराग की वाणी के मर्म को पहचानते हैं। अज्ञानी पहचान नहीं सकते।

'न लखै दुरबुद्ध' 'दुरबुद्ध' अर्थात् अज्ञानी। मूर्ख मिथ्यादृष्टि लोग नहीं समझते हैं। समझे नहीं, वे सब मूर्ख। वीतराग भाव आत्मा है और वीतरागभाव अपने वीतराग (स्व)भाव से ही प्रगट होता है। इसके लिये तो वाणी है। जिनवचन का अर्थ जिनवाणी अर्थात् वीतराग की वाणी। जिसमें वीतरागता प्रगट करना और वीतराग का पोषण निकले, वह जिनवाणी। तो ऐसा वीतराग का पोषण न निकालकर, राग का पोषण निकाले... पहले करो भाई राग, व्यवहारधर्म करो, क्रियाकाण्ड करो, फिर निश्चय होता है। शान्तिभाई! वह जिनवाणी नहीं। जिनवाणी के मर्म को जानते नहीं। समझ में आया? आहा! कठिन काम है। इस काल में वीतराग की वाणी क्या है, उसकी परीक्षा करके समझना, उसको विचक्षणता (चाहिए)।

'बुद्ध लखै' ऐसा लिखा है। तत्त्वज्ञानी उसको जान सकते हैं। अज्ञानी पहिचान नहीं सकते। और **मूर्ख मिथ्यादृष्टि लोग नहीं समझते हैं। 'सदा जगमाँहि जगै जिनवानी।'** ऐसी जिनवाणी जगत में सदा जयवन्त हो। जगे... जगे अर्थात् जयवन्त हो। जग में वह जगमांही जगे। जयवन्त हो जिनवाणी। आहाहा! देखो! जिनवाणी की स्तुति। वाणी तो वाणी है हों, वाणी में कोई आत्मा के भाव नहीं हैं, परन्तु भाव समझने की शक्तिरूप उसमें भाव भरा है। है भाव जड़ का। समझ में आया? परन्तु उसमें ऐसा वास्तविक स्वभाव कहने की शक्ति परमाणु में है। तो कहते हैं कि **'सदा जगमाँहि जगै जिनवानी'**— जगत के अन्दर ऐसी वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि, वह जयवन्त रहो। समझ में आया? देखो! इन्होंने जयवन्त कहा है।

अब, कवि अपनी बात करते हैं, देखो! चौथा श्लोक (पद)। तीसरे श्लोक का ही (पद) है। अब चौथा। परन्तु तीसरा श्लोक (संस्कृत कलश) है न '**परपरिणतिहेतो**' इस ओर। तीसरे कलश का अर्थ है।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परम-विशुद्धिः शुद्धचिन्मात्र-
मूर्तेर्भवतु समयसार-व्याख्ययैवानुभूतेः ।।३।।

★ ★ ★

काव्य - ४

कवि व्यवस्था

हौं निहचै तिहुंकाल, सुद्ध चेतनमय मूरति।
पर परनति संजोग, भई जड़ता विसफूरति।।
मोहकर्म पर हेतु पाइ, चेतन पर रच्चइ।
ज्यौं धतूर-रस पान करत, नर बहुविध नच्चइ।।
अब समयसार वरनन करत,
परम सुद्धता होहु मुझ।
अनयास बनारसिदास कहि,
मिटहु सहज भ्रमकी अरुझ।।४।।

शब्दार्थ:-पर परणति=निज आत्मा के सिवाय अन्य चेतन-अचेतन पदार्थ में अहंबुद्धि और राग-द्वेष। विसफूरति (विस्फूर्ति)=जाग्रत। तिहुंकाल=तीन काल (भूत, वर्तमान, भविष्यत्)। रच्चइ=राग करना। नच्चइ=नाचना। अनयास=ग्रन्थ पढ़ने आदि का प्रयत्न किये बिना, अकस्मात्। अरुझ=उलझन।

अर्थ:-मैं निश्चयनय से सदाकाल[1] शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ, परन्तु पर-परणति के समागम से अज्ञानदशा प्राप्त हुई है। मोहकर्म का पर निमित्त पाकर आत्मा परपदार्थों में अनुराग करता है, इससे धतूरे का रस पीकर नाचनेवाले मनुष्य जैसी दशा हो रही है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि अब समयसार का वर्णन करने से मुझे परम विशुद्धता प्राप्त होवे और बिना प्रयत्न ही मिथ्यात्व की उलझन अपने आप मिट जावे।।४।।

काव्य-४ पर प्रवचन

क्या कहते हैं, देखो! '**हौं निहचै तिहुंकाल**'। आत्मा की व्याख्या करते हैं कि मैं आत्मा '**तिहुंकाल**'। '**सुद्ध चेतनमय मूरति, हौं निहचै तिहुंकाल, सुद्ध चेतनमय मूरति, पर परनति संजोग**'। भाषा देखो, भाई! परपरिणति संयोग कहा है, कर्म का संयोग कहा नहीं। आहाहा! विकारी परिणति हो, वह स्वभाव को संयोग है। समझ में आया? कलशटीका में ऐसा लिया है, भाई! कलशटीका में ऐसा है। कर्म निमित्त है, वह अलग बात है। इसमें भी ऐसा है देखो! '**मोहकर्म का पर निमित्त**।' (कलश टीका) निमित्त है। परपरिणति हेतु है, वह तो निमित्त है। अपना स्वभाव शुद्ध परमानन्द को भूलकर अपनी पर्याय—अवस्था में अशुद्धता प्रगट की है, उस अशुद्धता का स्वभाव के साथ संयोग हुआ। स्वभाव में अशुद्धता है नहीं, वह तो कहा पहले।

मैं '**निहचै तिहुंकाल, सुद्ध चेतनमय मूरति**।' अनन्त आनन्द, ज्ञान आदि स्वभाव मैं तो अनादि-अनन्त चेतन की शुद्ध मूर्ति हूँ। परन्तु '**पर परनति संजोग, भई जड़ता विसफूरति**'। परन्तु राग-द्वेष और अज्ञान के संयोग से परपरिणतियाँ—विकार की परिणति.... परिणति अर्थात् अवस्था। राग और द्वेष और अज्ञान की अवस्था का संयोग हुआ। '**भई जड़ता विसफूरति**'। आहाहा! जड़ता, उसमें—अचेतन में अहंबुद्धि होकर चेतन में जड़ता **विसफूरति**—जागृत हुई, जड़ता जागृत हुई। आहाहा! समझ में आया? अज्ञानदशा प्राप्त हुई। क्या कहते हैं? कि मैं तो शुद्ध चैतन्यवस्तु... वस्तु हूँ, यह

१. था, हूँ और रहूँगा।

द्रव्यदृष्टि, यह वस्तुदृष्टि। परन्तु मेरी चीज़ को मैंने ही भूलकर अज्ञानपना उत्पन्न किया। राग-द्वेष, पुण्य-पाप सब अज्ञानभाव है। उस अज्ञानभाव का मुझे संयोग हुआ। इस कारण '**भई जड़ता विसफूरति**'। जड़ता जागृत हुई। आहाहा!

आनन्द और शान्ति की जागृति होना चाहिए। स्वरूप तो ऐसा है। अज्ञान की स्फूर्ति हुई तो जड़ता की स्फूर्ति हुई। भगवान चैतन्यनाथ की जागृति तो आनन्द और ज्ञान की जागृति, वह चैतन्य की जागृति है। पुण्य और पाप, राग और द्वेष—ऐसी जो अशुद्ध परिणति, जिसमें चैतन्य स्वभाव का अभाव है, ऐसी जड़ की जागृति हुई। आहाहा! पर्याय में ऐसी हुई, ऐसा कहते हैं। वस्तु तो वस्तु है शुद्ध त्रिकाल। आहाहा! समझ में आया? द्रव्यदृष्टि का विषय और पर्यायदृष्टि का विषय दोनों ही बताते हैं।

'**पर परनति संजोग**' भाषा देखो। मलिनदशा का मेरे स्वभाव के साथ संयोग किया (हुआ)। मैंने किया, कोई दूसरा कराता नहीं। 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया... अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' मैं ही अपना शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द का नाथ मैं त्रिकाल ऐसा हूँ। फिर भी मेरी दशा में मैं ही विकार संसार... विकार संसार... प्रकृति। विकारदशा, वह संसार प्रकृति, उसे जागृत किया, जड़ता जागृत हुई। आहाहा!

परमाणु की बात यहाँ नहीं है। विकारभाव पुण्य और पाप दोनों ही जड़ता है, जड़ है, उसमें चेतनता नहीं। उस अचेतन की जागृति हुई। मैं तो त्रिकाल चैतन्यस्वरूप, तथापि दशा में ऐसी अचेतन की जागृति हुई। आहाहा! ऐसी है अनादि की, यह भी सिद्ध किया। पर्याय में शुद्धता ही है, ऐसा नहीं। प्रकाशदासजी! वस्तु त्रिकाल शुद्ध है, परन्तु दशा अशुद्ध है। समझ में आया? परन्तु यह अशुद्धता मैंने प्रगट की। शुद्धता का त्रिकाली मेरा स्वरूप, उसको भूलकर, दृष्टि नहीं देकर, पर के ऊपर दृष्टि देकर अशुद्धता मैंने प्रगट की, वह जड़ की स्फूर्ति हुई। चैतन्य की स्फूर्ति होनी चाहिए, उसके बदले जड़ की दशा में स्फूर्ति प्रगट हुई। राग और द्वेष, पुण्य और पाप, काम और क्रोध, दया और दान, व्रत और अव्रत—ऐसे सब विकल्प जो राग, वे दशा में प्रगट हुए।

'**मोहकर्म पर हेतु पाइ, चेतन पर रच्चइ**' मोहकर्म तो एक निमित्तरूप बाह्य चीज़ है। '**हेतु निमित्त पाइ, चेतन पर रच्चइ**'—आत्मा राग को रचे, जड़ को रचे, आहाहा!

अनादि से। पुण्य और पाप की वृत्तियाँ—विकल्पों को अनादि से रचता है, कहते हैं। समझ में आया? है? देखो। **मोहकर्म का पर निमित्त पाकर आत्मा परपदार्थों में अनुराग करता है।** रचता है, मूल तो अपना स्वरूप का भान नहीं, तो परपदार्थ का लक्ष्य करके विकारी दशा को उत्पन्न करता है। '**चेतन पर रच्चइ**' शरीर को रचे, वाणी को रचे, यह तो बात है नहीं, वे तो जड़ हैं। विकार को रचे। आहाहा! निर्विकारी भगवान त्रिकाल स्वयं होने पर भी विकार को रचे, यह दृष्टि मिथ्यात्व है, ऐसा कहते हैं। यह टाईल्स-बाईल्स नहीं रच सकता, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : कर दिया उसका काम....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ की थी? मान्यता की थी। आहाहा!

'**चेतन पर रच्चइ**' भगवान आत्मा त्रिकाल शुद्ध चैतन्य की मूर्ति, ज्ञान का प्रकाश स्वभाव स्वरूप, त्रिकाल ज्ञान का प्रज्ञाब्रह्म आनन्दस्वरूप, ऐसा होने पर भी अपने को भूलकर राग और पुण्य-पाप की रचना जो अज्ञानभाव, उसकी रचना की, उससे संसार है। बीड़ियों की रचना नहीं की। परपदार्थ का लक्ष्य करके ममता की रचना की। '**मोहकर्म पर हेतु पाइ**' (पुद्गल के) स्वभाव में तो है नहीं, विकार में निमित्त होने का... विकार उत्पन्न किया अज्ञानभाव, मिथ्याभाव, मिथ्याश्रद्धा, राग-द्वेष का भाव... मोहकर्म को निमित्त... निमित्त अर्थात् संयोग देखकर विकार की रचना की और दुःख को उत्पन्न किया। आनन्द को उत्पन्न न करके दुःख उत्पन्न किया। समझ में आया?

'**ज्यौं धतूर-रस पान करत, नर बहुविध नच्चइ।**' लो। धतूरा का (रस) पान करके, सफेद वस्तु भी धतूरे का पान करनेवाले को पीली दिखती है। धतूरे का रस चढ़ गया है। इसी प्रकार अज्ञानी को मोह का रस चढ़ गया... आहाहा! समझ में आया? ऐसा है न अन्दर। **धतूरे का रस पीकर नाचनेवाले मनुष्य जैसी दशा हो रही है... धतूर-रस पान करत, नर बहुविध नच्चइ।**'असंख्य प्रकार के शुभराग, असंख्य प्रकार के अशुभराग की रचना की। अपनी चीज़ को नहीं देखा। धतूरे का पान करनेवाला पीली चीज़ देखता है, परन्तु पीली है नहीं, है तो सफेद। इस प्रकार परचीज़ पर में है, अपनी अपने में है—ऐसा न जानकर, यह परचीज़ मेरी है और मैं उसका हूँ ऐसा मिथ्यादृष्टि,

धतूरा पीकर जैसे सफेद को नहीं देखता, वैसे अपना और पर का भिन्न स्वरूप नहीं देखता। समझ में आया?

'**अब समयसार वरनन करत**'—अब तो मैं आत्मा का वर्णन करूँगा। शुद्ध चैतन्य भगवान... वर्णन करने के काल में मेरा लक्ष्य तो शुद्ध के ऊपर ही है। बनारसीदास कहते हैं कि भगवान जैसा कहते हैं, वैसा समयसार मैं कहूँगा। समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा। तेरी चीज़ जैसी अनादि है, ऐसी (कहूँगा)। '**समयसार वरनन करत, परम सुद्धता होहु मुझ**' '**वरनन करत, परम सुद्धता होहु मुझ**' ऐसा पाठ है। पाठ में तो ऐसा है न? '**परपरिणति हेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा... समयसार व्याख्य एव**' शब्द पड़ा है न भाई! '**समयसार व्याख्ययैव**' है शब्द। क्या कहा है? मैं तो आत्मा शुद्ध हूँ, आनन्द हूँ, ऐसी व्याख्या करूँगा, उस काल में मेरी परम शुद्धि हो जाओ। थोड़ी अशुद्धि है मेरी पर्याय में, तो समयसार की व्याख्या करते-करते मेरा लक्ष्य अन्तर में घूंटना है तो उसी काल में सब अशुद्धता नाश हो जाओ। समझ में आया?

'**परम सुद्धता होहु मुझ**' '**परम सुद्धता होहु मुझ**' ऐसा। शुद्धता तो है। त्रिकाल शुद्ध हूँ, ऐसी दृष्टि हुई है, वहाँ पर्याय में शुद्धता तो है, परन्तु पर्याय में पूर्ण शुद्धता नहीं तो अशुद्धता भी साथ में है। आहाहा! तो कहते हैं, '**परम सुद्धता होहु मुझ**' जैसी पूर्ण शुद्धता मेरे द्रव्य-गुण में है, ऐसी पर्याय में—अवस्था में पूर्ण शुद्धता हो जाओ। समयसार व्याख्यान करते-करते ऐसा हो जाये, ऐसा कहते हैं। कहो, पण्डितजी! अब समयसार व्याख्या करना तो विकल्प है। विकल्प से शुद्ध होता है? पाठ तो ऐसा है, देखो। उसमें विवाद करते हैं।

देखो, '**व्याख्या एव**'—व्याख्या करते-करते मेरा शुद्धभाव हो जाओ। उसका अर्थ, मैं आत्मा अनन्त आनन्द शुद्ध आदि कहूँगा, उसमें मेरी दृष्टि तो आनन्द और ज्ञायक पर ही है। समझ में आया? चाहे तो विकल्प हो और वाणी निकलो, परन्तु मेरी दृष्टि तो सत्ता स्वरूप जो है, उसके ऊपर मेरी दृष्टि पड़ी है। आहाहा! तो इस व्याख्या के काल में मेरी दृष्टि का विषय तो ध्रुव है (और उस) पर मेरी दृष्टि पड़ी है, तो पर्याय में अशुद्धता है, वह नाश हो जाओ। समझ में आया? व्याख्या से नाश हो जाओ, यह तो कहने में निमित्त का कथन है। व्याख्या में तो वाणी निकलती है और विकल्प है तो राग है।

'अनयास बनारसिदास कहि' बहुत शास्त्र पढ़े-लिखे बिना... ऐसा कहते हैं। समझ में आया? है? अर्थ है? **'अनयास'** है। एक ही अर्थ है। **ग्रन्थ पढ़ने आदि का प्रयत्न किये बिना...** नीचे अर्थ है शब्द। अर्थ नीचे है। हाँ, विशेष प्रयत्न किये बिना। मेरा ग्रन्थ... मैं तो आत्मा का ग्रन्थ खोलूँगा। ग्रन्थ का अभ्यास बहुत न हो तो भी मेरी शुद्धता (पूर्ण) प्रगट हो जाओ। मेरी अन्तर्दृष्टि तो मेरे स्वभाव के ऊपर है। आहाहा! उस दृष्टि के जोर में शुद्धता प्रगट हो जाओ, क्षण-क्षण में शुद्धता प्रगट होकर पूर्ण शुद्धता हो जाओ। शुद्धता द्रव्य की-गुण की सिद्ध की। पर्याय में थोड़ी शुद्धता प्रगट है—सम्यग्दर्शन है, तो प्रगट हुई कहते हैं। तो भी अशुद्धता सब (पूरी) गयी नहीं है। तो उस काल में मेरी अनुभूति अन्तर में एकाग्र होकर अशुद्धता का नाश हो जाओ।

वहाँ है अन्दर देखो! दुर्बुद्ध अक्षर आत्मा है। **मिथ्यादृष्टि कोरे व्याकरणकोष आदि के ज्ञाता परन्तु नयज्ञान से शून्य...** इस ओर है, २७ पृष्ठ पर (तीसरा श्लोक)। दुर्बुद्ध की व्याख्या। **मिथ्यादृष्टि**—जिसकी दृष्टि ही उल्टी है। वह **कोरे व्याकरणकोष...** व्याकरण जाने, कोष जाने। है अन्दर? **आदि के ज्ञाता परन्तु नयज्ञान से शून्य।** निश्चय का स्वरूप क्या है और पर्याय व्यवहार है या क्या है? खबर नहीं कुछ। अन्धे अन्ध। नीचे लिखा है।

ऐसे लोगों को आदिपुराण में अक्षर-म्लेक्ष कहा है। पण्डितजी! नीचे है। २७वाँ पृष्ठ, है न नीचे, एकदम नीचे। एकदम नीचे। **ऐसे लोगों को आदिपुराण में...** जिनसेन आचार्य। आदिपुराण में **अक्षर-म्लेक्ष कहा है।** व्याकरण में ऐसा और फैसा और यह शब्द... शब्द का घोटाला उठता है सब। ऐसा अर्थ है और फैसा अर्थ है और सब... वह अक्षर-म्लेच्छ है। अपना स्वरूप का भान नहीं और अकेला व्याकरण आदि में अपना ज्ञान मान लेता है, व्याकरण और संस्कृत में, वह अक्षर-म्लेच्छ है। अक्षर में म्लेच्छ जैसा गहल-पागल हो गया है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

आदिपुराण में लिखा है। जिनसेन आचार्य (कृत)। यह वाँचते हैं न, बहुत क्या कहलाता है? व्याकरण, संस्कृत, कोष। दूसरा क्या कहलाता है यह? कथाकोष में आती है न, बहुत कथायें आती हैं। नाम भूल गये। वह बनाते हैं न उसमें शब्द सब ऊँचे-ऊँचे... पुस्तक नहीं बनाते ऊँची व्याकरण की...? एक मुनि ने बनायी है न

कुछ... नाम भूल गये नाम। वह आचार्य का बनाया हुआ ऐसा... पुस्तक बनाया हुआ, नाम है पुस्तक-शास्त्रका। शब्दकोष मिले... सब बहुत बनावे, नहीं? शब्दकोश... अब डिक्शनरी दूसरा कुछ कहलाता है।

मुमुक्षु : इनसाइक्लोपीडिया, सिद्धान्त कौमुदी।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्धान्त कौमुदी तो वह है। वह म्लेच्छवाले लोगों ने नहीं बनाया?

अपने आचार्य ने एक ने तो बनाया है। कुमुद आचार्य कहलाते हैं उन्होंने। नाम आता है बड़ा, कुछ भूल गये। सब शब्द अन्दर... यह शब्द का अर्थ नहीं। उसमें ऐसे काव्य बनावे काव्य। काव्य बनानेवाले। कविता बड़ी नहीं लिखते? काव्य, वह काव्य... काव्य आता है। बड़ा काव्य आता है। नाम भूल गये। वह आता है। अब नाम भूल गये। कहीं सब याद रहते हैं।

मुमुक्षु : चम्पूकाव्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : चम्पूकाव्य। लो, ठीक। चम्पूकाव्य है न? चम्पूकाव्य बड़ा काव्य है। काव्य ऐसा है। बहुत ऐसे शृंगार और अलंकार और ऐसा बोले, ऐसा जाने कि आहाहा! कहते हैं कि उसका अक्षर-म्लेच्छ है। अपनी दृष्टि क्या है और सम्यक् चीज़ क्या है, यह समझे बिना ऐसे शास्त्र में काव्य रचना की और बहुत होशियार हुआ। ओहोहो! उसने तो काव्यरचना करके ऐसा बनाया।

चम्पूकाव्य और दूसरा एक आता है। उसमें क्या आया? हाँ, वह आता है। ...एक आता है न, बड़ा काव्य और उसमें होशियार हो जाये और मानो अपने हो गया—हो गये ज्ञानी। यहाँ कहते हैं कि अक्षर-म्लेच्छ है। जिसको अपना शुद्ध चैतन्य आनन्द शुद्ध निश्चयनय से पकड़ने में आता नहीं और ऐसा अक्षर-म्लेच्छ में रुक जाता है, वह दुर्बुद्धि है। आया न उसमें। 'न लखे दुर्बुद्ध।' समझ में आया? और पहले समयसार में एक पहली कड़ी आ गयी न अपने। 'शोभित निज अनुभूति जुत चिदानन्द भगवान, सार पदारथ आत्मा...' वह कहीं अपने कलश में लिया है न भाई! सार लिया है भाई कलश में। सार। सार अर्थात् क्या?

देखो, उसमें ऐसा लिया है। एक-एक कलश में क्या है... कि आत्मा... अनन्त आत्मायें हैं, पुद्गल हैं, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल और अशुद्धजीव, उनको सुख नहीं, उनको ज्ञान नहीं। संसारी जीव अज्ञानी अनन्त जीव और पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल। उनको उसमें ज्ञान भी नहीं और उनको सुख भी नहीं और उनको जाननेवाले को भी ज्ञान नहीं और सुख नहीं। ऐसा लिया है। आहाहा! क्या कहा? फिर से। हाँ, उसमें पहले में लिया है, यह कहता हूँ। पहले में सार यहाँ शब्द आया न पहला। 'सार पदारथ आत्मा।' सार... हितकारी, वह सार और अहितकारी, वह असार। हितकारी अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव, वह सार। अपना शुद्ध आत्मा, उसको जानना, उसका नाम ज्ञान और वह शुद्ध आत्मा जाने, उसको आनन्द होता है, यह सार है। अशुद्ध आत्मा अनन्त निगोद के हैं, परजीव हैं, शरीर है, कर्म है आदि....

कर्मकाण्ड वाँचते हैं न बहुत। कर्म के अभ्यासी। अभी एक बड़ी पुस्तक बनायी थी, लाख रुपये खर्च करके बड़ी। कर्मप्रकृति रसखण्ड और उसमें क्या आया? यह कर्मप्रकृति में ज्ञान और सुख नहीं और कर्मप्रकृति को जाननेवाले को भी ज्ञान और सुख नहीं। अपने शुद्धस्वरूप को जाने, उसको ज्ञान और सुख है। समझ में आया? यह (स्पष्टीकरण) कलशटीका में आया पहले, प्रथम कलश में। वह कलशटीका है न राजमलजी की। यहाँ तो सार-सार लिया है इसमें। एक सार पदार्थ आत्मा। शुद्ध चैतन्यस्वभाव... अशुद्धता का लक्ष्य छोड़कर, निमित्त का लक्ष्य छोड़कर, अपने त्रिकाली शुद्धस्वभाव को जाने, उसको ज्ञान है और शुद्धस्वभाव को जाने, उसको सुख है। आहाहा! पूरी दुनिया को जाने या न जाने, उसके साथ (सम्बन्ध नहीं)। आहाहा! समझ में आया?

यह पहले कलश में आया है कलशटीका में। कलशटीका है न? 'हितकारी सुख जानना, अहितकारी दु:ख जानना। क्योंकि अजीव पदार्थ को—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल को और संसारी जीव को सुख नहीं, ज्ञान नहीं।' आहा! पर्याय में ज्ञान नहीं, यह बात है न! वस्तु भले ज्ञानमय है, उसकी (यहाँ बात नहीं)। आहाहा! संसारीजीव को ज्ञान नहीं। अशुद्ध है न अशुद्ध? अशुद्ध है न दशा में? वस्तु तो वस्तु है, परन्तु दशा अशुद्ध है न! तो ऐसे अशुद्ध जीव को सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं। उसका

स्वरूप जाननेवाला जाननहार जीव को भी सुख नहीं, ज्ञान नहीं। समझ में आया? अशुद्ध परजीव को जाने, उसमें ज्ञान क्या आया और सुख क्या आया?

अपना भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति उसको अन्तर्दृष्टि देकर जाने, तो वह ज्ञान और उसको आनन्द है। बाकी सब प्राणी दु:खी और अज्ञानी हैं। ज्ञान और सुख रहित प्राणी हैं। समझ में आया? शास्त्र को जाने, छह द्रव्य को जाने, अनन्त निगोद के जीव को जाने। निगोद अनन्त हैं बटाटा—आलू आदि। तो उसमें क्या है? उसको ज्ञान है नहीं, आनन्द है नहीं पर्याय में। तो उसको जाननेवाले को भी ज्ञान और आनन्द नहीं। वह तो परलक्ष्यी ज्ञान है, उसमें आनन्द क्या आया? ज्ञान क्या आया? आहाहा! अपना शुद्ध आत्मा अर्थात् ध्रुव आत्मा अनन्त अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु को जानने से ज्ञान होता है और उसको जानने से आनन्द होता है। तो ज्ञान और आनन्द अपने जानने में है, पर के जानने में ज्ञान-आनन्द है (नहीं)। आहाहा! समझ में आया?

पहले बोल में यह लिया। दूसरे बोल में—दूसरी गाथा में यह लिया कि वाणी सर्वज्ञ अनुसारिणी है। यह लिया न अन्दर में। अपने आया न, वाणी केवलज्ञानी के मुख में से निकली है। आया न वह 'जोग धरे' में। तो वाणी भी व्यवहार से पूज्य है, ऐसा कहा उसमें। उसमें निश्चय(नय से) इनकार किया है। व्यवहार से पूज्य है। भाव है, विकल्प है। विकल्प आवे ऐसा। जिनवाणी भी वीतराग की वाणी शुभ विकल्प से व्यवहार से पूज्य गिनने में आती है। है विकल्प, परन्तु सर्वज्ञ अनुसारिणी वाणी... सर्वज्ञ परमात्मा की भूमिका में से वाणी जो निमित्तरूप से निकली, वह भी पूज्य गिनने में आती है। यह दूसरे श्लोक की (बात) थी।

पश्चात् यह परपरिणति थी। अशुद्धता परपरिणति... उसका अर्थ थोड़ा विशेष किया है न उसमें कि परपरिणति जो अशुद्धता है, उस अशुद्धता का निमित्त होगा। अशुद्धता है (उससे) वह बन्ध होगा और बन्धवाला अशुद्धता में निमित्त होगा। समझ में आया? यह अशुद्धता का बन्ध पाक होकर शुद्धता में निमित्त होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी कठिन बात! ऐसे तीन श्लोक में ऐसा भावार्थ निकाला था। चौथा श्लोक बाद में आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १७, माघ शुक्ल ६, सोमवार, दिनांक १-२-१९७१
जीवद्वार, पद—५, ६

यह समयसार नाटक, जीवद्वार। पृष्ठ २७ है। उसमें नीचे कलश है। चौथा कलश, उसका भाषा अनुवाद २८ (पृष्ठ) पर है।

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव।।४।।

इसका पद है, २८वें पृष्ठ पर। ५वाँ (पद)। '**शास्त्र का माहात्म्य**' कहते हैं। उसमें आत्मा का माहात्म्य लिया हुआ है।

★ ★ ★

काव्य - ५

शास्त्र का माहात्म्य (सवैया इकतीसा)

निहचैमैं रूप एक विवहारमैं अनेक,
यही नै-विरोधमैं जगत भरमायौ है।
जगके विवाद नासिबेकौं जिन आगम है,
जामैं स्याद्वादनाम लच्छन सुहायौ है।।
दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप,
आगम प्रमान ताके हिरदैमैं आयौ है।
अनेसौं अखंडित अनूतन अनंत तेज,
ऐसो पद पूरन तुरंत तिनि पायौ है।।५।।

शब्दार्थ:-नै=नय। दरसनमोह (दर्शनमोह)=जिसके उदय में जीव तत्त्वश्रद्धान से गिर जाता है। पद पूरन (पूर्णपद)=मोक्ष।

अर्थ:-निश्चयनय में पदार्थ एकरूप है और व्यवहार में अनेकरूप है। इस नय-विरोध में संसार भूल रहा है, सो इन विवाद को नष्ट करनेवाला जिनागम है जिसमें स्याद्वाद का शुभ चिह्न[1] है। जिस जीव को दर्शनमोहनीय उदय नहीं होता उसके हृदय में स्वत: स्वभाव यह प्रामाणिक जिनागम प्रवेश करता है और उसे तत्काल ही नित्य, अनादि और अनन्त प्रकाशवान मोक्षपद प्राप्त होता है।।५।।

काव्य-५ पर प्रवचन

निहचैमैं रूप एक विवहारमैं अनेक,
यही नै-विरोधमैं जगत भरमायौ है।
जगके विवाद नासिबेकौं जिन आगम है,
जामैं स्याद्वादनाम लच्छन सुहायौ है।।
दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप,
आगम प्रमान ताके हिरदैमैं आयौ है।
अनेसौं अखंडित अनूतन अनंत तेज,
ऐसो पद पूरन तुरंत तिनि पायौ है।।५।।

क्या कहते हैं? कि यह आत्मा जो है वस्तु... देह और यह (द्रव्यकर्म) रजकण से भिन्न आत्मा है। परन्तु वह निश्चय से एकरूप है। शुद्ध ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुण (के पिण्ड) रूप से एक है। निश्चय से वह एकरूप है। समझ में आया? व्यवहार में अनेक है। अनेक गुण और अनेक अवस्था से देखो तो व्यवहार से वह अनेक है। भगवान आत्मा देह में विराजमान, उसकी चीज़ में क्या है? यह कहते हैं। वह वस्तुरूप से देखो तो एकरूप है और उसके गुणों—शक्ति और अवस्थारूप से देखो तो अनन्त है, अनेक है। एक है, वह अनेक है।

१. मुहर-छाप लगी हुई है-स्याद्वार से ही पहिचाना जाता है कि यह जिनागम है।

'निहचैमें रूप एक विवहारमैं अनेक, यही नै-विरोधमैं जगत भरमायौ है।' इस नय के भान बिना जगत भ्रम में पड़ा है। यह एक स्वरूप से ही है, ऐसा माने, परन्तु गुण और अवस्था—दशा से अनेक है, ऐसा न माने तो भ्रम है और अनेक शक्ति आनन्द, ज्ञान आदि और दशा आदि से अनेक होने पर भी वस्तुरूप से एक है, ऐसा न माने तो भ्रम है। समझ में आया? यह तो आत्मा क्या चीज़ है, उसका भान होना, उसका ज्ञान होना, उसका नाम धर्म और सम्यग्दर्शन और जन्म-मरण से छूटने का उपाय है। अपनी जाति में क्या है? जड़ तो जड़ है। यह मिट्टी, शरीर, वाणी, मन, वह तो मिट्टी जड़ है, वह तो पुद्गल है।

अपनी चीज़ में दो भाग है। वस्तुरूप से देखो तो... देखो, (अवस्था) भिन्न-भिन्न और पदार्थ एकरूप है। व्यवहार में अनेकरूप हैं। व्यवहार अर्थात् भेद से देखें तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द (आदि गुण और) उनकी वर्तमान अवस्थायें अनेकरूप हैं। भेद से देखें तो अनेक है, अभेद से देखें तो एक है। मालचन्दजी! गुजराती समझते हैं न? थोड़ा-थोड़ा समझना। थोड़ा-थोड़ा समझते हैं। **'निहचैमें रूप एक'** राग और द्वेष से रहित अपनी चीज़ जो आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् अर्थात् शाश्वत् चिद् अर्थात् ज्ञान का पिण्ड, और आनन्द का रूप उसका है। वस्तुरूप से एक है। जैसे सोनारूप से सोना एक (रूप) है, परन्तु सोना में पीलापन, चिकनापन गुण (और) दशायें देखो तो अनेक (रूप) है।

इस नय के विरोध में **'जगत भरमायो है'** कोई आत्मा को एकान्त अवस्थावाला देखे—अनेकरूप से देखे, कोई आत्मा को अकेला आत्मा अभेद अखण्ड ही देखे—दोनों में भूल है। समझ में आया? वस्तु को एकान्त से—एक पक्ष की दृष्टि से देखे तो वह भ्रम में पड़े हैं। वस्तु अनन्त गुण का पिण्ड, अभेद, अखण्ड, इस प्रकार से है, उसे न माने तो भी भ्रम है। और अवस्था तथा गुण—शक्तियाँ अनन्त हैं—अनेक हैं, ऐसा एक स्वयं गुणरूप से अनेकरूप भी है, ऐसा न माने तो भी भ्रम है। आहाहा!

'यही नै-विरोधमैं' यह दो नय विरुद्ध हुए, निश्चय और व्यवहार। निश्चय कहता है कि अभेद एक है, व्यवहार कहता है कि गुण के भेद से अनेक है। इस नय में जगत भरमाया है। किसी ने आत्मा को एक अभेद ही माना, उसके आनन्द आदि गुण

अनेक हैं, उन्हें नहीं माना। किसी ने अकेले अनेक को माना और एक को—एकरूप स्वरूप है, उसे नहीं माना। समझ में आया?

'जगके विवाद नासिबेकौं जिन आगम है' भगवान की वाणी... सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें तीन काल—तीन लोक का ज्ञान (जैसा) अन्दर स्वरूप है, वैसा जिन्हें प्रगट हो गया। जैसा भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। तीन काल, तीन लोक को जानने के स्वभाववाला आत्मा है। किसी का करनेवाला या पर से अपने में हो, ऐसा वह आत्मा नहीं; जाननेवाला है। ऐसे जाननेवाले आत्मा में अन्तर्मुख की एकाग्रता द्वारा जिसने दशा में, शक्ति में, जो सर्वज्ञपना गुणरूप से—स्वभावरूप से—सत्वरूप से—तत्त्वरूप से था, उसे वर्तमान दशा में अनुभव द्वारा प्रगट किया, उसे सर्वज्ञ परमेश्वर कहा जाता है। उनकी जो वाणी निकली, वह निश्चय और व्यवहार के विरोध को मिटानेवाली है। पण्डितजी!

'जगके विवाद नासिबेकौं जिन आगम' वीतराग सर्वज्ञ की वाणी उस विरोध को मिटानेवाली है। किस प्रकार? कि वस्तुरूप से एक है द्रव्यदृष्टि से—तत्त्वदृष्टि से—सामान्यदृष्टि से और भेददृष्टि से—व्यवहारदृष्टि से अनेक है। उसमें विरोध है नहीं। जयन्तीभाई! बहुत सूक्ष्म! इसने अपनी जाति को जानने का प्रयत्न कभी किया नहीं। देखनेवाला यह, देखे दूसरा। जाननेवाला स्वयं और जाने दूसरे को। परन्तु स्वयं कौन है? यह तो वर रह जाता है वर। वर बिना की बारात जोड़ दी है।

कहते हैं कि तू कौन है और किस प्रकार से है? कि वस्तुरूप से तो एक हूँ। द्रव्यदृष्टि अर्थात् वस्तुदृष्टि से एक हूँ और गुण आनन्द, ज्ञान आदि के गुण के भेदरूप से तो अनेक हूँ। यह दोनों दृष्टि का यह विरोध जो लगता है, उस विरोध को वीतरागशासन मिटाता है। कि द्रव्यदृष्टि से एक ही होता है, गुणदृष्टि से अनेक हो—उसमें विरोध नहीं है। एक हो, वह अनेक कैसे हो और अनेक हो, वह एक कैसे हो? परस्पर विरोध है, वह कैसे हो? उसे वीतराग दृष्टि (सहित का) जैन आगम उस विरोध को मिटाता है।

भाई! सोना, सोनारूप से है, वह एकरूप है। परन्तु सोना में पीलापन, सख्त, चिकनाई, वजन और उसके कुण्डल, करण आदि गहनों की दशायें, उससे तो अनेक है। अनेक होने पर भी एक के साथ विरोध नहीं। एक होने पर भी अनेक के साथ

विरोध नहीं। समझ में आया? क्योंकि आत्मा की जो शक्ति ज्ञान और आनन्द आदि का रूप जो एक है, उसकी दृष्टि करने से, उसकी दशा में सम्यक्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान, शान्ति, आनन्द आदि अनेक दशायें प्रगट हों, और वस्तुरूप से एक है। पर्याय—अवस्थादृष्टि से देखो तो अनेक है; वस्तुदृष्टि से देखो तो एक है। कहो, बराबर है? आहाहा!

वीतराग का आगम, स्याद्वाद अपेक्षा से जो वस्तु है, उस अपेक्षा से उस वस्तु को सिद्ध करते हैं और विरोध मिटा देते हैं। एकान्त माननेवाले (माने कि) बस अकेला—अद्वैत ही है, दूसरा है ही नहीं। तब फिर विशेष आदि के माननेवाले (मानते हैं कि) अकेला गुण और पर्याय का भेदस्वरूप ही है, अभेद है नहीं। दोनों का विरोध (जैन) शासन वीतरागवाणी मिटा देती है। द्रव्यदृष्टि से देखें तो एकरूप है भगवान। शक्तियाँ और उसकी दशारूप से देखो तो अनेक है। पर्यायदृष्टि से अनेक है, वस्तुदृष्टि से एक है। ऐसी दो की विरोधता होने पर भी वस्तु में विरोधता टालने की यह दृष्टि शास्त्र देता है। समझ में आया? गजब! मूल यह जानना था कहाँ?

यदि एक ही रूप सर्वथा हो तो उसमें श्रद्धा करना, जानना, आनन्द प्रगट करना—ऐसा अनेकपना नहीं हो सकता। और एकान्त से अनेकपना हो तो उसका एकरूप रस का कन्द परमात्मा द्रव्यस्वरूप अपना उसका उसे भान नहीं। एक बिना अनेकता धर्म की दशा पर्याय में प्रगट नहीं होती और अनेक बिना अनेकपने की पर्याय प्रगट है, उसकी नास्ति होती है। समझ में आया? सूक्ष्म है, भाई! मार्ग बहुत सूक्ष्म है! यह तो सर्वज्ञ से सिद्ध हुआ और उनके ज्ञान में समाये ऐसा बुद्धिगम्य बैठ सके ऐसा मार्ग है। परन्तु कभी इस प्रकार का प्रयत्न किया नहीं। समझ में आया?

'जगके विवाद नासिबेकौं जिन आगम है, जामैं स्याद्वादनाम लच्छन सुहायौ है।' अब यह आगम का लक्षण कहते हैं। स्याद्वाद से पहिचाना जाता है वीतराग आगम। कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है। त्रिकाल अपेक्षा से नित्य है, पलटने की अपेक्षा से अनित्य है। वस्तुरूप से एक है, गुणभेदरूप से अनेक है। इस प्रकार जिनागम परस्पर विरोध होने पर भी जिनागम उस विरोध को मिटा देता है। स्यात् (अर्थात्) अपेक्षा से ऐसा कहकर। एकरूप है वह स्यात्... स्यात् अर्थात् द्रव्य अपेक्षा से, वस्तु अपेक्षा से। अनेक है, वह स्यात् भेद अपेक्षा से। इसमें सूक्ष्म है, हों!

उस रुपये में जैसे किया, वैसे इसमें दिमाग बहुत काम करे, ऐसा नहीं कुछ। यह तो वह पूर्व का पुण्य हो और गोटी बैठ जाये। फिर सेठ कहे कि हम चतुर हैं और पैसेदार। ऐई डालचन्दजी! उसमें कुछ चतुराई काम नहीं करती। डहायापन समझे न? सयानपन (चतुराई)।

मुमुक्षु : चतुराई काम न करे परन्तु विवेक तो करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : विवेक का अर्थ क्या? यह नहीं देना, देना, वह भी अज्ञान है। किसे दे? कौन दे? किसे दे? वह तो जड़ स्वतन्त्र वस्तु है। जड़ का जाना-आना, वह जड़ के कारण से है, आत्मा के कारण से नहीं। आहाहा! जहाँ विकल्प ही जिसमें— आत्मा के अन्तर स्वरूप में नहीं तो लेने-देने की वृत्ति उठे कहाँ से?

सेठ! यह तो उसमें पैसा दे कुछ दस हजार, पन्द्रह हजार... दान पुण्य शोभे उसको... खोटे शास्त्र में। नहीं डालचन्दजी? खोटे-खोटे गप्प मारे। लाओ सब... परन्तु तुमको खबर नहीं, व्यापारी व्यक्ति कमाना जाने।

मुमुक्षु : कमाना जाने, परन्तु जानना न जाने।

मुमुक्षु -२ : आप कहते हो कि कमाना भी न जाने।

पूज्य गुरुदेवश्री : कमाना जाने परन्तु मन में माने कि इसका ऐसा करूँ, इसका ऐसा रखूँ, बीड़ी ऐसे रखना, उसे ऐसे रखना। क्या कहलाती है? जीप। जहाँ रास्ता अच्छा न हो तो जीप भिजवावे। अच्छा रास्ता हो तो मोटर भिजवावे। ऐसा सब विचार करे विकल्प। सेठ! विकल्प करे या नहीं? उसमें माने कि यह सब बराबर व्यवस्था करते हैं। यह बात झूठी है।

मुमुक्षु : तो सभी स्वप्न?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वप्न नहीं, यह कर सकता ही नहीं। सत्य है, यह जाना-आना लक्ष्मी का सत्य है, परन्तु उसके (पुद्गल के) कारण से। आत्मा के कारण से जाये-आये, ऐसा तीन काल में नहीं है।

भाषा फिरे जड़ की और बोल न सके। मरते (समय) नहीं, बापू! क्या तुम्हारे

कुछ कहना है ? वहाँ भाषा उल्लंघ जाये। ऊं... हो जाये, आवाज बन्द होने के योग्य हो जाये और भाषा बन्द हो जाये। यह तो मरने पड़ता हो, तब लड़के को कहता जाये, कदाचित् वृत्ति ऐसी होवे तो। कि यहाँ इसमें एक-दो लाख खर्च करना, हों! लड़का कहे, बापू! अभी यह बहुत याद नहीं करते।

मुमुक्षु : अभी यह याद नहीं किया जाता। भगवान का नाम लो।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान का नाम लो। क्योंकि दो लाख दे देना, (ऐसा) अभी कहते हैं, बाद में देना पड़ेंगे। वह समझे, परन्तु बोल नहीं सके। भाषा बन्द होने की तैयारी है। वह तो जड़ है, भाषा जड़ है। ख्याल में आवे कि मैं कहना चाहता हूँ परन्तु कहा नहीं जा सकता। बहुत तो हाथ में स्लेट ले, लो न स्लेट, बोल (सके) नहीं तो। अँगुली हिले नहीं, वह भी जड़ है। उसे हिलना हो तो हिलती है। आड़ी-टेढ़ी लाईनें हो जाती हैं। पोपटभाई!

अपने बनारसीदास को हुआ था न, भाई! बनारसीदास। हाँ, इस लेखन में... बनारसीदास को ऐसा हुआ... पण्डित ज्ञानी थे। पहले समझे फिर... मरते हुए जीव निकलने में देरी लगी। ये बनारसीदास कर्ता इसके (समयसार नाटक के)। ज्ञानी धर्मात्मा। कुछ (जीव) निकलने में देरी लगी, इसलिए... उनकी भाषा बन्द हो गयी। भाषा हिल सके नहीं। लोग एक-दूसरे बातें करने लगे कि पण्डितजी का जीव कहीं अटक रहा है। इसमें है ? इसमें कहीं है। इसमें है सामने। इसमें है ?

मुमुक्षु : भूमिका में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भूमिका (प्रस्तावना) में है देखो, २४वाँ पृष्ठ। 'परम विद्वान धर्मात्मा समझकर उनकी वैयावृत्य में लग गये। बड़ी कठिनता से लोगों ने उनके संकेत को समझा।' देखा ? है अन्दर। 'ज्ञान कुतक्का हाथ।'

बोलने की शक्ति रही नहीं। सब तर्क करने लगे कुछ कि पण्डितजी का जीव कहीं रह गया है। है न अन्दर ? जीवित नहीं रहेंगे... कण्ठ रुँध गया है। वे बोल नहीं सकते थे। देखो! और अपने अन्त समय का निश्चयकर ध्यान अवस्था में हो रहे थे और लोगों को विश्वास हो गया था, अब घण्टे-दो घण्टे से अधिक जीवित नहीं रहेंगे। परन्तु

जब घण्टे-दो घण्टे में कहीं उनकी ध्यान अवस्था पूर्ण नहीं हुई तो लोग तरह-तरह के ख्याल करने लगे। मूर्ख लोग कहने लगे कि इनके प्राण माया और कुटुम्बियों में अटके हैं। देरी लगी, परन्तु देह की स्थिति है, वह पूरी हो तब हो। वह कहीं तोड़ सकता है कोई?

'जब तक कुटुम्बीजन उनके सन्मुख नहीं होंगे और दौलत की गठड़ी उनके समक्ष नहीं होगी, तब तक प्राण विसर्जन नहीं होंगे।' ऐसे तर्क करने लगे। प्रस्ताव पर सबने अनुमति प्रगट की। किसी ने भी विरोध नहीं किया। परन्तु लोगों के मूर्खतापूर्ण विचार कविवर सहन नहीं कर सके। उन्होंने लोक मूढ़ता का निराकरण करना चाह। एक पट्टीका... स्लेट—स्लेट समझे न? पाटी और लेखनी लाने के लिये कहा। ऐसे ईशारा से... वाणी तो बन्द हो गयी थी। ज्ञानी धर्मात्मा थे। वाणी बन्द हो गयी और आयुष्य पूर्ण होने में देरी लगी। देरी लगे वह तो देह की स्थिति है। जिस समय छूटने की स्थिति है, उससे पहले छूट जाये?

बड़ी कठिनता से लोगों ने उनके संकेत को समझा। तब लेखनी आ गयी। स्लेट, स्लेट। तब उन्होंने दो छन्द लिख दिये। उन्हें पढ़कर लोग अपनी भूल को समझ गये। कविवर को परम विद्वान धर्मात्मा समझकर उनकी वैयावृत्य में लग गये। 'ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना'। है? 'ज्ञान कुतक्का...' आत्मा को ज्ञान कुतक्का भाला लिया है। मैंने राग से भिन्न ऐसा उनको भान है। 'मारि अरि मोहना...' रागरूपी वैरी को मारकर बैठा है। मेरा स्वरूप शुद्ध चिदानन्द आत्मा वह मैं हूँ। 'प्रगट्यो रूप स्वरूप अनंत सु सोहना...' आनन्दस्वरूप अन्दर प्रगट हुआ है, वह मेरी अन्तर की अनन्त शोभा है। 'जा परजैको अंत...' देह की पर्याय का अन्त आया है। अब स्थिति पूरी। 'सत्य कर मानना, चले बनारसीदास फेर नहीं आवना।'

ऐसे मूर्ख के अवतार। ऐसा कुछ होता होगा? देह छूटने में देरी लगी, वहाँ (माना कि) जीव कहीं अटका है, (ऐसा) लगता है। यह अभी भी ऐसा होता है। पोपटभाई! वे घर के लोग इकट्ठे होकर (कहे), जीव छूटता नहीं। जीव कहीं अटका होगा। यहाँ अपने दामोदरभाई थे न? दामोदर वकील थे, नहीं? उमराला। व्यक्ति बहुत

चतुर था, दिमागवाला... हीराभाई के मकान में। फिर कुछ जीर्ण होते-होते बहुत जीर्ण हो गये, थोड़ी देर लगी होगी। फिर किसी को लगा, इनका छोटा लड़का है न, उसे सामने बैठाओ, मुख दिखलाओ तो कुछ अपने को कहेंगे। छोटा लड़का बताओ। बताओ। समझ में आया? क्या? छोटा लड़का रखा, उन्हें बताया। उन्होंने सामने ही नहीं देखा। ऐसा कि बताऊँ तो कुछ कहेंगे। इसका कुछ करने का, इसका यह करना।

करने-फरने का यहाँ कुछ है नहीं। सुनाओगे भी नहीं मुझे, ऐसा कहा। देह छूटने के काल में सुनाओगे नहीं? हमारा विचार (यह है कि) मुझे कुछ सुनाना नहीं। पण्डितजी! मुझको कुछ सुनाना नहीं। वाँचन बहुत.... व्यक्ति विचारक। सुनाओगे तो मेरा लक्ष्य वहाँ जायेगा। सुनाने का इनकार किया। सुनाना नहीं कोई मुझे। परन्तु अब यह तो लोग कहीं रहे? बोलने लगे, 'सहजानन्दी शुद्ध स्वरूपी'। मरने की तैयारी। फिर क्या करे? ना... ना... किया। ऐसी की ऐसी देह छूट गयी। कोई ऐसा कहे न कि भाई! इस लड़के पर इसकी बुद्धि रह गयी लगती है। स्त्री को कुछ कहना होगा। कुछ कहना हो अन्तिम स्थिति में। धूल में भी कहना नहीं। कौन कह सकता है? भाई! परन्तु यह तो वाणी जड़ है। भाषा बन्द होने के काल में बन्द होगी। बोलने के काल में भी भाषा बोले, आत्मा नहीं बोलता। आहाहा! तो कहते हैं कि बनारसीदास को ऐसा बन गया, लो।

यहाँ कहते हैं कि **स्याद्वाद लक्षण सुहावे**। ज्ञानी स्पष्टीकरण करते हैं। वाणी के कारण से वाणी निकलती है और वाणी निकलना न हो तो वाणी निकलती नहीं, ऐसा उसको समझते हैं। आत्मा बोल सकता है?—कि नहीं। बोलने की क्रिया जड़ की है, जड़ स्वतन्त्र, उस कारण से परमाणु परिणमते हैं। आत्मा उसको निमित्त कहने में आता है, आत्मा से वाणी बनती नहीं। समझ में आया? ....आत्मा न बोले तो दीवार बोलती है? सुन तो सही। बोले कौन? बोले वह दूसरा। वह (वाणी) तो जड़ है। यह स्पष्टीकरण वीतराग के आगम ने (दिया) कि जड़पदार्थ को साबित / सिद्ध करके जड़ की अवस्था जड़ से होती है, आत्मा की अवस्था आत्मा से होती है। आत्मा की अवस्था में जड़ नहीं और जड़ की अवस्था में आत्मा नहीं। यह स्पष्टीकरण वीतरागशासन करता है। समझ में आया?

'जामैं स्याद्वादनाम लच्छन सुहायौ है।' अपेक्षा से कथन जानना चाहिए। आत्मा बोले, चले—ऐसा कहना वह तो निमित्त के—व्यवहार के कथन हैं। ऐसा है नहीं (परन्तु) उसका स्पष्टीकरण व्यवहार से कहने में आया है। आत्मा नहीं कर सकता, आत्मा तो जाने। या विकल्प करे, राग करे राग। अरे! यह रह गया और यह रह गया, यह कहना था, वह रह गया। भाषा हो गयी बन्द। जो रह गया वह रह गया। जायेगा चार गति में भटकने। कहीं रह गया नहीं, कहीं गया भी नहीं। मैं तो आत्मा हूँ। मैं तो जाननेवाला चैतन्यब्रह्म आनन्दकन्द हूँ। मुझे कहना भी नहीं और किसी का सुनना भी नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप' भाषा देखो! आत्मा में अपना शुद्धस्वरूप आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, ऐसा जहाँ अन्दर भान हुआ है, उसे भ्रान्ति का नाश हुआ है। जिसे आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप चैतन्य वस्तु है, उसे भान में, भ्रान्ति जो पहले थी कि मैं राग का कर्ता, शरीर की क्रिया करूँ कि मैं अनेकरूप ही हूँ—ऐसी एकान्त दृष्टि थी, उसका नाश हो गया। **सहजरूप...** दर्शनमोह गया, देखो भाषा। कर्म तो उसके कारण से गये, परन्तु यहाँ पुरुषार्थ स्वभाव सन्मुख था। अपना आनन्द, ज्ञान स्वभाव, उसकी दृष्टि होना, उसे भ्रान्ति का नाश होता है, उसे धर्म होता है।

'दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप, आगम प्रमान ताके हिरदैमैं आयौ है' उसे सर्वज्ञ की वाणी का किस अपेक्षा से कथन है, यह ज्ञानी के हृदय में आ जाता है। उसे भ्रान्ति नहीं होती, उलझन नहीं होती कि यह क्यों है? कैसे है? जैसा कहा उस दृष्टि से ऐसा ही है। समझ में आया? **आगम प्रमाण...** देखो **स्वतः स्वभाव जिनागम प्रवेश करता है।** सर्वज्ञ परमात्मा ने जो शास्त्र कहा—वह शास्त्र ज्ञानी के हृदय में प्रमाणगत लगते हैं, उसे कहीं भ्रान्ति अस्थिरता लगती नहीं। बराबर वस्तुरूप से एक, पर्यायरूप से अनेक, वस्तुरूप से शुद्ध, अवस्था में अशुद्धता, ऐसे त्रिकाल की अपेक्षा से नित्य, अवस्था बदलने की अपेक्षा से अनित्य—इस प्रकार स्वभाव के भानवाले धर्मी को भ्रान्ति का नाश हुआ अर्थात् भ्रान्त नहीं होता।

'अनेसौं अखंडित' यह अर्थ रह गया है इसमें। इसका अर्थ नहीं आया। इतना

अर्थ नहीं आया '**अनेसौं अखंडित**' इतना अर्थ नहीं आया। कुनय से वस्तु का खण्डन नहीं हो सकता। अनय अर्थात् कुनय। कुनय से कोई एकान्त से आत्मा को एक ही माने, आत्मा को अनेक ही माने। (अभेद) वस्तुरूप से एक हों, सब होकर (एक) ऐसा नहीं। ऐसा जो स्वरूप उसका है, उससे विरुद्ध कोई कुनय से उस वस्तु का खण्डन हो या वस्तु से विरोधता आवे, ऐसा नहीं है। '**अनेसौं अखंडित**' है वह तो। इतना अर्थ बाकी रह गया है इसमें। '**अनूतन**' अनादि का है। भगवान तो अनूतन है। नूतन अर्थात् नया नहीं। है, है और है। है... है... है... है... है। अनादि... अनादि... अनादि... अनादि से आत्मा है। वह नया उत्पन्न हो, ऐसा आत्मा (नहीं)। आत्मा उत्पन्न हो नया?

वह तो अविनाशी है, अनादि का है। इस भव पहले, इस भव पहले, इस भव पहले, इस भव पहले, भव... भव... भव... अनूतन—नया नहीं। तथा अनन्त जिसका तेज है। आहाहा! वह तो अनादि (है ऐसी) बात की है, परन्तु वस्तु क्या है? अनन्त जिसका ज्ञान और आनन्द का तेज है आत्मा। आहाहा! समझ में आया? इसलिए सबको जाननेवाला है, ऐसा कहना है। अनन्त जिसका तेज है। वह तो राग हो, उसे जाने, शरीर की क्रिया को जाने। सब जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... ऐसा अनन्त जिसका तेज है। अनादि है और अनन्त जिसका प्रकाश है। है अर्थ में इतना पहले। देखो, नित्य अनादि-अनन्त प्रकाशमान। इतना शब्द है अर्थ में। उस ओर २९ पृष्ठ पर, **तत्काल ही नित्य...** तत्काल का अर्थ पूर्ण है न! पूर्ण है। आहाहा!

जिसे आत्मा का स्वभाव, शास्त्र कहते हैं तत्प्रमाण जिसे अन्दर (में) बैठ गया है कि मैं तो त्रिकाल आनन्दमूर्ति हूँ। रागादि हैं सही, परन्तु वे मेरी चीज़—वस्तु में नहीं और जड़कर्म आदि है, परन्तु वह उसके स्वरूप में वे हैं, मेरे स्वरूप में नहीं। ऐसा जिसे अन्तर में बैठा, वह कुनय से उसका नाश नहीं हो सकता। कुयुक्ति और कुतर्क द्वारा खण्डन हो, ऐसा तत्त्व नहीं है।

अनूतन... अनादि **अनंत तेज, ऐसो पद पूरन तुरंत तिनि पायौ है।**' अन्तर भगवान आनन्दस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु की जिसे दृष्टि हुई, उसे अल्पकाल में मोक्ष का पद प्राप्त होता है। पूर्ण पद कहा है न! मोक्ष... **इक्षन्त** है न अन्त में। '**अक्षुण्णम इक्षन्त...**'

जिसका नाश होता नहीं, ऐसे पद को वह प्राप्त होता है। आत्मा की मोक्षदशा को प्राप्त होता है। समझ में आया ? आहाहा! यह इसे करना है। वस्तु अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान से भरपूर चीज़, उसका अन्तर अनुभव करना और राग का अनुभव दृष्टि में से छोड़ देना, ऐसे आत्मा के अनुभव द्वारा धर्म प्राप्त करके वह पूर्णपद को अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त होता है। उसका संसार परिभ्रमण रहता नहीं। समझ में आया ? यह चौथे कलश का पाँचवाँ पद। कलश है चौथा, पद है पाँचवाँ। अब पाँचवाँ कलश और पद है छठवाँ। इस ओर है २८ पृष्ठ पर नीचे।

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या–
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं,
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित्।।५।।

आहाहा! **निश्चयनय की प्रधानता से कथन**। छठवाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - ६

निश्चयनय की प्रधानता (सवैया तेईसा)

ज्यौं नर को गिरै गिरिसौं तिहि,
सोइ हितू जो गहै दिढ़बाहीं।
त्यौं बुधकौं विवहार भलौ,
तबलौं जबलौं शिव प्रापति नाहीं।।
यद्यपि यौं परवान तथापि,
सधै परमारथ चेतनमाहीं।
जीव अव्यापक है परसौं,
विवहारसौं तौ परकी परछाहीं।।६।।

शब्दार्थ:-गिरिसौं=पर्वत से। बाहीं=भुजा। बुध=ज्ञानी। प्रापति=प्राप्ति।

अर्थ:-जैसे कोई मनुष्य पहाड़ पर से फिसल पड़े और कोई हितकारी बनकर उसकी भुजा मजबूती से पकड़ लेवे, उसी प्रकार ज्ञानियों को जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है, तब तक व्यवहार का अवलम्ब है, यद्यपि यह बात सत्य है तो भी निश्चयनय चैतन्य को सिद्ध करता है तथा जीव को पर से भिन्न दर्शाता है और व्यवहारनय तो जीव को पर के आश्रित करता है।

भावार्थ:-यद्यपि चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक व्यवहार का ही अवलम्बन है, परन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चयनय उपादेय है, क्योंकि उससे पदार्थ का असली स्वरूप जाना जाता है और व्यवहारनय अभूतार्थ होने से परमार्थ में प्रयोजनभूत नहीं है।।६।।

काव्य-६ पर प्रवचन

ज्यौं नर को गिरै गिरिसौं तिहि,
सोइ हितू जो गहै दिढ़बाहीं।
त्यौं बुधकौं विवहार भलौ,
तबलौं जबलौं शिव प्रापति नाहीं।।
यद्यपि यौं परवान तथापि,
सधै परमारथ चेतनमाहीं।
जीव अव्यापक है परसौं,
विवहारसौं तौ परकी परछाहीं।।६।।

यह तो पद मिलाने के लिये बात है। व्यवहार है, इतनी बात है, हों! कवि भी होशियार... अध्यात्म कवि है न अध्यात्म।

जैसे कोई मनुष्य पहाड़ पर से फिसल पड़े... पहाड़ से गिरे, खिसक जाये। '**ज्यों नर को गिरै गिरिसौं**' पर्वत के ऊपर से फिसल जाये। '**सोइ हितू जो गहै दिढ़बाहीं।**' परन्तु यदि उसे कोई दृढ़ बाहों से पकड़े तो रह जाये, नीचे गिरे नहीं। **और कोई**

हितकारी बनकर उसकी भुजा मजबूती से पकड़ लेवे। वृक्ष-पेड़ हाथ आ जाये। मजबूत पेड़ हो, वृक्ष को पकड़ ले। पहाड़ से नीचे गिरे न... झाड़ समझे न? झाड़ नहीं समझते हैं? वृक्ष, वृक्ष। नीम का हो न साथ में, लटक जाये, रह जाये ऊपर। वह तो निमित्तरूप से है, हों! उससे रहा है, ऐसा नहीं। मात्र वहाँ निमित्तपना वृक्ष का है, इतना सिद्ध करना है।

'**सोइ हितू जो गहै दिढ़बाहीं। त्यौं बुधकौं विवहार भलौ।**' उसी प्रकार ज्ञानी को जब तक परमात्मपद प्राप्त न हो, तब तक उसकी दशा में भेदरूप पर्याय है। उसे भली है, अर्थात् है ऐसा कहा जाता है। नहीं, ऐसा नहीं। चौदहवें गुणस्थान तक भी पर्यायभेद है इतना। मोक्ष होने के पहले समय तक उसे व्यवहार की दशा उदय की, योग के कम्पन की है। इतनी बात है, बस इतनी बात। भला का अर्थ अच्छा है और आश्रय करनेयोग्य है, ऐसा नहीं। वह तो पद है न, उसके साथ मिलाने के लिये कहा है।

'**त्यौं बुधकौं विवहार भलौ।**' ज्ञानी धर्मात्मा अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप अनुभव दृष्टि में उसे ध्येय और आलम्बन तो द्रव्यस्वभाव वस्तु का है। अरे, अरे! परन्तु जब तक पूर्ण मोक्ष न हो, तब तक उसकी दशा में भेदरूप अवस्था है। है, वह जाननेयोग्य है। जाननेयोग्य है। नहीं—ऐसा नहीं। समझ में आाय? अर्थ सब निकाले बहुत।

मुमुक्षु : .... वहाँ तक चाहिए न यहाँ....

पूज्य गुरुदेवश्री : चाहिए है कि कहाँ बात है? है, इतनी बात है। यह निकालेंगे, कहेंगे, देखो। '**बुधकौं विवहार भलौ, तबलौं जबलौं शिव प्रापति नाहीं**' शिव अर्थात् मोक्ष। आत्मा की पूर्ण आनन्ददशा की प्राप्ति न हो, तब तक उसकी न्यून—अधूरी दशा है, उसे जानना चाहिए। यह जानना, उसका नाम व्यवहार है। समझ में आया?

इसने चैतन्य का मार्ग अनन्त काल से देखा नहीं। बाहर में मार्ग की सिरपच्ची में पड़ा है। अन्त आया नहीं इसका। अन्त का अवसर नहीं आया। जयन्तीभाई! अन्त का अवसर नहीं आया। संसार से मुक्त होने का—अन्त का अवसर नहीं आया, भटकने का अवसर रहा। आहाहा! कहते हैं कि आत्मा सच्चिदानन्द आनन्दस्वरूप की दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्म। परन्तु जब तक धर्म की दशा मुक्तरूप दशा न हो, तब

तक दशा है—अवस्था है, ऐसा जानना, उसका नाम व्यवहार कहा जाता है। समझ में आया? यह तो जन्म, जरा, मरण से मुक्त होने के मार्ग की बात है। आहाहा!

कहते हैं। '**त्यौं बुधकौं विवहार भलौ**' पर्वत से गिरता हो और कोई दृढ़ भुजा—हाथ पकड़े तो उसे आलम्बन कहा जाता है। रहता है तो अपने कारण से, परन्तु निमित्त है न आलम्बन। जैसे मंजिल पर चढ़े, मंजिल पर, तो लकड़ी है न लकड़ी... सहारा होता है न! लकड़ी नहीं रखते? लकड़ी बड़ी। वह लकड़ी उसे चढ़ाती नहीं। चढ़ता है तो स्वयं के प्रयत्न से, परन्तु इतना वहाँ निमित्त का आलम्बन—आधार है, बस इतना होता है। कठेड़ा-कठेड़ा। कठेड़ा कहते हैं न? दोनों ओर। अपने रखते हैं न सीढ़ियों के पास। सीढ़ियाँ खुद से न चढ़ सके.... नल (पाईप) है न दोनों ओर। वृद्ध हो, बहुत वृद्ध (तो) पाईप पकड़कर चले। इसी प्रकार यह आत्मा अपना आनन्द और ज्ञान अनन्त स्वभाव की दृष्टि करने से उसकी जो पर्याय में निर्मलता प्रगट होती है, उसका नाम धर्म। उस पर्याय की परिपूर्णता—मुक्ति न हो, तब तक वह पर्याय है भेदरूप, उसे जानना, इसका नाम व्यवहार कहा जाता है। पण्डितजी! पाठ तो ऐसा है न! आहाहा! अरे भाई! मार्ग बहुत सूक्ष्म!

'**यद्यपि यौं परवान**' कहते हैं कि आत्मा का अन्तरस्वरूप अनन्त अखण्ड आनन्द प्रभु का सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र—स्वरूप की रमणता हुई। परन्तु रमणता आदि दशा है, वह अवस्था है। वह अवस्था जब तक पूर्ण न हो, तब तक अपूर्ण अवस्था को जानना, इसका नाम व्यवहार कहा जाता है। उसमें आता है न, सिद्ध को व्यवहार नहीं। ...वहाँ तक व्यवहार है, इतनी बात। योग का कम्पन है न जब तक। उपयोग शुद्ध हो तो भी उदयभाव में शरीर की स्थिति इतनी है। चौदहवें गुणस्थान तक इतना अभी व्यवहार है, ऐसा जानना। समझ में आया? कहते हैं, भले व्यवहार हो तो भी '**परवान तथापि, सधै परमारथ चेतनमाहीं।**' परमार्थ का साधन तो भगवान पूर्णानन्द है, उसकी दृष्टि और उसमें एकाकार होना, वह साधन है। व्यवहार-व्यवहार वह कहीं साधन नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यह निवृत्ति कहाँ हो ऐसा निर्णय करने को? यह भटकने का रास्ता है। आहाहा!

यह पाँच-पचास लाख मिलते हों और धूल पैदा होती हो और उसमें देखो तुम्हारे लवलीन, सवेरे से शाम तक दुकान की पेढ़ी सम्हाले बराबर। उसके कारण हमको आमदनी होती है, ऐसा मानता है। मूर्ख है। टेलीफोन रखे ऐसे....

मुमुक्षु : उसके लिये नींद में भी....

पूज्य गुरुदेवश्री : हमारे हुआ है न एक बार। यह तो खाते-खाते एक व्यक्ति रखता था। यह तो हुआ है हमारे।

पालेज से माल लेने गये मुम्बई। एक मगनभाई थे, मगनभाई। वहाँ आढ़त करे और हम उनके यहाँ उतरे थे। हमारे आढ़तिया थे। हम माल लेने गये न, तब वे खाने बैठे थे। ऐसे फोन आया तो उठे।....परन्तु खाओ तो सही शान्ति से, यह तुमको किसका सुख है? ६४-६५ की बात है। संवत् १९६४-६५।

मुमुक्षु : तब से अब कितना सब बदल गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी सब... यह तो बहुत बदल गया। ... मगनभाई थे मगनभाई। पालेज के थे। मगनभाई लम्बे, पतले, गोरे। वहाँ पेढ़ी थी।....खाते-खाते.... हम सब साथ में खाते थे। बाहर फोन बजा। उठे। मंजिल पर बैठते थे। क्या है परन्तु यह? कहा। यह खाने के लिये कमाते हो और खाने में चैन और किसकी लगायी है यह तुमने? यह किसकी होली की है? टेलीफोन आया है। आया टेलीफोन। मरण का टेलीफोन आयेगा तब सुनने कहाँ जाओगे? मोहनभाई! आहाहा!

आत्मा अखण्ड आनन्द प्रभु, जिसका आनन्द आत्मा में है। उस आनन्द की प्रतीति और अनुभव होने पर उसे जन्म-मरण के अभाव की भणकार बजती है। भले गृहस्थाश्रम में हो। वह भणकार बढ़ते... बढ़ते... बढ़ते... पूर्ण निर्मल पर्याय—दशा जब तक न हो, तब तक अपूर्ण दशा को 'है' ऐसा जानना, उसका नाम व्यवहार कहा जाता है। तथापि वह काम में सहायता (रूप) साधन नहीं है। साधन तो भगवान आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप उसे अन्तर एकाग्र होकर... **चेतन** है न?

'**सधै परमारथ चेतनमाहीं**' व्यवहार में परमार्थ नहीं सधता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! देखो, भलो कहा था भाई वहाँ। किस अपेक्षा से? परन्तु उससे परमार्थ सधता

नहीं। आहाहा! व्यवहार विकल्प हो, पूर्ण दशा न हो तब तक व्यवहार है—ऐसा उसे जानना (चाहिए)। परन्तु साधन तो, कहते हैं कि **'सधै परमारथ चेतनमाहीं'** ज्ञान का पुंज प्रभु चैतन्यस्वभाव का आश्रय लेकर आत्मा की शान्ति का साधनपना होता है। बाकी शान्ति का साधन-बाधन दूसरा कोई है नहीं। आहाहा! समझ में आया? भारी कठिन काम यह, भाई!

क्या कहा? **'यद्यपि यौं परवान'** व्यवहार होता है, वह भले प्रमाण है, मुझे मान्य है। तथापि **'सधै परमारथ चेतनमाहीं'** यह अवस्था और राग से परमार्थ मार्ग साधा नहीं जा सकता। आहाहा! पूर्ण आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा अनन्त अतीन्द्रिय (आनन्द) का स्वामी है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द में दृष्टि देने से परमार्थ मार्ग साधा जा सकता है। पण्डितजी! यह उसमें से निकालते हैं, बहुत से पण्डित। देखो, व्यवहार है भला। लो। इसमें तो नहीं लिखा, नहीं तो उसमें चौदहवें गुणस्थान तक... देखो, है, उसमें है, है। भावार्थ में है। चौदहवें गुणस्थान तक व्यवहार आलम्बन है। आलम्बन (अर्थात्) है, इतनी बात है।

परमार्थ वचनिका में आया है न, 'असिद्धत्वात्...' चौदहवें (गुणस्थान) तक सिद्ध होने (तक) व्यवहार है। पश्चात् व्यवहार नहीं। क्या काम है उसका? यहाँ तो आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द उसकी खान में आत्मा में पड़ा है। ऐसे स्वभाव का अन्तर साधन करने से आत्मा का परमार्थ धर्म साधा जा सकता है, व्यवहार से परमार्थ धर्म नहीं साधा जा सकता।

मुमुक्षु : ज्ञानी तो थोड़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परमार्थ चेतन सधै प्रमाण से... भले व्यवहार हो, मार्ग प्रमाण है। मुझे कहाँ व्यवहार की ना करनी है।

'सधै परमारथ चेतनमाहीं' भगवान अनन्त आनन्द और ज्ञान की खान, उसके अन्तर में जाने से परमार्थ साधन तो चेतन के आश्रय से होता है, व्यवहार के आश्रय से परमार्थ नहीं सधता। तब क्या है परन्तु व्यवहार की? व्यवहार व्यवहार के स्थान में जाननेयोग्य है। परन्तु निश्चय स्वरूप साधन तो अन्तर आत्मा में अन्दर में जाना, वह है।

अन्तर आत्मा... कहते हैं न? अन्तर भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप में एकाग्र हो, वह साधन है। समझ में आया?

'जीव अव्यापक है परसौं' देखो, अब कहते हैं। वास्तव में तो राग से आत्मा व्यापक ही नहीं, व्यवहार से आत्मा व्यापक ही नहीं, ऐसा कहते हैं। त्रिकाली वस्तु है, वह व्यवहार से व्यापक ही नहीं। आहाहा! **...चैतन्य को सिद्ध करता है तथा जीव को पर से भिन्न दर्शाता है और व्यवहारनय तो जीव को पर के आश्रित करता है।** व्यवहार पर-आश्रित है, निश्चय स्व-आश्रित है। क्या है आश्रय और फाश्रय? उसमें पंथ की खबर नहीं होती। भगवान पूर्ण आनन्द सच्चिदानन्दस्वरूप का आश्रय करना, वह साधन और मुक्ति का कारण है। व्यवहार का साधन वह कहीं मुक्ति का कारण नहीं है। आहाहा! यहाँ तो व्यवहार से अव्यापक है, ऐसा सिद्ध करते हैं। देखो न! समझ में आया?

'जीव अव्यापक है परसौं' पर-आश्रित व्यवहार है न! वास्तव में तो धर्मात्मा का आत्मा पर से व्यापक है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म, बहुत सूक्ष्म गजब! संसार में चक्रवृद्धि ब्याज निकालना हो तो निकाले। पाँच लाख रुपये का छह आनारूप से... अब अभी बढ़ गया है। पहले छह आना था। अब कुछ रुपया और डेढ़ रुपया हो गया है ब्याज का। परन्तु वह ब्याज से दस लाख दिये हों तो उसका प्रतिदिन का ब्याज निकाले। वह ब्याज निकालकर उन दस लाख में जोड़े और उनका वापस दूसरे दिन का ब्याज निकाले। उसे चक्रवृद्धि ब्याज कहते हैं। आत्मा में क्या है? ब्याज निकले कैसे? अज्ञान टले कैसे? वह क्या चीज़ है? नमो नमः

कहते हैं... अव्यापक है न। अव्यापक अर्थात् व्यापता नहीं अर्थात् स्वभाव से भिन्न है, ऐसा कहते हैं। यह दया, दान, व्रत, विकल्प है, वह भले हो व्यवहाररूप से, परन्तु आत्मा उनसे भिन्न है। आहाहा! अव्यापक है अर्थात् शुद्ध चैतन्य की—वस्तु की दृष्टि होने पर धर्मी जीव के आत्मा में राग आता नहीं, पसरता नहीं, व्यवहार में आत्मा प्रविष्ट नहीं होता। भाई! यह तो समझना कठिन है। कहते हैं, **'जीव अव्यापक है परसौं विवहारसौं तौ परकी परछाहीं'** यह भेद और विकल्प तो पर की छाया है। स्व की पर्याय और स्व की छाया नहीं। आहाहा! समझ में आया? पद्य में इतना गूँथ लिया है।

(बनारसीदास) गृहस्थाश्रम में थे। स्त्री, पुत्र, परिवार भी था। यह हम नहीं, यह उसमें हम नहीं। उसमें विकल्प उठे भगवान की भक्ति आदि का, उसमें हम नहीं। आहाहा! हम उसमें व्यापक नहीं। व्यापक अर्थात् उसमें हम फैले हुए व्यवहार में नहीं, व्यवहार, वह हमारा विस्तार नहीं। समझ में आया? भगवान आत्मा... यह तो मिट्टी है, यह शरीर तो जड़ धूल है। धूल में से अवतरित हुआ और धूल होकर उड़ जायेगा श्मशाम में राख होकर (उड़ जायेगा)। यह कहाँ आत्मा था? यह तो मिट्टी जड़ है। उसमें कर्म, वह मिट्टी जड़ है। उसमें पुण्य-पाप के विकल्प हों, वह विकार है। है— ऐसा जानना, वह बराबर है, कहते हैं। परन्तु धर्मी आत्मा को धर्म का भाव प्रगट होने पर उसकी वीतरागी पर्याय में आत्मा व्यापे, अभेद हो, परन्तु राग के भाव से जीव व्यापता नहीं, परन्तु विरक्त रहता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

पराश्रित, वह व्यवहार; स्वाश्रित, वह निश्चय। कहते हैं कि राग आदि उत्पन्न हो, निमित्त भी हो, परन्तु वह पराश्रित भाव है। वास्तव में जाननेयोग्य है, बस। इससे आगे जाकर वह लाभदायक है या उसका आश्रय करने से धर्म बढ़ता है, ऐसा है नहीं। भारी कठिन, भाई! जिस प्रकार संसार में रस है, रस... 'जैसी प्रीति हराम से, ऐसी हरि से होय।' आता है न तुलसीदास का। 'जैसी प्रीति हराम से, ऐसे हरि से होय, चला जाय वैकुंठ में, पल्ला न पकड़े कोई।' उसे पकड़े कौन? अन्दर स्वरूप में आगे जाता है... जैसी रुचि पर में है, वैसी रुचि यदि अनीति में (होवे तो) रुचि का पार नहीं होता। पेढ़ी पर बैठा हो और पाँच-पच्चीस लाख पैदा होते हों, एक लाख आज आये। एक लाख आये, वहाँ करो लापसी का आंधण।

मुमुक्षु : अभी लापसी पचती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे भाई थे न अपने, पोरबन्दरवाले कल्याणजी गोविन्द थे। तब बीस की पूँजी थी। यह तो पहले की बात है, हों! ८७ का चातुर्मास था। पोरबन्दर। ८७। कितने वर्ष हुए? ४० वर्ष पहले। तब बीस लाख थे। उसमें दस लाख बढ़े। अब जिस दिन उसे मरना था, उस दिन एक लाख पैदा किये। लाख पैदा किये और शाम जहाँ हुई... वहाँ लक्ष्मीचन्द साथ में थे.... 'ऐ कलु' ऐसा कहा वहाँ तो कलु उड़ गया। हो

गया। गया वह गया, मर गया। एक लाख एक दिन में पैदा किये थे। ...धूल भी नहीं उसमें अब, तेरे लाख में राख है। वहाँ उसका रस का पार नहीं होता। आहाहा! आज तो सफल हुए हैं न! क्या कहलाता है वह? टोन, टोन। ऐ... टोन तुझे तेरा आया नहीं और यह आया उल्टा। ऐई पोपटभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : बाजार का टोन आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : टोन आया बाजार का।

अरे! तेरा स्वभाव क्या है? तू कौन है? उसका टोन तुझे सूझता नहीं। यह जड़ का टोन सूझता है। सब भटकने के रास्ते हैं। आहाहा! समझ में आया? कितने पैसे पैदा करे? देखो, वह एक दिन के २-३ लाख पैदा करे। वह शान्तिलाल खुशाल गोवा में। एक दिन में लाख तो पैदा करता था और २-३ लाख (पैदा होते हैं, ऐसा) अभी आया। ऐल्युमीनियम निकलता है न ऐल्युमीनियम। उसके बहनोई कहते थे। एक दिन में २-३ लाख आमदनी। आहाहा! अभिमान चढ़ जाये न बनिया के। राजा भी बेचारे अभी नीचे उतर गये। प्रेमचन्दभाई नहीं थे? यहाँ बैठते थे। उनके मामा का पुत्र है।

मुमुक्षु : लींबडी के दरबार की इतनी उपज होगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। उपज कहाँ से हो इतनी? दस लाख की उपज होगी बारह महीने की। यह तो एक दिन की दो लाख की आमदनी। परन्तु क्या धूल है उसमें? वह सब पर की ममता के रास्ते, दुर्गति के पंथ में जाने के रास्ते हैं। आहाहा!

वह कहीं साथ में आवे, ऐसा है? मर जाये तो मरते हुए इसे कडाही रखे सामने। अर्थी निकाले न दरवाजे में से... उस दरवाजे में से निकाले तो छूने देना नहीं। दरवाजा हो न दरवाजा। वह ननामी (अर्थी) निकलती हो तो छूने देना नहीं, कहते हैं। यह छुयेगा तो भूत होकर आयेगा... कमाकर मर गया तेरे लिये। परन्तु मर गया भले।

मुमुक्षु : मुर्दा किस प्रकार से भूत होकर आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं कि कडाही रखे यहाँ ... पास में। लोहे की तावड़ी। भाईसाहब आना नहीं, हों! आओगे तो देखो, कडाही रखी है। ऐई पोपटभाई!

यह सब रास्ते हैं, हों! यह सब छह लड़के ऐसा करेंगे। यह तो दृष्टान्त। यह तो सबको ऐसा ही है न। ... जलाये तो भी ठीक और दफनाये तो भी आत्मा को क्या है? वह तो मरकर गया, सो गया, चौरासी के अवतार में भटकने। अपनी जाति को जाना नहीं। मैं कौन हूँ, उसकी कीमत की नहीं। राग और पुण्य की कीमत टली नहीं। पर की कीमत टली नहीं और स्व की कीमत हुई नहीं। स्व की कीमत हो, उसे पर की कीमत रहती नहीं। आहाहा! समझ में आया? '**विवहारसौं तो परकी परछाहीं**' व्यवहार तो पर की छाया है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। भावार्थ विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १८, माघ शुक्ल ७, मंगलवार, दिनांक २-२-१९७१
जीवद्वार, पद—६, ७, ८

पृष्ठ २९ है। समयसार नाटक। पृष्ठ २९। नीचे भावार्थ। उसका पद आ गया है छठवें का। यद्यपि **चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक व्यवहार का ही अवलम्बन है...** इसका अर्थ। नहीं आये भाई रतिभाई? गये? .... क्या कहते हैं? जरा सूक्ष्म बात है। कि आत्मा... यह वस्तु है आत्मा अन्दर, वह तो शुद्ध आनन्दघन आत्मा है। उसका आनन्द उसमें पसरा हुआ विस्ताररूप से अनादि-अनन्त रहा हुआ है। गुण है न गुण! ऐसे अखण्ड अभेद आत्मा पर दृष्टि करने से उसे सम्यग्दर्शन अर्थात् शान्ति और धर्म होता है। सेठ! पैसे से शान्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं, धूल से....

मुमुक्षु : पैसे से थोड़ी हो....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी होती नहीं पैसे से। आकुलता-होली है पैसे से।

मुमुक्षु : वास्तविक बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वास्तविक बात है?

तुम्हारी इज्जत बड़ी गिनी जाती है मुम्बई में, ऐसा लोग कहते थे। उनके पास दस करोड़ रुपये हैं, ऐसा सुना है। पाँच करोड़ तो तुमने बैठे थे और कहा था, खबर है न? धूल हो तो भी धूल में क्या है? वह तो धूल है। शरीर में रोग आवे तो पैसा मदद करे, ऐसा है कहीं? मानो कि डॉक्टर-बॉक्टर लाओ। डॉक्टर क्या करता था? डॉक्टर भी मर जाता है, ऐसा है। आहाहा! शान्ति पैसे से नहीं, शरीर से नहीं, स्त्री-पुत्र से शान्ति आत्मा में बिल्कुल नहीं। अशान्ति है, उसका लक्ष्य करे तो, हों!

मुमुक्षु : लकड़ी फिरा दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : लकड़ी फिरे और पैसे होते हैं, ऐसा (लोग) कहते हैं। यहाँ तो तत्त्वदृष्टि की बात है। आहाहा! ....तुम्हारे लड़के को तो आठ हजार वेतन हुआ।

मुमुक्षु : आठ करोड़ का हुआ, मुझे क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : बापूजी कहे, पैर छुए आकर।

मुमुक्षु : अवलम्बन कुछ न कुछ सही, देह में रहे उसे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं। यह शरीर मिट्टी धूल है, मिट्टी है यह तो। धूल का अवलम्बन वह राग और दु:ख है। पर के कारण है क्या परन्तु अब ?

यहाँ तो आत्मलक्ष्मी भगवान आत्मा में अनन्त ज्ञान और अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्द, शान्ति, चारित्र और आनन्द—ऐसा उसमें स्वभाव है। उसका भान हो उसे चौथा गुणस्थान (आता है)। यह चौथा गुणस्थान है न, भाई! चौथा गुणस्थान क्या आता है, (ऐसा) नये लोगों को लगता है। उसे चौथा गुणस्थान अर्थात् सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची दृष्टि। अर्थात् जैसा आत्मा पूर्ण शुद्ध है, ऐसी अन्तर्दृष्टि होने पर शान्ति और आनन्द आवे, ऐसी दशा को चौथा गुणस्थान कहा जाता है। समझ में आया ? तो कहते हैं कि **चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक...** अर्थात् कि सिद्ध भगवान न हो, जब तक आत्मा, तब तक उसकी अन्तिम अवस्था चौदहवाँ गुणस्थान अर्थात् सोपान है। जैसे सीढ़ियाँ चढ़ने में मंजिल पर जाने में सोपान होते हैं, उसी प्रकार यह चौथा सोपान और पश्चात् अन्तिम चौदहवाँ। वहाँ तक अभी सिद्धपद—परमात्मपद नहीं है। तो कहते हैं कि चौथे (गुणस्थान में) आत्मा का भान होकर... देखो, पहले या दूसरे (गुणस्थान में) व्यवहार नहीं, ऐसा कहा, भाई! इसका अर्थ क्या हुआ, समझ में आया ?

जिसकी श्रद्धा में राग और पुण्य, वह धर्म है और राग में लाभ है—ऐसी मान्यता (हो तो) मूढ़ मिथ्यादृष्टि को निश्चय भी नहीं और व्यवहार भी नहीं, ऐसा कहते हैं। कहते हैं कि यद्यपि चौथे गुणस्थान से अर्थात् आत्मा के शुद्ध आनन्द की भान दशा—अवस्था से चौदहवें गुणस्थान—अन्तिम चौदहवीं अवस्था में **व्यवहार का अवलम्बन है...** अर्थात् वहाँ तक पर्याय में—अवस्था में भेद है। व्यवहार अर्थात् विकल्प न हो भले, परन्तु उदयभाव है, योग का कम्पन है। अरे! योग का कम्पन गया तो भी अभी अशुद्धता अन्तिम गुणस्थान में थोड़ी रही है। उसे यहाँ व्यवहार कहा जाता है। है, इतनी बात व्यवहार (अर्थात्)।

मुमुक्षु : अवलम्बन का अर्थ क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अवलम्बन का अर्थ 'है'। हस्तावलम्ब डाला है न अन्दर। हस्तावलम्ब पाठ में है सही। 'है' इतना। **परन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चयनय उपादेय है...** अब देखो! यह व्यवहार हो, परन्तु वह आदरणीय नहीं, उपादेय नहीं, शरण नहीं। समझ में आया? है न अन्दर?

व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चयनय उपादेय है... भगवान आत्मा पूर्ण अविरागी—अरागी—वीतरागी स्वरूप शुद्ध ज्ञानघन, वही आदरणीय है। वह आश्रय करनेयोग्य है, वह आदरणीय और वह उपादेय है धर्मी को। अज्ञानी को तो राग और (पुण्य) उपादेय है, आदरणीय है। परन्तु कहते हैं कि व्यवहार होने पर भी... चौथे से चौदहवें तक की बात है, हों! पहले, दूसरे, तीसरे में व्यवहार नहीं, क्योंकि वहाँ निश्चय दृष्टि नहीं है। वरना भेद तो उसे भी है, परन्तु अभेद की दृष्टि हुए बिना भेद को भेदरूप जानना, ऐसा अज्ञानी को होता नहीं। अरे! भारी सूक्ष्म! कहते हैं कि व्यवहार है, भेद है, परन्तु उस नय का, आश्रय करने की अपेक्षा से उपादेय नहीं। चिदानन्द भगवान आत्मा पूर्ण अनाकुल आनन्द का रस, वह आत्मा है। वह आत्मा आदरणीय है। व्यवहार आदरणीय नहीं (ऐसा) उसमें आ गया या नहीं इकट्ठा? परन्तु यहाँ आया न, इसमें ही आ गया। व्यवहार की अपेक्षा निश्चय उपादेय है और व्यवहार उपादेय नहीं। समझ में आया? है सही। समझ में आया?

क्योंकि उससे पदार्थ का असली स्वरूप जाना जाता है। देखो, किससे? वस्तु भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन ध्रुव... ध्रुव एकरूप अखण्ड आनन्दकन्द स्वरूप, वह आत्मा का असली स्वरूप है। अन्दर असल्य स्वरूप है, वह मींगी है अन्दर का। निश्चय अर्थात् स्व का आश्रय करने से दृष्टि में शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। उससे असली स्वरूप जानने में आता है। व्यवहार से असली स्वरूप जानने में आता नहीं। अर्थात् कि उसकी एक-एक समय की दशा रागवाली और कम्पनवाली और उदयवाली, समझ में आया? उससे असली त्रिकाली स्वरूप जानने में नहीं आता; इसलिए वह व्यवहार झूठा है। कौन सा व्यवहार? यह तुम्हारे धन्धे के व्यवहार की बात नहीं यहाँ। कहो, सेठ! यह बीड़ी का धन्धा और इसे यह टाईल्स का।

मुमुक्षु : वह तो सच्चा धन्धा है, खोटा तो कहलाये ही कैसे?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी तो यहाँ बात भी नहीं। आहाहा!

भगवानजीभाई का वहाँ है तुम्हारे, नहीं? थाणा में... थाणा में है न? गये थे न हम। उतरे थे न वहाँ वह भगवानजीभाई का है न वहाँ। भगवानजी कचरा... टाईल्स में यहाँ है न थाणा में। है न कारखाना। इनका कारखाना भी बड़ा है पन्द्रह लाख का। इनका कारखाना दोनों का। वहाँ उतरे थे। वहाँ चरण किये थे। भगवानजीभाई। भगवानजीभाई नहीं अपने? वहाँ मकान में गये थे। कहते हैं कि वह कोई बाहर की चीज़ का व्यवहार उसकी (आत्मा) के पास बात ही नहीं। आहाहा! ठाठ-बाठ है यह तुम्हारे, देखो न सब जीपें, मोटरें कितनी! देखो न, यह मोटर बाहर कैसी सुन्दर लगे! बाहर खड़ी रहती है मोटर सेठ को बैठने की। आहाहा! नीला रंग... बड़ी, लम्बी... मैं दिशा को निकलूँ वहाँ खड़ी हो। धूल भी नहीं वहाँ। उस व्यवहार की यहाँ बात भी नहीं।

यहाँ तो आत्मा पूर्ण स्वरूप अखण्ड है, ऐसा आनन्द का अनुभव होने के काल में उसे द्रव्य का—वस्तु का आश्रय है। क्योंकि वह वस्तु त्रिकाली असल स्वरूप है। उसकी दृष्टि होना, उसका नाम धर्म और सम्यक्त्व है। परन्तु सम्यक्त्व होने पर भी अभी उसे पर्याय है, राग है, भेद है—ऐसा व्यवहार जाननेयोग्य है। आदरनेयोग्य नहीं, ऐसा कहते हैं। भारी सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : बहुत ऊँची बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊँची बात ही पहली यह है, भाई! बाकी सब बिना एक के शून्य है। आहाहा! उसे वस्तु की खबर नहीं।

आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु सिद्धस्वरूप है। वह सिद्धस्वरूप परमानन्द की मूर्ति, वह राग और एक समय की पर्याय से भिन्न है। वह आदरणीय और श्रद्धा करने के लिये उपादेय है, धर्मी के लिये धर्म करना हो तो। तथापि ऐसा निश्चय का आश्रय लेनेवाले असली स्वरूप को जाननेवाले भानवाले को भी भेदरूप से व्यवहार वर्तता है। वह है सही, परन्तु आश्रय करनेयोग्य और उपादेय नहीं है। बराबर है पण्डितजी!

व्यवहारनय से अर्थात् कि वस्तु जो अखण्ड चैतन्यमूर्ति आनन्द का धाम प्रभु, उसकी अपेक्षा से वर्तमान अवस्था का जो व्यवहार है, वह उपादेय नहीं। क्योंकि

उससे—व्यवहार से असली शाश्वत् स्वरूप चैतन्यघन श्रद्धा में, ज्ञान में ज्ञेयरूप से आता नहीं। **और व्यवहारनय अभूतार्थ होने से...** एक समय की पर्याय हो, राग हो, वह तो अभूतार्थ अर्थात् शाश्वत् नहीं रहनेवाली चीज़ है। **परमार्थ में प्रयोजनभूत नहीं है।** वह व्यवहार का विषय परमार्थ से प्रयोजनभूत नहीं। आहाहा! भारी बात, भाई! ऐसी कठिन है जगत की।

कभी खबर नहीं होती। मजदूरियाँ कर-करके मर जाये लोग। पोपटभाई! यह पैसेवाले सब मजदूर होंगे या नहीं? बड़े मजदूर। वह मजदूर तो आठ घण्टे काम करे। सवरे आठ से बारह, दोपहर में दो से छह। और यह तो सवेरे से उठे छह बजे से रात्रि के दस बजे तक। और रात्रि में फोन आवे एक बजे, दो बजे तो उठे। यह घण्टी बजी, कुछ घण्टी बजी।

मुमुक्षु : उसे तो पलंग के नजदीक रखे। चौबीस घण्टे का मजदूर।

पूज्य गुरुदेवश्री : चौबीस घण्टे का मजदूर, लो, भाई! हमारे सेठ कहते हैं। बात तो सच्ची है, हों! फोन कहाँ से आया... फोन गया न। सेठ आये तब कहा न डालचन्दजी ने, फोन लगाया है।

यहाँ तो कहते हैं, भगवान तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी परमात्मा अरिहन्त प्रभु ऐसा फरमाते हैं कि तेरा जो शाश्वत् ज्ञानानन्दस्वरूप जो ध्रुव है, वह तुझे आदरणीय है। और वह आदरणीय होने पर भी वर्तमान में पर्याय और राग का भेद है, वह नहीं—ऐसा नहीं है, जाननेयोग्य है। समझ में आया? कठिन काम, भाई! कहाँ ऐसी बात में पड़े? खा-पीकर लहर करता हो। एक व्यक्ति कहे, सुख से खा-पीकर हम लहर करते हों, उसमें तुमने मार डाला। यह पर का कर सकता नहीं, पर का कर सकता नहीं... धूल भी करे नहीं, सुन न अब। आँख की पलक फिरना, वह जड़ के आधीन है। वह तो मिट्टी है। वह तुझसे फिरती है, यह सब? मैं तो अरूपी आत्मा हूँ। वह अरूपी रूपी को करे कैसे? जिसे स्पर्श नहीं करता, उसे करे कैसे पर को? विशालभाई! यह सब बड़े धन्धे-बन्धे करते होंगे तुम सब? नैरोबी में उथल-पुथल... कल्पना करे, पर का क्या करे? वह तो उसके कारण से होनेवाला हो, वह होता है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, भगवान आत्मा... तुझे सुखी होना हो तो, सुखी होना हो तो, दु:ख को टालना हो तो, अनन्त आनन्द का धाम आत्मा स्वरूप शुद्ध ध्रुव है, उस पर दृष्टि लगाओ। इसके बिना सुखी होने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। समझ में आया? तब कहे, दृष्टि में आदरणीय वह, परन्तु वर्तमान में कुछ व्यवहार है या नहीं? होता है। समकितदृष्टि को भक्ति आदि का राग होता है। एक समय की पर्याय है, वह भी वास्तव में तो व्यवहार है। परन्तु वह व्यवहार 'है' इतना जाननेयोग्य है, आदरनेयोग्य नहीं। **परमार्थ में प्रयोजनभूत नहीं है...** लो, यह छठवाँ श्लोक हुआ।

अब सातवाँ नीचे श्लोक (पद) है। छठवाँ है, देखो। वह पाँचवें श्लोक का छठवाँ पद था। अब यह छठवें श्लोक का सातवाँ पद आयेगा। अब छठवाँ श्लोक नीचे है। संस्कृत।

एकत्वे नियतस्य शुद्ध-नयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः,
पूर्णज्ञान-घनस्य दर्शन-मिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शन-मेतदेव नियमा-दात्मा च तावा-नयं,
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः।।६।।

उस ओर अब इसका पद सातवाँ, सातवाँ। वह ३०वें पृष्ठ पर। उसका पद अब आता है। वह संस्कृत में था। अब उसका हिन्दी का पद हिन्दी, उसका अर्थ है हिन्दी अर्थ। **सम्यग्दर्शन का स्वरूप** देखो, है न?

★ ★ ★

काव्य - ७

सम्यग्दर्शन का स्वरूप (सवैया इकतीसा)

शुद्धनय निहचै अकेलौ आपु चिदानंद,
अपनैंही गुन परजायकौ गहतु है।
पूरन विग्यानघन सो है विवहारमाहिं,
नव तत्त्वरूपी पंच दर्वमैं रहतु है।।

पंच दर्व नव तत्त्व न्यारे जीव न्यारौ लखै,
सम्यकदरस यहै और न गहतु है।
सम्यकदरस जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटो बनारसी कहतु है।।७।।

शब्दार्थ:-लखै[१]=श्रद्धान करे। घट=हृदय। गहतु है=धारण करता है।

अर्थ:-शुद्ध निश्चयनय से चिदानन्द अकेला ही है और अपने गुण-पर्यायों में परिणमन करता है। व्यवहारनय में वह पूर्णज्ञान का पिण्ड वा पाँच द्रव्य[२] नव तत्त्व में एकसा हो रहा है। पाँच द्रव्य और नव तत्त्वों से चेतियता चेतन निराला है, ऐसा श्रद्धान करना और इसके सिवाय अन्य भाँति श्रद्धान नहीं करना, सो सम्यक्दर्शन है; और सम्यक्दर्शन ही आत्मा का स्वरूप है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि वह सम्यक्दर्शन अर्थात् आत्मा का स्वरूप मेरे हृदय में प्रगट होवे।।७।।

काव्य-७ पर प्रवचन

शुद्धनय निहचै अकेलौ आपु चिदानंद,
अपनैंही गुन परजायकौ गहतु है।
पूरन विग्यानघन सो है विवहारमाहिं,
नव तत्त्वरूपी पंच दर्वमैं रहतु है।।
पंच दर्व नव तत्त्व न्यारे जीव न्यारौ लखै,
सम्यकदरस यहै और न गहतु है।
सम्यकदरस जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटो बनारसी कहतु है।।७।।

---

१. लखन, दर्शन, अवलोकन आदि शब्दों का अर्थ जैनागम में कहीं तो देखना होता है जो दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है और कहीं इन शब्दों का अर्थ श्रद्धान करना लिया जाता है जो दर्शनमोहनीय के अनुदय की अपेक्षा से है, सो यहाँ दर्शनमोहनीय के अनुदय का ही प्रयोजन है।
२. जैनागम में छह द्रव्य कहे हैं; पर यहाँ कालद्रव्य को गौण करके पंचास्तिकाय को ही द्रव्य कहा है।

यहाँ 'प्रगटो' किया है और कहीं 'प्रगट्यो' किया है। भाई! रूपचन्दजी की (टीका) में 'प्रगट्यो' किया है। प्रगट्यो ही है, ऐसा कि तू आत्मा है वह। वह तो प्रगटो अर्थात् पूर्ण होने की प्रार्थना है। प्रगट्यो है परन्तु पूर्ण हुआ नहीं। समझ में आया?

अब इसका अर्थ। '**शुद्धनय निहचै**' है न? पहला शब्द। **शुद्ध निश्चयनय से चिदानन्द अकेला ही है...** अर्थात् क्या? भगवान आत्मा, यह शरीर और कर्म अर्थात् मिट्टी जड़ है, उससे रहित है। तथा पुण्य और पाप के विकल्प का भाव है, उससे भगवान आत्मा तो अन्दर रहित है तथा समय-समय की पर्याय से भी वह शुद्ध चिदानन्द आत्मा अकेला ही है। आहाहा! शुद्ध निश्चय अर्थात् शुद्ध सत्यदृष्टि से देखें तो... शुद्ध सत्य... निश्चय अर्थात् सत्य। शुद्ध सत्यदृष्टि से यदि आत्मा देखे तो चिदानन्द अकेला ही है। ज्ञानानन्द भगवान अकेला आत्मा है।

मुमुक्षु : सब जीव को.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक यह अपना होकर एक। दूसरे अनन्त आत्मायें तो सब भिन्न-भिन्न हैं। शुद्ध निश्चय... '**शुद्धनय निहचै**' यथार्थ शुद्ध ज्ञान के भाव से देखें तो शुद्ध चिदानन्द भगवान अकेला अनादि-अनन्त ध्रुवस्वरूप विराजता है। आहाहा! समझ में आया?

अभी ऐसा ही है। माना है कि मैं रागवाला हूँ, शरीरवाला हूँ। यह सब भ्रान्ति, भ्रम, अज्ञान, मूर्ख की मूर्खाई है। समझ में आया? वे करोड़ोंपति बड़े मूर्ख हैं, ऐसा यहाँ कहते हैं। बड़े मूर्ख। कोडा, कोडा नहीं होता बड़ा इतना शंखला? हमारे हुआ था। कहा न भाई एकबार, नहीं? दामनगर। जेठालाल सेठ थे। जेठालाल त्रिभोवन। गृहस्थ। दामोदर सेठ के काका। ....हमारे गुरु थे सम्प्रदाय के हीराजी महाराज। वे पात्र रंगे न पात्र। पातरा समझे? खाने के (पात्र)। उसे कोडो कहते हैं... कोडो बड़ा घिसना, रंग निकालना (चाहिए)। वह पातरा नहीं समझते? खाने के पात्र नहीं होते?

मुमुक्षु : जिसमें आहार लेकर आवे वे।

पूज्य गुरुदेवश्री : लकड़ी के बर्तन। रंग होता है न? रंग हो न? पुराने (रंग) को निकाल डालना पड़े। कोडा लाकर... कोडा होता है न? कोडी नहीं, बड़ा कोडा।

इसलिए महाराज ने कहा कि कोडा की आवश्यकता है। वहाँ सेठ बैठे थे। 'महाराज! छोटा चाहिए या बड़ा? बड़ा हो तो मैं हूँ।' वे मजाकिया थे। पैसेवाले थे, इज्जतवाले, पैसेवाले। बाप-दादा भी श्रावक थे। 'महाराज! छोटा कोडा चाहिए या बड़ा? बड़ा कोडा तो मैं हूँ' कहे। शरीर बड़ा लगता था। पैसेवाले व्यक्ति थे, इसी प्रकार यह सब कोडा है, कहते हैं, आत्मा के भान बिना। ऐसा कहते हैं। पोपटभाई!

मुमुक्षु : आपके पास तो कोडा ही कहलाये न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वे सब रंक मनुष्य सेठिया को माने। जिसे पैसे की रुचि है न, रुचिवाला, वह जिसके पास पैसा है, उस पैसेवाले को बड़ा माने। भिखारी हो, वह पैसेवाले को बड़ा माने। धर्मात्मा तो बड़ा उसे मानते हैं कि जो गुण में बड़े हैं—परमात्मा अरिहन्त, सिद्ध वे बड़े हैं। आहाहा!

शुद्ध निश्चय से देखें... निश्चय अर्थात् शुद्ध—सच्ची दृष्टि से देखें, तो चिदानन्द भगवान अन्दर ज्ञानानन्द अनादि-अनन्त... सन्तों को और धर्मात्माओं को आदरणीय ऐसी चीज़ अनादि-अनन्त चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा है। आहाहा! वह कहाँ गया? कहे। तू भूला और तू चूका है उसमें, इसलिए तुझे दिखता नहीं। आहहा! पर को देखने गया, वहाँ अपने को देखना भूल गया। पर को देखने गया यह पैसे को, इस धूल को, यह और यह... होली में सुलगा...। अन्दर चैतन्य शीतल... शीतल... शान्तरस का कन्द प्रभु, वह इसे दृष्टि में खो गया। जिसकी दृष्टि में पुण्य और पाप और उसके फल की महत्ता—अधिकता दिखती है, उसे आत्मा चिदानन्द अकेला खो जाता है। आहाहा! वस्तु अन्दर वस्तु है (उसे) शुद्ध निश्चय से देखो (तो), सच्ची सत्य त्रिकाल स्वभाव को पकड़नेवाली दृष्टि से देखें (तो) चिदानन्द अकेला है। ऐसी अन्तर दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा!

और अपने गुण-पर्यायों में परिणमन करता है, है न? **अपने ही गुन परजाय को गहतु है...** क्या कहते हैं? भगवान आत्मा ज्ञान—समझ का और आनन्द का पिण्ड प्रभु अपने गुणों की परिणति को ग्रहता है। वह राग को और विकल्प को और पर को ग्रहता नहीं। आहाहा! वह परिणमन गुण की पर्याय में करता है, ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा

सच्चिदानन्द प्रभु सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव ने जो कहा.... ऐसे तो सच्चिदानन्द बहुत से कहते हैं, परन्तु उसके भाव की खबर नहीं। सहज अनादि-अनन्त ऐसा भगवान अकेला होने पर भी, कहते हैं कि वर्तमान में उसकी निर्मल (पर्याय) शक्ति—गुणरूप से परिणमती है, परिणमती है, उसे आत्मा कहते हैं। राग और पुण्य और विकाररूप से परिणमे, (वह) आत्मा नहीं। आहाहा! पर का कर दूँ, व्यापार-धन्धे में तल्लीन होकर उसमें पैसे बढ़ा दूँ, पैदा कर लूँ (ऐसा माननेवाला) वह तो मूढ़ पर का स्वामी होकर अनात्मा होता है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं, पुण्य और पाप के रागरूप परिणमता है, वह आत्मा नहीं। भाई! आहाहा!

पाठ में ही है न? '**शुद्धनयतो व्याप्तुर्य दस्यात्मनः पूर्णज्ञान घनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक**' अपने को ग्रहता है, ऐसा कहते हैं। अपने में व्याप्त है, ऐसा। '**व्याप्तु**' है न शब्द? व्यापता है, ऐसा। वस्तु है भगवान आत्मा, वह ज्ञान और आनन्द का धाम वस्तु अन्दर है। वह स्वयं आनन्द और ज्ञानरूप से हो, उसे आत्मा कहते हैं। पररूप से तो होता नहीं, पर को करता तो नहीं, परन्तु शुभ और अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, कामने के भाव, उस विकाररूप आत्मा परिणमता नहीं। वह परिणमे, उसे आत्मा कहते नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? धर्म का मार्ग, बापू! जगत से अलग प्रकार का (ऐसा) परमात्मा तीर्थंकरदेव का मार्ग है। लोगों को मिला नहीं, इसलिए उन्हें ऐसा लगता है कि यह तो बहुत ऊँची बात है। ऊँची नहीं, पहली धर्म की यह बात है। सुखी होने की रीति और पंथ हो तो यह है। बाकी सब दु:खी होने के रास्ते दौड़ रहे हैं। मुठ्ठियाँ बाँधकर दौड़ रहे हैं।

कहते हैं, '**अपनैंही गुन परजायकौ गहतु है।**' क्या कहते हैं? यह वस्तु जो है शुद्ध आनन्दघन, वह वस्तु और उसके सन्मुख होकर अन्तर्मुख दृष्टि होना, वह सम्यग्दर्शन। अब वह आत्मा अपने गुण जो शुद्ध, उसरूप परिणमता है, इसलिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप वह आत्मा परिणमता है। परिणमता है अर्थात् समझ में आया? उसरूप से अवस्था में होता है। अरे! कठिन भाषा, भाई! समझ में आया? '**शुद्धनय निहचै अकेलौ आपु चिदानंद**'। अकेला आपु चिदानन्द, चिदानन्द डाला न साथ में। ....तथापि आपु अर्थात् स्वयं, ऐसा हो गया। शुद्ध निश्चयनय से अकेला आप चिदानन्द स्वयं है।

'**अपनैंही गुन परजायकौ गहतु है।**' अपनी शुद्ध पर्याय में परिणमन करता है, देखो! पाठ में है न! गुण-पर्याय अर्थात् गुण की अवस्थारूप परिणमता है, ऐसा कहना है। गुण तो गुणरूप से त्रिकाल है। वस्तु जो है आत्मा, वह आनन्द और ज्ञान का पूर्णरूप और उसमें जो ज्ञान और आनन्द है, वह ज्ञान और आनन्दरूप परिणमे अर्थात् हो—यह उसके द्रव्य, गुण और पर्याय है। आहाहा! समझ में आया इसमें? द्रव्य, गुण और पर्याय। यह शब्द भी सुने न हों। कितने वर्ष हुए? ऐई प्रकाशदासजी! द्रव्य, गुण और पर्याय। सुना तो नहीं।

देखो, तीन चीज़ डाली इसमें। आत्मा—वह वस्तु और उसका चिदानन्द—वह गुण। वह त्रिकाली वस्तु है, उसे सम्यग्दर्शन द्वारा प्रतीति करना। प्रतीति होने से वह आत्मा गुणरूप से परिणमता है, अर्थात् ज्ञान और आनन्द की प्रतीति, रमणता, ज्ञानरूप परिणमता है—होता है। तो वह द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है और उसका परिणमना, वह शुद्ध है। अशुद्ध परिणमन, वह आत्मा का नहीं। स्त्री, पुत्र तो एकओर रह गये अब। उसका धन्धा और बड़ा उपाधि का.... भगवान 'जड़ेश्वर'... जड़ का स्वामी माने जड़ का मालिक... यह सब करे वह तो कहीं रह गया। यहाँ तो कहते हैं कि जो आत्मा होकर आत्मा जाना, वह आत्मा तो पवित्रता के परिणामरूप परिणमना, वह रूप उसका है। आहाहा! समझ में आया? अर्थात्?

शुद्ध ज्ञायक ध्रुव तत्त्व है, वह चिदानन्द द्रव्य है। स्वभाववाला (अर्थात्) स्वभाववान। स्वभाववाला—स्वभाववान। ऐसी जहाँ दृष्टि हुई तब, कहते हैं कि उसका स्वभाव ही ऐसा है कि गुण अर्थात् श्रद्धारूप से परिणमना, ज्ञानरूप से होना, चारित्ररूप से होना, आनन्दरूप से होना, शुद्धतारूप से होना, शान्तिरूप से होना, स्वच्छतारूप से होना। वह ऐसा होता है वह, उस-उस गुण की वह पर्याय वह उसकी है। रागादि का अन्दर विकल्प हो, वह भी उसका नहीं है। आहाहा! जेठालालभाई! यह ऐसा मार्ग है। मार्ग तो ऐसा है। वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकर, अरबों देवों के समुदाय में इन्द्रों की उपस्थिति में और गणधरों की हाजिरी में भगवान ऐसा फरमाते थे। वह बात यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। वही बात अमृतचन्द्राचार्य ने श्लोक द्वारा (कही), उसका

अर्थ यहाँ बनारसीदास पद्य में—हिन्दी के पद्य में कहते हैं। आहाहा! है न अन्दर है या नहीं? उस शब्द का अर्थ होता है या नहीं? बढीया! आहाहा!

'शुद्धनय निहचै अकेलो आपु चिदानंद' अपने ही गुण... देखो! रागादि अपने गुण की पर्याय नहीं, ऐसा कहते हैं। यह व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प वह अपने—स्वयं के गुण की पर्याय नहीं। आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र को मानने का जो विकल्प है, वह अपनी पर्याय नहीं। गजब बात है न! अरे! शुद्ध को तो कहीं शुद्ध पर्याय हो या शुद्ध को अशुद्ध हो? उसकी खान में कहाँ अशुद्धता पड़ी थी? वह तो पवित्रता का पिण्ड प्रभु आत्मा है। पवित्रता के वीतराग निर्दोषदशारूप हो, वह उसकी पर्याय है। आहाहा! उसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य का जो आदर करे, उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञानरूप परिणमन होता है। ऐसा ही उसका स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। भाई!

जो ऐसी चीज़ है, उसकी जो दृष्टि करे, तो वह गुण का—उसका द्रव्य का स्वभाव ही ऐसा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, शान्ति, आनन्दरूप होना, वही उसका स्वभाव है। समझ में आया? पोलमपोल जैसा लगे नये लोगों को। वह क्या कहते हैं, ऐसा शब्द? भगवान के दर्शन करना, मन्दिर में जाना, णमो अरिहंताणं... णमो सिद्धाणं... भगवान की स्तुति करना। 'हे प्रभु! शिवमग हमको देना रे' 'महाराज, शिवपद हमको देना।' भगवान के पास है तेरा शिवपद? यहाँ तो कहते हैं कि वह शिवस्वरूप भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति, ऐसी जहाँ श्रद्धा की, तो श्रद्धारूप परिणमना, वही उसका स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप से परिणमना, वह उसका स्वभाव नहीं था, परन्तु उठाईगीर ने राग मेरा और पुण्य मेरा, ऐसा परिणमकर अज्ञान खड़ा किया था। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

छोटी-छोटी उम्र के लोग चले जाते हैं, देखो न! दो दृष्टान्त अभी बन गये न! तुम्हारे नहीं महाजन में? कचराभाई की पुत्री का पुत्र। कचराभाई क्या, देवशीभाई। भगवानजीभाई के बड़े भाई। एक है न, वे सब आते हैं न। पुत्री का पुत्र २२-२३ वर्ष का, लो। छह महीने का विवाह। शॉर्ट (इलैक्ट्रीक शॉक)। ऐसा एक यहाँ हुआ... चूड़ा में एक लालीयाद है। लालीयाद न? दरबार, जमींदार। उसका लड़का २३ वर्ष का, छह

महीने का विवाह। अमेरिका भेजा। यहाँ कितनी ही जमीन बेचकर... जमीन बेच-बेचकर पढ़ाया। लड़का होशियार था। छह महीने के विवाह में वहाँ गया। वहाँ उसे शॉर्ट लगा, समाप्त हो गया। आहाहा! और उसमें हो क्या? वहाँ जड़ का ऐसा ही होता है। अरे! जो करना (चाहिए) था, वह किया नहीं और नहीं करने का करके जिन्दगी खोकर बैठा। अब वह जिन्दगी कब मिले? आहाहा!

कहते हैं कि '**अपनैंही गुन परजायकौ गहतु है।**' इन्होंने भाषा रची है न! यह ग्रहण करे... भगवान आत्मा तो निर्मल पर्याय को ग्रहण करता है, ऐसा कहते हैं। व्यवहार को ग्रहण करता है या निमित्त को ग्रहण करता है, ऐसा उसके स्वरूप में नहीं है। आहाहा! भिन्न व्यवहार और निमित्त है, उसे जाने, परन्तु ग्रहे नहीं। कठिन काम भाई! ऐसा धर्म होगा वीतराग का? आहाहा! कठिन बातें हैं! '**पूरन विग्यानघन सो है विवहारमांहि।**' अब कहते हैं, प्रभु आत्मा तो पूर्ण घन है। जैसे बड़ी शिला हो न बर्फ की। शीतल बर्फ की शिला, पाँच मण की और दस मण की। उसी प्रकार भगवान आत्मा तो शीतल आनन्द और शान्ति की शिला है। यह देह के रजकण से भिन्न अरूपी शिला है। आनन्द और शान्ति के रस से भरपूर शिला है।

कहते हैं, वह '**पूरन विग्यानघन**' इतना। '**सो है विवहारमांहि।**' भेद में '**नव तत्त्वरूपी पंच दर्वमैं रहतु है।**' भेद में संवर और निर्जरा और आस्रव और बन्ध की पर्याय में रहता है व्यवहार से। निश्चय से उसमें नहीं रहता। आहाहा! पाँच द्रव्य... देखो, **पूर्ण ज्ञान का पिण्ड वा पाँच द्रव्य, नव तत्त्व में एकसा हो रहा है**' भगवान तो अकेला... पहले कहा था भिन्न। परन्तु वर्तमान दशा में राग, पुण्य, दया, दान, काम, क्रोध के विकल्प और उसका अभाव होकर संवर, निर्जरा, मोक्ष की पर्याय हो—उन नौ रूप से पर्याय में होता है। परन्तु वास्तव में उसका द्रव्य है—वस्तु है, वह नौ रूप होता नहीं। गजब बात!

देखो! यह बनारसीदास। व्यभिचारी / शृंगारी (कवि) थे। गुलाँट खा गये। सत् समागम हुआ, पूरी दिशा पलट गयी। अरे! हम तो आत्मा हैं। हम अतीन्द्रिय आनन्द के घन प्रभु हैं। हमारा परिणमन तो शुद्ध हो। वस्तुदृष्टि से विज्ञानघनरूप से होने पर भी अवस्था में ऐसे नौ भेद होते हैं। मैं जीव हूँ। यह अजीव है—ऐसा ज्ञान करके भेद

व्यवहार में... '**नव तत्त्वरूपी पंच दर्वमैं रहतु है।**' गति करने की पर्याय, स्थिर होने की पर्याय, नयी हो ऐसी परिणमन की पर्याय, उसे राग की पर्याय, उसमें व्यवहार से रहता है, ऐसा कहने में आता है। '**पंच दर्व नव तत्त्व न्यारे जीव न्यारो लखे।**' यहाँ पाँच द्रव्य लिये हैं। काल को लिया नहीं, काल को लिया नहीं। नीचे है न जिनागम में, 'प्रवचनसार' में आता है। नीचे लिखा है।

देखो, **जैनागम में छह द्रव्य कहे है, पर यहाँ कालद्रव्य को गौण करके पंचास्तिकाय को ही द्रव्य कहा है।** नीचे वह '**लखन**' है न '**लखन। लखन, दर्शन, अवलोकन आदि शब्दों का अर्थ जिनागम में कहीं तो देखना होता है जो दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है और कहीं इन शब्दों का अर्थ 'श्रद्धान करना' लिया जाता है, जो दर्शनमोहनीय के अनुदय की अपेक्षा से है, सो यहाँ दर्शनमोहनीय के अनुदय का ही प्रयोजन है।**'

देखना वह। दर्शन उपयोग लिया। '**न्यारौ लखै**' है न उसमें? भगवान आत्मा तो, पाँच आकाश (आदि अजीव) द्रव्य, अनन्त आत्मायें, अरे! अनन्त सिद्ध, गुरु, शास्त्र— उनसे यह आत्मा तो अत्यन्त भिन्न है। **पंच द्रव्य, नव तत्त्व न्यारे...** यह सब न्यारे / भिन्न हैं। आहाहा! संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय भी द्रव्य से भिन्न है। भारी कठिन, भाई! लोगों को अभ्यास नहीं होता न... यह वस्तु एकरूप चिदानन्द प्रभु अनादि-अनन्त ध्रुव सत् है, वह कहीं नौ पर्यायरूप हुआ नहीं। व्यवहार में है, परन्तु निश्चय हुआ नहीं। वह न्यारा जीव है। उससे भगवान अत्यन्त भिन्न है। '**न्यारौ लखै,**' लखे अर्थात् श्रद्धा करे, ऐसा लेना। समझ में आया? '**लखै**' है न। '**लखै**' अर्थात् जाने, ऐसा यहाँ नहीं लेना। श्रद्धा करे, ऐसा लेना।

'**सम्यकदरस यहै और न गहतु है**' उसका नाम सम्यक्दृष्टि कि जो अखण्ड आत्मा को —नौ तत्त्व और छह द्रव्य-पाँच द्रव्य से भिन्न, ऐसे आत्मा को—अन्तर में श्रद्धा करे, अनुभव करे, माने, वह सम्यग्दर्शन है। उसका नाम सच्ची दृष्टि और सम्यग्दर्शन कहा जाता है। लो, यह कहे, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन, नौ तत्त्व की श्रद्धा करना (वह सम्यग्दर्शन)। यहाँ तो नौ तत्त्व से न्यारा श्रद्धा करे, ऐसा कहते हैं।

पण्डितजी! है या नहीं उसमें? आहाहा! वे कहे, नौ तत्त्व को मानना। उसमें ही है न यह कि नौ तत्त्व का अनुभव, वह मिथ्यात्व है। उसमें ही है कलश में।

कलशटीका (श्लोक) ६ में—'**एकत्वे नियतस्य**' है न। यह है, देखो। नौ तत्त्व—'जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य-पाप '**सन्ततिम्....** अनादि सम्बन्ध को छोड़कर। क्योंकि संसार अवस्था में जीवद्रव्य नौ तत्त्वरूप परिणमा है, वह तो विभाव परिणति है, इसलिए नौ तत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्या है। यह तो अशुद्ध लिये हैं संवर-निर्जरा को। समझ में आया? यह अशुद्ध लिया। वे सच्चे (निर्मल) संवर, निर्जरा की बात नहीं है। अनादि की बात है न! राजमल्ल टीका। सेठ है या नहीं तुम्हारे घर में? है? फिर देखी है किसी दिन? नहीं, वह नहीं। ऐसे पकड़ में आ जाये उसमें। रखने की चीज़ है वह। देखने की-जानने की चीज है?

कहते हैं, पाँच द्रव्य हैं आकाश, काल इत्यादि, उनसे यह भगवान अत्यन्त भिन्न है। अपनी अस्ति—अपना अस्तित्व—अपना होनापना, दूसरे के अस्तित्व के कारण अस्तित्व नहीं। आहाहा! दूसरे के अस्तित्व से इस भगवान आत्मा का कायम का अस्तित्व अत्यन्त नौ तत्त्व और पाँच द्रव्य से निराला अस्तित्व है। '**सम्यक्दरस जोई**' उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, ऐसा कहते हैं। उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। छहढाला में आता है न, छहढाला में। अन्य द्रव्य से भिन्न आत्मद्रव्य...

मुमुक्षु : परद्रव्य से भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परद्रव्य से भिन्न अपना आत्मा.... आहाहा!

कहते हैं कि '**सम्यक्दरस जोई**' वह सम्यग्दर्शन, ऐसा। '**आतम सरूप सोई**' वह सम्यग्दर्शन है, वह आत्मा का स्वरूप है, ऐसा कहते हैं। उसका स्वभाव है, वह परिणमा है, वह उसका स्वरूप है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सम्यग्दर्शन आत्मा अखण्ड पूर्णानन्द है, ऐसा जो भान हुआ, श्रद्धा हुई, वह आत्मा का स्वरूप और स्वभाव ही है वह तो। राग और दया, दान और व्रत, सब विकल्प, वे कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं। समझ में आया? '**आतम सरूप सोई, मेरे घट प्रगटो बनारसी कहतु है।**' मेरे ज्ञान में पूर्ण दशा प्राप्त होओ, सर्वज्ञपद पूर्ण। ऐसा बनारसीदास सिद्धपद को अपने में आमन्त्रण

देते हैं। आओ, सिद्धपद पूर्ण होओ.... होओ.... है न अन्दर यह? **बनारसीदासजी कहते हैं कि वह सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा का स्वरूप मेरे हृदय में प्रगट होवे...** लो, छठवें श्लोक का सातवाँ पद हुआ। अब सातवें श्लोक का आठवाँ पद। सातवाँ श्लोक है नीचे।

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नव-तत्त्व-गतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति।।७।।

आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य के कलश। जीव की दशा पर अग्नि का दृष्टान्त। आठवाँ। इस श्लोक का पद है भावानुवाद।

★ ★ ★

काव्य - ८

जीव की दशा पर अग्नि का दृष्टान्त (सवैया तेईसा)

जैसैं तृण काठ बांस आरने इत्यादि और,
ईंधन अनेक विधि पावकमैं दहिये।
आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप,
दीसै एक दाहक सुभाव जब गहिये।।
तैसैं नव तत्त्वमैं भयौ है बहु भेषी जीव,
सुद्धरूप मिश्रित असुद्ध रूप कहिये।
जाही छिन चेतना सकतिकौ विचार कीजै,
ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये।।८।।

शब्दार्थः-आरने=जंगल के। दाहक=जलानेवाला। अलख=अरूपी। अभेद= भेदव्यवहार से रहित।

अर्थः-जैसे कि घास, काठ, बाँस वा जंगल के अनेक ईंधन आदि अग्नि में जलते हैं, उनकी आकृति पर ध्यान देने से अग्नि अनेकरूप दिखती है, परन्तु यदि मात्र

दाहक स्वभाव पर दृष्टि डाली जावे तो सब अग्नि एकरूप ही है; उसी प्रकार जीव (व्यवहारनय से) नव तत्त्वों में शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र आदि अनेक रूप हो रहा है, परन्तु जब उसकी चैतन्यशक्ति पर विचार किया जाता है, तब वह (शुद्धनय से) अरूपी और अभेदरूप ग्रहण होता है।।८।।

काव्य-८ पर प्रवचन

जैसैं तृण काठ बांस आरने इत्यादि और,
ईंधन अनेक विधि पावकमैं दहिये।
आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप,
दीसै एक दाहक सुभाव जब गहिये।।
तैसैं नव तत्त्वमैं भयौ है बहु भेषी जीव,
सुद्धरूप मिश्रित असुद्ध रूप कहिये।
जाही छिन चेतना सकतिकौ विचार कीजै,
ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये।।८।।

आहाहा! पहले तो समझण में दिक्कत, अब इसे सम्यक्त्व हो कब? अरे! वाद और विवाद और झगड़ा। परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव क्या कहते हैं, उसकी खबर नहीं होती। अपनी कल्पना से माने (कि) हो गई हमको श्रद्धा और हमको हो गया धर्म। उसमें मन्दिर कुछ बनावे दो लाख, पाँच लाख, दस लाख का और दस लाख खर्च किये हों किसी ने फिर एक बार। अब दो-पाँच करोड़ की पूँजी हो तो दस लाख दे। हो गया धर्म। धूल में भी धर्म नहीं, सुन न! ऐ पोपटभाई! आहाहा! मन्दिर कौन बनाता था? किसने बनाया है? वह तो जड़ से बना है। मन्दिर जड़ से—पुद्गल से बनता है। बनाने का भाव जिसका हो, उसके पास शुभराग हो पुण्य को, तो वह पुण्यभाव है। आहाहा! अन्दर। आनन्द मन्दिर... आता है न कहीं स्तवन में। आनन्द मन्दिर खोलो... मंगलमय मन्दिर खोलो... आता है। भक्ति करे (परन्तु) अर्थ कुछ समझे नहीं। आनन्दमय मंगल खोलो। आत्मा आनन्द... आनन्द... आहाहा!

कहते हैं, '**जैसे तृण काठ बांस आरने इत्यादि, ईंधन अनेक विधि पावकमैं दहिये।**' है न? जैसे कि काष्ठ की अग्नि... काष्ठ की अग्नि लकड़े की, बाँस की, जंगल के अनेक ईंधन आदि... वह आया न **आरने** (शब्द) उसका अर्थ किया। **आरने** अर्थात् जंगल। **ईंधन आदि अग्नि में जलते हैं, उनकी आकृति पर ध्यान देने से अग्नि अनेकरूप दिखती है।** क्या कहते हैं? पत्ते, लकड़ी, कण्डे, सूखा गोबर। अग्नि का आकार देखो तो भिन्न-भिन्न लगे, परन्तु उसका दाहक स्वभाव देखो तो दाहक... दाहक... दाहक... दाहक... दाहक एकरूप है। दृष्टान्त दिया थोड़ा।

घास सुलगा हुआ हो, लकड़िया सुलगती हों, जंगल में अनेक बाँस हों। अग्नि में जलते हैं। उनकी आकृति अर्थात् बाहर का आकार देखो तो लकड़ी के आकार अग्नि, यह आकार... आकार... आकार, पत्ते के आकार अग्नि—ऐसे आकार दिखे पर्याय के ऊपर। **उनकी आकृति पर ध्यान देने से अग्नि अनेकरूप दिखती है।** वह तो ऊपर के आकार भेद से अग्नि भिन्न-भिन्न दिखती है। आहाहा! स्वभाव तो अकेला अग्नि दाहक... दाहक... दाहक... दाहक... दाहक... दाहक। समझ में आया?

कण्डा हो न रोढां, सूख गया हो, वह गोबर।

मुमुक्षु : सूखे गोबर का अलग होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूखे गोबर का अलग आकार होता है। सूखा गोबर होता है न। अडाया अर्थात् जंगल में यों ही पड़ा हो और सूख गया हो। महिलायें लेकर आवे न सवेरे में। और कण्डा अर्थात् घर में लाकर भूसा डालकर बनावे। जले तो उसका आकार अलग हो, सूखे का (आकार) अलग हो, कोयला का आकार अलग हो, पत्ते का अलग हो। यह गन्ने के छिलके जलें तो उनका आकार अलग हो, ऊपर ऐसे आकार से।

इसी प्रकार मनुष्य जले तो भी उसका आकार अलग हो। सुलगे सब वह ऐसे। वह ऊपर से उसका आकार मनुष्य जैसा दिखाई दे अग्नि का, परन्तु वह अग्नि का वास्तविक स्वभाव नहीं। अग्नि का तो दाहक स्वभाव देखो तो दाहक... दाहक... दाहक... दाहक... एकरूप है। समझ में आया? कितने दृष्टान्त सरल करके भी उसका एकरूप स्वरूप क्या है, यह बताते हैं। परन्तु यदि '**पावकमैं दहिये**' ऐसा। दिखता है।

'**आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप, दीसे एक दाहक सुभाव जब गहिये।**' परन्तु अग्नि... अग्नि... अग्नि... अग्नि... अग्नि... अग्नि, दाहक... दाहक... दाहक... दाहक... देखो तो एकरूप अग्नि है। उसका आकार-बाकार गौण हो जाता है। समझ में आया? **यदि मात्र दाहक स्वभाव पर दृष्टि डाली जावे तो सब अग्नि एकरूप ही है।** अग्नि है सब। आकार तो वर्तमान दशा में गौण हो जाता है। '**तैसें नव तत्त्वमैं भये है बहु भेषी जीव।**' **व्यवहारनय से नव तत्त्व में शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र आदि अनेकरूप हो रहा है।** संवररूप हो, निर्जरारूप हो, मोक्षरूप हो, रागरूप हो, पुण्यरूप हो, आस्रवरूप हो, बन्धरूप हो, शुद्धरूप हो, अशुद्धरूप हो और मिश्र—संवर और आस्रव।

'**नव तत्त्व रूप भयो है बहु भेषी जीव।**' आता है न समयसार में कि मोक्ष भी एक वेश है। अवस्था है न मोक्ष? गुण नहीं। संवर, निर्जरा भी एक आत्मा की वीतरागी दशा की अवस्था है। तो कहते हैं, **नव तत्त्वमैं भये है बहु भेषी जीव।**' बहुत वेश मानो धारण किये हों। '**सुद्धरूप मिश्रित असुद्ध रूप कहिये।**' कितनी ही पर्याय निर्मलरूप से होती है, कितनी ही अवस्था मलिनरूप से होती है—ऐसे नौ प्रकार से दिखाई दे। '**जाही छिन चेतना सकतिकौ विचार कीजै।**' परन्तु चेतना... चेतना... चेतना... चेतना... चेतना... चेतना... चेतना देखा तो त्रिकाल एकरूप है। समझ में आया? चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन पूर्ण विज्ञानघन, ज्ञानघन... ज्ञानघन... ज्ञानघन... ज्ञानघन सबमें देखो तो एकरूप है। वे सब भेद गौण हो जाते हैं। समझ में आया?

'**ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये।**' अन्तर चैतन्यशक्ति का सत्त्व देखो तब तो '**छिन**' जिस क्षण देखो, '**अलख अभेदरूप**' उस समय अलख अर्थात् भगवान आत्मा विकल्प से लखा न जाये—जाना न जाये, ऐसा स्वसंवेदन से जाना जाये, ऐसा अलख अभेदरूप है। समझ में आया? जरा सा कठिन तो मार्ग है, परन्तु भाई! इसे जरा अभ्यास नहीं होता, वरना भाषा तो सादी आती है। उसमें कहीं बड़ी संस्कृत व्याकरण पढ़ा हो तो समझ में आये, ऐसा कुछ नहीं है।

वस्तुरूप से... अग्नि से जले हुए लकड़ी, पत्ते के आकार से देखो तो आकृति, आकृति, आकृति भिन्न-भिन्न दिखती है। परन्तु अग्नि... अग्नि... अग्नि... अग्नि...

दाहक... दाहक... दाहक देखो तो एकरूप है। उसी प्रकार आत्मा को अजीव का विकल्प, जीव का विकल्प, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा की पर्यायें—ऐसे देखो तो नौरूप मानो अवस्था है, ऐसा दिखता है। परन्तु वस्तु चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य देखो तो एकरूप है। समझ में आया? देखो, भाषा '**अभेद**' ली है न यहाँ। **चैतन्यशक्ति पर विचार किया जाता है, तब वह (शुद्धनय से) अरूपी और अभेदरूप...** '**अलख**' का अर्थ अरूपी किया। '**अलख**' है न यहाँ, उसका (अर्थ) अरूपी किया। अभेदरूप होता है। एकरूप अरूपी भगवान ध्रुव नित्य दृष्टि में आता है—दृष्टि में आवे, उसे आत्मा कहा जाता है। आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९, माघ शुक्ल ८, बुधवार, दिनांक ३-२-१९७१
जीवद्वार, पद—९, १०

समयसार नाटक, जीवद्वार। इसमें जीवद्वार लिखा हुआ है पृष्ठ-पृष्ठ पर। पण्डितजी! ९वाँ पद हो गया। आठवें श्लोक का ९वाँ पद। अब ९वें श्लोक का १०वाँ पद। ९वाँ श्लोक। ३२ पृष्ठ। है न नीचे।

चिर-मिति नवतत्त्वच्छन्न-मुन्नीयमानं,
कनक-मिव निमग्नं वर्णमाला-कलापे।
अथ सतत-विविक्तं दृश्यता-मेकरूपं,
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ।।८।।

९वाँ (पद) पूरा बाकी है। क्यों? पूरा बाकी है?

★ ★ ★

काव्य - ९

जीव की दशा पर स्वर्ण का दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं बनवारीमैं कुधातके मिलाप हेम,
नानाभांति भयौ पै तथापि एक नाम है।
कसिकैं कसौटी लोकु निरखै सराफ ताहि,
बानके प्रवान करि लेतु देतु दाम है।।
तैसैं ही अनादि पुदगलसौं संजोगी जीव,
नव तत्त्वरूप मैं अरूपी महा धाम है।
दीसै उनमानसौं उदोतवान ठौर ठौर,
दूसरौ न और एक आतमा ही राम है।।९।।

शब्दार्थः-बनवारी=घरिया। लीकु=रेखा। निरखै=देखता है। बान=चमक।

प्रवान=अनुसार। उनमान (अनुमान)=साधन में साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, जैसे धूम्र को देखकर अग्नि का ज्ञान करना।

अर्थ:-जिस प्रकार सुवर्ण कुधातु के संयोग से अग्नि के ताव में अनेकरूप होता है, परन्तु तो भी उसका नाम एक सोना ही रहता है तथा सर्राफ कसौटी पर कसकर उसकी रेखा देखता है और उसकी चमक के अनुसार दाम देता-लेता है; उसी प्रकार अरूपी महा दीप्तवान जीव अनादिकाल से पुद्गल के समागम में नवतत्त्वरूप दिखता है, परन्तु अनुमान प्रमाण से सब हालतों में ज्ञानस्वरूप एक आत्मराम के सिवाय और दूसरा कुछ नहीं है।

भावार्थ:-जब आत्मा अशुभभाव में वर्तता है, तब पापतत्त्वरूप होता है, जब शुभभाव में वर्तता है, तब पुण्यतत्त्वरूप होता है, और जब शम, दम, संयमभाव में वर्तता है, तब संवररूप होता है, इसी प्रकार भावास्रव, भावबन्ध आदि में वर्तता हुआ आस्रव-बन्धादिरूप होता है, तथा जब शरीरादि जड़ पदार्थों में अहंबुद्धि करता है, तब जड़स्वरूप होता है; परन्तु वास्तव में इन सब अवस्थाओं में वह शुद्ध सुवर्ण समान निर्विकार है।।९।।

काव्य-९ पर प्रवचन

जैसैं बनवारीमैं कुधातके मिलाप हेम,
नानाभांति भयौ पै तथापि एक नाम है।
कसिकैं कसौटी लोकु निरखै सराफ ताहि,
बानके प्रवान करि लेतु देतु दाम है।।
तैसैं ही अनादि पुदगलसौं संजोगी जीव,
नव तत्त्वरूप मैं अरूपी महा धाम है।
दीसै उनमानसौं उदोतवान ठौर ठौर,
दूसरौ न और एक आतमा ही राम है।।९।।

जरा सूक्ष्म बात है। कहते हैं कि '**जैसैं बनवारीमैं कुधातके मिलाप हेम**'—

सोना, सोना। सोनी है न, उसकी कुलड़ी होती है न कुलड़ी। क्या कहते हैं वह? सोना उसमें डालकर अग्नि के ताप करे न। धरिया। वह, वह, बस वह। यहाँ है नाम। उसमें नाम है धरिया। बनवारी अर्थात् धरिया। धरिया समझते हैं न? कुलड़ी, उसमें सोना.... कुलड़ी कहे। उसमें अग्नि का ताप दे न! '**जैसें बनवारीमैं कुधातके मिलाप हेम**' सोना में कथीर और चाँदी का भाग होता है। जब उसे ताप देते हैं, तब '**नानाभांति भयौ**' सोना में अनेक प्रकार के भाग पड़े पर्याय में। रंग में तेरहवान, चौदहवान, पन्द्रहवान,... दिखता है। '**तथापि एक नाम है**' वस्तुरूप से देखो तो सोना... सोना... सोना... सोना... यह तो दृष्टान्त है अभी, हों! '**नानाभांति भयौ**' वह सोना कुलड़ी में अग्नि के ताप के कारण अनेक रंग-अवस्था में ऐसे भिन्न-भिन्न रंग का दिखता है। '**तथापि एक नाम है**' वस्तुरूप से देखो तो सोना... सोना... सोना... सोना... सोना। यह तो दृष्टान्त है, हों!

'**कसिकै कसौटी लीकु**' सर्राफ उसकी लीक मारे, कसौटी करे। **लीकु... लीकु** है न। रेखा, क्या कहलाये? रेखा कसौटी पर.... '**निरखै सराफ ताहि**' सर्राफ निरखे कि इसमें कितना वान् है? पन्द्रहवान..., चौदहवान... कितना हुआ? ऐसा सर्राफ देखे। '**बानके प्रवान**' उसकी चमक के प्रमाण में, सोना की चमक के प्रमाण में '**लेतु देतु दाम है**' पैसा ले-दे। उसकी चमक के प्रमाण में दाम दे। कितना वान्?

'**तैसें ही अनादि पुदगलसौं**' अब आत्मा.... सिद्धान्त आता है। यह भगवान आत्मा अन्दर शुद्ध आनन्दकन्द धर्मी। धर्म चीज़ कुछ बहुत अलौकिक है। यह आत्मा आनन्दस्वरूप, सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव परमात्मा ने आत्मा आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यधातु, उसे आत्मा कहा है। परन्तु अनादि पुद्‌गल के संयोग से... जैसे उस कथीर के संयोग से सोना तेरहवान्, चौदहवान, पन्द्रहवान दिखता है, परन्तु सोनारूप से देखो तो सोना... सोना... सोना... सोना सोलहवान ही है। उसी प्रकार यह भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। उसे पुद्‌गल के और कर्म के संयोग के कारण निमित्त से जीव '**नव तत्त्वरूप मैं अरूपी महा धाम है**' नौ तत्त्व, पर्याय में नौ ऐसे भेद पड़ जाते हैं।

जीव, यह अजीव—उनका ज्ञान, राग के परिणाम दया-दान के, वह आस्रव, वह

बन्ध, राग का अभाव होकर स्वभाव का आश्रय करके जितना संवर अर्थात् धर्म होता है, वह भी एक पर्याय है। शुद्धि की उत्पत्ति हो, वह पर्याय है। शुद्धि की वृद्धि हो, वह निर्जरा भी एक पर्याय है। शुद्धि की पूर्णता हो, वह मोक्ष भी एक पर्याय है। पर्याय अर्थात् अवस्था; अवस्था अर्थात् हालत।

मुमुक्षु : कौन सी पर्याय से चलती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सी पर्याय से चले क्या, अपने आश्रय से चलती है। यहाँ तो पर्याय है नौ प्रकार से, इतनी बात है। कर्म के संयोग के निमित्त से पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध—मलिन परिणाम के प्रकार दिखते हैं और उनका अभाव होकर निर्मल संवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसी पर्याय दिखती है। पर्याय में नौ तत्त्व दिखते हैं, ऐसा कहते हैं; वस्तु में नहीं। समझ में आया?

'**नव तत्त्वरूप मैं अरूपी महा धाम है**' जैसे उस सोने में तेरहवान, चौदहवान, ऐसा संयोग के कारण उसे नानाभाँति अनेक प्रकार दिखता है। सोना, सोनारूप से देखो तो सोना... सोना... सोना... सोना... सोना... सोना... शुद्ध ही है। उसी प्रकार आत्मा जिसे धर्म करना है, उसे क्या हो? आहाहा! उसे अन्दर में पुण्य और पाप के विकल्प उठें, वह भी उसकी दशा में दिखते हैं। उनका अभाव होकर संवर, निर्जरा और शुद्धि—संवर, निर्जरा और मुक्ति ऐसी दशा भी दिखती है। ऐसे '**नवतत्त्वगतत्वेऽपि...**' अरूपी महाधाम, वस्तुरूप से देखो तो चैतन्यघन आनन्दकन्द अरूपी एकरूप है। धर्म भारी कठिन! समझ में आया?

भगवान आत्मा अन्दर सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमेश्वर ने—केवलज्ञानी ने देखा, वह आत्मा कहा। उस आत्मा में, जैसे स्वर्ण को कथीर के संग से भिन्न-भिन्न दशा उसमें दिखती है, उसी प्रकार भगवान आत्मा में कर्म के निमित्त के सम्बन्ध और असम्बन्ध में अधर्म की दशा और धर्म की दशा... यह दो प्रकार आ गये, लो! ऐसे नौ दिखते हैं। अधर्मदशा में पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध; धर्म की दशा में संवर, निर्जरा और मोक्ष। समझ में आया? आहाहा!

परन्तु वस्तुरूप से देखो (तो), चैतन्यधाम आनन्दकन्द एकरूप वस्तु है। उसकी

दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन और धर्म होता है। यह तो भारी कठिन काम, भाई! धर्म बाहर से होता था, वह सब अटक गया। धूल भी नहीं होता था, अज्ञानी यह मानता था। वस्तु स्वयं सच्चिदानन्द प्रभु सत् अर्थात् शाश्वत्, ज्ञान और आनन्द ऐसा उसका त्रिकाली स्वरूप है। उस स्वरूप में कर्म के सम्बन्ध से नौ प्रकार की दशायें भेदरूप देखने में आती हैं। तथापि उसे एकरूप देखो तो उसमें भेद है नहीं। कहो, समझ में आया? क्या कहते हैं ऐसा धर्म? हाथ में आना मुश्किल पड़े। आहाहा!

कहते हैं कि '**नव तत्त्वरूप मैं अरूपी महा धाम है**' अखण्ड आनन्दकन्द... शुद्ध ज्ञान और आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द और ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... अनादि-अनन्त उसका ज्ञान और आनन्दस्वरूप एकरूप है। पर्याय में उसके नौ प्रकार दिखते हैं, वह व्यवहार है। निश्चय यह है। पोपटभाई! कठिन बात भाई! धर्म करना हो उसे, यह चौरासी के अवतार के जन्म-मरण के दुःखों का नाश करना हो उसे, क्या करना, यह कहते हैं। वह अखण्ड अभेद चैतन्यमूर्ति... है, है और है। आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द, हों! बाहर के सब मानते हैं कल्पना से, वह तो कल्पना मूढ़ है। पैसे में सुख है और धूल में सुख है। जेठालालभाई! पैसा-बैसा में सुख है, ऐसा मानते हैं न सब? पाँच-पचास लाख हो, वहाँ सुखी हैं, धूल भी नहीं। दुःख का सरदार है, सुन न! खबर कहाँ है इसे भान बिना?

कहते हैं कि ऐसी कल्पना भले यह विकार की हो, परन्तु वह कहीं वस्तु का त्रिकाली स्वरूप नहीं हो जाता। आहाहा! और उस विकार के प्रकार पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध। और उस विकार की अवस्था टलकर स्वभाव का आश्रय करके एकरूप अखण्डानन्द स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, आहाहा! उसमें धीरज से अन्तर का आश्रय और अवलम्बन लेने से जो धर्म की दशा प्रगट होती है, उसके तीन प्रकार—संवर अर्थात् शुद्धि की उत्पत्ति; निर्जरा अर्थात् शुद्धि की वृद्धि; मुक्ति अर्थात् शुद्धि की पूर्णता। परन्तु वे नौ पर्यायें व्यवहार हैं। आहाहा! सेठ! यह तुम्हारे व्यवहार के धन्धे की बात नहीं यह।

मुमुक्षु : वह तो आत्मा के बाहर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूर रहा? यह बीड़ी-बीड़ी के व्यापार का कहीं बहुत दूर रह

गया, कहते हैं। आहाहा! बलुभाई! यह तुम्हारे दवा-बवा के धन्धे की क्रिया तो जड़ में गई पर में। आत्मा में व्यवहार से भी नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

आत्मा अन्दर वस्तु, तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी परमात्मा त्रिलोकनाथ ने जो प्रसिद्ध करके जगत के समक्ष बतलाया, वह आत्मा अन्दर में (एकरूप है)। वर्तमान दशा और अवस्था से देखें तो उसमें वह नौ प्रकार की दशारूप हो, ऐसा दिखता है। पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। परन्तु यदि उसका एकरूप देखो तो त्रिकाल ज्ञायक, ज्ञायक है। जैसे सोना में कथीर के नमित्ति से... अग्नि का ताप देने से कथीर घटता जाता है, सोना निर्मल होता जाता है, ऐसे भेद पड़ें उसकी दशा में, परन्तु सोनारूप से देखो तो सोना... सोना... सोना एकरूप है। समझ में आया?

इसी प्रकार भगवान आत्मा अन्दर वस्तु अनन्त-अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, समाधि, सुख से विराजमान प्रभु है। ऐसा आत्मा, उसे अनादि के कर्म के निमित्त पदार्थ के सम्बन्ध में दया, दान, व्रत आदि के विकल्प, हिंसा, झूठ, चोरी की विकल्प वृत्तियाँ—उसमें अटकना, ऐसा बन्ध और दोनों पुण्य-पाप होकर आस्रव—ऐसी दशायें उसकी—विकार की दिखती हैं और जब तक पूर्ण सिद्ध न हो, तब तक उसे शुद्धि, धर्म की शुद्धि, शुद्धि की वृद्धि भी दिखती है, पूर्ण शुद्ध हो जाये तो मोक्ष। वे सब दशायें व्यवहार से पर्याय में—अवस्था में दिखती है, परन्तु वस्तुरूप से त्रिकाल देखो तो उसमें एकरूप दशा है। समझ में आया?

यह मार्ग है। लोगों ने सुना न हो, इसलिए उन्हें हो जाये कि यह वह कैसा धर्म होगा? यह जैनधर्म होगा यह? ऐई बलुभाई! यह अपवास करना हो न... वर्षीतप कर डाले, एकदम बारह महीने कर डाले, लो। उसमें कुछ समझने का था? उस समय उसे हुआ कि यह कुछ दूसरा किया है और मार्ग है दूसरा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : लखाये न... यह क्या लखाये? आत्मा क्या है, उसका भान हुआ, उसका लखना क्या? आहाहा! चौरासी में अनन्त काल के अवतार, उसमें इसे कर्म के सम्बन्ध से... यहाँ तो संवर आदि लेना है, वे अनादि के नौ हैं, वह उसमें—दूसरे में गये। यह दूसरे में गये। कहो, समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि उसके वस्तु में दो भाग, आत्मा में, हों! पर, पर में रह गया। कर्म, कर्म में और शरीर, शरीर में, वह कहीं आत्मा में है नहीं। अब आत्मा में दो भाग। एक उसकी दशा के भाग में—हालत अवस्था के भाग में नौ प्रकार दिखते हैं। 'मैं जीव हूँ' ऐसा विकल्प; अजीव है वह मुझमें नहीं, ऐसा ज्ञान विकल्प, पुण्य-पाप की वृत्तियाँ, वे दो होकर आस्रव, दो होकर अटका हुआ बन्धभाव। यह विकारी दशा हुई। यह दशायें हैं, कोई त्रिकाली स्वरूप नहीं। इन दशा का अभाव (और) शुद्ध चैतन्यधातु आनन्दकन्द प्रभु वस्तु की दृष्टि करने से जो दशा में धर्म की दशा प्रगट होती है, वह भी व्यवहार है। नयी हुई न! अवस्था है न! वह तो कहीं त्रिकाली रूप नहीं।

फिर से कहते हैं। ठीक कहा वह अच्छा किया। पूछने जैसा है यह, ताँबा के बर्तन की अपेक्षा... ताँबा का या जो हो वह। यह आत्मा शुद्ध चैतन्य धातु आनन्दमूर्ति त्रिकाली है, उसकी दशा में—हालत में पुण्य और पाप के तथा आस्रव-बन्ध आदि अवस्था होती है, वह उसकी दशा में है, वह व्यवहार है। अब त्रिकाली ज्ञायक चिदानन्द ध्रुव धातु ध्रुव-ध्रुव—अविनाशी ऐसा का ऐसा रहता है, उसकी दृष्टि करने से उसकी दशा में शुद्धिरूपी धर्म शान्ति का, आनन्द का शुद्धि अंश आवे, परन्तु वह व्यवहार है। उसमें व्यवहार तो कहाँ गया तुम्हारा बीड़ियों का और विकल्प का व्यवहार।

एक बार बात हुई थी न? भाई! वे जैसंगभाई के पुत्र मंगलभाई को? हाँ, मंगलभाई कहे, 'महाराज! आप व्यवहार (की ना करते हो), परन्तु हमारे व्यवहार करना ना पड़े? रोग हो तो दवा नहीं लाना?' लो। अरे! परन्तु तुम क्या बात करते हो? उसकी यहाँ बात ही कहाँ है व्यवहार की? मिलमालिक है न? जैसंगभाई थे न मिलमालिक। अभी तो आठ करोड़-दस करोड़ है। उसके पिता थे शान्तिलाल, उनके पिता थे जेसंगभाई। जेसंग उजमशी। ... भावनगर आवे तब यहाँ आवे। परन्तु सेठिया पैसे के... भान बिना कुछ नहीं होता। सेठिया तो बड़े मूर्ख होते हैं। ऐई!

ऐसे पूछे हों। कहे, 'व्यवहार की ना करते हो। व्यवहार नहीं, व्यवहार नहीं। तो हमारे रोग हो तो दवा करना या नहीं? यह व्यवहार (करना) नहीं?' परन्तु उस व्यवहार की बात कहाँ है यहाँ?

मुमुक्षु : वह तो जड़ का व्यवहार।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो दूसरी बात हो गयी। आत्मा और उसे तो कुछ सम्बन्ध ही नहीं। यह तो आत्मा में सम्बन्धवाली दशा को व्यवहार कहते हैं। यह लोग कहे वह व्यवहार ही नहीं। .... कहो, समझ में आया? यह बाहर के व्यवहार की बात नहीं।

मुमुक्षु : पिता और पुत्र का व्यवहार....

पूज्य गुरुदेवश्री : पिता को पुत्र कैसा और (पुत्र को) पिता कैसा? ...धूल धूल... कुछ था कब?

यहाँ तो आत्मा वस्तु है। पदार्थ है या नहीं? आत्मा एक वस्तु है या नहीं? और है तो वह त्रिकाली है या नहीं? तो त्रिकाली जो वस्तु है। है, उसकी उत्पत्ति नहीं; है, उसका नाश नहीं और है, वह स्वभाव बिना की वस्तु होती नहीं। ऐसा त्रिकाली स्वभाववाला तत्त्व, उसे द्रव्य कहा जाता है और वस्तु कहा जाता है, उसे निश्चय कहा जाता है और उसकी दशा में—हालत में—वर्तमान पर्याय में—वर्तमान भेद की दशा में पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, वह विकारीदशा, वह व्यवहार, वह असद्भूतव्यवहार। भाई! आहाहा! और भगवान आत्मा वस्तुरूप से त्रिकाली आनन्द का धाम, उसमें अन्तर एकाग्र होने पर—वस्तु में एकाग्र होने पर, जो धर्म की शान्ति और आनन्द की दशा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो, वह सदभूतव्यवहार है। एक समय की पर्याय भी भेदवाला व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया? धर्मी जीव को नौ के भेद, वे हेयरूप से हैं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! एकरूप भगवान ध्रुव नित्य अविनाशी आत्मा, वह आदरणीय और उपादेय है। आहाहा! क्या हो? कभी इस नजर में गया नहीं, इस मार्ग में गया नहीं, यह मार्ग कैसा उसकी इसे खबर नहीं होती। यह सब भटकने के रास्ते के चतुर हो गये सब। आहाहा!

त्रिलोकनाथ परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि भाई! तुझमें दो प्रकार, हों! पर के कारण नहीं और पर में नहीं। भाई! यहाँ तो पर के कारण नहीं, ऐसा सिद्ध करना है वापस। तेरी दशा में ही तेरे कारण से पुण्य-पाप के भाव (होते हैं), वह आस्रव और बन्ध। तेरे कारण से अन्दर स्वभाव में आश्रय होकर संवर, निर्जरा और मुक्ति—शुद्धि, शुद्धि की वृद्धि और पूर्ण शुद्धि तेरी पर्याय में तेरे कारण से, परन्तु वह नौ ही व्यवहार है।

आदरणीय नहीं, हेय है। आहाहा! कठिन बात, भाई! है अवश्य, परन्तु नहीं—ऐसा नहीं। नौ प्रकार हैं सही।

है न, देखो! नौ तत्त्वरूपेत्... नौ तत्त्वरूप अवस्था में है। अरूपी महाधाम आनन्दकन्द प्रभु एकरूप देखने से; जैसे सोना... सोना... सोना... सोलहवान... सोलहवान... सोलहवान... सोलहवान एकरूप दिखता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा... यह वह क्या है आत्मा, वह सुनने को न मिले। मैं कौन, इसकी खबर बिना की सब बातें। आहाहा! कहाँ पहुँचना और कहाँ जाना और कैसे होना (इसकी) खबर नहीं होती और यह जिन्दगी ऐसी की ऐसी व्यर्थ करके समाप्त धूलधाणी। कुछ प्राप्त किया हो पाँच-पचास लाख, वह तो पूर्व का पुण्य जल गया, तब आया है, वह कहीं पुरुषार्थ से नहीं आया। बलुभाई! ऐसा होगा? पूर्व के पुण्य की नोट जो पड़ी है, वह जलती है, तब दिखता है कि यह करोड़-दो करोड़ आये। आये अर्थात् उसके घर में नहीं आये, वहाँ है नजदीक में इतना। उसके पास आया क्या? कि मेरे, यह ममता। आहाहा!

कहते हैं, यहाँ तो ज्ञानी की बात है, हों! धर्मी को भी जब तक पूर्ण शुद्धता—परमात्मदशा—मुक्ति न हो, तब तक उसकी दशा में पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध दशा में विकल्प होते हैं और पूर्ण शुद्धि न हो, तब तक आत्मा त्रिकाली वस्तु के आश्रय से शुद्धता के, निर्विकल्पता के, आनन्द के अंश जो प्रगट होते हैं, वे होते हैं। और पूर्ण आनन्द की दशा प्रगटे, वह मुक्ति, वह भी होती है। परन्तु यह सब व्यवहार है। भेद पड़ा न, इसलिए व्यवहार है।

मुमुक्षु : पूर्णदशा भी व्यवहार?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं? वह व्यवहार। पर्याय है न सिद्धपद, मोक्षपद—अवस्था है। सादि-अनन्त अवस्था है, वह कहीं त्रिकाली वस्तु नहीं। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं.... अरे! यह कैसा धर्म... होगा यह? नये लोगों को तो ऐसा लगे कि इसकी अपेक्षा तो यह करें, करो... करो, सिरपच्ची करते हैं, मरो, करो और मरो। अरे भगवान! धर्म के नाम से भी उल्टा ठगा गया है पूरा। आत्मा प्रभु वस्तुरूप से, ध्रुवरूप से अनादि-अनन्त एकरूप वस्तु है। उसकी दृष्टि करने से उसके सन्मुख होकर

पर्याय, रागादि से विमुख होकर अन्तर की दृष्टि करे, तब उसे धर्म की पहली दशा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, स्थिरता, शान्ति, आनन्द वह शुरुआत होती है। परन्तु है वह व्यवहार; त्रिकाली रूप नहीं। समझ में आया? और पूर्ण निर्मलता हो... वह तो शुरु हुई न पूर्ण निर्मल (दशा), वह कहीं त्रिकाली वस्तु नहीं। मुक्ति कहीं त्रिकाली वस्तु नहीं। स्वयं त्रिकाली है तो मुक्तस्वरूप ही है वस्तुरूप से, परन्तु उसकी दशा में मुक्ति—सिद्धपद हो वह तो नया है। और नया है, इसलिए वह अवस्था है। अवस्था है, इसलिए वह त्रिकाली का एक भेद—भाग है। आहाहा! कठिन बात, भाई! समझ में आया?

कहते हैं, जैसे सोना को उस कुलड़ी में अग्नि का ताप देने से, उसे सोने की वर्तमान दशा में अनेक रंग दिखते हैं। उसकी अवस्था में रंग दिखें न लाल, पीला, लाल, पीला। इसी प्रकार भगवान आत्मा में कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में... वह सम्बन्ध टूटे तो उसका सम्बन्ध था, ऐसा उसका अर्थ है। सम्बन्ध में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य, उसकी पर्याय विकल्प है और उसका सम्बन्ध टूटकर स्वभाव का आश्रय लेकर धर्म की शुरुआत और दशा के स्वाद में आनन्द प्रगट होता है, वह भी शुरुआत हुई और उसकी विशेष शुद्धि हो, वह वृद्धि हुई; पूर्ण शुद्धि हो, वह मुक्ति हुई। पण्डितजी! कठिन बात भाई! ऐसा धर्म.... कहे, दिमाग में प्रविष्ट होना कठिन पडे। अरे भगवान! बापू! सुना नहीं। बात ऐसी है, हों! आहाहा! उसके घर की चीज़ क्या है? सुने बिना भटककर मर गया चौरासी के अवतार में। बाहर में चतुर का बेटा बड़ा कहलाये। बातें करने बैठा हो, वहाँ ऊपर से अलकमलक की उठाये। अलकमलक की, परन्तु अपनी क्या है, उसकी खबर (नहीं)। आहाहा!

कहते हैं, भगवान! एक बार सुन तो सही। तुझमें एक द्रव्य अर्थात् वस्तुरूप से है अस्ति और तुझमें एक अवस्थारूप से है अस्ति, हालतरूप से। एक वस्तुरूप से और एक दशारूप से। उस दशा के प्रकार नौ। जीव, अजीव... विकल्प उठे न, इसलिए नौ प्रकार। वह व्यवहार है, क्योंकि भेदरूप प्रकार है इसलिए। यह अनादि-अनन्त वस्तु नहीं। आहाहा! परन्तु '**नव तत्त्वरूप मैं अरूपी महा धाम**' देखो भाषा ली है। आहाहा! महाधाम... भगवान आत्मा बड़ा आनन्द का धाम है। अविनाशी वस्तु है... है... है...

है... है... है... है... ऐसा अविनाशी आनन्द और ज्ञान का धाम, वह एकरूप है, वह निश्चय का विषय है। वह वास्तव में विषय है। है इसमें, देखो? **जिस प्रकार सुवर्ण कुधातु के संयोग से अग्नि के ताव में अनेकरूप होता है, परन्तु तो भी उसका नाम एक सोना ही रहता है तथा सर्राफ कसौटी पर कसकर उसकी रेखा देखता है और उसकी चमक के अनुसार दाम देता-लेता है।**

इसी प्रकार अरूपी महा दिप्तवान जीव, भगवान चैतन्य चमत्कार भगवान आत्मा... अरे, अरे! अरूपी महा दिप्तवान भगवान अन्दर चैतन्य के नूर का पूर, चैतन्य के प्रकाश का नूर—तेज भगवान है। कौन जाने कहाँ होगा? तू है ऐसा, सुन न! **महा दीप्तवान जीव अनादि काल से पुद्गल के समागम में नव तत्त्वरूप दिखता है...** भेदरूप दिखे, **परन्तु अनुमान प्रमाण से सब हालतों में ज्ञानस्वरूप एक आत्मराम के सिवाय...** यहाँ अनुमान लिया, भाई! अनुमान। अनुमान प्रमाण से देखो तो सब दशा में ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान दिप्तिमान, चमक ज्ञान की चमक, आनन्द की चमक, वह एकरूप त्रिकाल है। समझ में आया?

वह तो कहते हैं कि दया पालो, व्रत करो और अपवास करो। बलुभाई! जाओ, कल्याण हो जायेगा। वर्षीतप करो, कल्याण हो जायेगा। यह वह मुफ्त में करते होंगे यह बलुभाई जैसे लोग? पैसेवाले लोग यह। वर्षीतप किया, खबर है न? उसकी पात्रता थी तो यह बात रुच गयी। भाई! मार्ग तो यह ही है। जेठालालभाई! ऐसा मार्ग है, उसे समझ में तो ले। आहाहा! अरे! इसे कहाँ जाना? कौन सा मार्ग इसका? कहाँ अटक कर पड़ा और रहा। समझ में आया?

कहते हैं, भाई! तू एकरूप त्रिकाली द्रव्य है। वस्तु है न, वस्तु है न, अविनाशी है न! उसकी दशा में भले नौ प्रकार—मैं जीव हूँ और यह अजीव है, ऐसे दिखाई दे नौ प्रकार। प्रकार होने पर भी वह तो दशा के—हालत के प्रकार हैं। वह तो व्यवहार का विषय है, वर्तमान नय का विषय है। त्रिकाली नय से देखें तो अन्दर एकरूप चिदानन्द चित्, चित्शक्ति का चमत्कार, अकेला चित्शक्ति का चमत्कार, चित्शक्ति का चमत्कार त्रिकाल है। आहाहा! कठिन बात, भाई!

‘**दीसै उनमानसौं उदोतवान ठौर ठौर।**’ ठिकाने-ठिकाने देखो तो राग को जाननेवाला, शरीर को जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला है, ऐसा कहते हैं। ‘**उनमानसौं उदोतवान ठौर ठौर।**’ जहाँ-जहाँ देखो वहाँ चैतन्य के चमत्कार से जाननेवाला है वह तो। आहाहा! वह राग को भी जाननेवाला, आस्रव को भी जाननेवाला, संवर को भी जाननेवाला, निर्जरा को भी जाननेवाला, मोक्ष को भी जाननेवाला। आहाहा! जाननेवाला... जाननेवाला... जगह-जगह। भगवान आत्मा ज्ञातादृष्टा चिद्घन। **अनुमान प्रमाण से सब हालतों में ज्ञानस्वरूप एक आत्मराम के सिवाय दूसरा कुछ है नहीं।** त्रिकाल देखने से ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान। उसमें भेद-बेद है (नहीं)। आहाहा! लोगों को कठिन पड़े। कभी अभ्यास नहीं होता, सुना नहीं। जाति को कभी देखा नहीं, परन्तु देखना कैसे, इसकी खबर नहीं। समझ में आया?

एक आत्मराम के सिवाय और दूसरा कुछ नहीं है। लो! एकरूप चिद्घन प्रभु, अतीन्द्रिय अमृत का सागर एकरूप अनादि-अनन्त, उसमें कोई दूसरी चीज़ नहीं है। शरीर, वाणी तो नहीं, कर्म नहीं, पैसा नहीं, कीर्ति नहीं बाहर की, वह धूल में गयी बाहर में। परन्तु उसमें यह नौ भेद भी नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया? मक्खन है वीतरागदर्शन का। ‘**दूसरौ न और एक आतमा ही राम है।**’ आतमराम... आतमराम... आतमराम भगवान आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... अतीन्द्रिय का पिण्ड, अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड, अतीन्द्रिय ज्ञान का खजाना एकरूप त्रिकाल है। किसलिए खजाना कहते हैं? समझ में आया? आहाहा! पर्याय तेरा व्यवहार और द्रव्य तेरा निश्चय, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पण्डितजी! यह संवर, निर्जरा, मोक्ष को व्यवहार में डाला। भेद है न भेद, (इसलिए) व्यवहार (कहा) है। आहाहा!

भावार्थ—**जब आत्मा अशुभभाव में वर्तता है, तब पापतत्त्वरूप होता है...** स्पष्टीकरण किया है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयवासना, उसमें हो तो पापतत्त्व है। शुभभाव में वर्ते। दया, दान, भक्ति, पूजा, नामस्मरण, वह पुण्यभाव है। **और जब शमदम संयमभाव में वर्तता है, तब संवर है।** अन्तर में—अन्तर में राग से हटकर स्वभाव सन्मुख की एकाग्रता हो, तब उसे संयमरूपी संवर है। शम—समता। जैसा उसका वीतरागस्वभाव

है आत्मा का, ऐसा ही वीतरागस्वभाव दशा में प्रगट किया, उसका नाम समता, उसका नाम अतीन्द्रिय में आया, इसलिए इन्द्रिय का दमन। संयम—उस स्वरूप में एकाग्रता हुई, वह संयमभाव, तब संवर होता है। संवर अर्थात् आवरण का अभाव, कर्म का उसे अभाव होता है।

इसी प्रकार भावास्त्रव भावबन्ध आदि में वर्तता हुआ... ऐसे पुण्य-पाप में वर्तता और पुण्य-पाप में अटकता हुआ। भावास्त्रव अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प में वर्तता हुआ। और पुण्य-पाप के राग में अटकता हुआ, वह भावबन्ध। भावास्त्रव और भावबन्ध। अता-पता हाथ आवे ऐसा इसमें कहीं है नहीं। **वर्तता हुआ आस्त्रव बन्धादिरूप होता है**। पर्याय में—अवस्था में पुण्य-पाप के भाव में वर्ते, पुण्य-पाप में अटके, तब आस्त्रव-बन्धरूप होता है। आहाहा!

तथा जब शरीरादि जड़ पदार्थों में अहंबुद्धि करता है... शरीर आदि मैं... मैं... मैं, ऐसा करे, तब अज्ञान से जड़ माने अपने को। शरीर मेरा, पैसा मेरे, धूल मेरी, यह मिट्टी धूल। आहाहा! परन्तु पैसा हो तो यह सब होता है, खर्च होता है, लो। यह जीमण-बीमण कहाँ से हो, पैसा न हो तो? गरीब मनुष्य कर सके? कहो, सेठ! पैसे के कारण पैसे आते हैं, पैसे के कारण से पैसे (जाते हैं)। आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता। आहाहा! अरेरे! एक आँख की पलक फिरे, उसे आत्मा नहीं कर सकता। वह तो जड़ की दशा है। अहंकार करे। ऐसा है न, देखो! अहंबुद्धि करते हैं। मैं यह करता हूँ, इसका मैं करता हूँ, मैं इसका करता हूँ। **तब जड़ स्वरूप होता है।** जड़स्वरूप अर्थात् मैं जड़ हूँ, ऐसा मानता है, ऐसा। पर्याय में जड़बुद्धि हो गयी न! आहाहा! शरीर मैं, राग मैं, पुण्य मैं, पाप मैं—यह तो अचेतनबुद्धि हो गयी। आहाहा!

परन्तु वास्तव में सब अवस्थाओं में... परन्तु वास्तव में तो सभी दशाओं में **वह शुद्ध सुवर्ण समान निर्विकार है...** वस्तुरूप से देखो तो निर्विकारी है। सोना के भेद न देखकर सोना, सोना देखो तो भेद बिना की चीज़ है। उसी प्रकार आत्मा के ऐसे भेद न देखकर, त्रिकाली वस्तु देखने से वह चैतन्यधाम आनन्दकनद है, निर्विकारी है। अर्थात् उसमें कार्य ऐसे शुद्ध और अशुद्ध के कार्य उसमें है नहीं। आहाहा! गजब ऐसा, वह

क्या होगा? यह आतमराम दशा में भेद में वर्ते, वस्तु से अभेद वर्ते। ऐसा है, कहते हैं। समझ में आया? सुवर्णसमान निर्विकार है। अब आया, लो, अनुभव की दशा में सूर्य का दृष्टान्त। ९वाँ, ९वाँ है न!

उदयति न नयश्री-रस्त-मेति प्रमाणं,
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभव-मुपयाते भाति न द्वैतमेव।।९।।

वह पर्याय के भेद कहे न, उन्हें उड़ाया, कहते हैं, अद्वैत अनुभव में द्वैत-फैत है (नहीं)। पर्याय में भेदरूप है अवस्था—उसकी हालत में भेदरूप, वर्तमानरूप, अंशरूप, दशारूप है; वस्तुरूप से त्रिकाल देखने पर उसमें भेद-भेद है (नहीं)। आहाहा!

★ ★ ★

काव्य - १०

अनुभव की दशा में सूर्य का दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं रवि-मंडलके उदै महि-मंडलमैं,
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसैं परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं,
तौलौं कहू दुविधा न कहू पच्छपातु है।।
नयकौ न लेस परवानकौ न परवेस,
निच्छेपके वंसकौ विधुंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहां बाधक हैं,
बाकी राग दोषकी दसाकी कौन बातु है।।१०।।

शब्दार्थः-महि-मंडल=पृथ्वीतल। विलातु है=लुप्त हो जाता है। परवान=प्रमाण। वंसकौ=समुदाय का। परवेस (प्रवेश)=पहुँच।

अर्थ:-जिस प्रकार सूर्य के उदय में भूमण्डल पर धूप फैल जाती है और अन्धकार का लोप हो जाता है, उसी प्रकार जब तक शुद्ध आत्मा का अनुभव रहता है, तब तक कोई विकल्प व नय आदि का पक्ष नहीं रहता। वहाँ नय-विचार का लेश नहीं है, प्रमाण की पहुँच नहीं है और निक्षेपों का समुदाय नष्ट हो जाता है। पूर्व की दशा में जो जो बातें सहायक थीं, वे ही अनुभव की दशा में बाधक होती हैं और राग-द्वेष तो बाधक हैं ही।

भावार्थ:-नय तो वस्तु का गुण सिद्ध करता है और अनुभव सिद्ध वस्तु का होता है, इससे अनुभव में नय का काम नहीं है, प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि प्रमाण असिद्ध वस्तु को सिद्ध करते हैं, सो अनुभव में वस्तु सिद्ध ही है। अत: प्रमाण भी अनावश्यक है, निक्षेप से वस्तु की स्थिति समझ में आती है, सो अनुभव में शुद्ध आत्म-पदार्थ का भान रहता है। अत: निक्षेप भी निष्प्रयोजन है, इतना ही नहीं, ये तीनों अनुभव की दशा में बाधाकारक हैं परन्तु इन्हें हानिकर समझकर प्रथम अवस्था में छोड़ने का उपदेश नहीं है, क्योंकि इनके बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। ये नय आदि साधक हैं और अनुभव साध्य है, जैसे कि दंड चक्र आदि साधनों के बिना घट की सृष्टि नहीं होती। परन्तु जिस प्रकार घट पदार्थ सिद्ध हुए पीछे दण्ड चक्र आदि विडम्बनारूप ही होते हैं, उसी प्रकार अनुभव प्राप्त होने के उपरान्त नय, निक्षेप आदि के विकल्प हानिकारक हैं।।१०।।

काव्य-१० पर प्रवचन

जैसैं रवि-मंडलके उदै महि-मंडलमैं,
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसैं परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं,
तौलौं कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है।।
नयकौ न लेस परवानकौ न परवेस,
निच्छेपके वंसकौ विधुंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहां बाधक हैं,
बाकी राग दोषकी दसाकी कौन बातु है।।१०।।

'जैसे रवि-मंडलके उदै महि-मंडलमैं' जिस प्रकार सूर्य के उदय में भूमण्डल पर धूप फैल जाती है... सूर्य उगे तो श्वेत—सफेद पृथ्वीमण्डल में सफेदाई फैल जाती है। **अन्धकार का लोप हो जाता है,... 'आतप अटल तम पटल विलासु है।'** प्रकाश के कारण से... अटल—फिरे नहीं ऐसा और तमपटल—अन्धकार का पर्दा वहाँ विलातु है—अन्धकार का नाश हो जाता है। सूर्य का प्रकाश जहाँ पड़े, धूप फैलती है (तो) अन्धकार का लोप हो जाता है। **'तैसैं परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं'** आहाहा! भगवान आत्मा अपना निज आनन्दस्वरूप, उसके अनुभव में जाये अन्तर में....

'तैसैं परमातमाकौ' यह परमात्मा अर्थात् आत्मा। परमस्वरूप, ऐसा। परमात्मा अर्थात् परमस्वरूप। नौ भेद का स्वरूप नहीं, परन्तु त्रिकाली स्वरूप। **'परमातमाकौ अनुभौ'**—यह पर्याय। **'रहत जौलौं'** आहाहा! भगवान आत्मा अपने अन्तर्मुख के अनुभव में रहे, वहाँ विकल्प टूट जाता है। निर्विकल्प आनन्द के अनुभव में जब तक रहे, **'तौलौं कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है।'** अनुभव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान जब प्राप्त होता है, तब उसे आत्मा के अनुभव में प्राप्त होता है। समझ में आया?

'तैसैं परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं' जौलौं अर्थात् जब तक, **तौलौ**—तब तक। **'तौलौं कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है'** अखण्ड आनन्द का अनुभव हो, तब तो मैं द्रव्य हूँ या पर्याय हूँ, ऐसे दो भेद भी नहीं रहते। आहाहा! ऐसा चैतन्य साहिबा अपने घर में जब प्रवेश करता है। अपना अविनाशी आनन्दस्वरूप उसे अनुसरकर होना, आनन्द का अनुभव होकर निर्विकल्परूप से जब अनुभव में आत्मा होता है... सम्यग्दृष्टि का आत्मा। समझ में आया?

'तौलौं कहूं दुविधा' कोई विकल्प व नय आदि का पक्षपात नहीं रहता। कोई विकल्प अर्थात् भेद नहीं दुविधा के। वस्तु अनुभव आनन्द... 'अनुभव रत्न चिन्तामणि अनुभव है रसकूप, अनुभव मारग मोक्ष का अनुभव मोक्षस्वरूप।' अपना निजस्वरूप ध्रुवस्वरूप अविनाशी स्वरूप, उसमें एकाग्र होकर अनुभव में आत्मा होता है, तब यह वस्तु एक है, पर्याय से अनेक है—ऐसे भेद अनुभव में नहीं होते। आहाहा! देखो! इसका नाम अनुभव और इसका नाम धर्म। अभी समझण का भी ठिकाना न हो, उसे यह

हो कहाँ से और आवे कहाँ से यह? अरे! चौरासी के अवतार में भव फेरा फिर-फिरकर मर गया। थकता नहीं। आहाहा!

स्त्री के साथ फेरे ले तो चार फिरे, पाँचवाँ नहीं। यह तो प्रकृति के साथ फेरे फिरे अनन्त, तो भी छोड़ता नहीं। राग और द्वेष। विवाह में होता है न चार फेरे फिरे न! मटकियाँ, मटकियाँ व्यवस्थित रखी हों न चारों ओर। चारों ओर.... यहाँ तो कहते हैं कि यह फेरा तो एक बार इतने फिरे। लोन, चार या सात। यह तो अनन्त... अनन्त... अनन्त अवतार... आहाहा! मनुष्य देह, प्राणी देह, देव देह, नारकी का देह, चींटी, कौआ, कुत्ता, कंथवा... आहाहा! भूल गया है...। जहाँ मनुष्य होता है, वहाँ सब भूल गया, हो गया। ऐसे अवतार धारण किये। वह अवतार धारण करने के नाश का उपाय यह है। भगवान आत्मा सचेत जागृतस्वरूप त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकाल वस्तु है, उसकी ओर जाने से अमृत का स्वाद आवे, उस समय अनुभव में उसे 'यह अनुभव करता हूँ और यह अनुभव करनेयोग्य आत्मा है' ऐसा दुविधा भेद नहीं। समझ में आया? आहाहा!

'**न कहुं पच्छपातु है**' नय का या प्रमाण का कोई पक्षपात है नहीं। सिद्ध तो यह करना है न! पक्षपात नहीं कि मैं यह ज्ञान गुणवाला त्रिकाल हूँ, पर्यायवाला वर्तमान में हूँ—ऐसा कोई ज्ञानगुण के एक अंश जाननेवाला ऐसा नय, ऐसा पक्षपात वहाँ है नहीं। समझ में आया? '**नयकौ न लेस**' वहाँ नय विचारता लेश नहीं। नय अर्थात् जो ज्ञान का अंश, एक गुण पर लक्ष्य करे या एक पर्याय पर लक्ष्य करे। वह नय का भेद वहाँ नय है ही नहीं, भेद है ही नहीं। अनुभव करे वहाँ क्या है? समझ में आया? अन्तर अनुभव में नय का लेश नहीं, कहते हैं, प्रमाण की पहुँच नहीं। द्रव्य त्रिकाली है और पर्याय भेदरूप है—ऐसा जो दो का प्रमाण, ऐसा वहाँ विकल्प है (नहीं)। समझ में आया?

निक्षेपों का समुदाय नष्ट हो जाता है। 'निच्छेपके वंसकौ विधुंस होत जातु है।' लो! निक्षेप अर्थात् वस्तु को समझने की पद्धति कि यह नामरूप है, स्थापनारूप है, द्रव्यरूप है या भावरूप है। ऐसे चार प्रकार से पदार्थ को जानने की पद्धति, वह वहाँ रहती नहीं। देखो, यह कोई कहता है कि ऐसा अनुभव सातवें में हो, ऐसा नहीं। आहाहा!

सम्यग्दर्शन होने पर अनुभव में यह बात होती है। आहाहा! कठिन काम, भाई!

'**निच्छेपके वंसकौ**' वंश अर्थात् समूह। '**विधुंस होत जातु है।**' यह 'आत्मा' नाम है और उसकी स्थापना है और उसकी योग्यता है और उसकी वर्तमान प्रगटता—ऐसे प्रकार का वहाँ नाश हो जाता है। '**जे जे वस्तु साधक**' इस नय से वस्तु सिद्ध होती थी कि एक गुण को जानने के लिये नय है और पूरे द्रव्य को जानने के लिये प्रमाण है। वह वस्तु को साबित करने को, अज्ञानियों ने आत्मा कहा, उससे सर्वज्ञ ने (अलग) आत्मा कहा, उसे सिद्ध करने के लिये नय और प्रमाण, निक्षेप अन्दर आते हैं। वह साधक वस्तु कैसी है, यह सिद्ध करने के लिये आते हैं।

'**तेऊ तहां बाधक है।**' आहाहा! वह भी आत्मा के अनुभवकाल में वह सब विघ्न करनेवाली है, कहते हैं। नय का, प्रमाण का विकल्पात्मक ज्ञान सब विघ्न करनेवाला है। आहाहा! समझ में आया? '**जे जे वस्तु साधक**' साधक का अर्थ इसमें लम्बा करेंगे। लम्बा कहते हैं, अर्थात् कि यह वस्तु त्रिकाल है, उसमें अनन्त गुण हैं। एक-एक गुण को साबित करने का एक (एक) नय होता है, ज्ञान का एक अंश। और निक्षेप अर्थात् कि जाननेयोग्य वस्तु के प्रकार—रीति पड़े चार—नाम, आकार, योग्यता और भाव। वे सब वहाँ पहले साबित करने के लिये होते हैं कि वस्तु ऐसी है, भाववाली और द्रव्यवाली, परन्तु अनुभव में फिर ये चार प्रकार नहीं रहते। आहाहा! समझ में आया?

'**जे जे वस्तु साधक हैं।' पूर्व की दशा में जो जो बातें सहायक थी, वे ही अनुभव की दशा में बाधक होती है...** आहाहा! माल तौलने के काल में, लेने के काल में भाव पूछे। है या नहीं? कहे, भाई! पाँच रुपये का सेर है या कितने रुपये का? ऐई! मैसूर आया होगा न तुम्हारे यहाँ से कुछ? जामनगरवाले थोड़े भाव में लें। कितना भाव? एक। कितना लेना है? कि पाँच मण। बाट अच्छे हैं या नहीं? बाट, बाट। बाट पाँच सेरी और दो सेरी। वह निर्णय करे। और काँटा (तराजू)। यह काँटा बराबर है (या नहीं)? और फिर धड़ा करावे। काँटा बराबर है या नहीं? एक ओर पाव भर लाख चिपकायी तो नहीं न? (जिस) ओर माल तोले। भाव... वहाँ तुम कहाँ गये थे? वहाँ तो पडतर... है। परन्तु यह तो भाव ले। सोना ले तो स्वयं आप सम्हाले या नहीं? भाव

पूछे, बाट सच्चे हैं या नहीं? वह लाख छापवाला। क्या कहलाता है? बाट की छाप होती है न सरकारी छाप। और काँटा का घड़ा निश्चित करे। और फिर खाने के समय? खाने के समय स्मरण करते होंगे कि पाँच पैसे का सेर, पाँच पैसे का सेर, पाँच पैसे का सेर, बाट, धड़ा सही था? सेठ! समझ में आया?

इसी प्रकार आत्मा का भाव क्या है त्रिकाली? एक अवस्था क्या है? उसके ज्ञान में पहला इस प्रकार का निर्णय वस्तु की स्थिति की मर्यादा को जानने के लिये ऐसा पहले होता है। परन्तु अनुभव के काल में यह सब नहीं होता। वह खाने के समय उसे स्मरण नहीं करता, उसी प्रकार अनुभव के काल में आनन्द का अनुभव करे, तब वह सब नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? जेठालालभाई! ऐसा मार्ग है। मार्ग तो यह ही है। उसे पहले श्रद्धा में, ज्ञान में तो लेना पड़ेगा न कि मार्ग यह है। समझ में आया? '**जे जे वस्तु साधक हैं, तेऊ तहां बाधक है, बाकी राग दोषकी दसाकी कौन बातु हैं।**' बाकी राग-द्वेष करना और यह बातें वहाँ है ही कहाँ? आहाहा! पुण्य की क्रिया ऐसी और पाप की क्रिया ऐसी, दया-दान ऐसे—यह तो कहीं गया, ऐसा कहते हैं। दया का भाव राग है और हिंसा का भाव द्वेष है—यह तो कहीं गया, वहाँ तो काम भी नहीं अन्दर में, कहते हैं। आहाहा!

पर्दा फाड़ करके अन्दर जाता है, कहते हैं, राग को तोड़कर अन्दर में गया, निर्विकल्प में ऐसे सब भेद-बेद होते नहीं। ऐसा कहते हैं। लोगों को बात सुनने में कठिन लगे। ऐसा मार्ग होगा वीतराग का ऐसा? हमने तो सुना है कि कन्दमूल नहीं खाना, हरितकाय प्रत्येक (वनस्पति) हो, वह खाये, अनन्त काय नहीं खाना, रात्रि में चारों प्रकार का आहार करना (छोड़ना), उपवास आठम-पांखी के करना, हमेशा दो घड़ी एक आसन बिछाकर सामायिक करना... भाई! यह तो सब बातें बाहर की हैं, यह कहीं वस्तु है नहीं। आहाहा! यह धर्म मानते हैं, ऐसा वह धर्म करे, ऐसा कहते हैं। ऐसा धर्म होगा? ऐसा कहीं धर्म नहीं। तो क्या हम कुछ दुकान में बैठकर पाप करते हैं?

सुन न भाई! वह राग का एक नय निक्षेप का विकल्प है न, यह कहते हैं कि मेरा है और उससे मुझे लाभ होगा—यह भी मिथ्यात्वभाव है। उसे साधक कहा, वह तो

वस्तु को सिद्ध—साबित करने को। समझ में आया? अनादि से ऐसा कहा है न, बापू! इसलिए नया ही लगे। अरे! करने का अवसर आया, मनुष्य भव मिला, भव में से निकलने का अवसर (आया)। यहाँ तो टलने की बात है। आहाहा! **अनुभव की दशा में बाधक होती हैं और राग-द्वेष तो बाधक हैं ही।** दया-दान व्रत के विकल्प तो अनुभव में बाधक ही है, आहाहा! साधक नहीं, ऐसा कहते हैं। कषाय की मन्दता की क्रिया, वह आत्मा के अनुभव को सहायता करे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! ऐई! ऐसी बात है। भगवान जहाँ चिन्तामणि रत्न प्रभु, सहजानन्द का समुद्र, जहाँ कल्पवृक्ष फला, उसमें कहते हैं कि इस फलने में कोई राग और नय के, निक्षेप के विकल्प की आवश्यकता नहीं। आहाहा! यह १०वाँ (पद) हुआ। इसका भावार्थ बाकी है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २०, माघ कृष्ण ९, शुक्रवार, दिनांक १९-२-१९७१
जीवद्वार, पद—१०, ११

जीवद्वार। नौवाँ कलश है। बत्तीसवें पृष्ठ पर है। नौवाँ कलश। थोड़ा चला है। भावार्थ.... परन्तु फिर से इसे लेते हैं।

उदयति न नयश्री-रस्त-मेति प्रमाणं,
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभव-मुपयाते भाति न द्वैतमेव।।९।।

नौ का अंक समभाव का है। नौ है न नौ। आत्मा को सम्यग्दर्शन होने पर, प्रथम आत्मा का भान और अनुभव होने पर क्या होता है और क्या नहीं होता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? क्या होता है और क्या नहीं होता, दोनों कहते हैं। इसका पद्य। अनुभव की दशा में सूर्य का दृष्टान्त।

जैसैं रवि-मंडलके उदै महि-मंडलमैं,
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसैं परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं,
तौलौं कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है।।
नयकौ न लेस परवानकौ न परवेस,
निच्छेपके वंसकौ विधुंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहां बाधक हैं,
बाकी राग दोषकी दसाकी कौन बातु है।।१०।।

अलौकिक है। जिस प्रकार '**रवि-मंडलके उदै**' सूर्य का मण्डल उदय हो। सूर्य उदय हो, प्रकाश भूमण्डल पर.... 'भू' अर्थात् पृथ्वी पर। मण्डल अर्थात् पृथ्वी का चक्र। उसमें जब सूर्य उदय हो, तब '**आतप अटल**' तब **धूप फैल (छा) जाती है। (फैल) जाती है 'अटल तम' 'अटत तम पटल विलातु है'** उसके तम (अन्धकार)

का पटल हो... आतप टले नहीं ऐसा तम पटल विलातु है। वह अन्धकार का पड, पड। अन्धकार का पड सूर्य विकास होने पर उसका नाश हो जाता है। '**तैसें परमातमाकौ**' देखो, यहाँ तो परमात्मा, यह स्वयं परमात्मा, लो। अपना निजस्वरूप परम आत्मा अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, स्वच्छता आदि परम स्वरूप जो आत्मा का, उसे यहाँ परमात्मा कहा जाता है।

'**तैसें परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं**' जैसे सूर्य के प्रकाशकाल में अन्धकार विलय हो जाता है, लोप हो जाता है और पृथ्वी पर सूर्य का प्रकाश फैलता है, फैलता है। प्रकाश फैलता है और अन्धकार टलता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा... अर्थ में शुद्धात्मा लिया है, पाठ में परमात्मा है। इसलिए आत्मा अखण्ड अभेद चीज शुद्ध आनन्दघन ऐसा जो अपना परमात्मस्वरूप उसका '**अनुभौ रहत जौलौं**' उसके आनन्द के स्वाद में—अनुभव में रहे तब तक.... वहाँ क्या होता है? '**कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है**' दो (भेद) नहीं वहाँ। 'मैं आत्मा और अनुभव करता हूँ'—ऐसा दोपना भी वहाँ नहीं। कोई विकल्प नहीं, ऐसा लिखा है न उसमें?

'**तोलौ दुविधा न**' 'दुविधा' अर्थात् विकल्प, भेद नहीं। सूक्ष्म बात है। आत्मा अनन्त आनन्द का धाम परम स्वरूप, उसे अन्तर में अनुसरकर अनुभव होने पर अर्थात् प्रथम आत्मा का ज्ञान और सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है? कि उस आत्मा का अनुभव जब तक रहे, तब तक दुविधा नहीं, विकल्प नहीं, भेद नहीं। 'मैं द्रव्य हूँ या पर्याय हूँ या अनुभव करनेवाला हूँ'—ऐसा भेद नहीं, यह यहाँ कहना है। पोपटभाई! कठिन बात! आहाहा!

'**तैसें परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं, तौलौं कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है।**' वहाँ आत्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। अनुभव के काल में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—ऐसे तीन प्रकार का विकल्प भेद भी वहाँ नहीं होता, ऐसा कहना है। मैं अनुभव करता हूँ, अनुभव करनेवाला—ऐसा भी भेद नहीं, तथा मैं जाननेवाला ज्ञाता हूँ और ज्ञान द्वारा जानता हूँ और मैं ज्ञेय हूँ—ऐसा भेद भी अनुभव के काल में नहीं होता। यह सम्यग्दर्शन। भारी सूक्ष्म बात, भाई! पण्डितजी! यह तो दुनिया बाहर का मानकर बैठी

है। यह देव, गुरु, शास्त्र को मानना और नौ तत्त्व मानना। कठिन, भगवान! बापू! वस्तु दूसरी है। परमात्मा तीर्थंकरदेव ने सर्वज्ञपने में जो आत्मा को देखा, सबमें, हों! उनके आत्मा का ऐसा देखा कि वह तो परमस्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द है। ऐसा उन्होंने देखा, ऐसा जब आत्मा अपने को देखने का अनुभव में हो, तब उसे दुविधा नहीं अर्थात् विकल्प नहीं।

दुविधा अर्थात् 'मैं अनुभव करता हूँ या मैं जाननेवाला हूँ'—ऐसा राग का विकल्प अनुभव के काल में (नहीं है)। सूर्य के प्रकाश के काल में... समझ में आया? क्या आया है? बस आयी है? ...दो बस है। यात्री है। है, दिखता है। समझ में आया? आत्मा जब अन्तरंग की यात्रा करता हो, तब क्या होता है, उसकी बात है। पण्डितजी! तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि यह आत्मा, अनन्त ज्ञान, दर्शन और आनन्द का पिण्ड ऐसा आत्मा, उसका पहले ज्ञान करे, जानना आदि नय, निक्षेप, प्रमाण यह आगे कहेंगे, तथापि उसके अनुभव काल में नय, निक्षेप, प्रमाण कुछ है नहीं। समझ में आया?

आत्मा को अनादि का अनुभव पुण्य और पाप के राग और द्वेष का अनुभव है, वह मिथ्यात्वभाव का अनुभव है। समझ में आया? गजब जैनदर्शन सूक्ष्म! शक्ति का वर्णन चला था बोटाद और बीछिंया, दोनों (जगह) माँगा था कि हमारे शक्ति सुनना है। बहुत लोग, हों! शक्ति सुनने में समाये नहीं, इतने लोग। कुछ है, ऐसा हो गया दुनिया को। ...यह कहते हैं कुछ। ... शक्ति अर्थात् आत्मा का स्वभाव। जो त्रिकाल ऐसी अनन्त शक्ति का पिण्ड, उसके अनुभव में फिर शक्ति और शक्तिवान, (ऐसा) भेद है नहीं। आहाहा! ऐसे अनुभव के काल में भेद तो नहीं और पक्षपात नहीं। दो बात है न? '**न कहूं पच्छपातु**'। पक्षपात अर्थात् कि पर्याय एक समय की है व्यवहारनय से, त्रिकाल निश्चयनय से द्रव्य है—ऐसा वहाँ पक्षपात नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया?

'**नयकौ न लेस**।' है उसमें? देखो! **नय विचार का लेश नहीं...** अर्थात् कि आत्मा ज्ञायक त्रिकाल ध्रुव चैतन्यस्वरूप अभेद का लक्ष्य करे, उस ज्ञान को निश्चयनय कहते हैं और जो वर्तमान अवस्था को लक्ष्य में ले, उसे व्यवहारनय कहते हैं। विकल्पात्मक

की बात है। इस नय का वहाँ अनुभव में, नय का—निश्चय और व्यवहार का लेश प्रवेश नहीं। ऐसा मार्ग वहाँ सुना था? आहाहा! वीतराग का मार्ग कुछ है, और लोगों को मार्ग कुछ परोसा गया है।

मुमुक्षु : पाठशाला की भाँति।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाठशाला की भाँति। देखो, हमारे पण्डितजी कहते हैं। यह पाठशाला नहीं, उल्टी पाठशाला है। कहते हैं, भगवान आत्मा वह तो निर्विकल्प वीतरागमूर्ति आत्मा है। ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान का भेद न लेश... आता है न छहडाला में? (छठवीं ढाल, पद ८, ९)। वह इसमें से आया है। समझ में आया?

कहते हैं कि नय के विचार का लेश नहीं। वस्तु स्वयं अखण्ड आनन्द के अनुभव में आत्मा ही हो। चौथे गुणस्थान में हो, पाँचवें में हो या सातवें में हो। समझ में आया? उस समय अनुभव के आनन्द के वेदन के काल में... सूक्ष्म विषय है। है तो हिन्दी। देखो, क्या कहते हैं? भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने जो शास्त्र लिखे, उनकी टीका अमृतचन्द्राचार्य देव ने की। उसका भाव लेकर बनारसीदास ने पद्य बनाये पद्य। उस पद की व्याख्या चलती है कि जब आत्मा में... आत्मा आनन्द और ज्ञायकस्वरूप है, ऐसी अन्तर की अनुभूति होती है। सूक्ष्म! उसका अनुभव, आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप का अनुभव अर्थात् आनन्द का वेदन हो, उस क्षण में धर्मात्मा को ज्ञान के अंश का नय होता नहीं कि 'मैं निश्चयनय से ऐसा हूँ और व्यवहारनय से ऐसा हूँ'। ऐसा होता नहीं। समझ में आया? पण्डितजी! गजब व्याख्या, भाई! '**नयकौ न लेस है**। है न?

नयकौ न लेस परवानकौ न परवेस,
निच्छेपके वंसकौ विधुंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहां बाधक हैं,
बाकी राग दोषकी दसाकी कौन बातु है।।

प्रथम सम्यग्दर्शन, सच्चा सम्यग्दर्शन शुद्ध उपयोग के काल में होता है। पण्डितजी! पुण्य-पाप के विकल्प के काल में यह अनुभव होता नहीं। और अनुभव होता है, वह शुद्ध उपयोग है। पुण्य-पाप का विकल्प तो राग है। राग से रहित जिन सो ही आत्मा...

वह आत्मा वीतरागस्वरूप है। उसके अनुभव में, उसको अनुसरकर आनन्द की दशा के काल में धर्मी जीव को नय अर्थात् ज्ञान का एक अंश, एक अंश देखनेवाला जो नय, उसका लेश (मात्र) प्रवेश अनुभव में होता नहीं। सूक्ष्म... सूक्ष्म बहुत है। केशुभाई!

मुमुक्षु : नहीं... नहीं, उतर जाये ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रमणीकभाई! यह तो बनारसीदास सादी भाषा में कहते हैं कि अन्तर आत्मा का सम्यग्दर्शन होता है पहले। बाद में अनुभव हो तब तक... समझ में आया? अनुभव के काल में नय के विचार का लेश उसमें है नहीं। स्पष्टीकरण भावार्थ में करेंगे, हों!

वहाँ तक कोई विकल्प नहीं, (प्रमाण) की वहाँ पहुँच नहीं, प्रमाण की पहुँच नहीं। क्या कहते हैं? अखण्ड वस्तु है अभेद और एक समय की पर्याय—दो का विषय करनेवाला प्रमाण, उस प्रमाण का प्रवेश उसमें है नहीं। प्रमाण की पहुँच नहीं। प्रमाण वहाँ पहुँच नहीं सकता। विकल्पात्मक है। रमणीकभाई! ऐसा तत्त्व है। अध्यात्म तत्त्व का अनुभव, उसका आनन्द, उससे धर्म होता है, तब सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के काल में अपने आत्मा के अनुभव की स्थिति में प्रथम उपशम होता है, पीछे दूसरे... अनुभव होता है।

प्रमाण की पहुँच नहीं और निक्षेपों का समुदाय नष्ट हो जाता है। क्या कहते हैं? कि जो ज्ञेय है, उसके चार प्रकार हैं—नाम, निक्षेप, स्थापना, योग्यता और वर्तमान प्रगट, ऐसे ज्ञेय के चार प्रकार, उसका अनुभव में तो ध्वंस होता है—नष्ट हो जाता है। '**निक्षेपोंके वंसको**' है न? '**वंस**' का अर्थ समुदाय किया। समुदाय, ऐसा। नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप, भावनिक्षेप। यह आत्मा के अन्तर के अनुभव के काल में समकिती को भी निक्षेप का वहाँ '**वंस**' अर्थात् समुदाय का नाश हो जाता है। पण्डितजी! कठिन ऐसा धर्म का रूप।

पूर्व की दशा में जो-जो बातें सहायक थीं.... क्या कहते हैं, समझ में आया? पूर्व की दशा में जो-जो सहायक कहने में आता था। क्या सहायक? यह नयज्ञान, प्रमाणज्ञान, निक्षेपज्ञान—उसे सहायक निमित्तरूप से कहने में आता था, '**अनुभव की**

दशा में बाधक होती है... पण्डितजी! जहाँ अनुभव पहले नय-निक्षेप से आत्मा को जानना, ऐसा जो कहने में आता था, उसे साधक अर्थात् उस आत्मा को सिद्ध करने के—साबित करने के साधन कहते थे, वे साधक हैं, वे अनुभव में बाधक हैं। आहाहा! **'जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहां बाधक हैं'** अन्तर आनन्द के अनुभव के काल में नय, निक्षेप और प्रमाण पहले वस्तु को सिद्ध—साबित करने को वह ज्ञान परलक्षी ज्ञान कारण कहलाता था, वह अनुभव काल में वह-वह बाधकरूप से होता है। आहाहा! भारी सूक्ष्म भाई! समझ में आया?

'बाकी राग दोषकी दसाकी कौन बातु है।' दूसरे तो कहे, यह दया पालो और यह सत्य बोलना और—ऐसा जो राग और द्वेष, उसकी बात तो वहाँ है नहीं। आहाहा! समझ में आया? बहुत ऊँची बात है। यह ऊँची नहीं, यह सम्यग्दर्शन के प्रथम अभेद के अनुभव काल में ऐसा होता है। पश्चात् भी जब-जब अनुभव, स्वरूप के ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीन की भिन्नता भूलकर अकेला आत्मा का अनुभव हो... समझ में आया? कठिन ऐसा धर्म, भाई! लोगों को पहुँचा नहीं, ख्याल में आया नहीं, अनादि का अभ्यास नहीं, इसलिए यह बाहर से (धर्म) मान लेते हैं। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा—जो राग विकल्प है, उसे वे धर्म मानते हैं। आहाहा!

यह तो भगवान सर्वज्ञदेव परमेश्वर परमात्मा तीर्थंकरदेव ने जो आत्मा निर्विकल्प—राग के लेपरहित—रागसहित नहीं, ऐसा शुद्ध चैतन्य पदार्थ, उसके अनुभव काल में धर्मी को आनन्द का स्वाद होता है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद होता है। उस अनुभव के काल में... भले चौथे गुणस्थान में हो या श्रावक पाँचवें में हो... सच्चे की बात है, हों! यह वाडा की बात नहीं कि मुनि ऐसे होते हैं आत्मा के आनन्द का अनुभव करनेवाले, अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में मनुष्यपने को मारते हों मनुष्यपने को अन्तर में से। कहते हैं.... यह बातें कहीं बाहर से मिले, ऐसी नहीं हैं। बाहर है नहीं।

अन्तर में भगवान पूर्ण शक्ति का सागर है। सर्वज्ञ ने जितनी शक्तियाँ प्रगट की हैं परमात्मा ने, वे सभी शक्तियाँ तेरे पेट में—स्वभाव में—ध्रुव में पड़ी है। आहाहा! ऐसे परमात्मा... परमात्मा लिया है न ऊपर? **'परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं।'** ऐसा कहा

है न? वह परमात्मा कौन? दूसरे अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा नहीं, परन्तु पुण्य और पाप मेरे माननेवाले बहिरात्मा, स्वरूप शुद्ध है—ऐसा माननेवाले अन्तरात्मा और वे अन्तरात्मा पूर्ण स्वरूप को अनुभव करे, उसे यहाँ परमात्मा कहा है।

आत्मा के ध्यान के पूर्व में—उसके अनुभव के पहले की दशाओं में जो-जो ज्ञान के बाह्य कारण, आत्मा ऐसा भगवान ने कहा, ऐसी दशा हो, ऐसी वस्तु हो—ऐसा भगवान ने कहा, ऐसा जानपने का भाव पहला हो, उसे व्यवहार से साधक कहा जाता है। परन्तु जो-जो वहाँ साधक है, वह अनुभव में बाधक है। समझ में आया? ऐसा मार्ग! इसमें बाहर के वाडा (वाले) को तो ऐसा लगे कि ऐसा मार्ग है? ऐसा तो कोई सातवें गुणस्थान में हो न मुनि, केवली को हो, ऐसा माने। धर्म की रीति की शुरुआत की खबर नहीं न, कि धर्म की शुरुआत कैसे और किस प्रकार होती है.... समझ में आया? ऐसा मार्ग वीतराग का है। अनुभवदशा... **और राग-द्वेष तो बाधक हैं ही**। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का जो विकल्प है, वह तो दोषदायक है, वह तो बाधक है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? गजब!

भावार्थ:—**नय तो वस्तु का गुण सिद्ध करता है....** क्या कहते हैं? नय अर्थात् ज्ञान का अंश। उस त्रिकाल द्रव्य को निश्चय सिद्ध करे और वर्तमान अवस्था को व्यवहार सिद्ध करे। नय एक धर्म को सिद्ध करे। पूर्ण वस्तु वह भी एक धर्म है और अवस्था, वह भी धर्म है। ज्ञान का अंश वस्तु के एक-एक धर्म को, वस्तु के स्वभाव को सिद्ध करे। **अनुभव सिद्ध वस्तु का होता है**। वस्तु सिद्ध हुई, उसका अनुभव है, अब उसमें सिद्ध करने का रहता नहीं। ऐसी बातें क्या होंगे यह वह? क्या कहते हैं? सम्प्रदाय के वाडावालों को तो सच्ची बात भी कुछ बैठती नहीं। अरे भाई! वस्तु की सत्यता ही ऐसी है। सत्य वस्तु, सर्वज्ञ परमेश्वर ने तीर्थंकर ने कही, वह सत्य वस्तु ही ऐसी है। जिसे... ऐसा तो कहा नहीं पुरुषार्थसिद्धिउपाय में? कि राग और शरीर और कर्मसहित आत्मा है नहीं। तथापि उसे राग अर्थात् व्यवहार, विकल्प है, उस विकल्प सहित आत्मा को मानना, वह तो मिथ्यात्व—चार गति में भटकने का बीज है। आहाहा! मार्ग ऐसा, प्रभु!

भगवान आत्मा तो जिनस्वरूप है। वीतराग की मूर्ति आत्मा है। आत्मा में और

जिनस्वरूप में परमार्थ से भेद नहीं है। आहाहा! उस जगह पहुँचना, उसकी कितनी योग्यता और पात्रता होगी? समझ में आया? इस अनुभव बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं और सम्यग्दर्शन बिना दूसरा कोई धर्म हो नहीं सकता। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं, वस्तु जो भगवान आत्मा है, वह त्रिकाली ज्ञायक आनन्दकन्द है त्रिकाली ध्रुव, उसे जाननेवाले ज्ञान का अंश, उसे निश्चय कहते हैं। निश्चयनय तो ध्रुव है, ऐसा साबित करता है। एक वर्तमान अवस्था है निर्मल, उसे जाननेवाला नय व्यवहारनय सिद्ध करता है कि यह अवस्था उसमें है। परन्तु जहाँ नय से सिद्ध हुई वस्तु... अब अनुभव करते हैं वहाँ सिद्ध हुई वस्तु का ही अनुभव है। सिद्ध करने का वहाँ रहता नहीं। समझ में आया? अरे गजब!

माल—पकवान लेने जाये बर्फी, पेड़ा या कुछ भी, तो पहले उसका भाव पूछे, उसे तौले। बाट, तोला सच्चे हैं या नहीं यह निश्चित करावे। और तराजू। बाट, तराजू और भाव। परन्तु खाते समय वह तीन चीज़ रहती है? कि यह पाँच रुपये का सेर, पाँच रुपये का सेर, ऐसे रटते हुए खाये? और मैंने बराबर तुलवाकर लिया है, तौल कराकर और तराजू बराबर थी। यह सब भूल जाये, तब खाने का काम होता है। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा पहले नय, निक्षेप और प्रमाण। बाट, तराजू और भाव। उसकी शक्ति कैसी है? कैसा है? अवस्था क्या है? त्रिकाली क्या है? उसका पूरा विषय क्या है? और उसके भाग क्या हैं? नाम से कहलाये, स्थापना से कहलाये, योग्यता से कहलाये और वर्तमान परिणति—उसे जानने के काल में यह प्रकार उसके होते हैं, माल को अनुभवने से पहले, परन्तु अनुभव के काल में तो साधक जो कहलाते हैं, वे भी बाधक हो गये। ऐ प्रकाशदासजी! ऐसा प्रकाश है आत्मा का, ऐसा कहते हैं। कठिन बात, भाई! है?

अनुभव में नय का काम नहीं है... हुआ, यह नय की व्याख्या की। **प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि प्रमाण असिद्ध वस्तु को सिद्ध करते हैं...** यह तो साबित हुई नहीं, निर्णय हुआ नहीं, उसे उस प्रमाण से पूरी चीज़ क्या है, उसे साबित करते हैं। परन्तु जहाँ अनुभव करे, वहाँ वह प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण रहता कहाँ है? कठिन बात! समझ में आया? **अतः**

प्रमाण भी अनावश्यक है... इसीलिए प्रमाण, वह भी वहाँ अनावश्यक, जहाँ विकल्प, भेद पर लक्ष्य नहीं। **निक्षेप से वस्तु की स्थिति समझ में आती है।** निक्षेप से अर्थात् वस्तु है कि यह उस वस्तु का भाव है या प्रगट है या शक्ति है ? उसे निक्षेप सिद्ध करता है। परन्तु इस अनुभव में तो फिर कुछ है नहीं। वह तो सिद्ध हुई वस्तु का अनुभव है। आहाहा ! भारी सूक्ष्म, भाई ! ऐसा सुनने को भी निवृत्त नहीं होता। ऐ, नवनीतभाई !

अनुभव में निक्षेप की वस्तु की स्थिति समझ में आती है। सो अनुभव में शुद्ध आत्म-पदार्थ का भान रहता है। भाव का भान अनुभव है, पश्चात् यह भाव और यह द्रव्य, वह कुछ रहता नहीं, ऐसा कहते हैं। **अतः निक्षेप भी निष्प्रयोजन है।** आत्मा में निक्षेप भी प्रयोजन(वान) है नहीं। **इतना ही नहीं, ये तीनों अनुभव की दशा में बाधाकारक है।** निष्प्रयोजन है, यह तो ठीक, परन्तु विघ्न करनेवाले हैं। **इन्हें हानिकारक समझकर प्रथम अवस्था में छोड़ने का उपदेश नहीं...** अर्थात् क्या ? जानना होता है, तब भाव क्या है ? सामर्थ्य कितना है ? आत्मा के एक-एक गुण का सामर्थ्य कितना ? एक-एक गुण की पर्याय कितनी ? एक-एक गुण अनन्त गुण को सहायता करे, ऐसी उसकी सामर्थ्य है, इत्यादि भाव को सिद्ध करना हो, तब तो पहले होता है। **क्योंकि इनके बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। ये नय आदि साधक है।** साधक अर्थात् वस्तु को साबित करने का ज्ञान। सर्वज्ञ ने कहा हुआ आत्मा और अज्ञानियों ने कहा हुआ आत्मा—दोनों को भिन्न करने के लिये यह साधक कहने में आता है। समझ में आया ? परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने कहा हुआ आत्मा और अज्ञानियों ने कहा हुआ आत्म—दोनों को भिन्न करने के लिये ऐसे नय, निक्षेप और प्रमाण की पहले आवश्यकता होती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

कहते हैं, **साधक को अनुभव साध्य है जैसे कि दण्ड, चक्र, आदि साधनों के बिना घट की सृष्टि नहीं होती।** रूपचन्दजी ने यह अर्थ डाला ही नहीं। इसकी आवश्यकता भी नहीं। परन्तु यह लोगों ने डाला है बुद्धिलाल ने डाला है, इसलिए इन्होंने डाला है। रूपचन्दजी ने डाला नहीं। पहले रूपचन्दजी ने अर्थ किये थे न ? घट में दण्ड, चक्र आदि साधन अर्थात् निमित्त हैं। 'उनके बिना घट की उत्पत्ति नहीं होती' का अर्थ (कि)

वे होते हैं इतना। होवें तब न हो, ऐसा नहीं, परन्तु उनसे होता नहीं। अरे, ऐसा कठिन!

क्या कहलाता है? यह सन्मति सन्देश। किसी को हितैषी के साथ चर्चा हुई होगी, वह इसमें (सन्मति सन्देश में) आयी है। 'निमित्त बिना होता नहीं।' अब सुन न! करनेवाला अपना कार्य करता है, उस काल में निमित्त ऐसे सामने चीज़ होती है, परन्तु कार्यकाल बिना निमित्त होता है, निमित्त से कार्यकाल हो जाये—ऐसा है? ऐसी वस्तु होती नहीं, भाई! तुझे खबर नहीं। जिस समय जो अवस्था जिस तत्त्व की जिस काल में उसके स्वकाल में हो, वह कार्यकाल है। तब निमित्त होता है, बस। निमित्त आया, इसलिए यह हुआ, तब तो निमित्त उपादान (रूप) हो जाता है। बहुत तकरार—विवाद। निमित्त-उपादान के, निश्चय-व्यवहार के और क्रमबद्ध के—तीन के विवाद।

मंगलभाई गुजर गये। अपने मंगलभाई अहमदाबाद। .... यह तो क्रमबद्ध की बात याद आने पर यह बात याद आ गयी। क्रमबद्ध नहीं बैठता था न! अन्त में यह बात की न, तब बोले। दस बोल हैं न श्रीमद् के। स्वद्रव्य के रक्षक होओ। परद्रव्य की रक्षकता शीघ्रता से छोड़ो। भाई.... महाराज कहते हैं। प्रेम था। बहुत-बहुत वर्ष हो गये। हार्टफेल हो गया। मंगलभाई। स्त्री बेचारी नहीं थी। ...था न! पावागढ़, वहाँ गये थे। ऐसा है। अब घड़ीक में बदलते देर नहीं लगती। इस मनुष्य की देह का एक-एक समय चक्रवर्ती की सम्पदा से भी कीमती है, (इसलिए) इसे समय नहीं गँवाना चाहिए। समझ में आया? आत्मा के काम के लिये उसे समय नहीं गँवाना चाहिए। इसे अपनी जाति का निर्णय करने, अनुभव करने के लिये यह इसका काल है। समझ में आया? आँख बन्द होकर चला जायेगा। शान्तिभाई चले गये। ...असाध्य हो गये थे, हों! ४६ वर्ष चला। साथ में, किसके साथ में? आहाहा! ....

कहते हैं, **चक्रादि साधनों के बिना घट की उत्पत्ति नहीं होती।** यह तो नास्ति से कथन है, अस्ति से नहीं। घट के कार्यकाल में घट हो, तब कुम्हार और चक्र होता है, बस इतना। अस्ति से है यह बात। नहीं होता, यह प्रश्न है नहीं। भारी कठिन काम, भाई! परन्तु **जिस प्रकार घट पदार्थ सिद्ध हुए...** घट हो गया, पश्चात् **दण्ड, चक्र आदि विडम्बनारूप...** विडम्बना अर्थात् निमित्तपना भी फिर हो सकता नहीं। इसी प्रकार

अनुभव प्राप्त होने के उपरान्त... भगवान आत्मा ज्ञातास्वभाव प्रभु आत्मा का, सर्वज्ञस्वभाव आत्मा का, ऐसे सर्वज्ञस्वभाव को अल्पज्ञ की पर्याय से अनुभव करने पर... **उपरान्त नय, निक्षेप आदि के विकल्प हानिकारक है...** फिर यह नय, निक्षेप के विकल्प की आवश्यकता नहीं। कहाँ से आये भाई? देश में? लींबड़ी। अच्छा। पुस्तक है? पुस्तक है न भाई? यह तो किस शब्द का अर्थ होता है... बनिया बहियाँ मिलते हैं या नहीं अपने? यह तो भगवान की बहियाँ मिलाने की बात है। आहाहा!

कहते हैं, अब **शुद्धनय की अपेक्षा जीव का स्वरूप**। इतना मुहूर्त हो गयी शुरुआत। समझ में आया? अब दसवाँ श्लोक। नौवें से शुरु हुआ। दसवाँ है न, इस ओर ३३वें पृष्ठ पर। ३३वें पृष्ठ पर नीचे दसवाँ श्लोक है।

आत्म-स्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्ण-माद्यन्तविमुक्त-मेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं
प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ।।१०।।

यह कलश, इसका पद ११वाँ। कलश १० और पद ११वाँ है।

शुद्धनय की अपेक्षा जीव का स्वरूप। परमानन्द मूर्ति भगवान तीर्थंकर ने देखा, ऐसा जो पवित्र प्रभु आत्मा शुद्धनय से... पर्याय के भेद से और राग के भेद से, वह तो अशुद्धनय है। अकेला अखण्ड शुद्ध पवित्र नय से देखो तो वह कैसा है?

भगवान आत्मा देह में अरूपी—रंग, गन्ध, रस, स्पर्श रहित प्रभु, अभी यहाँ कैसा है? आहाहा!

★ ★ ★

काव्य - ११

शुद्धनय की अपेक्षा जीव का स्वरूप (अडिल्ल)

आदि अंत पूरन-सुभाव-संयुक्त है।
पर-सरूप-पर-जोग-कल्पनामुक्त है।।
सदा एकरस प्रगट कही है जैनमैं।
सुद्धनयातम वस्तु विराजै बैनमैं।।११।।

शब्दार्थ:-आदि अंत=सदैव। जोग=संयोग। कल्पनामुक्त=कल्पना से रहित।

अर्थ:-जीव, आदि अवस्था निगोद से लगाकर अन्त अवस्था सिद्ध पर्यायपर्यन्त अपने परिपूर्ण स्वभाव से संयुक्त है और परद्रव्यों की कल्पना से रहित है, सदैव एक चैतन्यरस से सम्पन्न है, ऐसा शुद्धनय की अपेक्षा जिनवाणी में कहा है।।११।।

काव्य-११ पर प्रवचन

आदि अंत पूरन-सुभाव-संयुक्त है।
पर-सरूप-पर-जोग-कल्पनामुक्त है।।
सदा एकरस प्रगट कही है जैनमैं।
सुद्धनयातम वस्तु विराजै बैनमैं।।११।।

बहुत श्लोक अकेले मक्खन हैं। यह वीतरागमार्ग का मक्खन है। कहते हैं, जीव... अर्थ है न? **(जीव) आदि अवस्था निगोद से लगाकर...** उसकी आद्य अवस्था निगोद है। आदि शब्द पड़ा है न? निगोद के जीव एक शरीर में अनन्त। यह आलू, शकरकन्द, कन्दमूल, काई—यह सब निगोद अवस्था उसे कहा जाता है। वहाँ उसकी आद्य अवस्था है। पहले अनादि का वहाँ था, ऐसा कहना है। आहाहा! अथवा जीव की छोटी में छोटी (अल्प) अवस्था से आदि लेकर अन्त अवस्था सिद्धपर्याय पर्यन्त... है न? **आदि अन्त पूरन सुभाव संयुक्त है।** आदि से वह अन्त तक। निगोद की दशा से लेकर सिद्ध की दशा तक में पूर्ण स्वभाव, वस्तु तो पूर्ण स्वभाव सहित है। अवस्था का

लक्ष्य न करो तो द्रव्यस्वभाव तो पूर्ण, पूर्ण, पूर्ण इदम्। समझ में आया? ऐसा कठिन धर्म का रूप! ऐई! है या नहीं प्रकाशदासजी! क्या है उसमें देखो! बहुत बढ़िया।

आदि अवस्था निगोद से... आहाहा! अक्षर के अनन्तवें भाग... उसकी वर्तमान दशा निगोद में हो, परन्तु वस्तु तो है, वह है। द्रव्य जो वस्तु है, वह तो पूर्ण इदम्, पूर्ण है, ऐसा कहते हैं। पूर्ण स्वभावसहित है। आहाहा! वह निगोद में भी... एक राई जितना टुकड़ा काई का, आलू का, शकरकन्द का, एक टुकड़े में असंख्य औदारिकशरीर हैं। एक शरीर में सिद्ध से अनन्तगुणे जीव हैं। भगवान की बातें बड़ी बहुत! उसमें एक जीव है, कहते हैं कि भले एक शरीर में अनन्त जीव (रहे)। राई जितने टुकड़े में असंख्य शरीर, तथापि उनकी पर्याय जो है निगोद की, वह तो छोटी... छोटी... छोटी... आद्य का अर्थ छोटी और सिद्धदशा हो सह पूर्णदशा... पर्याय—दशा, परन्तु वस्तु जो द्रव्य है, वह तो सबमें एकसरीखा पूर्ण स्वभाव से भरपूर है। ध्रुव, ध्रुव। ऐसी व्याख्या तत्त्व की! ऐ जयन्तीभाई! सुनाई देता है या नहीं? सुनाई देता है, ऐसा कहता हूँ, हों! समझ में आता है, यह बाद की बात है। दोनों जयन्तीभाई हैं न? काका-भाईजी के दोनों। बड़े हैं? ऐसा! शरीर स्थूल लगे। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं... यह वह कुछ बात है! एक शरीर, उसमें अनन्त जीव। एक टुकड़ा राई (जितना) उसमें असंख्यात शरीर। उस एक शरीर में अनन्त जीव। उस निगोद के जीव की दशा, उसमें भी द्रव्य तो स्वभाव से परिपूर्ण ध्रुव पड़ा है, ऐसा कहते हैं। भाई! आहाहा! इसे सदृश स्वभाव कहते हैं। समझ में आया? आया था वहाँ कलश में। आता है न? उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति। शक्ति प्रमाण परिणाम... उसमें आता है न आलिंगन। 'ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिंगित सदृश और विसदृश जिसका रूप है, ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणाम शक्ति' है। (१९वीं शक्ति)। ओहो! गजब काम किया है।... अब लोग सुनते हैं। बींछिया जैसे गाँव में हजारों लोग।.... नवकारशी थी। सातों दिन का भोजन था। सातों दिन एक-एक का भोजन। गाँव में उत्साह, उत्साह, महोत्सव जैसा उत्साह। मोक्ष के मण्डप की बातें हैं, बापू! आहाहा! भाई! यह तो दुनिया के बाहर के महोत्सव बहुत मनाये अज्ञान में। बापू! यह चीज़ कोई अलग है।

कहते हैं, तुझे अभी विश्वास में आना कठिन पड़े। आहाहा! क्या कहते हैं कि

अनन्त आत्मायें हैं। भगवान ने केवलज्ञान में अनन्त आत्मा देखे हैं। भगवान ने तो छह द्रव्य देखे हैं, परमेश्वर ने तीर्थंकर ने। अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु यह जड़, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश। तुम्हारे मेहमान को कठिन पड़े ऐसा है यह। परन्तु सुने तो सही न कि अपने घर में कुछ है जैन में। मोची में कहीं होती नहीं यह बात। आहाहा! कहते हैं, भाई! एक बार सुन। कहते हैं, तू आत्मा है, ऐसे अनन्त आत्मायें हैं। और अनन्त आत्मा में एक आत्मा की छोटी-छोटी दशा जो आद्य की है—अक्षर के अनन्तवें भाग की उघाड़ अवस्था, तथापि वस्तु तो वह पूर्ण स्वभाव से भरपूर है। पर्याय के अंश को लक्ष्य में न ले और द्रव्य-ध्रुव का लक्ष्य ले तो, ध्रुव तावे पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण (वस्तु) पड़ी है। ऐई! आहाहा!

सदृशशक्ति। उत्पाद-व्यय विसदृश है। उसमें आता है.... उसमें भी आता है। धवल में। अपनी वह नहीं विरोध सिद्ध करने के लिये निकाला था न? उसमें पाठ में है, टीका में है। ओहो! आचार्यों ने तो गजब काम किये हैं, हों! हथेली में बता दिया है ऐसे। भगवान! अब तेरी नजर तो कर। कहते हैं कि यह अवस्था निगोद के जीव की अल्पज्ञ है और सिद्ध की दशा सर्वज्ञ है, बीच की दशा उघाड़ चार मति आदि (सु)ज्ञान (या) अज्ञान आदि हो, उस अवस्था का लक्ष्य न करो तो **अन्त अवस्था सिद्धपर्यायपर्यंत अपने परिपूर्ण स्वभाव से संयुक्त है।**

वह तो ध्रुवस्वभाव से सहित है। एक समय की पर्याय का लक्ष्य छोड़ दो पर्यायदृष्टि (छोड़ दो) तो प्रत्येक अनन्त आत्मायें ध्रुव स्वभाव से सहित है। आहाहा! बराबर है पण्डितजी? अरे! यह क्या? ध्रुवसहित है। हमारे भाई धर्म करना है, उसमें ऐसी बात का क्या काम है? परन्तु धर्म करने में तेरा स्वभाव कितना है? त्रिकाल कितना है? वर्तमान कितना है? यह जाने बिना धर्म करेगा कहाँ से? पूर्ण स्वभाव है उसमें से धर्म निकले। वर्तमान अवस्था के अंश में से धर्म निकले? धर्म स्वयं पर्याय है। आहाहा! समझ में आया? वह अंश है। धर्म की दशा प्रगट हुई, उस काल में भी वस्तु तो ध्रुवस्वभाव सहित है। समझ में आया? चेतनजी! चेतनजी आये थे बोटाद में वहाँ।

कहते हैं, **आदि अन्त पूरन सभाव-संयुक्त है पर-सरूप, पर-जोग परकल्पना**

मुक्त है। आहाहा! **परद्रव्यों की कल्पना से रहित है**। लो। परद्रव्य का निमित्तपना और उसकी कल्पना रहित वस्तु है। और परद्रव्य के लक्ष्य से होनेवाले विकृतभाव से भी वस्तु रहित है और पूर्ण ध्रुव स्वभाव से संयुक्त है। एक समय की पर्याय से रहित है और ध्रुवस्वभाव से भगवान आत्मा सहित है। आहाहा! अरे! ऐसी अन्दर पहिचान हुए बिना सम्यग्दर्शन और श्रद्धा-भान बिना सब व्रत और तप और यह होली करे, वह एक बिना का शून्य है, सब शून्य है। समझ में आया? ऐसा भगवान किस प्रकार से सिद्ध किया है न!

'**आत्मस्वभाव आत्मस्वभावम् परभाव भिन्नम्**' यह इसकी व्याख्या हुई। अस्ति-नास्ति। आहाहा! वस्तु भगवान आत्मा द्रव्य अर्थात् शक्तिवान, पूरी त्रिकाल ध्रुव शक्तिवान स्वरूप, वह पूर्ण है और ध्रुवस्वभाव सहित आत्मा है। और पररूप—परस्वरूप कर्म का निमित्त और संयोग से तो रहित है। **पर-सरूप,** और **पर-जोग...** पर का सम्बन्ध... पर स्वरूप और पर का सम्बन्ध उस बिना की वस्तु है। आहाहा! देखो, यह सम्यग्दर्शन का विषय। निश्चयनय का (विषय) यह, शुद्धनय का स्वरूप। शुद्धनय स्वरूप से आत्मा ऐसा है। समझ में आया? बहुत से ऐसा माँगते हैं कि इससे कुछ दूसरा सरल है? परन्तु सरल, जो उसमें हो, वह सरल होगा या उसमें न हो, वह सरल होगा? सरल में सरल पहला सम्यग्दर्शन धर्म, बाद में चारित्र और केवलज्ञान महा—उत्तम धर्म। आहाहा! समझ में आया? मिथ्यात्व समान महा पाप नहीं, सम्यग्दर्शन सिवाय महा धर्म की शुरुआत नहीं। आहाहा! समझ में आया?

दोनों की कीमत नहीं न, इसे मिथ्यात्व का पाप क्या है, इसकी खबर नहीं। एक समय के अंश को स्वीकार करना, वह मिथ्यात्व है—ऐसा कहते हैं। परद्रव्यसहित स्वीकार करना, वह मिथ्यात्व है। और 'पर के सम्बन्ध में मैं हूँ' यह स्वीकार करना, वह भी मिथ्यात्व है। अबद्धस्पृष्ट—पर से सम्बन्धरहित है। आहाहा! समझ में आया? कितनी धीरज चाहिए यह समझने के लिये। '**पर सरूप-परजोग-कल्पना**' कल्पना से मुक्त है, पर सम्बन्ध है, उस कल्पना से भी मुक्त है। आहाहा! यह तो अभी... आहाहा! **सदा एकरस प्रगट कही है जैन में**। जैन में जिनवाणी में—वीतराग की वाणी में—त्रिलोकनाथ परमात्मा सर्वज्ञदेव की वाणी में सदा एकरस प्रगट कहा है। तीनों काल

एकरूप पूर्ण आनन्दकन्द शुद्ध ध्रुव ऐसे शुद्धनय का विषय द्रव्यस्वभाव को जैनवाणी में ऐसा कहा गया है। समझ में आया?

जैन में, परमेश्वर वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्त परमेश्वर जिन्हें तीन काल का ज्ञान है, उनकी वाणी में सदा एकरस प्रगट कही है। ध्रुव... ध्रुव शुद्धनय का विषय सदा एकरस प्रगट कही है। वह सदा प्रगट वस्तु पड़ी है। यह वह क्या कहते हैं? दया पालना, यह व्रत करना, अपवास कर डालना, (यह) सीधा-सट्ट था। परन्तु यह तेरी दया है, वह (परदया का भाव) तो हिंसा है, सुन न! जीवदया पालनी है या नहीं तुझे? जीव है या नहीं? कितना है? एक अंश जितना मानना, वह जीव की हिंसा है; रागवाला मानना, वह जीव की हिंसा है। आहाहा! धरमचन्दजी! आहाहा! कठिन बात, भाई! ऐसा यह जैन में होगा? इसलिए कहना पड़ा। समझ में आया? वीतरागमार्ग में परमेश्वर ने उनकी वाणी में ऐसा स्वरूप **सदा एकरस प्रगट, सदैव चैतन्यरस से सम्पन्न है...** आत्मा; ज्ञायकरस से सम्पन्न है। वस्तु **'विराजे बैनमें'** लो। **ऐसा शुद्धनय की अपेक्षा जिनवाणी में कहा है।** वीतराग की वाणी में, ऐसी वस्तु विराजती है—ऐसी कही है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २१, माघ कृष्ण १०, शनिवार, दिनांक २०-२-१९७१
जीवद्वार, पद—१२, १३

न हि विद्धति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी,
स्फुटमुपरितरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्,
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्।।११।।

इसका बारहवाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - १२

हितोपदेश (कवित्त ३१ मात्रा)

सदगुरु कहै भव्यजीवनिसौं,
तोरहु तुरित मोहकी जेल।
समकितरूप गहौ अपनौ गुन,
करहु सुद्ध अनुभवकौ खेल।।
पुद्गलपिंड भाव रागादिक,
इनसौं नहीं तुम्हारौ मेल।
ए जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन,
जैसैं भिन्न तोय अरु तेल।।१२।।

शब्दार्थ:-तोरहु=तोड़ दो। गहौ=ग्रहण करो। गुपत (गुप्त)=अरूपी। तोय=पानी।

अर्थ:-भव्य जीवों को श्रीगुरु उपदेश करते हैं कि शीघ्र ही मोह का बन्धन तोड़ दो, अपना सम्यक्त्वगुण ग्रहण करो और शुद्ध अनुभव में मस्त हो जाओ। पुद्गलद्रव्य और रागादिक भावों से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। ये स्पष्ट अचेतन हैं और तुम अरूपी चैतन्य हो तथा पानी से भिन्न तेल के समान उनसे न्यारे हो।।१२।।

काव्य-१२ पर प्रवचन

सदगुरु कहै भव्यजीवनिसौं,
तोरहु तुरित मोहकी जेल।
समकितरूप गहौ अपनौ गुन,
करहु सुद्ध अनुभवकौ खेल।।
पुद्गलपिंड भाव रागादिक,
इनसौं नहीं तुम्हारौ मेल।
ए जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन,
जैसैं भिन्न तोय अरु तेल।।१२।।

भव्य जीवों को गुरु उपदेश करते हैं। '**सद्गुरु कहै भव्यजीवनिसौं**' भव्य अर्थात् पात्र जीव के लिये है। अभव्य जीव को यह उपदेश लागू नहीं पड़ता। आहाहा! '**सद्गुरु कहै भव्यजीवनिसौं, तोरहु तुरित मोहकी जेल**' मोह के बन्धन को तोड़, प्रभु! आहाहा! राग और द्वेष विकल्प वे मेरे हैं—ऐसा जो मोह अर्थात् मिथ्यात्वभाव उसे तोड़। उपदेश के वाक्य हैं न! ऐसे तो स्वभाव सन्मुख होने पर वह टूट जाता है। परन्तु उपदेश में तो ऐसा आवे न! पाँच मिनिट देरी से आये न, इसलिए वहाँ बैठने लगते थे। कोई नहीं, यहाँ बहुत जगह है। समझ में आया? मोह की जेल में पड़ा है, ऐसा कहते हैं। मोह की जेल में? ऐसे बड़े मकान...! आहाहा!

मुमुक्षु : यह कैदखाना खाली....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं कि प्रभु! तेरा स्वरूप तो शुद्ध आनन्दघन है न! उसे यह पुण्य-पाप के भावों की एकताबुद्धि, वह तुझे मोह की जेल है, प्रभु! आहाहा! समझ में आया?

'**तोरहु तुरित मोहकी जेल**' शीघ्र तोड़, ऐसा वापस। पहले ऐसा करना और ऐसा करना और बाद में ऐसा करना—ऐसा निकाल दिया। आहाहा! पहले व्यवहार सुधारना पश्चात् कषाय मन्द करना। ऐई! परन्तु व्यवहार सुधारना... व्यवहार है ही कहाँ आत्मा

में? व्यवहार अर्थात् शुभ उपयोग। उस सहित मानना वही मिथ्यात्व की जेल है, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐई माणिकलालभाई! समझ में आता है यह? अरे ऐसा गजब! चैतन्यरत्न प्रभु का अनादि-अनन्त नित्य रसकन्द ज्ञानघन, ऐसी चीज़ को विभाव जो विकल्प है, सूक्ष्म भी है राग, उसकी एकताबुद्धि वही बड़ी मोह की जेल है, मिथ्यात्व की जेल है। कहो, समझ में आाय?

'**तोरहु तुरित मोहकी जेल**' अर्थात् कि पर में सावधानी का भाव, वही मिथ्यात्वभाव है। यह मोह शब्द पड़ा है न! भगवान आत्मा अपने आनन्द और ज्ञानस्वभाव की ओर का सावधानपना स्वसन्मुखपना छोड़कर अनादि से उसे राग के विकल्प के भाव में सन्मुखपना माना है और 'वह मैं हूँ, वह मेरा है'—ऐसे पर में उसकी सावधानी की है, वह मोह है, मिथ्यात्व है, वह अनन्त संसार की उत्पत्ति का वह बीज मोह है। समझ में आया?

यहाँ तो '**तोरहु तुरित मोहकी जेल**' शीघ्र ही स्वभाव अपना आनन्द और ज्ञान सच्चिदानन्द प्रभु, उसके सन्मुख हो और राग की, परसन्मुख की एकता का मिथ्यात्वभाव तोड़ दे। अरे! कितने ही कहे... अभी ऐसा आया है समाचार पत्र में ऐसा कि पहले ऐसा चाहिए, पहले प्रथमानुयोग, पहले यह (अनु)योग... देखो, ऐसा चला है साधारण।

मुमुक्षु : आत्मानुयोग चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! क्रम-क्रम उपदेश... ऐसा कि पहले में पहला मुनि का उपदेश देना चाहिए, ऐसा है न पुरुषार्थसिद्धि (उपाय) में, पश्चात् श्रावक का देना। इसी प्रकार अनुयोग में पहले प्रथमानुयोग... ऐसा आया है, अभी आया है उसमें। बहुत-बहुत आते हैं .... हों! जैनगजट में। भगवान! परन्तु आयुष्य चला जाता है, उसकी अवधि कितनी? कि पहले प्रथमानुयोग और फिर द्रव्यानुयोग उसकी मुद्दत—टाईम सही? आहाहा! वजुभाई! कहते हैं, उसका काल कितना? उसमें अकस्मात् देह छूट गया तो? काम जो (करने का) था, वह तो रह गया। नवनीतभाई! आहाहा!

यहाँ आचार्य तो (कहते हैं), '**तोरहु तुरित मोहकी जेल**' पहले यह वाँचना और यह समझना और फिर यह करना तोड़ने का—ऐसा कुछ है नहीं। पण्डितजी! है उसमें ऐसा?

मुमुक्षु : ऐसा ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : मोह को तोड़ने से पहले क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोह को तोड़ने का यह करना, करना बड़ा। पहले तो करता है राग की एकता, वह तो करता है अनादि से। अब करना क्या उसे?

मुमुक्षु : वह तो कर रखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो कर रखा है।

मुमुक्षु : दो में से कौन सा विकल्प करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्यों? एक भी विकल्प करना, वह कर्तव्य है उसका? उसके स्वभाव में राग का करना, ऐसी उसकी कोई शक्ति—गुण है? गुण हो तो राग का करना सदा ही रहे और कभी शुद्ध हो नहीं। समझ में आया? ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : प्रश्न है कि पहला विकल्प कौन सा करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई विकल्प करने का प्रश्न ही कहाँ है?

मुमुक्षु : वह तो विकल्प होता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है, वह अलग बात है कि होवे तो क्या है? वह प्रश्न... ऐसा कि अन्तिम शुभ उपयोग होता है न? अन्त में यह होता है न? कहीं अशुभ होता है? इसलिए शुभ... परन्तु अन्तिम किसे कहना? अन्दर (लीन हो) हो, तब अन्तिम (जो) राग था, उसकी एकता थी, उसे तोड़ा—ऐसा कहने में आता है। ऐसी बात है। आहाहा! मार्ग ऐसा है भाई! यह तो जिसे जन्म-मरण के चक्कर से छूटना हो उसकी बाते हैं। जिसे कुछ बचाव करना हो अपना (उसकी बात नहीं।) बचाव करना हो केस का, यह वह तो यह लिखे ऐसा अब। आहाहा!

भाई तो कहते हैं न सोगानी—निहालभाई (कि) 'करना, वह मरना है।' आहाहा! राग का करना, वह मेरा कर्तव्य, वह तो सम्यग्दर्शन का नाश है। यह तो मार्ग की पद्धति यह है, भाई! समझ में आया? '**तोरहु तुरित मोहकी जेल**' शीघ्र ही मोह के बन्धन को

तोड़ दे। आहाहा! मोह अर्थात् संसार का कर्म नहीं। चैतन्य भगवान ज्ञायकस्वभाव शुद्ध स्वरूप की सावधानी छोड़कर, इसने अशुद्ध ऐसे राग की सावधानी, उसे विषय बनाया है। यह सवेरे आया था। है न सावधान है। भगवान 'समय वर्ते सावधान'। समय के स्वकाल में स्वरूप की सावधानी, वह 'समय वर्ते सावधान' है। विवाह में बोलते हैं या नहीं? समय हो गया। आठ और सत्रह मिनिट, ऐसा होता है न कुछ?

मुमुक्षु : कन्या पधराओ सावधान।

पूज्य गुरुदेवश्री : कन्या पधराओ सावधान। अरे! यह मोक्ष कन्या की बातें। अब कहीं धूल के—हड्डियों के साथ सम्बन्ध और हड्डियाँ-हड्डियाँ.... आहाहा! माँस का मंथन और सुख माने मैथुन में। अरे प्रभु! क्या करता है? कहाँ गया? आहाहा! यही मिथ्यात्व भाव है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

भगवान! तू तो चैतन्यस्वरूप है न, प्रभु! आहाहा! यह जड़ के परमाणुओं की जितनी क्रिया स्वतन्त्र होती है, वह कोई तेरी क्रिया नहीं और तुझसे हुई नहीं। तुझसे हुई है एक क्या? कि जो राग हुआ उसकी एकताबुद्धि मोह से की है, वह तुझसे हुआ है अज्ञानभाव में, उसे तोड़ने की बात यहाँ है। रखने की तो रखी है इसने। समझ में आया? देखो, इसे ऐसी दया पालना और ऐसे व्रत पालना, ऐसा तो कुछ आया नहीं इसमें। परन्तु दया और व्रत का विकल्प ही राग है। राग की सावधानी, वही मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! मार्ग तो यह गजब है अन्दर।

मुमुक्षु : ऐसा का ऐसा ठीक, यह दया-दान नाम पाड़ते हो वह जरा....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह दया अर्थात्, यह विकल्प की बात आवे तब जप-तप कहो, दया-दान कहो, पूजा-भक्ति कहो...

मुमुक्षु : सीधी बात करो तो काम का....

पूज्य गुरुदेवश्री : तब! थोड़ा खुल्ला रखे कि यह दया-दान राग... परन्तु दया किसका? पर की दया और पर का दान, वह तो विकल्प है। आहाहा! वह विकल्प का भाग है, राग का भाग है, वह तो विभाव है। स्वभाव और विभावता, इनकी एकताबुद्धि, वही मिथ्यात्व और मोह है। कहो, समझ में आया?

तोड़ने का कहा, तो इसने जोड़ा था, तब तोड़ने का कहते हैं न? तोड़े उसे, सन्धि की हो सोनी ने... सवेरे आया था न! साँध मारी हो, ऐसा सब एक हो गया हो, परन्तु उसे ख्याल हो कि इस जगह... देखो, यहाँ जरा सा ढलता है और यहाँ अन्दर साँध है। कोने में जरा सा कहीं ढलता अंश रखा हो, रहा हो, इस प्रकार और यहाँ साँध है। सब बराबर समान दिखे। इसी प्रकार राग और आत्मा के स्वभाव के बीच भेद है, अर्थात् कि पृथक्ता है, अर्थात् कि दोनों एक नहीं हैं। एक नहीं, उन्हें एक माना, यही मिथ्यात्वभाव है। प्रकाशदासजी! ऐसी बात है। आहाहा!

मुमुक्षु : अभी तो खोटे देव और खोटे गुरु और खोटे शास्त्र को माने....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उनके कहे हुए खोटे देव क्या, सच्चे देव-गुरु को माना, उसकी बात है। वह तो परद्रव्य अनुसारी वृत्ति और राग का झुकाव है।

तेरे भगवान के सामने तूने देखा नहीं, पर के सामने देखकर बैठा कि मुझे इसमें से कुछ मिल जायेगा। जहाँ नहीं वहाँ से मिल जायेगा। है तो अन्दर आत्मा में सब आनन्द और शान्ति और उसकी ओर की नजर—नजरबन्दी की नहीं और राग के साथ नजरबन्दी की। यह लोग नहीं कहते? कि यह लड़का कहीं नजरा गया है। कहते हैं न कुछ? कहते, अब तो सब कम हो गया है। कहते थे, पहले बहुत कहते थे। कहीं किसी की नजर में आ गया है। नजर लग गयी है, ऐसा पहले कहते थे।

मुमुक्षु : नजर लग गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नजर लग गयी है।

मुमुक्षु : यह अमुक बाई की आँख बहुत ऐसी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह तो पहले ऐसा सुनते थे।

एक बाई ऐसी थी कि उसकी आँख कड़क—कठोर। और विवाह करके एक आया था जवान बीस वर्ष का। उसमें वह कपड़े लेने गया और उसमें यह बाई गयी। ए...सा जरा किया हाथ... हाय...! बाई को ऐसा हो गया हों! बाई को। अररर! आँख कड़क हो गयी वहाँ, अब वह लड़का मर जायेगा बेचारा। आँख कड़क, तुरन्त ऐसे कर

डाली उसने, उस बगोडिया की ओर, बगोड़ फट गयी एकदम। ऐसी बातें पहले चलतीं, होय वह ठीक, सच्चा या झूठा।

मुमुक्षु : यह किसी बार ऐसा हुआ हो....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह बातें सुनते हों, बहुत बातें... नहीं, हमने तो सब सुना हुआ बराबर। यहाँ तो बहुत बातें सुनी हुई हैं न!

वह बाई ऐसी कठोर थी आँख की, ऐसा कि मानो ऐसी कड़क उसकी (नजर)। उसे ऐसा हो गया अररर! अभी .... हो गया। यह लड़का विवाह करके आया और मेरी नजर कड़क हो गयी। और एकदम ऐसा कर डाला, उसके चूड़े पर, चूड़े के टुकड़े। वह तो एक बननेयोग्य हो और ऐसा हो। उसमें क्या उससे क्या है? चूड़ा तो टूटा हुआ ही है न। वह मरे तब तोड़ते हैं न? चूड़ा तोड़े बिना निकालना नहीं इस मुर्दे को, ऐसा कहे।

मुमुक्षु : एक चूड़ा साथ में बाँधे और एक तोड़ डाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा? ले, यह और ऐसा कहे। एक चूड़ा साथ में बाँधे कि ले जा तू। अरे... अरे गजब करते हैं न! आहाहा!

भगवान! तेरा स्वभाव प्रभु! उस राग के साथ तूने एकता की है न, वही महामिथ्यात्व और महामोह और पाप है, बन्धन है। पकड़ा गया राग में, ऐसा कहते हैं। भगवान तो रागरहित उसका स्वरूप शुद्ध चैतन्यघन है। समझ में आया? यह सब सूक्ष्म पड़े तुम्हारे। परन्तु अब प्रेम से सुनते हैं। सुने तो सही कि ऐसा कुछ है यहाँ।

मुमुक्षु : बहुत सरल बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत सादी भाषा है, हों! धन्य भाग्य! तेरे घर की बात है यहाँ। आहाहा! अरे! तू झुक गया है प्रभु कहीं, हों! जहाँ झुकना नहीं चाहिए, वहाँ झुक गया है। जहाँ झुकना चाहिए, उसे भूल गया है। जादवजीभाई! आहाहा!

कहते हैं कि भाई! '**तोरहु तुरित मोहकी जेल**' कितने शब्दों में कितना सरल करके बात करते हैं, लो! तोड़ डाल, इसका अर्थ कि तू बँधा हुआ है (क्योंकि) राग में एकत्वबुद्धि तूने की है। वह की न हो तो तोड़ने का हो नहीं सकता। अब इस क्रिया की इसे बहुत कीमत आती नहीं। यह व्रत करे और अपवास करे और आंबेल करे और

ओळी करे और होली सुलगे राग की और यह क्रियायें (देखकर कहे), यह कुछ करते हैं, भाई हों! देखो न! बलुभाई ने अपवास किये थे कैसा... अपने बलुभाई, नहीं? मुम्बई। गृहस्थ व्यक्ति। एक दिन अपवास और एक दिन खाना। वर्षीतप। एक दिन अपवास और एक दिन खाना। ऐसे गृहस्थ लोग ऐसा करे। फिर व्यक्ति समझ गया, हों! ओय... यह तो सब....

बापू! अभी उप अर्थात् आत्मा समीप में बसे बिना उसे उपवास कैसे कहना? बसता है तो राग की वासना में, और फिर अपवास करे और दो अपवास करे और पच्चीस अपवास करे... तेरा लंघन है। भगवान स्वभाव से तो दूर है। अब तुझे करना क्या है? दूर का करना है न, उसमें तो आत्मा नहीं। समझ में आया? कैसे है आज, उसे ठीक है? ठीक है, नहीं?

मुमुक्षु : अच्छा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा था उस समय अच्छा था। मैं आया तब अच्छा था। कल जरा सी उलझन हो गयी थी। आये थे कल। उस समय ठीक था, परन्तु अब कमजोरी है, भाई! शरीर का क्षण का भी भरोसा नहीं। कब पड़े और कब.... ? तेरा कर ले प्रभु! आहाहा!

भगवान तीर्थंकरदेव ऐसा कहते हैं, प्रभु! तू... यह मुनि कहे, तीर्थंकर कहे, ज्ञानी कहे, सब एक ही है, हों! आहाहा! भाई! तेरी जाती तो अन्दर आनन्द की—परमात्मा की जाति है, प्रभु! तू परमात्मा के कुल का, जाति का है। यह सिद्ध की जाति की जाति का इस राग में रुके, यह तुझे कलंक है, नाथ! आहाहा! यह भूल है, भाई! उसे अब तू तोड़। अब कुछ नया करना है या नहीं? यह तो किया था अनादि से। यही किया है, हों! दूसरा स्त्री-पुत्र का किया है कि कमाकर... वह कुछ किया नहीं।

मुमुक्षु : व्यवहार से वह तो कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से बोला जाता है कि कौन निमित्त था? करे कौन व्यवहार धूल? आहाहा!

यह प्रश्न आया था, वहाँ अभी उसमें। यह रजकणों का भिन्न-भिन्न होना... जैसे

निमित्त हों वैसा होता है, (नहीं तो) उसे ऐसा ही परिणमना (होता है), उस समय में कैसे? इस समय में अँगुली का ही परिणमन होता है, दाल (साथ में) रोटी के परमाणु ऐसे डुबोकर ऐसे हो। इसलिए कुछ अन्दर पर के कारण से उसमें पलटा होता है। उसे (स्वयं के) कारण से पलटा होता है तब तो एकरूप कैसे न हो? परन्तु एकरूप अवस्था होती नहीं। अरे रे!

ऐई! तुम्हारा वह चिमनलाल का पुत्र है न! ऐसे भारी आग्रही। और तब वापस थोड़ा पावर था, इसलिए कहा दूसरे दिन... बाकी प्रश्न... अभी। शान्तिभाई पहिचानते हैं, नहीं? सुखलालभाई। उसके भाई हैं और सुखलालभाई... का पुत्र, चुनीलाल, उसका पुत्र है। बापू! यह बात कुछ... कहा, भाई! हमारे तो किसी के साथ प्रश्न-उत्तर नहीं करना हो तो तब... दूसरे दिन टाले। उसे ऐसा लगा कि मेरा उत्तर नहीं कराया। आहाहा! भाई! यह तेरे निजघर की बातें तुझे समझ में न आवे, इससे तुझे ऐसा लगे कि हमारी बात (सच्ची) और हम जो कहते हैं, वह बात ऐसी इस प्रमाण नहीं आती, इसलिए यह बात खोटी है, ऐसा तुझे ठहराना है? समझ में आया?

'समकितरूप गहौ अपनौ गुन', लो। **सम्यक्गुण अपना ग्रहण करो**। शुद्ध चैतन्य आनन्दस्वरूप अखण्ड विज्ञानघन को ग्रहण करो—उसे पकड़ो। आहा! कहो, समझ में आया? **'समकितरूप गहौ अपनौ गुन'**, वह समकित, वह अपना गुण है। अर्थात् कि श्रद्धागुण त्रिकाल है, परन्तु पकड़ने की पर्याय वर्तमान गुण की दशा है। आहाहा! समझ में आया? अब इस गुण की तो कुछ कीमत नहीं। समकिती भी जो चारित्र पालता है तो समकित रहे, वरना रहे नहीं—ऐसा तो कथन करे। अरे! भगवान! क्या करना है तुझे? उसमें प्रवचनसार में है सही न! है सही, परन्तु वह किस अपेक्षा की बात है? प्रवचनसार में ऐसा है कि समकित-ज्ञान का अनुभव हो (तो) भी चारित्र के बिना मुक्ति नहीं (होती)। परन्तु वह किस अपेक्षा की बात है?

कहते हैं, **'समकितरूप गहौ अपनौ गुन'**, अपनों गुण—विभाव और राग कहीं अपना गुण—स्वयं का गुण नहीं। चाहे तो भगवान की भक्ति हो या गुण-गुणी का भेदरूप राग हो, वह कहीं अपना गुण नहीं है अर्थात् अपनी पर्याय नहीं है। राग की दशा तो पर की जड़ की दशा है। आहाहा! राग का विकल्प जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह

भाव भी अचेतन-जड़ है। भगवान चैतन्य के रस का कन्द है आत्मा तो। समझ में आया? लोगों को ऐसा लगे, यह तो सब एल.एल.बी. और एम.ए. की, क्या कहलाये बी.ए. की और... भाई! बी.ए. की नहीं बापू! तेरे पहले नम्बर की एकड़ा की बात है। अब कभी दरकार की नहीं न! आहाहा!

'करहु सुद्ध अनुभवकौ खेल... समकितरूप गहौ अपनौ गुन', देखो! **अपना सम्यक्त्वगुण ग्रहण करो और शुद्ध अनुभव में मस्त हो जाओ**। है न! **'अनुभवकौ खेल'** खेल का अर्थ यह किया। आहाहा! भगवान! जैसा तू राग का अनुभव करता है, वह मिथ्यात्व का अनुभव है। आहाहा! परन्तु **'करहु सुद्ध'** लो, यह करने का आया वापस। **'करहु सुद्ध अनुभवकौ खेल'**—ज्ञायक आनन्द अतीन्द्रिय प्रभु का अनुभव का खेल-मस्ती कर न! यह लड़के नहीं करते मस्ती? वे तो सब तूफान करते हैं यह। मस्ती किसी के साथ नहीं, तेरे साथ कर न मस्ती। ऐ पोपटभाई! अरे... अरे... गजब प्रभु!

परन्तु बाहर के माणा यह रुपये हों और दिखाई दे न अधिक। लड़के अच्छे हों, रुपये अच्छे हों। 'अच्छे' लोग मानते हैं न! अच्छा तो कोई नहीं। वह तो जगत की चीज़ है। उसमें ऐसा लगे इसको। प्रियता लगे। अपने स्वभाव की शत्रुता आवे। अब उनकी प्रियता। प्रिय! प्रियता करने जैसी चीज़ तो तेरी है। खेल तो कर, कहते हैं। आहाहा! देखो न! देखो, यह खेल! अनुभव का खेल! आहाहा! अनादि से राग का खेल किया है न भगवान! राग का खिलाड़ी है तू। आहाहा! वह तो अधर्म का खिलाड़ी है। आहाहा!

चाहे तो व्रत और देहदम पालता हो विकल्प, परन्तु उसकी एकताबुद्धि और वह मेरी चीज़ है—वह तो अज्ञान का—अधर्म का खिलाड़ी है। समझ में आाय? यह जरा पास में आओ थोड़े। उस कोने में हैं न सब। बहुत चौड़े सामने बैठ जाते हैं न! समझ में आया? क्या कहते हैं? **'करहु सुद्ध अनुभवकौ खेल'** लो, यह करने का आता है, यह। हमारे क्या करना? कि राग को अपना किया है, यह करना तो तू अनादि से करता है, अब उसे व्यय कर। वह तो उपदेश में तो ऐसा ही आवे न! आत्मा के आत्मन में मुड़ने से अनुभव का खेल होने से इस राग की एकता का खेल समाप्त हो जाता है। यह पर्दा वहाँ बन्द हो जाता है। समझ में आया? परन्तु बातें बहुत महँगी, बापू! आहाहा!

'पुद्‌गलपिंड भाव रागादिक' पुद्‌गलद्रव्य—यह शरीर, वाणी आदि यह सब जगत के रजकण हैं। आहाहा! और रागादिभाव, वह भी वास्तव में तो पुद्‌गल है। पुण्य और पाप की वृत्तियाँ—विकल्प, वह भी पुद्‌गल ही है। **(रागादिक) भावों में तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं...** है? **'इनसौं नहीं तुम्हारौ मेल'**। आहाहा! स्त्री-पुत्र के साथ कितना मेल होगा? शून्य। पोपटभाई? भाई! तेरा मेल राग के साथ और शरीर के—जड़ के साथ कहीं मेल नहीं है। मेल नहीं अर्थात्? तू है चैतन्य आनन्द जागृत स्वभाव का रस, वह है अचेतन अजागृतभाववाले जड़। दोनों का कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं है। बातें समझ में आये ऐसी हैं न वीरचन्दभाई?

मुमुक्षु : प्रेम से सुनने आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ...प्रेम से आये हैं।

मुमुक्षु : मेरा-मेरा करके मर गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मर गये अनन्त। आहाहा! मेरा खड़ा किया। विकल्प उठता है दया-दान, व्रत-भक्ति का, उसे भी मेरा माने तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! यह जैन की उसे खबर नहीं।

जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की जो वाणी में... आया था न कल, नहीं? **'सुद्ध नयातम वस्तु बिराजै बैनमें, सदा एकरस प्रगट कहीए जैनमें'** (११वाँ पद)। समझ में आया? कहते हैं, **'पुद्‌गलपिंड भाव रागादिक'**, भाव रागादिक, हों! वापस वे जड़कर्म और वे नहीं। आहाहा! पुण्य और पाप की वृत्तियाँ, वे भाव रागादिक और तू चैतन्य जागृत ज्ञान और आनन्द का स्वभाव, रागादि दु:खरूप भाव, पुद्‌गल, अचेतनभाव—दोनों का कहीं मिलान नहीं है। दोनों का कहीं मेल खाये ऐसा नहीं। **'इनसौं नहीं तुम्हारौ मेल'**—उनसे तुम्हारा कुछ सम्बन्ध नहीं है।

'ए जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन, जैसैं भिन्न तोय अरु तेल।' ये स्पष्ट अचेतन है... देखो! वह विकल्पमात्र राग, वह अचेतन है। आहाहा! यह तो राग मेरा और व्रत पालन करूँगा, वह विकल्प है, उससे मुझे धर्म होगा (ऐसा अज्ञानी मानते हैं)। अचेतन से चेतन को लाभ होगा। आहाहा! प्रकाशदासजी! ऐसा कहते हैं न?

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि ऐसा मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा मानते हैं। क्या करे ? प्रभु ! आहाहा ! अरे ! इसके घर की बातें इसे सुनने को मिलती नहीं, जिन्दगियाँ पूरी हो जाती हैं। अरे ! इसकी दया कौन करेगा ? समझ में आया ? लोगों ने सुना.... ऐसा भी लगे। स्त्रियाँ, पुत्र सब बहुतों को... यह बहुत अच्छा लगे।

अपवास किये हैं, आज अठ्ठाई की थी, फिर एक आसन पर दस सामायिक की। हमारे गाँव भावनगर में तो एक आसन पर तीस सामायिक निकाली थी चौबीस घण्टे की।

मुमुक्षु : चौबीस घण्टे में तीस !

पूज्य गुरुदेवश्री : ४८ मिनिट हुई न। ४८ मिनिट में एक सामायिक होती है न।

मुमुक्षु : एक मुहूर्त होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुहूर्त। फिर चौबीस घण्टे में तीस हो गयी न ! पोपटभाई थे न यहाँ बोटाद। पोपटलाल हाजावाला। तीस-तीस करते। पूरी रात जगे। यह तो तीस सामायिक का क्या कहलाता है ?

मुमुक्षु : मासखमण।

पूज्य गुरुदेवश्री : मासखमण... मासखमण किया। अरे भगवान ! यह तेरे स्वभाव की तो तुझे खबर नहीं और तीस सामायिक कहाँ से आयी तेरे घर में ?

मुमुक्षु : एक भी नहीं आयी थी तो तीस कहाँ से आवे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मनसुखभाई पहिचानते नहीं पोपटभाई को ? पोपटभाई थे न, साथ में उपाश्रय के साथ में। बेचारे बहुत सामायिक करते और प्रौषध करते।

'ए जड़ प्रगट'—देखो, यह पुण्य का विकल्प है, वह जड़ प्रगट है। उसमें चैतन्य भगवान ज्ञान के प्रकाश के नूर का एक भी अंश भी नहीं। आहाहा ! वह प्रकाश और अन्धकार को कहीं मिलान नहीं है। कितना मल हो ? दो है इतना मेल हो। दो हैं, परन्तु दोनों एक हैं, ऐसा मेल नहीं होता। समझ में आया ? कहो, मोहनभाई ! यह मेहमान को समझ में आता है या नहीं मोहनभाई ? ठीक है। बहुत सरस। आहाहा !

मुमुक्षु : कठिन लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो धीरे-धीरे चलता है। सरल बात है। भगवान चैतन्य चैतन्यसूर्य का पुंज है न, उसकी अपेक्षा से तो जो राग उठता है दया-दान, व्रत-भक्ति का, वह तो सब अचेतन है। वह चेतन और अचेतन का मेल कैसे हो? दो का फिर एक हो सकता (नहीं)। समझ में आया? परन्तु गजब काम भाई!

बड़े-बड़े महन्त नाम धरानेवालों ने मिथ्यात्व में गोते खाये हैं और दुनिया को वह परोसते हैं, तो प्रसन्न हो जाये कि आहाहा! क्या महाराज ने धर्म बताया यह। व्रत करना, तपस्यायें करना, आंबेल करना, यह करना, आहाहा! वर्धमान तप, आहाहा! एक अपवास और एक आंबेल, दो आंबेल और एक अपवास, तीन आंबेल और एक अपवास, चार आंबेल और एक अपवास, ऐसे जाल ठेठ तक चलता है कुछ।

मुमुक्षु : सौ आंबेल और एक अपवास।

पूज्य गुरुदेवश्री : सौ आंबेल और एक अपवास, लो। इसे खबर होती है। अपने को ऐसी सब खबर नहीं। लंघन है, भाई! तुझे खबर नहीं, बापू! उसका योगफल अन्धकार है। चैतन्य भगवान आनन्द का नाथ है, उसके साथ उन क्रियाओं का विकल्प उठे, उसे तू एकत्व मानता है, वह महा मिथ्यात्व और मोह है। वह जड़ प्रगट है, ऐसा कहते हैं। लो, यहाँ तो वापस गुपत... वह चैतन्य गुपत है, राग के अन्दर आगोपित। आहाहा! ऐई पोपटभाई! आहाहा! परन्तु गजब!

'ए जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन'। ए जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन... तेरा प्यारा चैतन्य का स्वभाव राग में आया नहीं, हों! ऐसा कहते हैं। वह राग से भिन्न गुप्त है। समझ में आया? क्यों? कि तुम अरूपी चैतन्य हो और वह तो अचेतन है। आहाहा! समझ में आया? **यह स्पष्ट अचेतन है।** प्रगट का अर्थ किया न 'स्पष्ट'। **तुम अरूपी चैतन्य हो...** भगवान! तू तो चैतन्य प्रकाश का सूर्य है अन्दर। आहाहा!

मुमुक्षु : गुपत का अर्थ...

पूज्य गुरुदेवश्री : अरूपी किया। **पानी से भिन्न तेल के समान उनसे न्यारे हो।** तेल और... वह अबद्धस्पृष्ट है न! पानी में तेल की बूँद पड़ी हो, वह पानी में नहीं

पसरती। वह कभी एक नहीं होती। पानी का पिण्ड... अधमण पानी हो और एक तेल की बूँद डालो, परन्तु भिन्न ही रहती है। इसी प्रकार **तोय** और **तेल। तोय** अर्थात् जल और तेल, दो शब्द तत्ता रखे। **तोय** और **तेल** ऐसा।

'जैसैं भिन्न तोय अरु तेल'—पानी और तेल भिन्न है। क्योंकि तेल है, वह चिकनाई भाग है। पानी तो उससे निर्मल स्वच्छ भिन्न है। उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य के प्रकाश का नूर का पूर अत्यन्त गुप्त अर्थात् राग के पीछे—अन्दर गुप्त है और रागादि प्रगट है ऐसे। यह गुप्त है तो वह प्रगट है। यह अचेतन है तो वह चेतन है। यह अरूपी है तो वह रूपी है। समझ में आया? लो, एक बोल हुआ ग्यारह (कलश), बारहवाँ पद। (अब) बारहवाँ कलश, पद तेरहवाँ है।

सम्यग्दृष्टि का विलास का वर्णन। धर्मी के विलास का वर्णन। धर्मी क्या विलास करता है? जगत के प्राणी राग और द्वेष के विलास में रम रहे हैं। आहाहा! यह बाहर के बाग-बगीचा में कोई विलास में रमता नहीं। मलूकचन्दभाई! नहीं रमता हो तुम्हारा न्याल? जिसे जो बाग में बैठे महीने-डेढ़ महीने।

मुमुक्षु : वहाँ तबियत बहुत अच्छी रहती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ ऐसी चिन्ता-बिन्ता बाहर की नहीं होती और वे लड़के बापूजी... बापूजी करे न और इसे हूंफ चढ़े न ए....ई बस कोट-पतलून पहनकर बैठे और कुर्सियाँ हों अच्छी। आहाहा!

कितना ही उसे कहा आओ... आओ... वंचावे उसे भाई प्रवीणभाई, तुम्हारे भाई। परन्तु बात हुई है न कि भाई महाराज को वंचाओ। मेरा तो इतना कि वह पुस्तकें हैं न, उसमें से कोई हमको देना। जीवराजभाई नहीं न, इसलिए पुस्तकों को किसी को कहीं वह नहीं करना, यहाँ ही रखना। तुम्हारे चिन्ता नहीं। मैं तो अकेला हूँ, अविवाहित अपुत्र परन्तु.... (ऐसा) बड़ा लेखन था। हाँ,... जीव ने जहाँ हो वहाँ ऐसा ही किया है, हों! वह उसका किया नहीं, हों... वह राग की एकत्वबुद्धि। पोपटभाई! आहाहा! कहते हैं, सम्यग्दृष्टि का विलास। धर्मी के खेल—धर्मीजीव की खेल की मौज का विलास। आहाहा!

भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं,
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः।।१२।।

भगवान देव शाश्वत् चिदानन्द भगवान विराजता है। दिव्य शक्ति का धनी भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति, स्वच्छता ऐसी अनन्त शक्ति का धारक देव आत्मा विराजता है, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! उसका पद। यह तो गद्य हुआ।

★ ★ ★

काव्य - १३

सम्यग्दृष्टि का विलास वर्णन (सवैया इकतीसा)

कोऊ बुद्धिवंत नर निरखै सरीर-घर,
भेदग्यानदृष्टिसौं विचारै वस्तु-वासतौ।
अतीत अनागत वरतमान मोहरस,
भीग्यौ चिदानंद लखै बंधमैं विलासतौ।।
बंधकौ विदारि महा मोहकौ सुभाउ डारि,
आतमाकौ ध्यान करै देखै परगासतौ।
करम-कलंक-पंकरहित प्रगटरूप,
अचल अबाधित विलोकै देव सासतौ।।१३।।

शब्दार्थः-विदारि=नष्ट करके। पंक=कीचड़। भेदज्ञान=आत्मा को शरीर आदि से पृथक् जानना।

अर्थः-कोई विद्वान् मनुष्य शरीररूपी घर को देखे और भेदज्ञान की दृष्टि से शरीररूपी घर में बसनेवाली आत्मवस्तु का विचार करे तो पहिले भूत, वर्तमान, भविष्यात् तीनों काल में मोह से अनुरंजित और कर्मबन्ध में क्रीड़ा करते हुए आत्मा का

निश्चय करे, इसके पश्चात् मोह के बन्धन को नष्ट करे और मोही स्वभाव को छोड़कर आत्मध्यान में अनुभव का प्रकाश करे; तथा कर्म-कलंक की कीचड़ से रहित अचल, अबाधित, शाश्वत अपने आत्मदेव को प्रत्यक्ष देखे।।१३।।

काव्य-१३ पर प्रवचन

कोऊ बुद्धिवंत नर निरखै सरीर-घर,
भेदग्यानदृष्टिसौं विचारै वस्तु-वासतौ।
अतीत अनागत वरतमान मोहरस,
भीग्यौ चिदानंद लखै बंधमैं विलासतौ।।
बंधकौ विदारि महा मोहकौ सुभाउ डारि,
आतमाकौ ध्यान करै देखै परगासतौ।
करम-कलंक-पंकरहित प्रगटरूप,
अचल अबाधित विलोकै देव सासतौ।।१३।।

'**कोऊ बुद्धिवंत नर निरखै सरीर-घर**' वापस नर के साथ नि और घर—मिलाना है न वापस देखो। यह शाश्वत् देव भगवान आत्मा है। आहाहा! अरे! अपने देव की खबर नहीं हो और भूत यदि प्रसन्न होकर आवे तो आहाहा! उसके पास देव आता है, हों! अब यह चमत्कार इस जगत के अन्धों को।

मुमुक्षु : कंकू निकाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : कंकू निकाले, यह कंकू निकाले। (पद) १३।

'**कोऊ बुद्धिवंत नर**' कोई चतुर पुरुष **विद्वान मनुष्य शरीररूपी घर को देखें...** शरीररूपी घर में देखे वहाँ आत्मा भेदज्ञान से भिन्न दिखता है। **भेदज्ञान की दृष्टि से शरीररूपी घर में बसनेवाली आत्मवस्तु का विचार करें—'भेदग्यानदृष्टिसौं'**—शरीर देखने से अन्तर... ऐसा। '**कोऊ बुद्धिवंत—विद्वान माणस निरखै सरीर घर**' शरीर में क्या है, यह वह अन्दर? '**भेदग्यानदृष्टिसौं**' यह राग और शरीर से भिन्न, इस चैतन्यस्वभाव से भरपूर... वह विचारता है '**विचारै वस्तु वासतौ**' शाश्वत् वस्तु भगवान आत्मा तो

अविनाशी शाश्वत् है। है, है और है। समझ में आया? '**विचारै वस्तु वासतौ**' ऐसा कहा है। आहाहा!

आत्मवस्तु का विचार करें... अन्तर वस्तु शाश्वत् चिद्घन, वह शाश्वत् वस्तु है, ध्रुव है न! उसका जो विचार करे तो '**अतीत अनागत वरतमान मोहरस**' भूत काल में, भविष्य में और वर्तमान मोहरस '**भीग्यौ चिदानंद लखै बंधमैं विलासतौ**।' कहते हैं, **पहले भूत वर्तमान, भविष्यत् तीनों काल में मोह से अनुरंजित और कर्मबंध में क्रीड़ा करते हुए आत्मा का निश्चय करें।** पहला तो राग में एकत्वबुद्धि रंग में रंगा हुआ अन्दर है, ऐसा देखे। है शरीर से भिन्न, परन्तु राग में रंगा हुआ है, ऐसा कहते हैं न! **मोह से अनुरंजित...** है। पर की एकता से रंगा हुआ है पर्याय में, उसकी पर्याय की व्याख्या की। अवस्था में—हालत में। भूतकाल अर्थात् गत काल, वर्तमान और भविष्य मानो रंग-राग से रंगा हुआ हो।

और **कर्मबंध में क्रीड़ा करते हुए आत्मा का निश्चय करें।** पहले तो अशुद्ध है, ऐसा निश्चय करे, ऐसा कहते हैं। पर के कारण अशुद्ध है, कर्म के कारण अशुद्ध है—ऐसा नहीं, यह कहना चाहते हैं। समझ में आया? '**भींग्यो चिदानंद**' ऐसा। भगवान आनन्द का रस प्रभु है। उस राग के रस से भींगा—भीना कहलाता है। आहाहा! कठिन बात, भाई! भाषा भी अलग, भाव अलग। '**भींग्यो चिदानंद लखै**' लखे अर्थात् जाने। '**बंधमें विलासतौ**'। अर्थात् कि कर्मबन्ध में क्रीड़ा करता। विलास कहा न। राग में—**बंध में क्रीड़ा करता हुआ आत्मा का निश्चय करे।** रमता... राग में क्रीड़ा करता है, वह आत्मा निश्चय से अशुद्ध पर्याय में है। शरीर की क्रीड़ा है उसकी या पर की क्रीड़ा, वह (नहीं)। समझ में आया? आहाहा!

'राणा क्रीड़ा छोड़ सेना आयी किनारे।' यह राणपुर में वह गढ़ नहीं, उसका वह कनकनगर है न! किनारनगर। ऊपर गाँव छोटा है। राजा था राजा, राणा। राणपुर के पास। 'राणा क्रीड़ा छोड़ सेना आयी किनारे।' किसी का लश्कर आया किनारे तक। वह खेल करता था। है न उस ओर कोने में नदी के वहाँ। और खेलता था। रानियाँ, राजा, और... अभी तो साधारण... खेलता (था) उसमें कहा, अरे! ''राणा क्रीड़ा छोड़ सेना

आयी किनारे।' ऐसे आत्मा को पहले अशुद्ध से रमता देखे और अब छोड़ उसे कि सेना आयी किनारे। अब काल आ गया तेरा धर्म प्राप्त करने का। आहाहा!

बड़ा युद्ध हुआ। .... परन्तु राजा कहता है, देखो! यह मेरी ध्वजा है। यदि नीचे गिरे तो समझना कि मैं मर गया। कुदरत से ऐसा हुआ कि वह ध्वजा किसी ने गिरायी। यह जीवित राजा की, हों! किसी ने गिरायी। वहाँ रानियाँ थी। गढ़ में वहाँ कुआं साढ़े चार सौ... उस कुएँ में रानी एक भू... भू। पड़कर मर गयी।

मुमुक्षु : भँवरियो कुआँ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ है न कुआँ। देख आये हैं न एक बार। आहाहा! अनादि का, कहते हैं कि यह राग की भँवरिया कुआँ में तू पड़ा है, हों! यह तो निर्णय कर, ऐसा कि तुझसे बँधे हैं, ऐसा निर्णय कर, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

इसके पश्चात्... अब आता है, हों! **'बंधकौ विदारि'** भारी कठिन काम, भाई! राग और आत्मा के बीच प्रज्ञारूपी छैनी मार। करवत मार करवत। दो टुकड़े हो जाये राग और आत्मा के। आहाहा! भारी ऐसी क्रिया भाई! इस क्रिया की सूझ पड़ती नहीं और अज्ञानी को वह राग की क्रिया करता हूँ और उसमें मुझे धर्म होता है। अधर्म सेवन करे और माने धर्म। आहाहा! क्या हो? लूटनेवाले मिले और स्वयं लुटता है।

वह बनिया था न! एक माल ले जाता... आता है न? दस-बीस हजार का कपड़ा लेकर बनिया गाड़ा में निकला। उसमें देखा कि वे डाकू आते हैं। गाड़ा खड़ा रखा। बिछायी बड़ी पछेड़ी। माल जमाया। डाकू आये। लो भाई माल, लो भाई माल। वे जाने ले तो जायेंगे। ऐई! इसलिए चोपड़ा रखा। लो, भाई ले जाओ। देखो, इस भाव है। वह मानो कि यहाँ कहाँ पैसा देना है? वह मानो कि नाम तो लिख लूँगा जमा, फिर और होगा उसमें। ऐसे तो ले जायेंगे डाकू मारकर ले जायेंगे, इसलिए बिछाया। ऐई शान्तिभाई!

तर्कबाज बनिया था न! वापस बीस-पच्चीस हजार का कपड़ा गाड़ी में भरा हुआ और .... उसमें आये वे डाकू। नीचे उतर गया, डाकू दूर से देखे वहाँ। पछेड़ी बिछाई, कपड़े के ढ़ेर किये। देखो, भाई! कौन सा माल चाहिए है, लो। कहे, ऐसे तो ले जानेवाला है। ले जाओ। यह लो। उसमें जंगल में बिल्ला निकली एक। देखो, भाई

साक्षी किसकी, इस बिल्ला की। देखो बिल्ला। साक्षी बिल्ला की। वे कहे, परन्तु कहाँ.... बिल्ला ?.... लिख लिया। नाम लिखा, स्थान लिखा। बिल्ला की साक्षी दी।

उसमें वापस नाम दिया, इसलिए बनिया ने फरियाद की। डाकू को कोर्ट में लाये। साहेब! यह माल ले गये हैं। यह देखो इनका नाम और बिल्ला की साक्षी। फिर वह बनिया घर का बिल्ला था, उसे वहाँ ले गया। देखो साहेब! बिल्ला की साक्षी। तो वह कहे, यह बिल्ला नहीं था तो.... वह कहे, दिक्कत नहीं। हमारे कहीं इस बिल्ले का काम नहीं। यह बिल्ला नहीं था तो दूसरा था न? जाओ। ऐसा बनिया पक्का कड़क। इसी प्रकार यह अपने आप लुटाता है। मानो इसमें लिख लूँ, फिर मिलेगा। क्या धूल मिलेगी राग में? समझ में आया? उसमें तो वापस फरियाद करके आवे, इसमें कुछ फरियाद करने से आवे ऐसा नहीं है।

‘**बंधकौ विदारि महा मोहकौ सुभाउ डारि**’, आहाहा! **डारि,** भाषा देखो। बन्ध का नाश करे.... **मोह स्वभाव को छोड़कर,** क्या कहते हैं? भगवान ज्ञान का स्वभाववाला प्रभु। उसे राग का मोह जो एकत्वबुद्धि, ऐसा मिथ्यात्वभाव, उसका स्वभाव छोड़। राग का **(मोही) स्वभाव छोड़कर आत्मध्यान में अनुभव का प्रकाश करे...** आहाहा! चैतन्य महासत्ता ध्रुव भगवान की ओर के अन्तर झुकाव से आत्मा के स्वभाव को विषय (बनाकर) ध्यान में लेकर और उसका अनुभव करे, प्रकाश करे। तो प्रकाश दिखाई दे, ऐसा कहते हैं मूल तो। समझ में आया? ‘**देखै परगासतौ**’। है न!

‘**आत्माकौ ध्यान करैं देखैं परगासतो।**’ उसमें अनुभव के आनन्द का प्रकाश आवे। समझ में आया? **अनुभव का प्रकाश करे।** राग का, विकल्प का जो प्रकाश करता था मोहजाल में, उसे आत्मा की ओर का झुकाव होने से, उस अनुभव का प्रकाश करे अर्थात् अनुभव प्रगटे। समझ में आया? यइ इसका नाम समकित और इसका नाम धर्म। कठिन भाई समकित की व्याख्या! उसे तो देव-गुरु-शास्त्र को मानो, हमको सच्चा मानो और जाओ तुमको धर्म, समकित हो गया, जाओ। पुस्तक में लिखे। बारह व्रत की हो न, पुस्तक दे न व्रत की, उसमें उस पुस्तक में लिखावे। हमको माना, वह तुमको समकित है। अब व्रत लो, वह तुमको चारित्र होगा, लो। ऐई जादवजीभाई! ऐसा था या नहीं?

मुमुक्षु : सब था।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब था। ये वहाँ प्रमुख थे कलकत्ता में, लो। आहाहा!

भाई! यह मार्ग लूटेरों का दूसरा, हों! आहाहा! यह वीतराग का मार्ग बापू! तुझे कान में पड़ा नहीं, भाई! वे गाते हैं न! .... गाता नहीं? अपने को राग भी बैठती नहीं, हों! परसों वह दोपहर में बोले थे लड़के। 'ऐय दोह्यलो रे लाल।' ऐसा करके बोला नहीं था रात्रि में? और राग तणपदी का। अपने को देसी न आवे न वह। परन्तु .... उसका देसी है रमेश का। आहाहा! 'आवो मनुष्यभव हवे दोह्यलो रे लाल।' यह सब चिट्ठी ले दी है अपने। ऐई! यह कल नहीं कहा था? उसमें है या नहीं? ऐसा दोपहर में वह बोला न ऐसा। उसकी देसी भी जरा वहाँ... प्रेमचन्दभाई के पुत्र का पुत्र है। शान्तिभाई! शान्तिभाई के साले का पुत्र है। 'मारग साधुना जगने दोह्यलां रे लो। दोह्यली जो ने आतम केरी वात। चेतो जीवरा आ मानवभव दोह्यलां रे लाल। चेतो रे जीवरा आ मानवभव दोह्यलां रे लाल।'

आहाहा! परन्तु उसकी देसी (लय) अलग, अपने को वह कण्ठ-बण्ठ नहीं और हलक उसकी अलग। वह ऐसा बोले, ऐसा बोले। परसों दोपहर में भक्ति के बाद, हिला दे सबको। प्रेमचन्दभाई नहीं तुम्हारे बींछियावाले, ऊपर नहीं बैठते? उनके पुत्र का पुत्र। मुम्बई घाटकोपर। अपने पाँच-छह, सात लड़के विचारक जगे हैं वहाँ और छह-आठ लड़के भजनवाले जगे हैं। परन्तु भजन में यह लड़का तो विचार के साथ में है। हाँ, ऐसा-ऐसा वापस बोलता है न। 'मानवभव जगमां दोह्यलो रे लोल। दुर्लभ दुर्लभ जैन अवतार, अेनी साथेनी...' यहाँ जैन अवतार और उसकी देसी कुछ अलग थी। परन्तु अब याद करके एकदम तीसरे पद को इस प्रकार से ऐसे रच देता, कहीं ऐसी भाषा।

सद्गुरु छाया दोह्यली रे लोल।
सरोवर कांठे रे मृगलां तरस्या रे लोल।
अे दोडे हांफी झांझवाना जलनी रे काज।
सरोवर कांठे रे मृगलां तरस्या रे लाल।
अे दोडे हांफी झांझवाना जलनी काज।
अरेरे! साचा वारि अेने ना मळे रे लोल।

वारि अर्थात् पानी। 'अरेरे! साचा वारि अेने ना मळे रे लोल।'

पण्डितजी नहीं थे परसों। चले गये न पण्डित तुम। दोनों चले गये चेतनजी। उसने भी ललकारा था न। ऐसे 'मनना रे मृगलाने पाछा वाळजो रे लो। अे मननां मृगलाने पाछा वाळजो रे लो। जोड़ी द्यो आतम सरोवर आज। अेने मळशे आतम सुख अमुला रे लोल।' इसे आत्मा का सुख अन्दर अनमोल मिलेगा, कहते हैं। हरिभाई तो थे। हरिभाई थे न! ऐसा पूरा गाया था। पृष्ठ रखा है। किसी को पृष्ठ लेना हो तो ले लो इसमें से। कहो, समझ में आया इसमें? वह लड़का ऐसा जन्मा है न! शान्तिभाई! उसके पिता प्राणलाल गुजर गये हैं। उनका लड़का। छोटा अभी कुँवारा है परन्तु ज्ञान भारी! कहना अच्छा। लो भाई! हमारे शान्तिभाई उसके फूफा होते हैं। कहना अच्छा। सच्ची बात। आहाहा! कहते हैं, अरे! इस प्रकार से '**आतमाकौ ध्यान करै, देखै परगासतो**' यह राग की एकता की जेल तोड़, उसका विलास छोड़ और यहाँ भगवान के आनन्द का विलास कर, तो तुझे समकित होगा और तुझे मोक्ष का बीज आयेगा। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २२, माघ कृष्ण ११, रविवार, दिनांक २१-२-१९७१
जीवद्वार, पद—१४, १५

यह समयसार नाटक, जीवद्वार। १३वाँ कलश। ३५ पृष्ठ पर है। मूल कलश, हों! पश्चात् उसका पद....

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या,
ज्ञानानुभूति-रिय-मेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मान-मात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात्।।१३।।

उसका १४वाँ पद है, १३वें कलश का।

★ ★ ★

काव्य - १४

गुणगुणी अभेद हैं, यह विचारने का उपदेश करते हैं। (सवैया तेईसा)

सुद्धनयातम आतमकी,
अनुभूति विज्ञान-विभूति है सोई।
वस्तु विचारत एक पदारथ,
नामके भेद कहावत दोई।।
यौं सरवंग सदा लखि आपुहि,
आतम-ध्यान करै जब कोई।
मेटि असुद्ध विभावदसा तब,
सुद्ध सरूपकी प्रापति होई।।१४।।

शब्दार्थः-विभाव=परवस्तु के संयोग से जो विकार हों। विभूति=सम्पदा।

अर्थः-शुद्धनय के विषयभूत आत्मा का अनुभव ही ज्ञानसम्पदा है, आत्मा और

ज्ञान में नामभेद है, वस्तुभेद नहीं है। आत्मा गुणी है, ज्ञान गुण है; सो गुण और गुणी को पहिचानकर जब कोई आत्म-ध्यान करता है, तब उसकी रागादि अशुद्ध दशा नष्ट होकर शुद्ध अवस्था प्राप्त होती है।

भावार्थः-आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है, इनमें वस्तुभेद नहीं है। जैसे अग्नि का गुण उष्णता है, यदि कोई अग्नि और उष्णता को पृथक् करना चाहे तो नहीं हो सकते। उसी प्रकार ज्ञान और आत्मा का सहभावी सम्बन्ध है, पर नामभेद अवश्य है कि यह गुणी है और यह उसका गुण है।।१४।।

काव्य-१४ पर प्रवचन

गुणगुणी अभेद हैं, यह विचारने का उपदेश करते हैं।

सुद्धनयातम आतमकी,
अनुभूति विज्ञान-विभूति है सोई।
वस्तु विचारत एक पदारथ,
नामके भेद कहावत दोई।।
यौं सरवंग सदा लखि आपुहि,
आतम-ध्यान करै जब कोई।
मेटि असुद्ध विभावदसा तब,
सुद्ध सरूपकी प्रापति होई।।१४।।

जीवद्रव्य की व्याख्या चलती है। जीवद्वार है न। '**सुद्धनयातम आतमकी**'— आत्मा शुद्ध नयस्वरूप द्रव्य, वह शुद्धनयस्वरूपी ही है। शरीर-वाणी-मन से रहित, पुण्य-पाप के विकल्प की स्थिति से रहित, एक समय की पर्याय में भी जिसका प्रवेश नहीं। एक समय की अवस्था ऐसी '**सुद्धनयातम आतम**' भगवान ध्रुवस्वरूप, नित्यानन्दस्वरूप ऐसा जो शुद्ध नयस्वरूप आतम, उसकी अनुभूति, यह द्रव्य लिया। वस्तु, जो समकित का विषय, ध्यान का ध्येय, एक समय की पर्याय का पूरा पर्यायवान वस्तु शुद्ध नयस्वरूप आत्मा है। समझ में आया? नये लोगों को यह सब ग्रीक-लेटिन

(अटपटा) जैसा लगे। ऐसा शुद्ध नयस्वरूप आत्मा! क्या है यह वह?

भाई! वस्तु है न यह! आत्मा है न! अस्ति है न! है न सत्ता! अनादि-अनन्त एक सदृश्य स्वभाव जो ध्रुव है, उसे ही यह शुद्ध नयस्वरूप आत्मा कहा जाता है। उसकी '**अनुभूति विज्ञान-विभूति है सोई**'—उसका जो अनुभव होना, वह पर्याय है, अवस्था है। अनुभव अवस्था में होता है। अनुभूति का विषय ध्रुव विज्ञानघन आत्मा है। जिसे धर्म प्राप्ति करनी हो, उसके लिये कहते हैं कि ध्रुवस्वरूप जो चैतन्य है, उसे अनुसरकर अनुभव करना, उसका नाम आत्मा की प्राप्ति और उसका नाम समकित कहा जाता है। कठिन बात, भाई! कहो, समझ में आया?

वस्तु है न सत्! परम स्वभावभाव, एकरूप त्रिकाल ज्ञान-आनन्द आदि वस्तु। यहाँ वस्तु लेकर फिर ज्ञान का अनुभव कहेंगे। यह तो वस्तु का अनुभव कहो या ज्ञान का अनुभव कहो—दोनों एक है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? गुणी, वह वस्तु और ज्ञान, वह गुण। वह वस्तु का अनुभव कहो या ज्ञान का अनुभव कहो, गुण-गुणी कहीं अलग नहीं। कहते हैं '**अनुभूति विज्ञान**' यह भगवान आत्मा पूर्ण स्वरूप शुद्ध आनन्दघन ऐसे आत्मा की—ऐसे आत्मा की, ऐसा। '**आतमकी**' है न! अनुभूति—उसे अनुसरकर आनन्द का प्रगट होना। अवस्था के स्वसंवेदनरूप से आत्मा प्रत्यक्ष वेदन में आवे, उसे अनुभूति कहते हैं, उसे समकित कहते हैं और उसमें आत्मा ऐसा है, ऐसी प्राप्ति होती है। समझ में आया?

'**सुद्धनयातम आतमकी, अनुभूति विज्ञान-विभूति है सोई।**' भगवान अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप चैतन्य अपना भाव त्रिकाल, उसे आत्मा (कहते हैं), उसकी अनुभूति वह विज्ञान, उसकी विभूति है। वह विशेष ज्ञान-आनन्ददशा हो, वह आत्मा की विभूति अर्थात् सम्पदा और लक्ष्मी है। मलूकचन्दभाई! यह पैसा-बैसा की लक्ष्मी—धूल को कहीं निकाल दिया। राग—विकल्प दया-दान-व्रत, वह इसकी लक्ष्मी नहीं। आहाहा! धर्मी के धर्म की लक्ष्मी... धर्मी ऐसा भगवान आत्मा, जिसमें पूर्ण ज्ञान-दर्शन आदि ध्रुवस्वभाव पूर्ण पड़ा है। एकरूप—सदृश है, ध्रुव है, नित्य है, अचल है। उसकी अनुभूति—उसके सन्मुख होकर उसका अनुभव होना... अनादि पुण्य और पाप के राग

के सन्मुख होकर, स्वभाव के अनुभव की उत्पत्ति का अभाव और विकार की उत्पत्ति का सद्भाव—यह संसार, यह दु:ख, और यह मिथ्यात्व, यह निगोद के पन्थ में जाने की रीति। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो भगवान आत्मा ज्ञान का पुंज प्रभु की अनुभूति, वह विज्ञान; वह विज्ञान, वह विभूति, वह आत्मा की लक्ष्मी। शुद्ध स्वसंवेदन आत्मा... वस्तु का स्व अर्थात् अपना, सम् अर्थात् प्रत्यक्ष, वेदन। आत्मा के आनन्द का, राग और निमित्त के अवलम्बन बिना, त्रिकाली द्रव्य के अवलम्बन से प्रत्यक्ष वेदन हो, उसे आत्मा की प्राप्ति हुई, ऐसा कहा जाता है और उस लक्ष्मी को यहाँ विभूति कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? **अनुभूति विज्ञान....** उसमें (अर्थ में) विषयभूत शब्द प्रयोग किया है। पाठ में '**सुद्धनयातम आतम**' है। अर्थ में भाई! विशेष शब्द प्रयोग किया है। पाठ में '**सुद्धनयातम आतम**' है। बस, अभेद है। क्या कहा वह?

'**सुद्धनयातम**' (अर्थात्) शुद्ध नयस्वरूप आतम ऐसा लिया है। अर्थ कहा, परन्तु इन्होंने ऐसा अर्थ दूसरा किया, परन्तु यह अर्थ में अन्तर कैसे पड़े, इसलिए और फिर... समझ में आया? यह तो समझाया है। समझाने की पद्धति है न! ऐसा कि ज्ञान... शुद्धनय जो ज्ञान का अंश और उसका विषय—दो भेद पड़ने से तो शुद्धनय का विषय रहता ही नहीं। शुद्धनय अर्थात् ज्ञान का निर्मल अंश और यह उसका विषय, वह तो भेद पड़ गया। समझ में आया? परन्तु '**सुद्धनयातम आतम**' शुद्धनयस्वरूप।

(समयसार की) ११वीं गाथा में यह कहा है न, '**भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' भूतार्थ त्रिकाल वस्तु, वह शुद्धनय है, (ऐसा वहाँ कहा)। क्या कहा यह? भगवान आत्मा भूत त्रिकाल द्रव्यस्वभाव, परमपारिणामिकस्वभाव, सहज स्वभाव, एकरूप—सदृशभाव, वह शुद्ध नयस्वरूप है। शुद्धनय और उसका विषय, ऐसा भेद उसमें है नहीं। आहाहा! कठिन भाई! ऐसा धर्म... समझ में आया? शुद्धनयस्वरूप भगवान आत्मा अर्थात् कि पवित्र स्वभाव का धाम चैतन्य प्रभु ऐसा जो आत्मा, उसका अनुभव, वह पर्याय हुई। समझ में आया? निर्विकल्प आत्मा के आनन्द की वेदन दशा—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष दशा, उसे यहाँ अनुभूति कहते हैं। समझ में आया?

ऐसा यह है। यह गुरु से मिले, ऐसा नहीं—यहाँ ऐसा कहते हैं। गुरु की भक्ति करे तो अपने को मिलेगा। यहाँ इनकार करते हैं (कि) ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वभाव ऐसा नहीं है। यह गुरु, स्वयं ही गुरु (और) देव है। गुरु और देव भगवान आत्मा स्वयं ही है। पूर्ण स्वरूप, वह देव है। पूर्ण स्वरूप का साधन करनेवाला भी वह स्वयं गुरु है। ऐ ई! उसमें बोलना नहीं आता। 'यह तेरहवाँ गुणस्थान तेरा नहीं' ऐसा तलकचन्दभाई कहते न! तेरहवाँ गुणस्थान तेरा नहीं। उसमें आया है। आहाहा! यहाँ तो दो पद में दो भाग किये। एक पद में वस्तु ध्रुवस्वरूप, वह शुद्धनयस्वरूप और उसका अनुभव होना। जो अनादि का पुण्य और पाप के राग का, आकुलता का, दुःख का वेदन था, वह वेदन पलटकर स्वभाव के आश्रय से वेदन जो हुआ, वह अनुभूति। अतीन्द्रिय आनन्द और राग बिना का स्व से प्रत्यक्ष वेदन हो, जिसमें आत्मा प्रत्यक्ष हो, ऐसे भाव को अनुभूति विज्ञान कहते हैं। पोपटभाई! भारी सूक्ष्म बातें यह! इसे धर्म की खबर नहीं होती और वह कहीं का कहीं लगा दिया है। यह धर्म की पहली सीढ़ी—शुरुआत की बात है। समझ में आया?

वह '**विभूति है सोई**' ऐसा। यह ज्ञान सम्पदा है उसकी। उस अनुभव की ज्ञान सम्पदा उसकी है। आहाहा! गजब! निरालम्ब वस्तु अन्तर में अभी सुनकर अन्दर बैठना इसे कठिन पड़े। क्योंकि अभ्यास नहीं न भगवान! सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव की वाणी में तो यह आया है कि, 'तेरा आत्मा, वही भगवान और उसका अनुभव वही तेरी विभूति और तेरी विज्ञानघन सम्पदा।' यह लड़के और पैसे की सम्पदा, वह तो कहीं धूल में चली गयी। कहीं चली गयी? व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी उसकी सम्पदा नहीं, ऐसा कहते हैं। जिससे निश्चय हो और जिससे यह हो, यह सब बातें बापू! निश्चय से व्यवहार विरुद्ध और व्यवहार से निश्चय विरुद्ध। विरुद्ध से अविरुद्ध होगा, ऐसा अन्दर डालते हैं। उसका अनुभव सीधा... प्रकाशदासजी! ऐसा स्वरूप है। आहाहा! फिर लोगों को ऐसा लगे कि यह तो निश्चय की बात करते हैं। व्यवहार की बात करते नहीं। व्यवहार पहले आता है। व्यवहार पहले कहना किसे, सुन न! पहले शून्य और बाद में एकड़ा, ऐसा है? आहाहा! भाई! तुझे खबर नहीं।

'केवलीपण्णंत्तं धम्मं शरणं।' केवली ने प्ररूपित वह यह धर्म। समझ में आया?

यह पैसे-बैसे से धर्म नहीं होता, ऐसा कहते हैं। पाँच-दस हजार खर्च कर दिये और धर्म हो जाये? बिल्कुल नहीं। तो नहीं देना न? प्रश्न किया था एक व्यक्ति ने। किसी ने कुछ किया था, नहीं? बींछिया।

मुमुक्षु : रतिभाई....

पूज्य गुरुदेवश्री : रतिभाई—प्रेमचन्दभाई का पुत्र। रतिभाई ने नहीं, चिमनभाई ने किया था। वह व्यक्ति होशियार है। प्रश्न किया था। यह ऐसा कहते हैं, पैसे से धर्म नहीं होता (इसलिए) अब देना नहीं न? स्पष्टीकरण के लिये, हों!

मुमुक्षु : लोभ करना न हमारे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु रखना, वह आत्मा का धर्म है? रख सकता है लक्ष्मी को? दे सकता है? जड़ की अवस्था और जड़तत्त्व को देना, वह तो जड़ मेरा माना, इसलिए मैंने दिया (ऐसा माना), वह तो मिथ्यात्वभाव हुआ, अजीव को जीव माना। आहाहा! परन्तु तुम्हारे जैसे पैसेवाले पैसे दो, पाँच, दस हजार, बीस हजार खर्च कर डाले, लाख, दो लाख। परन्तु इतने अधिक तो खर्च न करे, थोड़े बहुत खर्च करे। अब उसके पास पूँजी है, उतने खर्च कर डाले? आधा, चौथा, दसवाँ भाग खर्च करे। समझ में आया? शास्त्र में तो ऐसा आता है, लो। दसवाँ भाग आता है न भाई, नहीं?

मुमुक्षु : कमाई का दसवाँ भाग।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची। कमाई का आता है। पूँजी इकट्ठी हुई है, वह कमाई कर-करके हुई है न! आहाहा!

वस्तु विचारत एक पदारथ, नामके भेद कहावत दोई।
सुद्धनयातम आतमकी, अनुभूति विज्ञान-विभूति है सोई॥

यह ज्ञान का अनुभव कहो या आत्मा का अनुभव कहो, ऐसा कहते हैं। आत्मा का अनुभव कहो या ज्ञान का अनुभव कहो, दोनों एक ही इसकी विज्ञानलक्ष्मी है। समझ में आया? '**वस्तु विचारत एक पदारथ।**' वस्तु—भगवान सच्चिदानन्द प्रभु पूर्ण और उसका ज्ञान—ऐसे दो नाम भले पड़ो। ज्ञान की अनुभूति और आत्मा की अनुभूति—ऐसे शब्द भेद पड़ो, वस्तु में भेद है नहीं। समझ में आया? ऐसा धर्म कठिन, भाई! यह

लिखता है मनीष। ठीक है लिखता है तो सही। कहो, समझ में आया? '**नामके भेद कहावत दोई**', आत्मा गुणी और उसका ज्ञानगुण, वह गुणी का अनुभव और गुण का अनुभव—ऐसा नामभेद हो, वस्तुभेद है नहीं, ऐसा कहते हैं। कठिन बात, भाई!

परन्तु इसमें करना क्या पहले हमारे ऐसा कुछ आता है इसमें कहीं?

मुमुक्षु : आत्मा की अनुभूति करना, आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना। यह करना नहीं है? कुछ क्रिया करे, यह व्रत करे और तप करे, मन्दिर बनावे, यात्रा करने जाये न तो कुछ करे, तो कुछ किया कहलाये। भाई! वह तो शुभराग का विकल्प है और क्रिया जड़ की—चलने की-हिलने की, वह तो जड़ की क्रिया है। तब वह भाव नहीं करना न? परन्तु न करने का प्रश्न कहाँ है? वह होता है, उसे करना नहीं परन्तु वह आ जाता है। शुभभाव आये बिना रहता नहीं। जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक ऐसा विकल्प आता है। परन्तु आ जाये, वह करनेयोग्य है, वह वस्तु का स्वरूप है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

'**यौं सरवंग सदा लखि आपुहि।**' यह गुणी ऐसा भगवान और गुण ऐसा ज्ञान। ज्ञायकभाव और ज्ञायकभाव धारक, दोनों की पहिचान करके, '**सरवंग सदा लखि**' '**लखि**' अर्थात् जानकर। '**आपुहि**' आप—स्वयं अपने से जानना, ऐसा कहते हैं तथा राग और मन की जहाँ अपेक्षा नहीं, व्यवहार की जहाँ अपेक्षा नहीं, ऐसा कहते हैं। '**सरवंग सदा लखि**' गुण-गुणी अभेद है, ऐसा कायम उसका अनुभव स्वयं अपने से करना। व्यवहार की अपेक्षा रखकर करना, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह '**सरवंग**' **गुण और गुणी को पहिचानकर जब कोई आत्म-ध्यान करता है...** बराबर अर्थ नहीं किया। **सरवंग**—पूरा अंग—आत्मा और ज्ञान बुद्धि सर्वांग एक स्वरूप है, ऐसा मूल कहना है।

'**सदा लखि**' कायम उसके ध्यान में विषय तो गुण-गुणी का अभेद (रहे), भेद न पाड़कर अभेद लक्ष्य में लेकर '**आपुहि आतम-ध्यान करै जब कोई**'—अपने स्वभाव से स्वयं अपनी अपेक्षा करके, राग और विकल्प और निमित्त और राग के संग की तथा मन के संग की अपेक्षा छोड़कर, '**आपुहि आतम-ध्यान करै**'—स्वयं आप आत्मा...

आत्मा किसे कहते हैं ? वह तो वीतरागी विज्ञानघन है, वह आत्मा। ऐसा आप आत्मध्यान करे, वह आत्मा का ध्यान करे और आत्मा में एकाग्र होता है।

'जब कोई... सुद्ध सरूपकी प्रापति होई।' उसे अशुद्ध राग-द्वेष आदि का जो अनुभव था, उसका उसे नाश होता है। समझ में आया ? और शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होती है, अर्थात् क्या कहा ? कि अनादि से पुण्य और पाप के विकल्प की—अनात्मा की प्राप्ति थी। वह वस्तु के स्वभाव की दृष्टि में जाने से, उसे आत्मा ऐसा है—ऐसा वेदन में आने पर उसे आत्मा की प्राप्ति होती है। कठिन बात, भाई! उसका नाम समकित और उसका नाम धर्म कहा जाता है। कठिन काम, भाई!

'मेटि असुद्ध विभावदसा तब' 'मेटि असुद्ध विभावदसा तब' यह तो नास्ति से बात करते हैं, हों! **'मेटि असुद्ध विभावदसा तब'—'सुनिष्प्रकम्प'** है न, उसमें से लिया है। **'निवेश्य सुनिष्प्रकम्प'**—उसमें से लिया है जरा। है तो यह निष्कम्प—स्थिर होना...., परन्तु राग के विकल्प से छूटकर किसी भी गुण-गुणी के भेद का जो विकल्प-राग उठे, वह अशुद्धता है। उसे छोड़कर अर्थात् उसका लक्ष्य छोड़कर, स्वभाव की दृष्टि में आया, तब उसे रागादि अशुद्धता नष्ट होकर... देखो, उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य—तीन सिद्ध किये। समझ में आया ?

भगवान ध्रुव शुद्ध नयस्वरूप, उसका ध्यान करने से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, मलिन पर्याय जाती है, यह 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' द्रव्य का लक्षण है। समझ में आया ? ऐसा मार्ग वीतराग का होगा ? वीतराग का मार्ग तो भाई! दया पालना, लो। 'ढूंढत ढूंढत ढूंढ लियो सब वैद पुराण किताब में भी, ढूंढत है सब ही पावत, बिन ढूंढे नहीं पावत, ढूंढत है सब एक चीज़ पावत, जीव बिना जीवदया बिन धरम नहीं होई।' लो, परन्तु जीवदया किसकी ? तेरी या पर की ? इसका अर्थ है कुछ ? यह श्लोक आता है।

कहते हैं, भगवान! तेरी दया की बात है, पर की दया तो विकल्प है। वह तो वृत्ति परसन्मुख जाये तो वह विकल्प उठता है, वह विकल्प तो बन्ध का कारण है। आहाहा! चैतन्य भगवान अपने स्वभाव को अनुसरकर हो, उसमें अशुद्धदशा जाये और

शुद्ध स्वरूप की उत्पत्ति की प्राप्ति हो, ध्रुवपना तो कायम रहे। आहाहा! लो, यह धर्म प्राप्त करने कला और रीति। भारी धर्म ऐसा! ऐई चेतनदासजी। चेतनदासजी, प्रकाशदासजी।

मुमुक्षु : चैतन्य और प्रकाश दोनों आ गये न! अभेद आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! इसका भावार्थ लिया है यहाँ, हों!

भावार्थ:—आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है, उसमें वस्तुभेद नहीं। प्रदेशभेद नहीं, ऐसा। कि जहाँ शक्कर है, वहाँ मिठास है। मिठास के अंश अलग और शक्कर के अलग, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार भगवान आत्मा और उसका ज्ञानगुण... उस ज्ञानगुण का क्षेत्र—प्रदेश अलग और गुणी के प्रदेश—क्षेत्र अलग, ऐसा है नहीं। और गजब! गुण-गुणी का और क्षेत्र! मकान हो कि हमारे राजकोट में मकान है, फलाना में खेत है। ऐई! यह वस्तु है, भाई! तेरा क्षेत्र तो यहाँ अन्दर है। आहाहा! वह जहाँ जिस भाग में आत्मा है, उसी भाग में ज्ञान है। ज्ञान और आत्मा में कहीं भिन्नता अन्दर है नहीं। समझ में आया?

जैसे अग्नि का गुण उष्णता है। अग्नि का गुण उष्णता है, उसके साथ में समझाया है। **यदि कोई अग्नि और उष्णता को पृथक् करना चाहे तो नहीं हो सकते।** अग्नि और उष्णता को भिन्न करना चाहे तो नहीं हो सकते। उष्णता जाये तो अग्नि नहीं रहे, अग्नि जाये तो उष्णता नहीं रहे। **यदि कोई... उष्णता को पृथक्... नहीं हो सकते। उसी प्रकार ज्ञान और आत्मा का सहभावी सम्बन्ध है...** देखो! भगवान आत्मा में साथ में रहनेवाला ज्ञान का सम्बन्ध है। राग और पुण्य का और शरीर के साथ रहने का सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आत्मा का... और जानना कौनसा? यह आत्मगुण, हों! पर्याय की यहाँ बात नहीं है।

जानने का जो स्वभाव, स्व-भाव, स्व-भाव और स्वभाववान आत्मा, उसमें दोनों को सहभावी सम्बन्ध है। जहाँ आत्मा है, वहाँ ज्ञान है और ज्ञान है, वहाँ आत्मा है। कठिन ऐसी बातें!

मुमुक्षु : गुण-गुणी अभेद है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण-गुणी अभेद है। आत्मा... जैसे अग्नि की उष्णता, वह उष्णता और अग्नि पृथक् करने जाये तो पृथक् नहीं हो सकती; उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान (के बीच) सहभावी सम्बन्ध है। भगवान आत्मा ध्रुवस्वरूप द्रव्य और उसका ज्ञानभाव, ज्ञानस्वभाव (को) ध्रुव—दोनों का सम्बन्ध एक है। अनुभूति आत्मा की और ज्ञान की—दोनों की एक कही थी न! ज्ञान का अनुभव और आत्मा का अनुभव... तुम तो पहले आत्मा का अनुभव कहते थे। आत्मा का अनुभव करना, आत्मा का अनुभव करना। और वापस ज्ञान का अनुभव करना, ऐसा कहते हो।

और बात एक ही है। आत्मा, अन्दर देह के रजकण और राग से भिन्न पूर्णानन्दस्वरूप द्रव्य—वस्तु कहो या उसका ज्ञानगुण अविनाभावी रहा हुआ गुण कहो। ज्ञान और आत्मा का सहभावी—साथ में रहनेवाला सम्बन्ध है। **पर नामभेद अवश्य है...** नामभेद है। गुण का नाम ज्ञान और गुणी का नाम गुणी अथवा आत्मा—ऐसा नामभेद है, वस्तुभेद नहीं। **यह गुणी है और यह उसका गुण है।** (नामभेद है) लो। कहो, समझ में आया? यह १३वें कलश का अर्थ हुआ। १४वाँ पद और १३वें कलश का अर्थ।

अब १४ कलश।

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि–
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते,
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्।।१४।।

ज्ञानियों का चिन्तवन। यह १५वाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - १५

ज्ञानियों का चिन्तवन (सवैया इकतीसा)

अपनैंही गुन परजायसौं प्रवाहरूप,
परिनयौ तिहूं काल अपनै अधारसौं।
अन्तर-बाहर-परकासवान एकरस,
खिन्नता न गहै भिन्न रहै भौ-विकारसौं।।
चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ जीव,
जैसे लौंन-कांकर भर्‌यौ है रस खारसौं।
पूरन-सुरूप अति उज्जल विग्यानघन,
मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवारसौं।।१५।।

शब्दार्थ:-खिन्नता=न्यूनता। भौ (भव)=संसार। लौंन-कांकर=नमक की डली। निरवारसौं=क्षय से।

अर्थ:-जीव पदार्थ सदैव अपने ही आधार रहता है और अपने ही धाराप्रवाह गुण-पर्यायों में परिणमन करता है, बाह्य और अभ्यन्तर एकसा प्रकाशवान रहता है, कभी कमती नहीं होता, वह संसार के विकारों से पृथक् है, उसमें चैतन्यरस ऐसा ठसाठस भर रहा है, जैसे कि नमक की डली खारेपन से भरपूर रहती है। ऐसा परिपूर्ण स्वरूप, अत्यन्त निर्विकार, विज्ञानघन आत्मा मोह के अत्यन्त क्षय से मुझे प्रगट होवे।।१५।।

काव्य-१५ पर प्रवचन

अपनैंही गुन परजायसौं प्रवाहरूप,
परिनयौ तिहूं काल अपनै अधारसौं।
अन्तर-बाहर-परकासवान एकरस,
खिन्नता न गहै भिन्न रहै भौ-विकारसौं।।

चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ जीव,
जैसे लौंन–कांकर भर्यौ है रस खारसौं।
पूरन–सुरूप अति उज्जल विग्यानघन,
मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवारसौं।।१५।।

बनारसीदास (कहते हैं) प्रगट हो, वह पूर्ण हो, ऐसा। पण्डितजी! आहाहा! '**अपनैंही गुन परजायसौं प्रवाहरूप।**' कैसा है भगवान आत्मा? अपने गुण के भेद से प्रवाहरूप है। अभेद वस्तु, परन्तु गुण के भेद से प्रवाह ऐसा का ऐसा है। द्रव्य जैसा है, वैसे गुण भी ऐसे के ऐसे हैं। '**परिनयौ तिहूं काल अपनै अधारसौं।**' '**परिनयौ**' अर्थात् पारिणामिकस्वभाव, वह स्वयं अपने आधार से (उस) काल में स्वयं रहा हुआ है। समझ में आया? पर्याय... यहाँ यह भाषा ऐसी ली है। वास्तव में तो गुण–पर्याय अपने हैं। उसमें—अर्थ में लिखा है, **प्रवाहरूप गुण-पर्यायों में परिणमन करता है...** परन्तु वास्तव में तो वह गुण के भेदरूप परिणमन का स्वभाव कायम है उसका।

द्रव्य आत्मलाभ हेतुक परिणाम' नहीं आता भाई? पंचास्तिकाय (गाथा ५६)। **द्रव्य आत्मलाभ हेतु परिणाम**' भाषा तो ऐसी है। उसमें भी ऐसा लिखा है, देखो! 'सदाकाल चैतन्य के परिणमन से भरपूर है।' 'परिणमन से भरपूर' का अर्थ पारिणामिक –भावस्वरूप त्रिकाल भरपूर है। आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म मार्ग, ऐसा सूक्ष्म! समाज के लिये यह काम का होगा? सुखी होना हो उस व्यक्ति के (लिये है), तो सबके लिये यह ही है। आहाहा! क्या हो? जगत को लूटा है न जगत को धर्म के बहाने। लो, हमारे भाई कहते हैं। बात सच्ची है। ऐसा ही हुआ है।

भगवान! ऐसा मनुष्यदेह पाकर, मनुष्यदेह के अन्दर ऐसी वस्तु... आहाहा! 'दोह्यलो' ऐसा आया था न! दोह्यलो मानवभव, इसी प्रकार यह 'दोह्यलो आतमलाभ'। भगवान आत्मा अपने गुण के भेद से प्रवाहरूप अर्थात् कि अभेद और भेद—दोनों प्रवाह सदा ऐसे के ऐसे हैं। '**परिनयौ तिहूं काल अपनै अधारसौं।**' अपने पारिणामिकभाव से त्रिकाल आधार ऐसा का ऐसा है। आहाहा! कठिन, भाई! ऐसी व्याख्या धर्म की! ऐसा का ऐसा है। अपने द्रव्य का आधार है और गुण उसमें है, ऐसा कहते हैं। गुण और

द्रव्य ऐसे के ऐसे आधार (-आधेय), ऐसे के ऐसे आधार-आधेय एकरूप है। ख्याल में तो ले कि वस्तु कैसी है ! समझ में आया ?

आत्मा वस्तु है न, प्रभु ! वह आधार और उसका भाव आधेय। परन्तु वे इकट्ठे— अभेद हैं, हों ! वे स्वयं अभेदरूप से त्रिकाल ऐसे के ऐसे पारिणामिकभाव का आधार (द्रव्य और) पारिणामिकभाव द्रव्य का, ऐसी की ऐसी वस्तु त्रिकाल है। **'अपनैंही गुन परजायसौं प्रवाहरूप, परिनयौ तिहूं काल अपनै अधारसौं।' अन्तर-बाहर प्रकाशवान एकरस...** यह शक्ति का पूरा तत्त्व अन्तर में और उसका बाह्य अर्थात्, कि... यहाँ बाह्य का अर्थ साधन लिया है। पण्डित जयचन्दजी ने वचन और काय, ऐसा लिया है। परन्तु यहाँ तो वास्तव में त्रिकाल शुद्ध ध्रुव है, उसका प्रगटपना पर्याय का है, वह भी शुद्ध ही है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा ध्रुवस्वरूप, ध्रुवस्वरूप वह अभ्यन्तर और उसका आश्रय करके होनेवाली निर्मल वीतरागी दशा, वह बाह्य। क्योंकि पर्याय, वह बाह्यतत्त्व है। आता है न ! नियमसार, (गाथा ३८)। संवर-निर्जरा-मोक्ष बाह्यतत्त्व है, वह (आत्मा) अन्तःतत्त्व है। गजब, भाई ! राग को बहिर्तत्त्व कहना (वह तो) बहिरात्मा (भी) उसे माने, ऐसा कि हाँ, बहिर्तत्त्व है। कहते हैं, अन्तर एकरूप तत्त्व, वह अन्तःतत्त्व, वह अणशुद्ध दशा, वह पूरे अन्तः(तत्त्व) की अपेक्षा से बाह्यतत्त्व। समझ में आया ? कठिन, भाई !

'अन्तर-बाहर परकासवान एकरस' एक सा प्रकाशवान रहता है... सदृश ध्रुव और उसकी निर्मल दशा, वह निर्मल एकसी—एक सरीखी प्रकाशवान रहता है, ऐसा कहा है, बाहर में दो भेद किये न इसलिए। ...यह तो इतना भेद भी खटकता है। प्रकाशवान बाह्य अभ्यन्तर का अर्थ कि एकरूप वस्तु है, और उसका जो गुण है—वे दोनों बाह्य-अभ्यन्तर तत्त्व है। और बाह्य ऐसा कहो, उससे आधेय—रहा हुआ गुण है। वे दोनों एकरूप रहे हुए हैं त्रिकाल। समझ में आया ? वह खार का दृष्टान्त देंगे न ! खार—नमक की डली में अकेला खाररस ही भरा है। ऐसा अध्यात्मतत्त्व है। सुनने को मिले नहीं जगत को, बेचारे कहाँ जायें ? अरे ! मनुष्य (भव) चला जायेगा, हों ! आहाहा ! भगवान आत्मा...

‘**अन्तर-बाहर परकासवान एकरस**’ ऐसा है न इसलिए जरा... ‘**खिन्नता न गहै**’—उसमें खिन्नता नहीं। वस्तुस्वरूप अखण्ड द्रव्यरस... भावरस, वह द्रव्य का भाव, हों! अन्तरबाह्य, वह सब अन्तर का अन्तर।‘**खिन्नता न गहै**’, है न उसमें? देखो। **कमती नहीं होता है**। खिन्नता की व्याख्या ऐसी (की) है। कमी (नहीं) और **भिन्न है वो विकार से**। कमी नहीं और भव के विकार से भिन्न रहता है, ऐसा द्रव्यस्वरूप भगवान आत्मा आत्मद्रव्य, ऐसा ज्ञानी अपने आत्मा का विचार करता है। धर्मी जीव ऐसे आत्मा का, (कि) ऐसा है, ऐसा विचार करता है। ‘मैं कर्म के सम्बन्धवाला हूँ, बन्धवाला हूँ, रागवाला हूँ, उसे मैं तोड़ूँ’—ऐसा नहीं, कहते हैं। समझ में आया?

‘**अन्तर-बाहर-परकासवान एकरस, खिन्नता न गहै भिन्न रहै भौ-विकारसौं**’ भव का विकार जो संसार (वह) जिसके स्वभाव में नहीं, उसे यहाँ आत्मतत्त्व और द्रव्य कहते हैं। आहाहा! वस्तु मुक्तस्वरूप अखण्ड आनन्द और ज्ञान का सागर प्रभु! ‘**खिन्नता न गहै**’—उसमें कुछ खिन्नता—कमी न रहे। कमीपना उसमें रहे नहीं, कमीपना हो नहीं।‘**भिन्न रहै भौ-विकार**’—ऐसा भगवान आत्मा भव के उदयभाव के विकार से तो भिन्न त्रिकाल रहता है। रहा हुआ ही है ऐसा, यह कहते हैं। इसने माना है, वह अलग बात है। आहाहा!‘**भिन्न रहै भौ-विकार**’ ज्ञायकभाव तो ज्ञायकभावरूप रहा है। प्रवचनसार में आता है न २००वीं गाथा। अन्यथा कल्पित किया है—अध्यवसाय किया है, अन्यथा (कल्पित किया अर्थात्) अध्यवसाय किया है। ‘मैं राग और शरीरवाला हूँ’, ऐसा अज्ञानी ने अन्य-अन्य अध्यवसाय—खोटा निर्णय उसने खड़ा किया है। समझ में आया? ‘**भौ-विकार**’ है न अन्दर? देखो! **संसार के विकारों से पृथक् है...** विकार का अर्थ—जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव से भी भगवान आत्मा तो भिन्न है, उसे आत्मा कहते हैं। भव का भाव, वह आत्मा कहाँ? वह तो अनात्मा है। समझ में आया?

यह समयसार नाटक है। यह नट का नाटक है यह। सुनने को मिलता नहीं, विचारे कब? अरे! जिन्दगी जाती है, भाई! मृत्यु के समीप देह की स्थिति जाती है। आहाहा! ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है, भाई! चक्रवर्ती की सम्पदा मिलना सरल है, परन्तु ऐसे चैतन्य के आनन्दरस के घोलन का काल मिलना अनन्त काल में महादुर्लभ है। कहते

हैं, '**चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ जीव**'। '**चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ जीव**'— जीवद्वार है न! जीव की व्याख्या है न! जीव उसे कहते हैं। '**चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ**' देखो, गुण का प्रवाह (ऐसा) भेद किया है, उसका यह चेतनारस है अन्दर।

'**चेतनाके रस सरवंग**' सर्वांग। गन्ने के रस में सर्वांग मिठास है। शेरडी समझते हैं? गन्ना-गन्ना। चीनी में सर्वांग मिठास, नमक की डली में सर्वांग खाराश है। भगवान आत्मा सर्वांग—सर्व अंग—सर्व स्वरूप उसका चैतन्यरूप है। चैतन्य में भरपूर है वह। '**चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ जीव।**' भर रहा (अर्थात्) चेतन में नया भरा है, ऐसा है? आत्मा में चेतनरस भर रहा है (अर्थात्) अनादि से है, ऐसा का ऐसा। **चैतन्यरस ऐसा ठसाठस भर रहा है...** अनन्त-अनन्त केवलज्ञान की पर्यायें प्रगट करे तो भी उस रस में खिन्नता नहीं आती, न्यूनता नहीं आती, अपूर्णता नहीं होती। आहाहा! अरे! विश्वास तो लावे अन्दर से। ऐसा का ऐसा सन्देह और यह और यह और यह डाँवाडोल। समझ में आया?

कहते हैं, इस देह में भगवान आत्मा चैतन्य के रस से भरपूर तत्त्व है यह। विकल्प का रस है, वह चैतन्यरस नहीं। वह चैतन्य के विकल्प (भेद) गति, राग से भरपूर नहीं। उदयभाव के बोल हैं न, क्या कहलाते हैं कितने? २१। उनसे खाली है, ऐसा कहते हैं। यह भगवान चैतन्यनाथ के रस से भरा भण्डारवाला है। यह उदयभाव के भाव से अत्यन्त शून्य है। ऐसे आत्मा को आत्मा कहते हैं और उस आत्मा का अनुभव, उसे धर्म कहते हैं। भारी महँगा, भाई! ऐसा न समझ में आये तो फिर हमारे करना क्या? यह करते यहाँ... सामायिक करना, प्रौषध करना, प्रतिक्रमण करना, अपवास करना, कुछ करूँगा तो और... परन्तु यह नहीं समझ में आता, यह किसने कहा तुझसे? नहीं समझ में आता, ऐसी शल्य तूने रखी है। उसकी जाति, अपनी गन्ध अपने को न समझ में आये? और स्वयं छोड़ रखे अपनी चीज़ को? परन्तु उसकी इसने दरकार नहीं की।

'**चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ जीव, जैसे लौंन-कांकर भर्‌यौ है रस खारसौं।**' जैसे **नमक की डली खारेपन से भरपूर रहती है**। नमक, नमक—(गुजराती में) मीठुं (कहते हैं), उसकी डली—डली अकेले क्षाररस से भरी है। उसी प्रकार भगवान

आत्मा चैतन्यरस से भरपूर है। समझ में आया? **'जैसे लौंन-कांकर भर्यौ है रस खारसौं।'** खार को रस कहा और उसको डली कहा, इतना अन्तर, नामभेद पड़ा। आत्मा चैतन्यरस से भरपूर है, ऐसा नामभेद किया, बाकी चैतन्यरस और आत्मा एकरूप वस्तु है। यह किसकी बात करते हैं? यह तेरे घर की बात है। तेरे घर में तू इतना है, यह उसकी बात चलती है। आहाहा! उसकी खबर नहीं होती, उसकी पहिचान नहीं होती और उसे धर्म हो जाये! धरनेवाला—धर्म का करनेवाला आत्मा। धर्म तो पर्याय—अवस्था है। अब यह करनेवाला कितना कैसे है, उसके भान बिना, उसकी अवस्था निर्मल आवे कहाँ से? आहाहा! समझ में आया?

बाह्य के इस क्रियाकाण्ड में धर्म मानकर, इसने मनुष्यपना खोया। आहाहा! वीतराग का मार्ग सर्वज्ञ प्रभु का पन्थ अर्थात् सर्वज्ञस्वभावी तेरा पंथ। सर्वज्ञस्वभावी तू तेरे पंथ में अन्तर में जाना, वह शुद्ध पूर्ण स्वरूप सर्वज्ञ ध्यान में भरा हुआ भण्डार है। सर्वज्ञ—ज्ञान के रस से भरपूर है। सर्वज्ञ—सर्व जानने के स्वभाव से भरपूर है। समझ में आया? **'पूरन सुरूप अति उज्जल विज्ञानघन'** **'पूरन सुरूप अति उज्जल विज्ञानघन'**—कैसा है भगवान आत्मा अन्दर? परिपूर्ण स्वरूप है अन्दर। अति उज्ज्वल है। निर्विकार—विकार की जिसमें गन्ध नहीं, वासना नहीं।

'पूरन सुरूप अति उज्जल विज्ञानघन' ऐसा विज्ञानघन भगवान। जैसे घी में सर्दी में घी में... ऐसा घी जम गया हो, जिसमें अँगुली का तो प्रवेश करे नहीं, परन्तु खुरपा प्रवेश करना कठिन पड़े। तवेथो समझे? खुरपा, खुरपा। देखा हुआ है, हों! मैंने (संवत्) ८२ के वर्ष में, नहीं? धर्मचन्दभाई के घर में। तुम्हारे धरमशीभाई। वह डिब्बा आधा हो न आधा। आधा मण घी था, ऐसा ठण्डा और ऊपर से सर्दी। ऐसे निकालते थे। ऐसा कठिन, ऐसा कठिन। ८२ के वर्ष की बात है। आहाहा! ऐसा विज्ञानघन आत्मा है कि जिसमें विकल्प और उदय का, दया-दान के विकल्प का जिसमें प्रवेश नहीं। समझ में आया? आहाहा! अत्यन्त निर्विकार विज्ञानघन आत्मा... आहाहा!

'मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवारसौं'—मोह के अत्यन्त क्षय से मुझे प्रगट हो... ऐसा। **'मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवारसौं'** अर्थात् मलिनता टलकर, ऐसा। मेरा आत्मा

भगवान है, वह प्रगट होओ। प्रगट परिपूर्ण होओ। सर्वज्ञपद को लेता हुआ प्रगट होओ, ऐसी धर्मी की भावना होती है। उसे व्यवहार करना और ऐसी भावना होती नहीं, ऐसा बताते हैं। समझ में आया? आवे वह अलग बात है, परन्तु करनेयोग्य और करने की भावना है, ऐसा नहीं। मेरा ऐसा स्वरूप चैतन्यरस से भरपूर '**मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवारसौं**' मैल निकालकर, ऐसा। निखालसस्वरूप जो वस्तु है चोखी... चोखी... '**निरवारसौं**' का अर्थ किया है न क्षय से। '**मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवारसौं**'—राग के भाव का क्षय होकर मेरा चैतन्य उज्ज्वल भगवान पूर्ण मुझे प्रगट (होओ), ऐसी धर्मी की ऐसी विचारणा और भावना होती है। इससे विरुद्ध भावना हो, वह धर्मी की भावना नहीं। आहाहा! ऐसा कहते हैं। कठिन बात, भाई! यह करो, राग बढ़ाओ, भावना करो। शुभ राग करनेयोग्य है, ऐसी भावना करो तो आगे बढ़ा जायेगा। मिथ्यात्व में बढ़ेगा।

यह तो सम्यक्स्वभाव में अन्तर्मुख में चैतन्यरस से भरपूर भगवान—सन्मुख होकर ऐसी भावना (करे) कि मेरा आत्मा जैसा है, वैसा मुझे अशुद्धता टलकर पूर्ण प्रगट होओ। अशुद्धता का क्षय होकर, ऐसा। समझ में आया? '**निरवारसौं**' का अर्थ किया है क्षय। नहीं? '**निरवारसौं**' का अर्थ क्या होता है? निरवारकर। निरवारकर, टालकर, क्षय करके, लो ऐसा। आहाहा! '**विसेस निरवारसौं**' जो रागादि हैं न, वे '**निरवारसौं**' स्पष्टीकरण किया न मोह का। विशेष प्रकार रागादि मोह है मोह, उसका निकाल—नाश करके। एकरस का दल '**अखिल्यलीलायितम्**' ऐसा अर्थ किया है। विज्ञानघन आत्मा जैसा है, वैसा मुझे दशा में अशुद्धता नष्ट होकर, जैसा उसका स्वरूप है, वैसा क्षायिकभाव से प्रगट होओ, ऐसी धर्मी की भावना होती है। आहाहा!

देखो, एक-एक कलश में कितना भरा है! ओहोहो! परिपूर्ण... एक-एक में परिपूर्ण, एक-एक में परिपूर्ण... ऐसा का ऐसा वाँच जाये... एक व्यक्ति कहता था, मैं समयसार पन्द्रह दिन में वाँच गया। भाई! पन्द्रह दिन क्या? दिन और रात २४ घण्टे बैठे तो दो-चार दिन में पूरा हो जाये। अक्षर ही वाँचना है न तुझे! हों, संस्कृत टीका... हो जाये पूरा, परन्तु उसमें क्या है? पन्द्रह सौ, पन्द्रह सौ, दो हजार श्लोक का स्वाध्याय करते थे, दो घण्टे में—ढाई घण्टे में। गर्मी के दिन हों न, पोरसी दो-ढाई, तीन घण्टे की

हो न पोरसी रात की। स्वाध्याय हजार, १५००-१५०० श्लोक कण्ठस्थ। हीराजी महाराज बैठते थे। तीन जनें होकर सज्झाय दो-दो हजार श्लोक की हों, दो-तीन, ढाई घण्टे में कण्ठस्थ। परन्तु क्या है? वह तो बाह्य की चीज़ है।

हीराजी महाराज बेचारे बहुत निवृत्तिवाले बाहर से। किसी के साथ चर्चा-वार्ता नहीं, स्वाध्याय करे, बस। शास्त्र मुखाग्र-कण्ठस्थ हों न। दो-पाँच हजार श्लोक हों, वे फिरावे इकट्ठे होकर। आत्मा क्या चीज़ है, उसकी खबर बिना... चौथे काल के साधु कहलाते थे, लो। ऐई! अमरचन्दभाई और यह दोनों बैठे। तुमने देखा है या नहीं शान्तिभाई? (संवत्) १९७४ में। नागनेश में आते थे। ऐसा जो भगवान स्वरूप, अरे! उन्हें कान में पड़ा नहीं था, हों! आहाहा! यह बात विरह में पड़ गयी थी। वस्तु रह गयी अकेली। वर छोड़कर बारात जोड़ दी। पोपटभाई! यहाँ तो '**मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवारसौं**' राग की दशा अशुद्धता की टली, क्षय होकर, हमारा भगवान जैसा शुद्ध है, वैसा हमको प्रगट होओ।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २३, माघ कृष्ण १२, सोमवार, दिनांक २२-२-१९७१
जीवद्वार, पद—१६, १७, १८

नाटक समयसार, जीवद्वार। पृष्ठ ३८।

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ।।१५।।

इसका पद है।

★ ★ ★

काव्य - १६

साध्य-साधक का स्वरूप अथवा द्रव्य और गुण-पर्यायों की अभेद विवक्षा।

जंह ध्रुवधर्म कर्मछय लच्छन,
सिद्धि समाधि साधिपद सोई।
सुद्धपयोग जोग महिमंडित,
साधक ताहि कहै सब कोई।।
यौं परतच्छ परोच्छ रूपसौं,
साधक साधि अवस्था दोई।
दुहुकौ एक ग्यान संचय करि,
सेवै सिववंछक थिर होई।।१६।।

शब्दार्थ:-ध्रुवधर्म=अविनाशी स्वभाव। साध्य=जो इष्ट अबाधित और असिद्ध हो। सुद्धपयोग=वीतराग परिणति। सिववंछक=मोक्ष का अभिलाषी। थिर=स्थिर।

अर्थ:-सम्पूर्ण कर्म-समुदाय से रहित और अविनाशी स्वभाव सहित सिद्धपद साध्य और मन, वचन, काय के योगों सहित शुद्धोपयोगरूप अवस्था साधक है। उनमें

एक प्रत्यक्ष और एक परोक्ष है, ये दोनों अवस्थाएँ एक जीव की हैं, ऐसा जो ग्रहण करता है, वही मोक्ष का अभिलाषी स्थिर–चित्त होता है।

भावार्थः–सिद्ध अवस्था साध्य है और अरहंत, साधु, श्रावक, सम्यक्त्वी आदि अवस्थाएँ साधक हैं; इनमें प्रत्यक्ष–परोक्ष का भेद है। ये सब अवस्थाएँ एक जीव की हैं, ऐसा जाननेवाला ही सम्यग्दृष्टि होता है।।१६।।

काव्य-१६ पर प्रवचन

जंह ध्रुवधर्म कर्मछय लच्छन,
सिद्धि समाधि साधिपद सोई।
सुद्धपयोग जोग महिमंडित,
साधक ताहि कहै सब कोई।।
यौं परतच्छ परोच्छ रूपसौं,
साधक साधि अवस्था दोई।
दुहकौ एक ग्यान संचय करि,
सेवै सिववंछक थिर होई।।१६।।

साधक और साध्य की व्याख्या। साध्य है सिद्धपद पूर्ण। '**जहं ध्रुवधर्म**' यह सिद्धपद के ध्रुवधर्म की यह व्याख्या है। ध्रुव त्रिकाली है, (उसकी) अभी बात नहीं। यहाँ तो सिद्धपद, वह साध्य है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि साधक है। साधक और साध्य की बात चलती है। मुक्ति—मोक्षदशा, वह साध्य है। धर्मी को वह साध्य है और धर्मी की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि जो पर्याय निर्विकारी निर्दोषदशा, वह साधक है। व्यवहाररत्नत्रय, वह साधक नहीं, ऐसा सिद्ध करके और अपूर्ण शुद्धता, वह साधक है और पूर्ण शुद्धता, वह साध्य है। आहाहा! समझ में आया?

'**जहं ध्रुवधर्म कर्मछय लच्छन**' कर्म के क्षय से उत्पन्न हुई आत्मा की दशा... निमित्त की अपेक्षा से बात की है। लक्षण... कर्मक्षय लक्षण, ऐसा। विकल्प आदि या रागादि या शरीर, कर्म आदि का क्षय है, ऐसा जो सिद्धपद साध्य, वह उसका लक्षण है।

समझ में आया? '**जहं ध्रुवधर्म कर्मछय लच्छन सिद्धि समाधि साधिपद सोई**' उसे सिद्धिपद और समाधिपद और साध्यपद कहने में आता है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि का साध्य तो विकारभाव है। वह विकारभाव पूर्ण और उसका साधन मिथ्यात्वभाव है।

धर्मी जीव का साध्य, सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव ने ऐसा कहा... देखो कि ध्रुवधर्म जो आत्मा में ध्रुव... आता है न पहले पद में '**ध्रुवमचलमणोवमं...**' सिद्धगति की व्याख्या अभी चलती है। ध्रुव निश्चल पद प्राप्त हो, परम शुद्धता... 'मोक्ष कह्यो निजशुद्धता वह पावे सो पंथ, समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ।' वीतराग परमेश्वर ने यह मार्ग कहा। मोक्ष कह्यो निजशुद्धता... अपनी शुद्धता परिपूर्ण प्राप्त होना, उसका नाम साध्य सिद्ध समाधिदशा। पूर्ण समाधि हुई, ऐसा। आहाहा! वे समाधि करते हैं, वह यह नहीं, हों! समाधि अर्थात् पूर्ण समाधान शान्त और आनन्ददशा जिसे प्रगट हो गयी, ऐसी जो साध्यदशा, उसे यहाँ साध्य कहा जाता है। साध्यदशा को सिद्धपद कहा जाता है। सिद्धपद को साध्यपद कहो, ऐसा।

'**सुद्धपयोग जोग महिमंडित**' कहते हैं कि शुद्ध उपयोग वह साधक है। '**जोग महिमंडित**' परन्तु अभी योग का अत्यन्त अभाव हुआ नहीं, ऐसा कहते हैं। योगों का कम्पन है, ऐसा कहना है। मन, वचन और काया, वह तो निमित्त है परन्तु आत्मप्रदेशों में... वस्तु है, उसमें कम्पन है, तथापि शुद्ध उपयोग है, वह साधक है। कहो, समझ में आया? शुभ उपयोग... शुभ उपयोग, वह साधक नहीं—ऐसा कहते हैं। ऐई प्रकाशदासजी! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का विकल्प जाति, वह राग, वह साधक नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

'**सुद्धउपयोग जोग महिमंडित**' '**मन वचन काय के योगोसहित...** अर्थात् यह कम्पनसहित, ऐसा। वापस शुद्धोपयोग कहा और तब कम्पन है या नहीं वहाँ? ऐसा। ऐसा कि शुभ उपयोग नहीं परन्तु शुद्ध उपयोग, उसमें कम्पन है या नहीं? कम्पन हो, कम्पन है उसमें, कहते हैं। परन्तु शुद्ध उपयोग... अन्तर आत्मा की ओर का शुभ-अशुभ विकल्परहित शुद्ध आत्म व्यापार—अत्यन्त निर्विकल्प वीतरागी परिणाम को यहाँ शुद्ध उपयोग कहा है। इसलिए जरा ले लिया कि भाई! वीतरागी परिणाम ऐसे हों तो

वहाँ कम्पन है या नहीं? कम्पन हो। कम्पन तो केवली को भी होता है। समझ में आया?

'सुद्धउपयोग जोग महिमंडित' अवस्था साधक है,... उसे साधक कहा। **'साधक ताहि कहे सब कोई'** देखो, यहाँ तो भाषा ऐसी लेनी है। आत्मा अखण्ड आनन्दस्वरूप शुद्धस्वभाव की मूर्ति आत्मा है। उसकी अन्तर में दर्शन-ज्ञान और चारित्र के परिणाम वीतरागी निर्विकल्प दशा, वह आंशिक शुद्ध उपयोग चौथे से शुरु होता है, सम्यग्दृष्टि से। अभी कहा जाता है कि, वह छठवें तक तो शुभ उपयोग ही होता है। पण्डितजी! आहाहा! क्या हो? वस्तु अत्यन्त निर्मल आनन्द प्रभु है, उसका मार्ग अन्दर सूझता नहीं, इसलिए उसे यह शुभ उपयोग में भी सब भासित होता है। जो शुभराग विकल्प, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यह विकल्प राग है, उसे अज्ञानी धर्म कहता है और मुक्ति का साधक कहता है। उसका वीतरागमार्ग में निषेध है। आहाहा!

'सुद्धउपयोग जोग महिमंडित' योगसहित, ऐसा। **'साधक ताहि कहे सब कोई'** ऐसी भाषा कैसी ली है! सन्त धर्मात्मा तो उसे साधक कहते हैं। कोई दूसरे को साधक कहे तो वह धर्मी जीव है ही नहीं। है उसमें है? **सब कोई** है? कहाँ है? अभी इनको सूझ पड़ती नहीं। उस ओर नहीं, इस ओर है। अभी किस ओर है, इसकी खबर नहीं। यह १६वाँ.... १६वाँ। वह १५वाँ कलश था, परन्तु उसका पद है न, यह १६वाँ है। यह तो वह १५वें में खोजने गये। १५वाँ वह कलश है उस ओर तथा यह १६वाँ उसका अर्थ—भाषानुवाद है। समझे?

'साधक ताहि कहे सब कोई' लो, उसे तो सब साधक कहते हैं। शब्दार्थ रह गया है इसमें। **सब कोई** ऐसा कहा न! सब उसे साधक कहते हैं। यह शब्दार्थ रह गया है। कहते हैं, ऐसा इतना। अवस्था साधक है, बस इतना लिया है। परन्तु पद्य में 'जोग' है, (उसमें) न्याय है। भगवान आत्मा वीतरागी पिण्ड है। उसका स्वरूप ध्रुव नित्य शुद्ध ध्रुव अविकारी स्वभाव, जैसा भगवान को पर्याय में प्रगट हुआ है, वैसा ही उसका त्रिकाली स्वभाव है। ऐसे स्वभाव-सन्मुख की जो दृष्टि, ज्ञान और रमणतारूप शुद्ध उपयोगरूपी भाव, उसे साधक कहते हैं। साधक में साधन वह है। शुभभाव और देह

की क्रिया, वह कोई साधन नहीं है। समझ में आया? '**साधक ताहि कहे सब कोई**' वह पद मिलाने के लिये। उसमें **सोई** है न **साधिपद सोई,** इसलिए **कहे सब कोई** ऐसा उसके साथ (मिलान) करने के लिये। आहाहा!

'**यौं परतच्छ परोच्छ रुपसौं, साधक साधि अवस्था दोई।**' पूर्ण स्वरूप, वह प्रत्यक्ष है, साध्य है। अपूर्ण स्वरूप है, वह इसलिए उसे परोक्ष कहा गया है। साधक अवस्था परोक्ष है। परोक्ष अर्थात् ज्ञान की पर्याय में पूर्णता और अपूर्णता, ऐसा सीधे भासित (नहीं होता)। प्रत्यक्षरूप से नहीं, इतनी अपेक्षा, ज्ञान की अपेक्षा ली है। बाकी है तो वह अपना प्रत्यक्ष भाव। हाँ, परन्तु यहाँ उसे परोक्षरूप से गिना है। पूर्ण ज्ञान में पूरा आत्मा और पर्याय ज्ञात नहीं होते, इस अपेक्षा से वस्तु जो आत्मा अनाकुल आनन्द का स्वरूप, उसका साधक को आनन्द का वेदन होता है, परन्तु आनन्द ज्ञात नहीं होता, इस अपेक्षा से परोक्ष कहा है।

मुमुक्षु : किसकी अपेक्षा से?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी अपेक्षा से। समझ में आया? पूर्ण की अपेक्षा से।

मुमुक्षु : अज्ञानी की अपेक्षा से तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी की बात ही कहाँ है यहाँ? यहाँ तो साधक-साध्य के दो में प्रत्यक्ष-परोक्ष लेना है न! समझ में आया?

यह प्रत्यक्ष और परोक्ष और क्या यह कहते हैं? भाई! तेरी जाति में अखण्डानन्द प्रभु तू है। तेरे आनन्द के स्वाद के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन भी जहाँ सड़े हुए तिनके और कचरा लगे। आहाहा! ऐसा तू आनन्द का नाथ है, अतीन्द्रिय सुखसागर है। ऐसा अतीन्द्रिय सुखसागर आत्मा, केवली सर्वज्ञ ने कहा वैसा, हों! दूसरे अज्ञानी अल्पज्ञानी कहे, उसकी यहाँ बात नहीं। यहाँ तो परमेश्वर तीर्थंकरदेव केवली (ने कहा हुआ) जो आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड असंख्यप्रदेशी पूर्ण ब्रह्म आनन्द, उसकी जिसे अन्तर्मुख की स्वसन्मुख की दृष्टि है, स्वसन्मुख का ज्ञान है, स्वसन्मुख के अंश से विशेष स्थिरता है। चौथे में आंशिक है और विशेष बाद में... उसे यहाँ साधक कहते हैं। उसे यहाँ परोक्ष कहते हैं। समझ में आया? और सिद्ध की पूर्ण दशा हो, वह प्रत्यक्ष है केवलज्ञान। असंख्य प्रदेश, अनन्त

गुण लोकालोक सब उन्हें प्रत्यक्ष है। कहो, पोपटभाई! छह द्रव्य का ज्ञान करनेवाला है, वह (भी) छह द्रव्य में आवे, ऐसा नहीं। समझ में आया? छह लड़कों का ज्ञान करे ऐसा है, परन्तु छह लड़कों में वह आवे, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'साधक साधि अवस्था दोई' साधक अवस्था और साध्य—दो अवस्थायें हैं, हालत है। वह द्रव्य-गुण नहीं। द्रव्य अर्थात् त्रिकाली शक्ति का पिण्ड और गुण अर्थात् शक्ति। गुण कहो या शक्ति कहो। वस्तु और वस्तु का स्वभाव। भगवान आत्मा पदार्थ और उसका स्वभाव ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुण—ये दोनों ध्रुव हैं, नित्य हैं और यह साधक और साध्य दो अवस्था है, उसकी पर्याय है, उसकी दशा है। समझ में आया? यह तो द्रव्य-गुण और पर्याय की भी खबर नहीं होती और धर्म करते हैं चलो। धूल में भी धर्म नहीं। अभी धर्म किसे कहा जाता है, उसकी खबर नहीं। ऐ... नेमचन्दभाई! अभी सवेरे सामायिक की, कहते हैं, प्रतिक्रमण किये। किसकी सामायिक और किसके प्रतिक्रमण? वह आत्मा स्वयं कौन है, उसका तो भान नहीं। परमेश्वर ने आत्मा कहा तीर्थंकरदेव ने, वह आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड निर्मलानन्द प्रभु है। पूरा द्रव्य और गुण सब शुद्ध है। उस शुद्ध की श्रद्धा-ज्ञान हो, वह शुद्धता होती है, उसे यहाँ शुद्ध उपयोग कहा जाता है।

अब साधक बस... आठवें से साधक हो? वह शुद्ध उपयोग आठवें में हो, सातवें में हो, तब से साधक कहलाये...

मुमुक्षु : वे आठ कहें, दिक्कत नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आठ कहे, दिक्कत नहीं। बस... सातवाँ तो हो, नहीं तो छठवाँ नहीं होता। परन्तु अब यह क्या गड़बड़ करते होंगे?

मुमुक्षु : वह किसी समय हाँ करे....

पूज्य गुरुदेवश्री : सातवाँ कहाँ से आया परन्तु किसी समय? आहाहा!

मुमुक्षु : किसी समय हाँ करते हैं, किसी समय ना करते हैं। दो बात करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो करते हैं। अरे भाई! मुनिपना अलग चीज़ है। भाई! तुझे खबर नहीं। मुनिपना अर्थात् ओहोहो! परमेश्वरपद हुआ वह तो उन्हें। उनके तो अन्दर

में तीन कषाय (चौकड़ी) का नाश, वस्त्र और पात्र लेने के विकल्प का जिन्हें अभाव और जिनकी बाह्य दशा में नग्न दिगम्बर होती है, उन्हें परमेश्वर मुनि कहते हैं। उन्हें मुनि कहते हैं। आहाहा!

उसमें तो एक केवली हुए, वे माँ-बाप की सेवा के लिये घर में रह गये।

मुमुक्षु : सेवा बाकी रह गयी थी?

पूज्य गुरुदेवश्री : सेवा कुछ या दूसरा कुछ कहते हैं कुछ। क्या कहलाये सुरमा पुत्र? उसके लिये रहे हैं, ऐसा कहते हैं। घर में पुत्र को केवल (ज्ञान) हुआ, वे घर में रहे। उसमें घर में सब्जी लाये। अब सब्जी की छुरी नहीं मिलती। छुरी (सब्जी) काटने के लिये। केवली ने बताया कि वह छुरी कोठी के पीछे है। अरे भगवान! यह के कैसे केवली?

मुमुक्षु : केवली की भूल....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब भूल वे लोग कहाँ मानते हैं?

मुमुक्षु : वे तो जीवद्रव्यको मानते ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो... आहार करे वह मुनि, परन्तु मुख्य तो यह भाषा बोलते हैं और ऐसा है। स्त्री बोले, पूछे और भगवान उत्तर दे, ऐसा सब है उसमें तो। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, जीव को साधक, साध्य दोनों दशा है। दशा समझ में आती है? अवस्था है, पर्याय है, वर्तमान उसकी हालत है। और द्रव्य तथा गुण त्रिकाली ध्रुव है। भगवान आत्मा और उसकी शक्तियाँ जो हैं, वे तो ध्रुव हैं। उसका अन्तर एकाग्र होकर ध्यान किया और सम्यग्दर्शन—ज्ञान आदि प्रगट हो, वह उसकी दशा है, उसे यहाँ साधकदशा कहने में आता है। उसे यहाँ अवस्था शब्द प्रयोग किया है। समझ में आया? और साध्य भी एक अवस्था है, वह व्यवहार है। समझ में आया? '**अवस्था, साधक साधि अवस्था**' अब साधि तो मिलान के लिये किया है, बाकी साधक और साध्य अवस्था दोई, ऐसा है।

'**दुहुकौ एक ग्यान संचय करि**' साधक और साध्य का ज्ञान करके, '**सेवै**

सिववंछक थिर होई' शिव—मोक्ष—पूर्ण शुद्धता की अभिलाषावाला... शिव अर्थात् निरुपद्रव कल्याणमूर्ति आत्मा की दशा सिद्ध की, उसे यहाँ शिव, उसका वाँछक—मोक्ष का अभिलाषी जीव **'सेवै थिर होई'** यह साध्य-साधक का एकपना द्रव्य को सेवे, दोपना लक्ष्य में रखे नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? 'मार्ग ऐसा भारी दुर्लभ रे लोल' का अर्थ यह .... है। आहाहा! जादवजीभाई! देखो न, बाहर की जोखिम में तो कितना हो, लो, पैसेवाले के लिये। पैसे और वहाँ ले गये हों दिन में, शाम को पेटी घर ले आवे। वहाँ रखी जाये कहीं? लेन-देन करना हो वह कुछ, उसमें वह आवे हथियारवाला रास्ते में लूटने, हाय... हाय...!

मुमुक्षु : अभी तो कलकत्ता में ऐसी ही स्थिति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह है ऐसा कहीं आया था, उसमें आया था। कहीं आया है। यह वीरवाणी में आया है। यह वीरवाणी है न, उसमें (आया है)। आठ-दस तो खून प्रतिदिन होते हैं, ऐसा कहे।

मुमुक्षु : आठ-दस तो समाचार-पत्र में आते हैं। वास्तव में तो अधिक होते होंगे।

मुमुक्षु २ : प्रतिदिन कम से कम २५-३०।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! उन पैसेवालों को जवाहरात, जवाहरात का धन्धा हो या पैसा, उसे तो सवेरे सन्दूक (गल्ला) ले जाये और वहाँ शाम को वापस ले आवे घर में। वहाँ कहीं पैसा-बैसा रखा जाये दुकान में?

मुमुक्षु : बैंक में खाता रखा हो वहाँ छोड़ आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वहाँ छोड़ आवे। आहाहा! बहुत लिखा है। वीरवाणी में बहुत लिखा है कि यह क्या हुआ है, परन्तु यह अराजकता। इसी प्रकार इस धर्म में अराजकता हुई है। आहाहा! राग से धर्म होता है, पुण्य से धर्म होता है, व्यवहार से धर्म होता है, यह सब अराजकता—आत्मा का खून है। समझ में आया?

वीतराग का धर्म वीतरागभाव से शुरु होता है। यह तो वीतराग का धर्म है, यह वस्तु का स्वभाव है। कहते हैं, **'दुहुकौ एक ग्यान संचय करि'** अवस्था—अधूरी साधक और पूरी (पूर्ण) उसका ज्ञान रखे परन्तु **'सेवै सिववंछक थिर होई।'** परन्तु

स्वरूप में स्थिर होकर आत्मा की सेवा करे। दोनों के ऊपर लक्ष्य रखे नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? उसके ज्ञान में दो बात आवे, परन्तु सेवन का एक आवे ! आहाहा ! सेवना अर्थात् क्या ? उस स्वरूप शुद्ध में एकाग्र होना, वह सेवना—उपासना का आता है न छठी गाथा में, नहीं ? परद्रव्य से लक्ष्य छोड़कर, स्वद्रव्य की उपासना और सेवा करने से शुद्ध ऐसे अभिलभ्यते, उसे शुद्ध कहा जाता है। वह शुद्ध, वह ध्रुव शुद्ध वहाँ, हों ! वहाँ ध्रुव शुद्ध है। परद्रव्य से आत्मलक्ष्य छोड़कर शुद्ध चैतनद्रव्य जो त्रिकाली, उसकी सेवा करने से अर्थात् उसकी ओर ढलने से जो शुद्धता प्रगट हो, उसे यह ध्रुव शुद्ध कहा जाता है।

यहाँ तो शुद्धता की पर्यायों के दो भेद हैं। दो का ज्ञान लक्ष्य में रखे, परन्तु सेवन करना है त्रिकाली ध्रुव को। समझ में आया ? यह सेवन और सेवन करनेवाला और ऐसा कुछ.... उस एकेन्द्रिय की दया पालना, व्रत पालना, अपवास करना, कन्दमूल नहीं खाना, ... समझ में तो आये। इसमें कुछ अता-पता हाथ आता नहीं। उसमें क्या धूल समझ में आये ? वह तो सब अज्ञान है, सुन न ! पर का करना और पर का छोड़ना, वह सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा ! समझ में आया ? पर के ग्रहण-त्याग से तो आत्मा शून्य है। ग्रहण-त्याग से तो शून्य है परन्तु उसकी यह अनादि की बाह्य के ऊपर दृष्टि है। बाह्य जरा सा छोड़े तो यह त्यागी हुआ, उसकी महिमा आवे।

यहाँ कहते हैं कि अन्दर का शुद्धस्वरूप जो वीतरागी परमात्मस्वरूप आत्मा का, उसमें एकाग्र होकर जो शुद्धता... पुण्य-पाप के भाव, वे तो अशुद्ध हैं, उन्हें छोड़कर शुद्ध स्वभाव के आश्रय से जिसमें आत्मा का अवलम्बन आवे। शुभभाव में आत्मा का अवलम्बन नहीं, उसमें तो पर का निमित्तपना अवलम्बन है। समझ में आया ? '**सेवै सिववंछक थिर होई**' लो। **ये दोनों अवस्थाएँ एक जीव की है, ऐसा जो ग्रहण करता है, वह मोक्ष का अभिलाषी स्थिर-चित्त होता है...** स्वरूप में स्थिर होता है। चैतन्य भगवान, आहाहा ! वह मार्ग में आवे अन्दर में, स्थिर हो, उसे यहाँ मोक्ष के उपाय को साधकदशा कहा जाता है। कठिन बातें ! बात पकड़ना कठिन है। क्या कहते हैं और कैसा मार्ग ! प्रवाह अन्यत्र बदल गया है न !

नदी का प्रवाह होता है न ! यह किनारे हो तो बहुत ठीक पड़े गाँववालों को।

हमारे उमराला में बड़ी नदी, इसलिए कई बार पानी का बहाव इस ओर आवे तो लोगों को ठीक पड़े। उस ओर हो तो कितना दूर भरने जाना पड़े रेत लाँघकर। दोनों देखा है। बड़ी नदी है न जोरदार। बहुत.... काणुभार। यदि इस ओर के बहाव में तब तो महिलायें प्रसन्न हो जायें। हाँ, पानी भरने का नजदीक है अपने। परन्तु यदि बहाव उस ओर गया आगे ठेठ.... फिर गड्ढा-गड्ढा खोदकर मजदूरी करे। उस ओर नजदीक न (हो इसलिए) इतना सब लाँघकर जाना पड़े। गड्ढा खोदे और करे। ऐसा करते थे। पानी उस ओर चला हो, परन्तु यहाँ क्या करना? इसलिए सर्वत्र जाना तो वापस कलश उठाकर यहाँ लाना (हो) तो कचूमर निकल जाये। इसी प्रकार यह बहाव... बहाव हो जिसका अज्ञान में पर में, वह उस किनारे गया वह तो। परन्तु जिसका बहाव स्वभाव सन्मुख मुड़े, वह इस किनारे नजदीक में आया वह तो। समझ में आया?

यह सब देखा हुआ है न छोटी उम्र में! तेरह वर्ष तो वहाँ रहे थे न उमराला में। सब देखा हुआ थोड़ा... थोड़ा... थोड़ा... थोड़ा। बहुत प्यास लगी हो तो वहाँ आसपास पनघट न हो, तो वहाँ जायें लड़कों को लेकर, नजदीक ही विद्यालय। पनघट नजदीक में न हो, विद्यालय का पानी ऐसा भरनेवाली न आयी हो, तो लड़के वहाँ जायें, वह पानी भरती हो न पनघट। लाओ कहे, पानी पीना है। वह छालियो... छालियो हो न, वह छालियो भरकर दे। नजदीक में हो वह। ऐई पोपटभाई!

मुमुक्षु : पानी कहाँ से दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : वीरडा में से दे, वीरडा में से दे।

यहाँ कहते हैं, आत्मा बड़ा वीरडा है, भाई! आहाहा! यह वह पानी भरे कलश में इसलिए वापस निकलता जाये अन्दर से, हों! पानी भरा हुआ, ऐसा हो इतना डबरा। पानी भरे उसमें से पूरा बहेड़ा दो मण का तो भी पानी तुरन्त ही भर जाये, तुरन्त भर जाये। ऐसा प्रवाह पाताल का है न! उसी प्रकार चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द और ज्ञान का पाताल कुँआ है वह। उसमें दृष्टि देकर शुद्धता निकाले, उसे अनुभव करे... निकालते-निकालते अनन्त अनुभव हो तो भी कहीं कम हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

झगड़ा... झगड़ा... झगड़ा... देखो न, वह कहे कि परमाणु बिना अपने विचार न

कर सकें पुद्‌गल बिना। ले, यह गजब है न! वह उज्जैन का बड़ा विद्वान कहलाता है उनमें।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : आँख कौन देखती है? आँख कहाँ है? देखनेवाला तो ज्ञान है। एक भाई ने पूछा था तब सेठिया ने वर्णीजी को। 'आँख बिना दिखता नहीं, नाक बिना सूँघा नहीं जाता, धर्मास्ति बिना गति होती नहीं, अधर्मास्ति बिना स्थिर होता नहीं, आकाश बिना रहा जाता नहीं, काल बिना परिणमता नहीं, बराबर है न?' कहे 'हाँ'। अरे भगवान! यह कहते हैं कि आत्मा को विचार... लिखा है न! वाँचा है न? नहीं कहा? विचार या कोई ऐसा शब्द है।

देखो। 'पुद्‌गल के बिना तो विचार भी नहीं कर सकते हैं।' ठीक 'हम जिस जगत में रह रहे हैं, उसमें जड़ पुद्‌गल को ग्रहण किये बिना हमारा जीवन चल ही नहीं सकता। इस पृथ्वी पर हम रह रहे हैं। भूख लगने पर अन्न खाते हैं, प्यास लगने पर जल पीते हैं।' ऐसी बातें! कौन खाये, कौन पीवे, वह तो जड़ की क्रिया है। ऐई नेमचन्दजी! यहाँ तो छोटे लड़के कहें, यह कौन खाता है? जड़ को खाये आत्मा? जड़ को स्पर्श नहीं करता, उसे खाये कैसे?

मुमुक्षु : राग को आत्मा खाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग का अनुभव, वह जीव का अनुभव नहीं। आहाहा! ऐसा बहुत सब लिखा है, उसमें, लो!

है न। 'पृथ्वी पर हम....' है न। 'आकाश में हम अवगाहन—स्थान लिये बैठे हैं। काल हमें नया-पुराना बना रहा है।' काल बना रहा है नया-पुराना? 'चलते हैं तो भी बाहर से पुद्‌गल को ग्रहण करके धर्मास्तिकाय की सहायता से चलते हैं।' यह सब प्रश्न उठे थे सेठिया को। क्या है कहा यह? 'अरे! बिना उन्हें ग्रहण किये एक शब्द भी नहीं बोल सकते हैं, लो। यहाँ तक कि चिन्तन और विचार भी तभी किया जा सकता है, मनोवर्गणा के पुद्‌गलों को ग्रहण किया जाये। इसका मतलब यह हुआ कि पुद्‌गल के सहयोग के बिना हम विचार भी नहीं कर सकते हैं। सर्वथा ही चैतन्यमात्र को पुद्‌गल

का सहारा लेना पड़ता है, लो ! जिसे पुद्गल के ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती, वे एकमात्र सिद्ध परमात्मा हैं, अन्य कोई नहीं।' जाओ।

यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्दर्शन (के अभाव) में अज्ञानी मानता है कि रागवाला हूँ, पुद्गलसहित हूँ, परन्तु सम्यक् भान होने पर उन सहित हूँ ही नहीं। रागसहित नहीं, फिर पुद्गल का सहारा लेकर बोलना, वह है कहाँ ? आहाहा ! पण्डितजी ! अरे भगवान ! क्या किया तूने यह ? आहाहा !

भावार्थ लिया। **सिद्ध अवस्था साध्य है और अरिहंत, साधु, श्रावक, सम्यक्त्वी आदि अवस्थाएँ साधक हैं।** देखो ! समकिती को भी साधक कहा यहाँ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : है न, उसमें—पाठ में ऐसा है। पूर्व अवस्था साधक और उत्तर अवस्था साध्य। वहाँ चौदह गुणस्थान में ऐसा लिया है। अरिहन्त सर्वज्ञ परमेश्वर को भी साधक में गिना, अभी वे पूर्ण नहीं न, इसलिए। समझ में आया ? साधु आत्मज्ञानी धर्मात्मा वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनि होते हैं, जंगलवासी मुनि होते हैं, उन्हें भी साधक कहा जाता है। श्रावक समकिती ज्ञानी पाँचवें गुणस्थानवाले... श्रावक, यह वाडा का श्रावक नहीं, हों ! वे वाडा के श्रावक, श्रावक ही नहीं। ऐई !

मुमुक्षु : कहते लोग....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ। कहते। यह सब आता था। खबर है न ! सावज... सावज ! श्रावक पंचम और समकिती चौथेवाले, लो। 'आदि अवस्थायें साधक हैं।' साधक में तो शुद्ध उपयोग लिया यहाँ।

'**सुद्ध उपयोग जोग महिमंडित, साधक ताहि कहे सब कोई**' आहाहा ! (समकिती को) भले शुद्ध उपयोग त्रिकाल कायम न रहे, परन्तु शुद्ध परिणति है, वही शुद्ध उपयोग है। समझ में आया ? शुद्ध स्वभाव पवित्र वीतरागस्वरूप आत्मा का, उसका जो व्यापार शुद्ध है, वह शुद्ध परिणति, वही शुद्ध उपयोग है। भले ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान छोड़कर एकाकार उपयोग हो, वह तो और बराबर है। परन्तु वरना तो वह शुद्ध परिणति है शुद्ध अवस्था, जैसा द्रव्य और गुण है, वैसी दशा, उसे भी शुद्ध उपयोग कहा जाता है। आहाहा ! समझ में आया ?

इनमें प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद है। समकित से लेकर अमुक तक परोक्ष है और फिर प्रत्यक्ष। **ये सब अवस्थाएँ एक जीव की हैं।** एक भगवान आत्मा की दशा है। चन्द्र की जैसे दूज उगे और पूर्णिमा हो—यह सब दशा चन्द्र की है। उसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञायकभाव की प्राप्ति से लेकर सिद्ध की दशा, वह सब जीव की दशा है। वह कहीं कर्म से हुई दशा और कर्म की है, ऐसा है नहीं। **ये सब अवस्थाएँ एक जीव की हैं। ऐसा जाननेवाला ही सम्यग्दृष्टि होता है।** ऐसे जाननेवाले को सम्यग्दृष्टि-धर्मी कहा जाता है। समझ में आया?

अब, **द्रव्य और गुण पर्यायों की भेद-विविक्षा**' १६वाँ श्लोक। दोनों लेना है न वापस यहाँ। अभेद और भेद दोनों बतलाना है यहाँ। यहाँ विशिष्टता से शब्द है, देखो!

दर्शनज्ञान-चारित्रैस्त्रित्वा-देकत्वतः स्वयम्।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः।।१६।।

इसका १७वाँ श्लोक (पद्य)। १६वाँ कलश है और उसका १७वाँ भाषानुवाद है।

★ ★ ★

काव्य - १७

द्रव्य और गुण-पर्यायों की भेद-विवक्षा (कवित्त)

दरसन-ग्यान-चरन त्रिगुनातम,
समलरूप कहिये विवहार।
निहचै-दृष्टि एकरस चेतन,
भेदरहित अविचल अविकार।
सम्यकदसा प्रमान उभै नय,
निर्मल समल एक ही बार।
यौं समकाल जीवकी परिनति,
कहैं जिनेंद गहै गनधार।।१७।।

शब्दार्थ:-समल=यहाँ समल शब्द से असत्यार्थ, अभूतार्थ का प्रयोजन है। निर्मल=इस शब्द से यहाँ सत्यार्थ, भूतार्थ का प्रयोजन है। उभै नय=दोनों नय (निश्चय और व्यवहारनय)। गनधार=गणधर (समवसरण के प्रधान आचार्य)।

अर्थ:-व्यवहारनय से आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन गुणरूप है; यह व्यवहारनय निश्चय की अपेक्षा अभूतार्थ है, निश्चयनय से आत्मा एक चैतन्यरस सम्पन्न, अभेद, नित्य और निर्विकार है। ये दोनों निश्चय और व्यवहारनय सम्यग्दृष्टि को एक ही काल में प्रमाण हैं; ऐसी एक ही समय में जीव की निर्मल-समल परिणति जिनराज ने कही है और गणधर स्वामी ने धारण की है।।१७।।

काव्य-१७ पर प्रवचन

दरसन-ग्यान-चरन त्रिगुनातम,
समलरूप कहिये विवहार।
निहचै-दृष्टि एकरस चेतन,
भेदरहित अविचल अविकार।
सम्यकदसा प्रमान उभै नय,
निर्मल समल एक ही बार।
यौं समकाल जीवकी परिनति,
कहैं जिनेंद गहै गनधार।।१७।।

जिनेन्द्र तीर्थंकरदेव कहते थे और समवसरण के साधु के नायक ऐसे गणधरदेव झेलते थे। समवसरण में भगवान अभी भी महाविदेह में सीमन्धर परमात्मा तीर्थंकरदेव विराजते हैं और गणधर सुनते हैं और भगवान की वाणी निकलती है। समझ में आया?

अब इसका अर्थ : '**दरसन-ग्यान-चरन त्रिगुनातम**' आत्मा में शुद्ध ध्रुव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, ऐसे तीन प्रकार, मोक्ष का जो मार्ग तीन भेद, वे तीन भेद हैं, उन्हें समल कहते हैं, कहते हैं। समल कहो, मेचक कहो, व्यवहार कहो, भेद कहो। तीन भेद है न! आहाहा! शुद्ध चैतन्य वस्तु की अन्तर्मुख की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र ऐसे तीन भेद पड़े न, तीन प्रकार पड़े न, तीन प्रकार को यहाँ मल कहा है। मल अर्थात्

व्यवहार कहा है। मल अर्थात् अभूतार्थ कहा है। देखो, यह दूसरी भाषा। यह अर्थ में आयेगा। सच्ची बात है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को निश्चय... व्यवहार, विकल्प-फिकल्प वह कोई मोक्षमार्ग है ही नहीं। समझ में आया? आत्मा, पूर्ण आनन्द का स्वरूप और पूर्ण ज्ञान का पिण्ड ऐसा आत्मा, उसकी श्रद्धा सम्यक् अनुभव होकर, हों! भान में आकर श्रद्धा... जैसी वस्तु है उसका ज्ञान ज्ञान होकर श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें लीनता—परन्तु ये तीन प्रकार पड़े न? तीन प्रकार पड़े तो भेद हो गया। इसलिए उसे व्यवहार कहा और उसे अभूतार्थ कहकर उसे मैल कहा। मैल का अर्थ भेद। अरे! ऐसी भाषा इस जाति की। पाठ में है न, देखो! '**समलरूप कहिये विवहार**' क्योंकि अभेद चिदानन्द आत्मा का आश्रय करनेयोग्य है, उसे निर्मल कहते हैं। भेद का आश्रय करनेयोग्य नहीं, इसलिए उसे व्यवहार और मलवाला कहा है। मल का अर्थ भेद है यहाँ। आहाहा! समझ में आया?

व्यवहार '**दरसन-ग्यान-चरन त्रिगुनातम, समलरूप कहिये विवहार**' आहाहा! निश्चयमोक्षमार्ग को व्यवहार और मलरूप कहा है। तो मल साधक और निर्मल साध्य? कलश में भी ऐसा आया है। परन्तु किस अपेक्षा से बात है, उसमें समझो। अपूर्ण दशा है और उसमें तीन प्रकार पड़े। वे तीन प्रकार पड़े न—दर्शन, ज्ञान और चारित्र। उस भेद की अपेक्षा से उसे व्यवहार कहा है। स्वरूप के साथ अभेद हो जाये आत्मा के साथ, वह तो निश्चय है। भारी सूक्ष्म बातें, भाई! समझ में आया?

भगवान आत्मा सर्वज्ञदेव ने कहा, तीर्थंकर परमेश्वर ने कहा, ऐसा आत्मा पूर्ण शुद्ध स्वरूप है। परन्तु वह शुद्ध एकरूप है और उसकी श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र के तीन भेद पड़ते हैं। इसलिए उसे व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहकर उसे मलवाला है अर्थात् आश्रय करनेयोग्य नहीं, ऐसा कहा है। वरना तो भेद का आश्रय करने जाये वहाँ विकल्प उठे, इसलिए मैल है, ऐसा। आहाहा! कठिन मार्ग, भाई! समझ में आया? और '**समलरूप कहिये विवहार**' है न! **व्यवहारनय से आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन गुणरूप है; यह व्यवहारनय, निश्चय की अपेक्षा अभूतार्थ है**। त्रिकाल ज्ञायकभाव... वस्तु पूरी अखण्ड अभेद, वह निश्चय है। और उसमें पर्याय के भेद पड़े, वह पर्याय स्वयं व्यवहार है, ऐसा कहते हैं। कठिन भाषा!

शब्दार्थ में लिया है देखो न! **समल—यहाँ समल शब्द से असत्यार्थ, अभूतार्थ का प्रयोजन है।** ऐसा शब्दार्थ है। **यहाँ समल शब्द से असत्यार्थ, अभूतार्थ...** अर्थात्? तीन भेद, वे सच्चे नहीं। वस्तु अभेद अखण्ड है, ऐसा कहते हैं। अरे.. अरे! साधारण व्यापारवाले को तो इसमें दिमाग में पकड़ में आना कठिन। ऐई! क्योंकि व्यापार में कुछ बहुत दिमाग का काम नहीं होता वहाँ।

मुमुक्षु : व्यापारी तो बहुत चतुर होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब चतुर हो, चतुर हो कितने ही, बाकी सब समझने जैसे होते हैं। ले यह, देखो कहते हैं। परन्तु उसे उन पैसे-बैसे का जोर हो और बड़ी इज्जत हो, उसमें सब गाड़ी चलती हो। फिर चतुर कहलाये दुनिया में। लोग नहीं कहते? पैसेवाले के लड़के चतुर कहलाये। पैसे बिना के लड़के अच्छे हों परन्तु गिनती में नहीं गिने जायें बहुत, ऐसा। इसलिए पागल कहलाये, ऐसा इसका अर्थ। वहाँ चतुरपना न (हो तो चले)। यहाँ चतुराई तो यह चाहिए सयानापन। आहाहा! समझ में आया?

यह कहते हैं, वह झूठा है, हों! तीन भेद कहलाते हैं, एक वस्तु में तीन भेद कहलायें, वे झूठे हैं। यहाँ विकल्प की बात नहीं। वह तो असद्भूतव्यवहार... वह तो असद्भूतव्यवहार अर्थात् नहीं, उसकी क्या बात करना? असद्भूतव्यवहार अर्थात् नहीं, ऐसा। यह तो है, उसकी बात है। अवस्था है। अभेद के भेद की बात है। वह तो कहाँ गया पूरा। वह असद्भूत है, असद्भूत है। व्यवहाररत्नत्रय तो असद्भूत अर्थात् कि वास्तव में इसकी पर्याय में नहीं। आहाहा! अभी तो पर्याय और उसमें फिर असद्भूत अर्थात् यह देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग और वह उसमें नहीं। क्या कहते हैं यह? समझ में आया?

यह सब समझना पड़ेगा, कठिन पड़े तो भी (समझना पड़ेगा)। वहाँ और यह रुपये में वहाँ एकदम सरल पड़ गया है इसलिए। वह तो पूर्व का पुण्य था, वह सब व्यवस्था व्यवस्थित चलती है बाहर की। मानी है व्यवस्था, धूल में भी नहीं वहाँ। कहो, समझ में आया या नहीं? ऐई पोपटभाई! यह कठिन है, भाई कहते हैं। बात तो सच्ची। उसके मार्ग को तूने देखा नहीं तूने उसे। आहाहा! वह **दिट्ठ मग्गई** आता है न?

मुमुक्षु : .... कठिन तो है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : आया है न? कठिन है परन्तु अशक्य नहीं। आता है न! परन्तु अशक्य नहीं, ऐसा कहते हैं। कठिन तो है, भाई! ऐसा तो कहा है, उस ओर के कलश में। कठिन है, किसने इनकार किया? परन्तु वह कठिन (है, इसलिए) नहीं हो सकता (ऐसा नहीं है)।

मुमुक्षु : तुझे अनुभव नहीं, इसलिए कठिन कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा नहीं। उसकी खबर नहीं। दिशा के मार्ग किसकी ओर जाना और कहाँ दौड़ रहा है? मृग पानी के लिये मृगमरीचिका में पानी में झपट्टे मारे। अरे! पीने का पानी वहाँ नहीं होता, भाई! मृगमरीचिका में नहीं होता। समझ में आया?

आया नहीं? रमेश के (भजन में) आया है न? 'मनना मृगलाने पाछा वाळजो रे लोल। ये सरोवर कांठे रे मृगला तरस्यां...' यह मृगमरीचिका के जल में झपट्टे मारे, मृगमरीचिका के जल में झपट्टे मारे, वहाँ कहाँ पानी था? खारी जमीन में सूर्य की किरण निमित्त और ऐसे लगे ऐसा मानो... दौड़-दौड़कर आये तो भी यहाँ पानी नहीं दिखता। यह ठण्डी हवा आती नहीं। वहाँ कहाँ पानी था? इसी प्रकार पुण्य-पाप की क्रिया में दौड़-दौड़कर कर-करके किया परन्तु कहीं शान्ति आयी नहीं। वहाँ कहाँ शान्ति थी? आहाहा! समझ में आया?

शान्ति तो भगवान आत्मा पुण्य-पाप के राग के विकल्प से रहित है, उसमें शान्ति है। उस ओर तो जाता नहीं और दौड़ करे ऐसे सब। पुण्य की क्रिया की दौड़ करे। 'दौड़त-दौड़त दौड़्यो जितनी मन की दौड, प्रेम प्रतीक विचारो ढूंकडी परन्तु गुरुगम लेजो जोड़।' अन्दर में इसे भगवान के ऊपर प्रेम आना चाहिए। यह राग में प्रेम जो अनादि से है। दौड़कर दौड़ता हुआ सूख गया परन्तु तो भी पानी नहीं आया। आहाहा! कहते हैं कि भगवान आत्मा में यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र निर्मल पर्याय हों, परन्तु उसके भेद हुए न? त्रिकाली की अपेक्षा से भेद पड़ा। भेद पड़ा, उसे अभूतार्थ कहा जाता है।

'निहचै-दृष्टि एकरस चेतन, भेदरहित अविचल अविकार।' 'निहचै-दृष्टि एकरस चेतन...' अन्तर दृष्टि निश्चय से देखने पर भगवान आत्मा एकरस है, एक अभेद है।

एकरस चेतन-भेदरहित '**निहचै-दृष्टि एकरस चेतन**' भेदरहित—ऐसे भेद जिसमें नहीं। आहाहा! समझ में आया? '**निहचै-दृष्टि एकरस चेतन, भेदरहित अविचल अविकार।**' उसमें भेद नहीं, चलित हो ऐसा नहीं, अविकारी है, त्रिकाली अभेद। उसको (भेद को) मल और ऐसा कहा था न! भेदरहित है, अविचल है। वस्तु अभेद तो अविचल— चलित नहीं, उसमें भेद है ही नहीं। वह तो अविकारी है। भेदरूप विकार व्यवहार है नहीं। त्रिकाल ज्ञायकभाव एकरूप अवस्था, तीन की एकरूप अवस्था होना। ऐसा वापस उसमें आता है न! द्रव्यसंग्रह में नहीं आता? द्रव्यसंग्रह में आता है। तीन का भेद, उसे आत्मा के साथ अभेद हुआ। तीन का अभेद हुआ उसमें—आत्मा में, पर्याय का अभेद हुआ, हों! वे भेद नहीं, ऐसा द्रव्यसंग्रह में आता है। परन्तु यहाँ तो अभेद स्वरूप एकरस चैतन्य है, वह निश्चय है, वह भूतार्थ है, वह सत्यार्थ है। और तीन प्रकार हैं, वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं और व्यवहार हैं।

कहो, राग का व्यवहार निकाल दिया, निमित्त का व्यवहार निकाल दिया। निमित्त है, वह व्यवहार है और आत्मा, वह निश्चय, आत्मा निश्चय और वह निमित्त व्यवहार, ऐसा भी नहीं। राग व्यवहार और आत्मा निश्चय, ऐसा भी नहीं। आत्मा अभेद निश्चय और निर्मल पर्याय के भेद, वह व्यवहार। आहाहा! समझ में आया? थोड़ा परन्तु सत्य जैसा है, वैसा इसे जानना पड़ेगा न! बड़ा लम्बा-लम्बा चाहे जो हो परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है।

मुमुक्षु : सरल कर दो न।

पूज्य गुरुदेवश्री : सरल तो होता है यह। करना इसे, उसमें दूसरा कौन कर दे? करनेवाले को करना है या सुनानेवाले को करना है? क्या कहते नहीं कि ब्राह्मण विवाह करा दे परन्तु घर चला दे? तुमने विवाह कराया, इसलिए हमारा घर चलाओ अब। दो व्यक्ति हुए न हमारे, उनका खर्च महीने में है न... ऐसा होगा पोपटभाई? लोगों में कहावत है अपने। इसी प्रकार यहाँ भगवान कहते हैं। हाँ, यह तो ठीक है।

'**सम्यकदसा प्रमान उभै नय**' क्या कहते है? परन्तु प्रमाणज्ञान से देखें तो वस्तु अभेद है, वह निश्चय और पर्याय के भेद पड़े, वे व्यवहार। दोनों को एक साथ जाने,

वह प्रमाण। प्रमाणज्ञान निश्चय को जाने और व्यवहार को जाने, एकसाथ जाने, उसे प्रमाण कहते हैं। समझ में आया? यह कहे, ऐसी धर्मकथा, परन्तु यह किस प्रकार की? वह जाये तो... सुनाई दे, आठ उपवास कर डालो, रात्रि में रात्रिभोजन नहीं करो, बहुत लाभ होगा। जाओ कष्ट करके करो। वर्षीतप करो, एक-एक दिन खाओ और न खाओ और जाओ। एक अपवास में निर्जरा और अठ्ठम की हो, उसके ऊपर एक प्रौषध... क्या कहलाये पोरसी चढ़ावे तो पाँच अपवास का लाभ ऐसा कुछ है।... ऐसा कुछ। धूल भी नहीं, सुन न! यह लंघन है। ऐई जादवजीभाई!

भगवान आत्मा अखण्ड अभेद है, उसकी दृष्टि करके उसमें स्थिर होना। ऐसे भेद भी जिसमें नहीं, कहते हैं कि वह तो एकाकार वस्तु है। उसका आश्रय निश्चय का और व्यवहार का ज्ञान और दोनों के ज्ञान का नाम प्रमाणज्ञान कहा जाता है। अब उस व्यवहार की यहाँ बात ली नहीं। शक्ति में ली ही नहीं। शक्ति में ली ही नहीं। ४७ शक्ति में। ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति की पर्याय का परिणमन है, वह व्यवहार है। राग, वह व्यवहार नहीं। वहाँ प्रमाणज्ञान में तो द्रव्य और निर्मल पर्याय दोनों को प्रमाणज्ञान में गिना है। यहाँ यह ऐसा गिना है, देखो!

मुमुक्षु : एक ही प्रमाण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। राग-बाग-फाग का प्रमाणज्ञान नहीं होता, वह तो असद्भूत। कठिन मार्ग, भाई! समवसरण के प्रधान आचार्य... आहाहा! '**सम्यकदसा प्रमान उभै नय**' सम्यक्दशा अर्थात् प्रमाण। उससे '**उभै नय, निर्मल समल एक ही बार**'—अभेद वस्तु है, उसे निर्मल कहते हैं, भेद के प्रकार को मल—व्यवहार कहते हैं, अभूतार्थ (कहते हैं)। दोनों का एकसाथ ज्ञान, उसे प्रमाण कहते हैं। समझ में आया?

'**सम्यकदसा प्रमान उभै नय**'—दो नय, उभय अर्थात्। निश्चय और व्यवहार। '**निर्मल समल एक ही बार। यौं समकाल जीवकी परिनति**' '**यौं समकाल जीवकी परिनति**' **ऐसी एक ही समय में जीव की निर्मल-समल परिणति जिनराज ने कही है।** देखा, उस निर्मल और समल के (लिये) परिणति शब्द प्रयोग कर दिया। '**निर्मल समल एक ही बार। यौं समकाल जीवकी परिनति**'—त्रिकाल पारिणामिकभाव और

वर्तमान पर्याय दोनों को परिणति शब्द कहकर समझाया है। शब्द भी पकड़े तो... **भरित अवस्थां** नहीं आता, भाई? संस्कृत में आता है न। **भरित अवस्थां...** अवस्था शब्द है। पूर्ण स्वरूप है, वह भरित अवस्था। अवस्था अर्थात् पर्याय की कहाँ बात है? अवस्थ... अवस्था... अवस्थ...

मुमुक्षु : ध्रुव को भी अवस्था कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ध्रुव अवस्था है। अव-स्थ। त्रिकाल एकरूप रहे उसे भी अवस्था और अवस्थ कहा जाता है।

'यौं समकाल जीवकी परिनति, (निर्मल-समल), कहैं जिनेंद्र' वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव कहे, **'गहै गनधार'** सन्तों के नायक, समवसरण के प्रधान आचार्य उसे ग्रहते हैं कि निर्मलपना अभेद है, भेद, वह मलपना है, दोनों को एकसाथ ग्रहना वह प्रमाण है, ऐसे समकाल दोनों की परिणति को जानकर प्रमाणज्ञानवाला कहलाता है, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं और गणधर ग्रहते हैं। **'कहैं जिनेंद्र गहै गनधार।'** गणधर मिलान करके **'गहै गनधार'**। कहो, समझ में आया?

अब १८वाँ श्लोक (पद)। उसका १७वाँ। १७वाँ कलश है न नीचे, उसका १८वाँ पद है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः।।१७।।

★ ★ ★

काव्य - १८

व्यवहारनय से जीव का स्वरूप (दोहा)

एकरूप आतम दरब, ग्यान चरन दृग तीन।
भेदभाव परिनामसौं, विवहारै सु मलीन।।१८।।

शब्दार्थ:-आत्मद्रव्य एकरूप है, उसको दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन भेदरूप कहना, सो व्यवहार[1] नय है-असत्यार्थ है।।१८।।

काव्य-१८ पर प्रवचन

एकरूप आतम दरब, ग्यान चरन दृग तीन।
भेदभाव परिनामसौं, विवहारै सु मलीन।।१८।।

लो! अरे गजब! **आत्मद्रव्य एकरूप है।** आत्मद्रव्य तो एकरूप है। एकरूप आत्मद्रव्य है न! वस्तु... वस्तु अनन्त गुण का एक पुंजरूप एक आत्मा है। '**ग्यान चरन' उसको दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन भेदरूप कहना...** एक को तीन कहना, वह व्यवहार है। ठीक। असत्यार्थ है। इसका अर्थ है नीचे, देखो।

जेते भेद विकल्प हैं, ते ते सब विवहार।
निराबाध निरकल्प सो, निश्चय नय निरधार॥

'**जेते भेद विकल्प है**'—पर्याय का भेद और पर्याय के वापस तीन प्रकार और वे सब... पर्याय स्वयं व्यवहार है। अंश है न, अंश। उसमें फिर तीन प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र। '**जेते भेद विकल्प हैं, ते ते सब विवहार।**' उसे व्यवहार कहते हैं। '**निराबाध निरकल्प सो**' निर्विकल्प वस्तु वह निराबाध है, भेद-बेद है नहीं। ऐसा निर्विकल्प भगवान पूर्णानन्द प्रभु, उसे निश्चयनय, उसे निश्चयनय निर्धार... निर्धार—निश्चित कहते हैं कि वह निश्चयनय है और भेद पाड़कर समझना, वह व्यवहार है। राग के साथ, निमित्त के साथ सम्बन्ध यहाँ कुछ नहीं है। आहाहा! मात्र उसी और उसी का अभेद में भेद पड़ना वह व्यवहार और अभेद, वह निश्चय—ऐसे दोनों का यथार्थ ज्ञान करना, वह प्रमाण कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

---

१. दोहा - जेते भेद विकल्प हैं, ते ते सब विवहार।
निराबाध निरकल्प सो, निश्चय नय निरधार।।

प्रवचन नं. २४, माघ कृष्ण १३, मंगलवार, दिनांक २३-२-१९७१
जीवद्वार, पद—१९, २०, २१

नाटक समयसार, जीवद्वार, इसका १८वाँ कलश।

परमार्थेन तु व्यक्त–ज्ञातृत्व–ज्योतिषैककः।
सर्वभावान्तर–ध्वन्सि–स्वभावत्वा–दमेचकः।।१८।।

अब, इसका पद। **निश्चयनय से जीव का स्वरूप।**

★ ★ ★

काव्य - १९

निश्चयनय से जीव का स्वरूप

जदपि समल विवहारसौं, पर्यय–सकति अनेक।
तदपि नियत–नय देखिये, सुद्ध निरंजन एक।।१९।।

शब्दार्थ:–नियत=निश्चय। निरंजन=कर्ममल रहित।

अर्थ:–यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा अनेक गुण और पर्यायवान है तो भी निश्चयनय से देखा जाये तो एक, शुद्ध, निरंजन ही है।।१९।।

काव्य-१९ पर प्रवचन

जदपि समल विवहारसौं, पर्यय–सकति अनेक।
तदपि नियत–नय देखिये, सुद्ध निरंजन एक।।१९।।

यद्यपि '**समल विवहारसौं**' आत्मा तीन भेद से, दर्शन–ज्ञान और चारित्र, ऐसे तीन भेद से उसे देखें तो वह मल अर्थात् व्यवहाररूप दिखता है। आओ न, पुस्तक दो पुस्तक। पृष्ठ ४०।'**जदपि**'—यद्यपि... 'यद्यपि' कहकर व्यवहार का गौणपना, मन्दपना

बताना है। यद्यपि '**समल विवहारसौं**' भगवान आत्मा... '**पर्यय सकति अनेक**' वस्तु है न, आत्मा वस्तु, अनन्त गुण का एकरूप है। परन्तु यदि उसे गुण और पर्याय से देखें तो वह मल अर्थात् व्यवहार दिखता है। भेदरूप व्यवहार है, परन्तु वह व्यवहार यदि भेद से देखें तो व्यवहार है। यद्यपि देखें तो व्यवहार है। '**जदपि**' शब्द पड़ा है न, यद्यपि, ऐसा। यद्यपि देखें तो, ऐसा। '**तदपि**' यह तो फिर... लेना है न। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा अनन्त गुण और पर्याय की एकरूप वस्तु है। परन्तु उसे गुण और पर्याय से यद्यपि देखें तो, मल अर्थात् व्यवहार और मेचक और भेद है, ऐसा दिखता है। '**पर्यय सकति अनेक**' भेदरूप से वह अनेक भावों से ज्ञात होता है।

'**तदपि नियत-नय देखिये**' परन्तु यदि उसे निश्चय से देखें... ऐसा होने पर भी ऐसा देखें तो... ऐसा कहते हैं। समझ में आया? एकदम सूक्ष्म विषय है न! भेद से देखें तो, '**हो, है**' ऐसा कहे। तो भी, ऐसा होने पर भी '**नियत-नय देखिये**' वस्तुस्वरूप शुद्ध ध्रुव अभेद एकरूप यदि देखें तो उसका स्वभाव तो भेद का—सर्वभावान्तर का नाश करने का स्वभाव है। पाठ में ऐसा है। यहाँ सामान्य बात की है न। समझ में आया? संयोग नहीं, पुण्य-पाप के विकल्प भी नहीं। मात्र यह ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ऐसी पर्यायों के भेद से देखें तो अनेकपना है। ऐसा देखें, इस ओर से देखें तो... तो भी उस ओर से देखने पर... समझ में आया?

मुमुक्षु : वजन है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वजन अन्दर का देना, दिया जाता है। समझ में आया? ऐसा होने पर भी ऐसे देखें तो... ऐसा कहते हैं।

वस्तु जो आत्मा एकरूप अभेद है, इस दृष्टि से देखें तो, '**नियत-नय देखिये**' वस्तु की सत्ता एकरूप है, इस दृष्टि से देखें तो, '**शुद्ध निरंजन एक**' वह तो मैलरहित, भेदरहित शुद्ध एकरूप वस्तु है। समझ में आया? उस निरंजन में भेद और व्यवहार आ जाता है। भेद और व्यवहार अंजन है, उससे रहित देखें तो वह निरंजन एक है। समझ में आया? कल्याणजीभाई! ऐसा मार्ग है। सम्प्रदाय के साथ कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं, हों! नहीं? वस्तु की स्थिति की खबर नहीं और फिर क्या हो? वस्तु जैसी है,

उसका परिचय नहीं और वस्तु (जैसी) नहीं, उसका परिचय है। यह तुम्हारी भाषा आयी, प्रकाशदासजी! पहले ऐसा कहते कि पहले वस्तु का परिचय कराओ। ऐसा कहते। बराबर है? आहाहा! ऐसी वस्तु आत्मा है। समझ में आया?

ऐसी भाषा कठिन ली है कि ऐसा देखें तो ऐसा, परन्तु ऐसा देखें तब तो एकरूप है। इसलिए '**सर्वभावान्तरध्वंसि**' उसमें उड़ गया और उसमें आ गया उसमें। समझ में आया? अर्थात् क्या कहा? यह तो धीरज की बातें हैं, भाई! आहाहा! वस्तु... वस्तु... वस्तु... ध्रुव, अभेद, एक, निरंजन (अर्थात्) भेदरूपी अंजन जिसमें नहीं, व्यवहाररूपी मैल नहीं, ऐसा कहना है। उस मेचक को मैल कहा है न, भाई! व्यवहार को मैल कहा है न! वह मैल, हों! उन राग-द्वेष की बात नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : भेद डालना...

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद डालना, वह अंजन है, मैल है, मेचक है, भेद है, व्यवहार है। चन्दुभाई! ऐसा है। आहाहा!

भगवान! कहते हैं कि तू अन्तर से देख, तब तो वस्तु का स्वभाव ऐसा है कि शुद्ध है, भेद और व्यवहार के मैल—भेदरहित है। यह नास्ति से कहा, परन्तु वह एक है। भारी सूक्ष्म! नवरंगभाई! वह सम्यग्दर्शन का विषय है। इस प्रकार अभेद को, भेद की ओर के (और) व्यवहार की ओर के पर्याय और अनेकपने के सत् के लक्ष्य को छोड़कर... लक्ष्य को छोड़कर, यह भी व्यवहार का कथन है। परन्तु यहाँ जहाँ अभेद में जाता है, वहाँ यह उसका लक्ष्य छूट जाता है। अर्थात् अभेद (वह) व्यवहार का नाश करनेवाला स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

चैतन्य आनन्द का धाम भगवान, शुद्ध एक स्वभाव जिसका ध्रुव है, उस ओर नजर डालने से, उसे देखने से, व्यवहार और भेद का तो नाश होता है। अथवा उस निश्चय को देखने से, उस वस्तु का निश्चय स्वभाव ऐसा है कि व्यवहार का ध्वंस करनेवाला है। वह ध्वंस करनेवाला है न, यह जरा अस्ति से बात ऐसी नहीं ली। परन्तु ध्वंस करना वह भी जरा...

मुमुक्षु : भेद है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद है। समझ में आया? पाठ तो यह है। '**सर्वभावान्तरध्वंसि**' सर्व भावान्तर—अपने भाव से अन्य भाव, ऐसा। सर्वभावान्तर है न! अपना एकरूप स्वभाव अभेदभाव उससे भावान्तर—सर्व भाव अपने, उससे अन्य—अन्तर भाव व्यवहार, पर्यायभेद आदि, उनका तो ध्वंसि स्वभाव है। उनका तो नाश करने का स्वभाव '**एकक:**' है। वह तो अमेचक है। आहाहा! नेमिचन्दजी! यह मार्ग है। अरे... अरे गजब कठिन, हों!

ज्ञान के दो अंश हैं। एक व्यवहार को देखे, एक अंश निश्चय को देखे। यद्यपि व्यवहार को देखे तो तीनरूप दिखते हैं। उसे हलका बनाने को, यद्यपि देखे तो... ऐसा यदि देखे तो... शुद्ध चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द का अनन्त और त्रिकाली—ऐसा भी जिसमें भेद नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा जो स्वरूप '**तदपि नियत-नय देखिये**' परन्तु यद्यपि भगवान आत्मा ध्रुवस्वरूप है, नित्य अविनाशी वस्तु एकरूप, वह वर्तमान में है। ऐसा यदि देखें... यहाँ '**नियत-नय देखिये**' कहा है। '**नियत-नय देखिये**' अर्थात् ज्ञान का अंश नियत है, ऐसा देखिये नहीं। पाठ तो ऐसा है। '**तदपि नियत-नय देखिये**' उसका अर्थ कि ध्रुवस्वरूप, वह नियतनय है। समझ में आया? अध्यात्म में नय और नय का विषय, ऐसा भेद रहता नहीं। समझ में आया? बात तो इसके घर की है, इसलिए बहुत सूक्ष्म तो पड़े, परन्तु दूसरी कोई पद्धति नहीं, भाई! आहाहा! नवरंगभाई!

'**तदपि नियत-नय देखिये**' परन्तु उसके वास्तविक एकरूप स्वभाव को देखने पर... अर्थात् नय को नहीं, परन्तु नय का विषय और नय—दोनों एक होकर देखे (तो) शुद्ध निरंजन, भेद और व्यवहाररहित एकरूप स्वरूप है। इसलिए फिर एक देखकर... वहाँ ऐसा लेंगे बाद के कलश में, उसके साथ सन्धि लेकर। समझ में आया? यह सब जानना पड़ेगा, हों! जिसे जन्म-मरण का नाश करना हो और स्वभाव की सिद्धि करनी हो, दृष्टि में। यह जाने बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है।

सुद्ध निरंजन, अनेक गुण और पर्यायवान है तो भी... ऐसा है न? **निश्चयनय से देखा जाय तो एक, शुद्ध निरंजन ही है...** वहाँ... डाला, देखो! वह संस्कृत में है न, '**एकक:-एक एव:**' दो अर्थ किये हैं। ....दो (अर्थ) किये हैं संस्कृत में इन्होंने। मूल तो '**एकक:**' शब्द पड़ा है न '**एकक:... क:**' में क्या वजन होता है इसमें? तो कहते हैं कि दो अर्थ किये हैं। यह (परम अध्यात्म तरंगिणी) में, हों! ४१ है न? देखो, यह रहा।

'आत्मा एकक: एक' अर्थात् संज्ञा, **'एक: प्रत्यय एवानाम'** अथवा **'एक एव एकक:, एक एव एकक:'** एक ही है इससे **'एकक:'** कहा है यहाँ। **'एकक:'** है। **'क:'** के बाद एक कहा है न। साधारण अर्थ है। ऐसा कि... **'एक एव एकक: एक:'** पड़ा है यहाँ। विद्यमान भावों.... उसे लिया है।

शुद्ध निरंजन एक ही है। **एक शुद्ध निरंजन ही है।** देखो, इसमें लिखा है न। **'एक एव-ही है'....** ऐसा। वस्तुदृष्टि में विषय तो एकरूप है। गुण और पर्यायें भेद होने पर भी उसमें—अभेददृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता। अभेद में भेद दिखाई दे तो अभेद रहता नहीं। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म, भाई! यह तो कठिन! भगवान... भगवान... भगवान... भगवान करे, वह भी नहीं। कुँवरजीभाई! भगवान... भगवान... जाप करे, वहाँ राम... राम... राम... राम... जाओ, जाप करो तो कल्याण हो जायेगा। आत्मा का साक्षात्कार, कहते हैं न उन रमण महर्षि का शिष्य, नहीं? यहाँ आया नहीं था? कुछ साधु नाम लिया था। रमण महर्षि का शिष्य है। .....

यहाँ आया था। फिर कहे, यह धुन बोलो। राम... राम... राम... जिसकी धुन में से मुझे इतना साक्षात्कार हुआ है। रामधुन से। धूल भी नहीं होता, सुन न! राम कैसा? अन्दर रमता राम एकरूप है, उसकी दृष्टि कर तो साक्षात्कार होगा। राम... राम... राम... भगवान... भगवान करे, आत्मा... आत्मा... आत्मा करे तो भी नहीं मिलता।

मुमुक्षु : नवकारसी।

पूज्य गुरुदेवश्री : नवकारसी गिनते रहो चकरावा में, विकल्प है। वह तो स्थूल है। आहाहा! आनुपूर्वी गिनते हैं या नहीं? णमो अरिहंताणं... णमो सिद्धाणं... णमो लोए सव्व साहूणं... णमो अरिहंताणं... णमो सिद्धाणं... आड़े-टेढ़े गिने। मन स्थिर हो।

यह १८वाँ कलश और १९वाँ पद हुआ। अब १९वाँ कलश।

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयो:।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रै: साध्य-सिद्धिर्न चान्यथा।।१९।।

★ ★ ★

काव्य - २०

शुद्धनिश्चयनय से जीव का स्वरूप (दोहा)

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और।।२०।।

शब्दार्थ:-रमि रहना=विश्राम लेना। ठौर=स्थान।

अर्थ:-आत्मा को एकरूप श्रद्धान करना वा एकरूप ही जानना चाहिए, तथा एक में ही विश्राम लेना चाहिए, निर्मल-समल का विकल्प न करना चाहिए। इसी में सर्वसिद्धि है, दूसरा उपाय नहीं है।

भावार्थ:-आत्मा को निर्मल-समल के विकल्परहित एकरूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, एकरूप जानना सम्यक्ज्ञान है और एकरूप में ही स्थिर होना सम्यक्चारित्र है, यही मोक्ष का उपाय है।।२०।।

काव्य-२० पर प्रवचन

यह कलश वीरजीभाई बहुत बोलते थे।

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और।।२०।।

यह तो अस्ति-नास्ति दोनों कहे। दूसरे प्रकार से आत्मा की मुक्ति और सिद्धि नहीं होती। आहाहा! '**एक देखिये जानिये**' आत्मा तो एकरूप वस्तु... वस्तुरूप से एकरूप देखने से (अर्थात्) श्रद्धान करना। '**देखिये**' का अर्थ श्रद्धान करना। और '**जानिये**'... एकरूप जानिये। विकल्प से वह एकरूप ज्ञात नहीं होता। निर्विकल्प से एकरूप... इसका अर्थ, यह एक है—ऐसा नहीं, परन्तु अनेक भेद की ओर से लक्ष्य छूटकर अन्तर्मुख जाये अर्थात् वह वस्तु एक ही दृष्टि में रही। यह एक है और मैं उसे पकड़ता हूँ, ऐसा नहीं। समझ में आया? अरे गजब! बस यह एक वस्तु हो गयी। प्रभु! तेरी पर्याय में, (वस्तु) एक है और पर्याय (ऐसे) दो भेद पड़ गये, ऐसा नहीं। समझ में आया? यह

कठिन मार्ग वीतराग का! वीतराग का मार्ग, वह मार्ग है, बाकी सब मार्ग थोथा। आहाहा! बड़ी-बड़ी बातें किये जाये... ऐसा वैसा फलाना... सब थोथा है।

भगवान अखण्ड... एक अर्थात् वापस सब होकर एक नहीं यह। एक देखिये अर्थात् सबको 'एक' देखो, ऐसा नहीं। अरे! उसमें भी और उल्टा वापस। **आत्मा को एकरूप श्रद्धान करना...** स्वयं भगवान आत्मा अनन्त शक्ति और एक-एक शक्ति का अनन्त सामर्थ्य, ऐसा जिसमें भेदरूप भाव है, परन्तु उसे अभेद देखना। **एकरूप श्रद्धान करना...** भेद के ऊपर लक्ष्य रखना नहीं। यह अनन्त गुण है, ऐसा भी नहीं—ऐसा कहते हैं। आत्मा है और यह अनन्त गुण है—यह भेद हुआ, वह भी नहीं। एकरूप वस्तु, वस्तु रूप से... '**एक देखिये जानिये**' और '**रमि रहियै इक ठौर**'—तीनों आ गये। '**रमि रहियै इक ठौर**' यह ध्रुव की श्रद्धा, ध्रुव का ज्ञान और ध्रुव में रमना। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र। समझ में आया?

कठिन मार्ग, भाई! ऐसा तो अभी कान में पड़ा नहीं, सुना न हो, अब उसे... आहाहा! प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, और सामायिक करो, अपवास करो, आंबेल करो, अठ्ठाई करो, लो। अब उसमें यह बात कहाँ आवे इसमें? ऐई प्रकाशदासजी! अणुव्रत करो और महाव्रत करो, उसे तो और यह था वहाँ। फिर बहुत तो आगे बढ़कर तुम महाव्रत में आ जाओ और अणुव्रत का आन्दोलन करना। जगत के मिथ्यात्वी। आहाहा! भगवान! तेरे हित की बात में बात है यह, हों! यह उसके तिरस्कार की बात नहीं है। वस्तु ऐसी है, भाई!

अणुव्रत और महाव्रत वे सब तो विकल्प है, राग है। यह तो उसकी बात नहीं। परन्तु वस्तु एक है, उसे तीन प्रकार से देखना, वह भेद, वह भी विकल्प है। आहाहा! परसन्मुख के लक्ष्यवाला भाव, यह अणुव्रत पालना और दया और सत्य बोलना, वह तो सब राग, स्थूल राग है। परन्तु एक वस्तु ध्रुव अनन्त गुण का एकरूप, उसे देखने से, वह तीन प्रकार और भेद, वह भी एक विकल्प का कारण है। वहाँ राग होता है, कहते हैं। आहाहा! वहाँ दृष्टि में सम्यक्ता आती नहीं, विपरीतता हो जाती है। समझ में आया? **एकरूप श्रद्धान करना एकरूप जानना चाहिए।** देखो, '**देखिये**' शब्द पड़ा है, परन्तु वहाँ श्रद्धा के अर्थ में लेना। दर्शन-ज्ञान-चारित्र पहला यह आता है न इसलिए।

'**समल विमल न विचारियै**' लो, विकल्प है, कहते हैं। व्यवहार है और यह निश्चय है, यह अमेचक है और यह मेचक है, यह अनेक है और एक है—ऐसे दो के विकल्प नहीं रखना। ऐसा मार्ग है। देखो, भगवान की भक्ति से, गुरुभक्ति से मोक्ष होगा, समकित होगा—उसकी हराम बात करता है यहाँ। इनकार करते हैं। आहाहा! वीतराग कहते हैं कि 'तू तेरे सन्मुख देख। मेरे सन्मुख देखना छोड़कर तेरे सन्मुख देख। तू स्वयं भगवान है।' आहाहा! कैसे बैठे ऐसी बड़ी बात? बापू! बैठे नहीं, गये अनन्त मुक्ति को प्राप्त हुए। हाँ, ऐसी बात है और उसका स्वभाव ही ऐसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नास्ति अर्थात् दूसरा उसमें नहीं। उसमें नहीं, ऐसा नहीं। जगत में जगत नहीं, ऐसा नहीं। जगत चैतन्य में नहीं, ऐसा उसका अर्थ है। ऐकोहं ब्रह्म... एक था वह ब्रह्मरूप हुआ। एकदम खोटी बात है। यहाँ तो एक आत्मा एकरूप है, उसे गुण और पर्याय से देखो तो अनेकरूप है। परन्तु वह अनेकरूप है, वह मैल है और व्यवहार और भेद और मेचक है। आहाहा! उसे देखने से विकल्प उठते हैं और लाभ माने तो वहाँ मिथ्यात्व होता है। आहाहा! समझ में आया?

एक में ही विश्राम लेना चाहिए—'ठौर' का अर्थ। **निर्मल समल का विकल्प न करना चाहिए।** मेचक-अमेचक—दोनों का लक्ष्य, भेद नहीं करना चाहिए। यह अमेचक एकरूप हूँ और यह गुण और पर्याय अनेक—इन दो के विकल्प करनेयोग्य नहीं। '**अलं**'। समझ में आया? '**अलं**' है न। '**आत्मनिश्चिन्तयैव अलं**' बस होओ। ऐसा पद हो कि मैं एकरूप हूँ या अनेकरूप हूँ—ऐसे विकल्प से भी बस होओ। 'उससे क्या?' आता है न? समयसार में आता है (गाथा) १४२। उससे क्या? आत्मा अमेचक है अर्थात् शुद्ध है। पर्याय से भेद है, अशुद्ध है। उससे क्या? यह दोनों विकल्प हैं। आहाहा! उससे तेरा क्या कार्य होगा वहाँ? विकल्प है और विकल्प का कर्ता होकर विकल्प करता है तो विकल्प उसका कार्य और वह कर्ता, यह अज्ञान है। आहाहा!

'**विकल्पः कर्ता विकल्पः कर्म**' आता है न श्लोक? कर्ता आता है। विकल्प जो उठता है गुण-गुणी का भेद, वृत्ति व्यवहार की वृत्ति... '**विकल्पः**' उसे कहते हैं कि जो

उसका कर्ता होता है, वह विकल्प और वह विकल्प उसका—अज्ञानी का कर्म है। समझ में आया? क्योंकि उसकी दृष्टि भेद के ऊपर और राग के ऊपर है। इसलिए विकल्प कर्ता और विकल्प उसका कार्य। ज्ञानी को, वह विकल्प और अविकल्प जो निर्मल हूँ और मलिन हूँ—ऐसा दोनों भेद का विकल्प छोड़कर, एकरूप स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान में रमे, वह मुक्ति का उपाय है।

इसी में सर्वसिद्धि है। देखो। इसमें सर्व की सर्वसिद्धि—श्रद्धा सिद्ध होती है, ज्ञान सिद्ध होता है, चारित्र सिद्ध होता है और उसके कारण केवलज्ञान सिद्धि होता है। आहाहा! गजब! समझ में आया? और एक व्यक्ति ऐसा कहता था 'ऐसा न हो तब तक करना क्या?' परन्तु सब तो करते हो, अब यह करना, प्रयत्न तो कर! आहाहा! ....राग का करना है, वह इसे दृष्टि में से छोड़ना सुहाता नहीं। आहाहा! एकत्वबुद्धि है न! करना... करना... करना... 'करना वहाँ मरना...' ऐसा भाई ने लिखा है न। निहालभाई ने लिखा है एक जगह, एक बोल में। विकल्प करना, वह वहाँ मरना है। आहाहा! 'करना सो मरना है, धरना आत्मा में वो जीना है।' समझ में आया?

इसकी चर्चा क्या हो? इसका वाद-विवाद किस प्रकार करना? करो चर्चा। आँख... चश्मा बिना दिखता है क्या? पूछो। अरे भगवान! किसके साथ बात करना? बापू! 'दूसरे को समझाते हो और हमको नहीं?' परन्तु तुम कहाँ समझने आये हो? तुम तो खोटा ठहराने आये हो। चन्द्रशेखर वहाँ दिल्ली में आया था। ....उसे दम चढ़ता है। एक भाई कहते थे। दवा लेता... कौन भानुभाई? भगुभाई के साथ बकुभाई का पुत्र उसे कुछ... सब चर्चा भाई करते थे। आहाहा! 'आँखें और चश्मा हो तो दिखाई दे।' अरे! आँख हो तो दिखाई दे, इसका इनकार करते हैं। यहाँ तो एक समय की पर्याय को देखने का इनकार करते हैं। आहाहा! पोपटभाई! चश्मे से देखना तो छोड़, आँखों से देखना वह छोड़, एक समय की पर्याय से दिखता है, छोड़, उसे छोड़। भगवान पूरा अभेद पड़ा है, उसे पर्याय से वहाँ एक में स्थापित कर। यह देखना सच्चा और यह श्रद्धा सच्ची है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

इसी में सर्वसिद्धि है। लो। '**यहै सिद्धि नहि और**' भगवान आत्मा अन्तर्मुख

चैतन्य के ध्रुवपना, उसमें अन्तर्दृष्टि देने से एकपने का अनुभव होता है, उसकी उसमें सर्वसिद्धि है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की और उससे केवलज्ञान की सिद्धि है। समझ में आया? कहो, समझ में आता है या नहीं? गुजराती समझते हो थोड़ी-थोड़ी? वहाँ तुम्हारे चलता होगा। समझते हो। मन्दिर बनाया है। ... हम नहीं जानते। खीमचन्दभाई को पूछो। ऐई! यहाँ तो आत्मा में जाने की बात है। पण्डितजी! ... बातें तो करे इतनी बड़ी और वापस विशाल शोभायात्रा... दिल्ली में। कहो, मलूकचन्दभाई! तुम्हारे दान... क्या कहलाता है वह? उस जगह को क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : खाडिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : खाडिया का मन्दिर। यह बाहर में महिमा की है कैलाशचन्द्रजी ने।

भाई! बहुत ऊँचा, इतना ऊँचा... देखा है...? ऐसा कानजीस्वामी ने काम किया है, ऐसा किसी ने किया? कौन करे? भगवान! विकल्प भी कौन करे? वह तो बोला जाता है, उस समय निमित्त कौन था, ऐसा ज्ञान कराने के लिये यह बात है। करावे... करे, ऐसी सिद्धि के लिये यह बात नहीं। पण्डितजी! आहाहा! कहते हैं कि **'यहै सिद्धि' दूसरा उपाय नहीं है...** लो, नास्ति की। अभेद के ऊपर आश्रय करने से मुक्ति होती है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई पद्धति हो, ऐसा है ही नहीं। समझ में आया? **दूसरा उपाय नहीं... 'नहि और'** यही अभेद से सिद्धि है। भेद और विकल्प से आत्मा को कुछ भी लाभ है नहीं। आहाहा!

भावार्थ : **आत्मा को निर्मल समल के विकल्परहित...** देखो। अभेद हूँ, एक हूँ, अनेक हूँ—यह भी विकल्प नहीं। **विकल्परहित एकरूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।** इसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! यह तो कहे, नौ तत्त्व को जानो और नौ तत्त्व है, ऐसी जरा श्रद्धा करो, तुमको समकित, जाओ। परन्तु नौ तत्त्व जैसे हैं, वैसा जाने, तब उसकी दृष्टि आत्मा पर जाती है। समझ में आया? ऐसे भेद से श्रद्धा करे, वह तो अनादि का भाव है, वह तो मिथ्यात्वभाव है। नौ तत्त्व का अनुभव ही मिथ्यात्वभाव है, ले। कलश में आता है न, कलशटीका में आता है। भेद भाव है। तब, यहाँ कहा है न

मोक्षमार्गप्रकाशक में कि नौ तत्त्व की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है ? वह तो एकरूप आत्मा को जानने से, दूसरे तत्त्व उसमें नहीं, ऐसा ज्ञान होने पर, उसे नौ का ज्ञान है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! ऐसी वस्तु है, प्रभु! क्या हो ? वस्तु ही ऐसी है। समझ में आया ?

एकरूप भगवान आत्मा का भान, ज्ञान होने पर, नास्ति से दूसरी पर्यायें और अजीव उसमें नहीं, ऐसा ज्ञान होता है, उसे ज्ञानप्रधान नौ तत्त्व की श्रद्धा कहा जाता है। लो, भाई! और आया इसमें वापस। ज्ञानप्रधान है न! नौ में है। वस्तु में भेद नहीं। परन्तु समझने में जरा भेद इतना है। आहाहा! अस्ति-नास्ति दो हो गया न इकट्ठा। समझ में आया ? अरे! ऐसी श्रद्धा....

मुमुक्षु : फिर श्रद्धाप्रधान....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहलाये समकित वह तो। यहाँ तो नौ का ज्ञानप्रधान (कथन) समझना और किसी समय नौ को एकरूप श्रद्धा करे, उसे श्रद्धा कहा जाता है। एकरूप आत्मा अखण्ड अभेद है और उसमें यह नहीं, ऐसा करके श्रद्धा एक की श्रद्धा करे, उसमें वे भाग आ गये। आहाहा! समझ में आया ? **आत्मा को निर्मल-समल के विकल्परहित एकरूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।** देखो, यह सम्यग्दर्शन की व्याख्या वीतराग के मार्ग की। वे श्वेताम्बर में है... वहाँ आता है न टोडरमल में। '**अरहंतो महादेवो...** नव तत्त्व... '**सम्मतं' मए'** श्रद्धा अर्थात् वह '**सम्मतं' 'जिणपण्णत्तं'** उसमें आता है—मोक्षमार्गप्रकाशक में। है न पाँचवाँ... पाँचवाँ अध्याय।

अरहंतो महादेवो जावज्जीवं सुसाहणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं ए सम्मत्तं मए गहियं॥

वे सम्यग्दर्शन का स्वरूप ऐसा कहते हैं, (परन्तु) यह बात ऐसी नहीं है। १४९ पृष्ठ है। समझ में आया ? '**अरहंतो महादेवो**' अरिहन्त भगवान बड़े महादेव हैं। '**जावज्जीवं सुसाहणो**'—भला साधु '**सुसाहणो**' अब साधु कैसे, इसकी खबर नहीं होती। अरिहन्त की खबर नहीं होती। '**जिणपण्णत्तं तत्तं**'—जिन-कथित तत्त्व की स्थिति क्या, इसकी खबर नहीं होती। '**ए सम्मत्तं**' जाओ। ऐसा कहते हैं वे लोग। समझ में आया ? किसने लिखा ? पक्ष को छोड़कर समझना बहुत कठिन... जिस पक्ष में अवतार हुआ हो, जिस

पक्ष में उसके जो संस्कार-गन्ध घुस गयी हो, वह गन्ध छोड़ना बहुत कठिन। समझ में आया? मलूकचन्दभाई! क्या कहा यह?

मुमुक्षु : जिस पक्ष में जन्म हुआ हो....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जन्म गन्ध घुस गयी हो नागनेश की।

आता है न ऐसा दृष्टान्त। कैरोसीन का शीशा होता है न कैरोसीन का शीशा। उसमें नीचे होता है न उसमें...

मुमुक्षु : डट्टा।

पूज्य गुरुदेवश्री : डट्टा। और नीचे अन्दर में चारों ओर पोला हो थोड़ा सा ऐसा। वह कैरोसीन हो, उसे साफ करना भारी कठिन। तेजाब डालकर फिर लोहे का सलिया डाले तो वास निकले। .... वह अपने होता है न... दृष्टान्त है वहाँ, हों! समझ में आया? ऐ डालचन्दजी! आहाहा! उथल-पुथल बात है न यह सब! सम्प्रदाय की दृष्टि छोड़ना और यह दृष्टि होना, आहाहा! महा काम हुआ। एक तो बात बैठती नहीं, इसलिए छोड़े कहाँ से? अभी वह बात यह... यह खोटा और यह सच्चा, ऐसा बैठता नहीं, इसके बिना छोड़े कहाँ से?

मुमुक्षु : थोड़ा .... नहीं जानते।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहाँ है? थोड़ा... नहीं, वह भी बराबर है, यह भी ठीक है। यह ऊँची बात है, वह बात भी बराबर है। नहीं? देवचन्दभाई! दो बातें बराबर होंगी? आहाहा!

कहते हैं, **निर्मल-समल के विकल्परहित एकरूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, एकरूप जानना सम्यग्ज्ञान है।** देखो। शास्त्रों का जानना, वह नहीं। आत्मा को एकरूप जानना। एकरूप अभेद ज्ञान होना, उसका नाम ज्ञान कहा जाता है। समझ में आया? **एकरूप में स्थिर होना....** एक वस्तु ध्रुव में स्थिर होना, उसका नाम चारित्र है। वह पंच महाव्रत के विकल्प उठें, वह कहीं चारित्र नहीं, वह तो विभाव है, विकार है, राग है, दुःख है, दोष है, जहर है। अरे... अरे! यह भारी कठिन बात! समझ में आया?

एकरूप में ही स्थिर होना सम्यक्चारित्र है, यही मोक्ष का उपाय है... दो गाथा हुई। अब २०वाँ, कलश २०वाँ। दो कलश हुए न!

कथ-मपि समुपात्तत्रित्व-मप्येकताया,
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्‌गच्छदच्छम् ।
सतत-मनुभवामोऽनन्त-चैतन्य-चिह्नं,
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ।।२०।।

आहाहा! शुद्ध अनुभव की प्रशंसा। यह अनुभव, वह मोक्ष का मार्ग है। शुद्ध आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव, वही मोक्षमार्ग है। बाकी कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

'**जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत ग्यान।**' अनन्त का अर्थ अनन्त ऐसा (काल प्रमाण) है, ऐसा नहीं। परन्तु ज्ञान इतना सब है। अनन्त अर्थात् जिसका अन्त नहीं, ऐसी एकता, ऐसा। समझ में आया? यह अनन्त ज्ञान है, अनन्त है, वह भी भेद पड़ जाता है। परन्तु अनन्त अर्थात् ऐसी चीज़ है कि जिसमें ज्ञान के स्वभाव की मर्यादा—हद नहीं, ऐसा एकरूप ज्ञान।

मुमुक्षु : अमर्यादित अस्खलित....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा वस्तुस्वरूप है न! स्वभाव की क्या बात करना!

★ ★ ★

काव्य - २१

शुद्ध अनुभव की प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत ग्यान
विमल विकासवंत ज्योति लहलही है।
यद्यपि त्रिविधरूप विवहारमैं तथापि
एकता न तजै यौं नियत अंग कही है।।

सो है जीव कैसीहूं जुगतिकै सदीव ताके,
ध्यान करिबैकौं मेरी मनसा उनही है।
जाते अविचल रिद्धि होत और भांति सिद्धि,
नाहीं नाहीं नाहीं यामैं धोखो नाहीं सही है।।२१।।

शब्दार्थ:-जुगति=युक्ति। मनसा=अभिलाषा। उनही है=तत्पर हुई है। अविचल रिद्धि=मोक्ष। धोखो=सन्देह।

अर्थ:-आत्मा अनंत ज्ञानरूप लक्षण से लक्षित है, उसके ज्ञान की निर्मल प्रकाशवान ज्योति जग रही है, यद्यपि वह व्यवहारनय से तीनरूप[1] है तो भी निश्चयनय से एक ही रूप है, उसका किसी भी युक्ति से सदा ध्यान करने को मेरा चित्त उत्साहित हुआ है, इसी से मोक्ष प्राप्त होती है और कोई दूसरा तरीका कार्य सिद्ध होने का नहीं है! नहीं है!! नहीं[2] है!!! इसमें कोई सन्देह नहीं है, बिलकुल सच है।।२१।।

काव्य-२१ पर प्रवचन

जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत ग्यान
विमल विकासवंत ज्योति लहलही है।
यद्यपि त्रिविधरूप विवहारमैं तथापि
एकता न तजै यौं नियत अंग कही है।।
सो है जीव कैसीहूं जुगतिकै सदीव ताके,
ध्यान करिबैकौं मेरी मनसा उनही है।
जाते अविचल रिद्धि होत और भांति सिद्धि,
नाहीं नाहीं नाहीं यामैं धोखो नाहीं सही है।।२१।।

उसमें '**यद्यपि**' और '**तद्यपि**' कहा था। '**उनहि है**' (अर्थात्) तत्पर लिया। तत्पर हो गया है। है न अन्दर है।

१. दर्शन, ज्ञान, चारित्र।
२. यहाँ बार बार 'नहीं है' कहके कथन का समर्थन किया है।

तीन बार नकार किया। यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र। आहाहा! '**जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत ग्यान**'**—आत्मा अनन्त ज्ञानरूप लक्षण से लक्षित है।** अर्थात्? देखो, यहाँ ज्ञान से बात ली है। ज्ञानस्वभाव... स्वभाव... अनन्त अर्थात् जिसकी शक्ति का अन्त—मर्यादा—माप नहीं है, ऐसा ज्ञान। आहाहा!

मुमुक्षु : लक्षण लेना तब ज्ञान ही लिया जाये न!

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया? लक्षण से लक्षित कहा है न! '**जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत ग्यान**' लक्षण लिया है न! '**सुलच्छन**' आहाहा! '**जाकै पद सोहत**' जिसका पद शोभता है '**सुलच्छन अनंत ग्यान**'—ज्ञानस्वभाव से जिसका पद शोभता है, ऐसी वस्तु। स्वभाव और स्वभाववान ऐसे भेद भी जहाँ नहीं। समझ में आया?

'**जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत ग्यान विमल विकासवंत ज्योति लहलही है।**' **(उसके) ज्ञान की निर्मल ज्योति जग रही है।** यह चैतन्यसूर्य जगमग जगमग हो रहा है। समझ में आया? अन्दर भगवान चैतन्य की ज्योति से जगमग रहा है। '**लहलही**' रहा है, ऐसा कहा न! '**लहलही...**' '**लहलही**' इसका अर्थ जगमगा रहा है, ऐसा। अकेला चैतन्यप्रकाश... चैतन्यप्रकाश आत्मा, यह भी भेद से कथन है। यहाँ तो चैतन्यप्रकाश ऐसी निर्मल प्रकाशमान ज्योति जगमगा रही है। '**यद्यपि त्रिविधरूप विवहारमैं तथापि**' यद्यपि व्यवहार से तीनपना गिनने में आता है—दर्शन, ज्ञान और चारित्र। नीचे अर्थ किया है। व्यवहारनय से तीनरूप है। अरे! दर्शन, ज्ञान और चारित्र के भेद भी जहाँ रास नहीं आते, आहाहा! उसे राग और निमित्त रास आवे और होवे तो ज्ञान हो (ऐसा नहीं होता)। उसमें गुण होता है, ऐसे पर्याय होती है, तथापि वह भेद भी जिसे खटकता है। आहाहा! समझ में आया?

'**यद्यपि त्रिविधरूप विवहारमैं तथापि एकता न तजै यौं नियत अंग कही है।**' तथापि वस्तु तो एकरूप है। वह कभी छूटी नहीं है, तीनरूप हुई नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह किसका अधिकार है? यह जीवद्वार है। जीव पूरा किसे कहना, उसकी यह बात है। आहाहा! समझ में आया? जीव किसे कहना? कि एकरूप है, उसे जीव कहना। भेदरूप को जीव नहीं कहना, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : अब जमी बराबर।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! जमी है, भाई कहते हैं। आहाहा! यहाँ तो जीवद्वार, वापस अधिकार यह चलता है न, जीवद्वार है। जीवद्वार, अजीवद्वार, ऐसे सब बोल लिये हैं न! तो जीवद्वार अर्थात् जीव के स्वरूप का कथन। तो जीव किसे कहना? आहाहा!

कहते हैं, '**एकता न तजै**' एकरूप न तजे, उसे जीव कहा जाता है। आहाहा! कहो, वजुभाई! जिसकी नजरें एकता पर पड़ी है... वह एकता और नजर—दो का भी जहाँ भेद नहीं। वह एकता भेदरूप में आती नहीं। आहाहा! समझ में आया? वह एकरूप प्रभु आत्मा, वह व्यवहार में आता नहीं। उसने तो एकरूप कभी छोड़ा नहीं। व्यवहाररूप हुआ नहीं, भेदरूप हुआ नहीं, अनेकरूप हुआ नहीं, ऐसा कहते हैं। रागरूप तो हुआ नहीं, आहाहा! संयोगरूप तो हुआ नहीं। अब यहाँ ऐसी बातें सब... पुद्गल के सहारा से आत्मा का सब काम चले। अरे भगवान! अमरचन्दजी लिखते हैं न... भाई! वह बाहर की विद्वता नहीं तेरे जीव को। दुनिया ऐसा कहती है कि आहाहा! बहुत आता है, बहुत आता है। वह तेरा रूप नहीं, भाई! उसने एकरूप छोड़ा नहीं, वह पुद्गल का सहारा ले और बोले, विकल्प का सहारा ले और काम हो, विकल्प के सहारा से जानना हो—ऐसा उसमें कभी हुआ नहीं। समझ में आया?

'एकदेश' से चला आता है उसमें से। शुद्ध निरंजन एकदेश को यहाँ वापस एक लिया, अन्तिम **एकता न तजै**। समझ में आया या नहीं दोशी? तुम्हारा चिरंजीव। दोशी परिवार। कहो, समझ में आया? आहाहा! कठिन बात, भाई! ऐ लालचन्दजी! समझ में आता है या नहीं यह? अब सब बाहर से और भक्ति से कितना होगा?

मुमुक्षु : कुछ न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : न हो!

मुमुक्षु : हो.... हो। लाभ हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो तो सही। ....हो परन्तु उससे वृद्धि हो। आहाहा! जो एक छोड़कर दो हुआ नहीं, कहते हैं यहाँ तो। आहाहा! गुणी और गुण ऐसे भेदरूप हुआ नहीं, कहते हैं। समझ में आया?

'एकता न तजै यौं नियत अंग कही है' निश्चय के अंग अर्थात् निश्चय के स्वरूप में तो एकपना छोड़ा नहीं, ऐसा निश्चयनय कहता है। सच्चा नय ऐसा कहता है। सच्चा ज्ञान ऐसा कहता है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **...तो भी निश्चयनय से एक ही रूप है, तीनरूप है तो भी निश्चयनय से एक ही रूप है...** ऐसी साधारण बात की। निमित्त से मैं कहूँगा। '**सो है जीव कैसीहूं जुगतिकै सदीव ताके,**' ओहो! **उसका किसी भी युक्ति से सदा ध्यान करने को चित्त उत्साहित हुआ है।** युक्ति अर्थात् अन्तर्मुख होने के लिये मेरा प्रयत्न जागृत है। समझ में आया?

'**सो है जीव**' यहाँ '**सो है जीव नियत अंग**' '**सो है जीव**' ऐसा। '**एकता न तजै यौं नियत अंग कही है सो है जीव**' यहाँ जीव अर्थात् उसका नाम जीव। उसका नाम सच्चा जीव। अब जीव में भी सच्चा और खोटा—दो (जीव)? हाँ, भेद और पर्याय वह खोटा आत्मा-जीव है। अरे! समझ में आया? '**सो है जीव कैसी हूं जुगतिकै सदीव ताके**' परन्तु यह अब निरन्तर आत्मा की ओर का झुकाव मेरा तैयार हो गया है। आहाहा! '**कैसी जुगति से**' अर्थात् अन्तर्मुख झुकने की युक्ति से, ऐसा। '**सदीव**'... निरन्तर धर्मी की एकरूप द्रव्य के ऊपर ही दृष्टि होती है। समझ में आया? **किसी भी युक्ति से सदा ध्यान करने को मेरा चित्त उत्साहित हुआ है '**जुगतिसे सदीव ताकै**'** ऐसा। सदा।

वस्तु भगवान आत्मा एकरूप है, उसकी ओर का ध्यान और एकाग्रता, वही वस्तु की प्रतीति और वही वस्तु का प्रयत्न है। निरन्तर... उसमें कोई प्रमाण में भेद मुख्य हो जाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! किसी क्षण में व्यवहार मुख्य हो जाये, ऐसा नहीं है। निश्चय सदा—सदैव—निरन्तर उसका ध्यान करना अर्थात् ध्येय बनाकर स्थिर होने का मेरा उत्साह है। मेरा वह उत्साह है। देखो! यह करने का है, ...भाई!

'**ध्यान करिबेकौ मेरी मनसा उनही है**' तत्पर हुई है, ऐसा। उसका उत्साह है न! तत्पर हुआ है, उत्साह हुआ है। '**उनही है**'.... उसकी ओर ढलना। वस्तु ध्रुव है, एकरूप है, वह जीव, उसके ऊपर मेरा उत्साह है। भेद और व्यवहार पर मेरा उत्साह नहीं है। आहाहा! माणेकचन्दजी! देखो, यह जीव का स्वभाव। आहाहा! अनजाने लोगों को तो

ग्रीक–लैटिन (अटपटा) जैसा लगे। ऐसा धर्म वीतराग का होगा ? यह जैनधर्म होगा ? आहाहा! बापू! जैनधर्म ही यह है। इसके अतिरिक्त के दूसरे प्रकार से कोई जैनधर्म है नहीं। 'जैन अर्थात् जीतना।' नास्ति से कथन है। भेद और व्यवहार को जीतना, इसका अर्थ कि अभेद की दृष्टि करना, उसका नाम जैन। क्योंकि अभेद, जीव ही अभेदस्वरूप है। उसने अभेदपना कभी छोड़ा नहीं। ऐसा कहा है न! आहाहा!

'जाते अविचल रिद्धि होत' जिससे ऐसे अपूर्व उत्साही एकरूप स्वभावसन्मुख झुकने से **'अविचल रिद्धि होत'** तब उसे मोक्ष प्राप्त होता है। **'अविचल रिद्धि'** अर्थात् मोक्ष। **'और भांति सिद्धि' और दूसरा तरीका कार्य सिद्ध होने का नहीं है।** लो। **'अविचल रिद्धि होत'** आहाहा! यह मोक्ष की पदवी—मोक्ष की पूर्ण दशा, यह स्व की एकता के उत्साहित से होती है। स्व की एकता के उत्साहित से अविचल ऋद्धि मुक्ति की पर्याय प्राप्त होती है।

'और भांति सिद्धि नाहीं नाहीं नाहीं' आहाहा! किसी प्रकार से व्यवहार और भेद के लक्ष्य से मुक्ति होती (नहीं)। अरे! भेद और व्यवहार के लक्ष्य से समकित भी (नहीं होता, जबकि यह तो) मुक्तदशा है। आहाहा! समझ में आया ? भेद और व्यवहार के लक्ष्य से समकित होता है, ऐसा नहीं, नहीं और नहीं—ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? **'नाहीं नाहीं नाहीं यामैं धोखो नाहीं सही है'** हों! यह नहीं, नहीं श्रद्धा, नहीं ज्ञान, नहीं चारित्र। एक निश्चय के अतिरिक्त के आश्रय बिना दूसरा होता ही नहीं। **इसमें कोई सन्देह नहीं है...** यह **'धोखो'** का अर्थ किया। वहाँ भी किया अर्थ। शब्द आता है। **'धोखो'** अर्थात् सन्देह। **कोई सन्देह नहीं है, बिल्कुल सच है।** आहाहा! इसमें सन्देह का स्थान नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २५, माघ कृष्ण १४, बुधवार, दिनांक २४-२-१९७१
जीवद्वार, पद—२२, २३

२१वाँ कलश। (नाटक) समयसार, जीवद्वार।

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला–
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै–
र्मुकुरवदविकाराः सन्ततं स्युस्त एव।।२१।।

यह श्लोक है, इसका पद है। '**ज्ञाता की अवस्था**'। धर्मी जीव की दशा, धर्मी हो उसकी दशा कैसी होती है, उसका वर्णन है।

★ ★ ★

काव्य - २२

ज्ञाता की अवस्था (सवैया तेईसा)

कै अपनौं पद आप संभारत,
कै गुरुके मुखकी सुनि बानी।
भेदविग्यान जग्यौ जिन्हिकै,
प्रगटी सुविवेक–कला–रसधानी।।
भाव अनंत भए प्रतिबिंबित,
जीवन मोख दसा ठहरानी।
ते नर दर्पण ज्यौं अविकार,
रहैं थिररूप सदा सुखदानी।।२२।।

शब्दार्थः–रजधानी=शक्ति। जीवन मोक्षदशा=मानों यहाँ ही मोक्ष प्राप्त कर चुके।

अर्थ:-अपने आप अपना स्वरूप सम्हालने[१] से अथवा श्रीगुरु के मुखारविन्द द्वारा उपदेश सुनने[२] से जिनको भेदज्ञान जागृत हुआ है अर्थात् स्व-पर विवेक की ज्ञान शक्ति प्रगट हुई है, उन महात्माओं को जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है। उनके निर्मल दर्पणवत् स्वच्छ आत्मा में अनन्त भाव झलकते हैं परन्तु उनसे कुछ विकार नहीं होता। वे सदा आनन्द में मस्त रहते हैं।।२२।।

काव्य-२२ पर प्रवचन

कै अपनौं पद आप संभारत,
कै गुरुके मुखकी सुनि बानी।
भेदविग्यान जग्यौ जिन्हिकै,
प्रगटी सुविवेक-कला-रसधानी।।
भाव अनंत भए प्रतिबिंबित,
जीवन मोख दसा ठहरानी।
ते नर दर्पण ज्यौं अविकार,
रहैं थिररूप सदा सुखदानी।।२२।।

इसका अर्थ। '**कै अपनौं पद आप संभारत**' कोई जीव... अपना आनन्दस्वभाव शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ ने आत्मा को देखा, वह प्रत्येक आत्मा आनन्दस्वरूप है। उसमें ज्ञानानन्द—उसका स्वभाव ज्ञान है और अतीन्द्रिय आनन्द है। '**कै अपनौं पद आप संभारत**' अनादि से पुण्य और पाप के विकल्प, राग, शरीरादि—जो परचीज़ है, उसे अपना मानकर स्वरूप का उसने अनादि से विस्मरण किया है। भगवान आत्मा... सर्वज्ञ परमेश्वर ने ज्ञानानन्दस्वरूप देखा। उसे भूलकर अनादि से आत्मा के स्वभाव में नहीं, ऐसे शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप के भाव और उनके फलरूप से यह धूल आदि संयोग, चार गति (उसे) वह मेरी मानता है और मैं

१. यह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है।
२. यह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

उसका हूँ—यह भ्रम, अज्ञान, पाखण्ड और अधर्म है। अपनी जाति अन्दर शुद्ध चैतन्यधातु है, ऐसा परमेश्वर ने कहा है और ऐसा वह है।

'**कै अपनौं पद**' अपना पद जो है शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द... यह धर्मी हो तब की बात है। अधर्म तो अनादि का कर रहा है। अपने निजपद को—निज स्वभाव की शान्ति का सागर भगवान आत्मा उसे—भूलकर यह शरीर, लक्ष्मी, इज्जत-कीर्ति मेरे और अन्दर में होनेवाला पुण्य और पाप के विकल्प का भाव—विभाव, उसे मेरा मानकर अज्ञानरूप से प्राणी दुःखी है। समझ में आया? आगे लेंगे यह सुखदानी। अन्तिम है न? सुखदानी। यह दुखदानी है अनादि का। आहाहा! इसे खबर नहीं, मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ? किसका हूँ? पोपटभाई! यह तुम्हारे पैसेवाले को सब सुखी कहते हैं।

मुमुक्षु : अब यह पैसेवाले नहीं, ऐसा ढिंढ़ोरा पीटकर कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : .... धूल में भी नहीं।

अज्ञानी, स्वरूप की हिंसा करके—अपनी हिंसा करके पर में सुख है—ऐसा मानता है। आहाहा! ऐसा परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर कहते हैं। यह आत्मा की हिंसा है। भगवान! तेरा स्वरूप तो आनन्द है न! आनन्द और ज्ञान... यह और एक टुकड़ा है न! क्या कहलाता है? ज्ञानानन्दस्वभावी। ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ। यह हुकमचन्दजी (द्वारा रचित गीत) है। है न जयपुर का यह तुम्हारे। 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ'। उसमें से जरा विचार उभर आया। यह ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ—ऐसा भान हो तब ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, (है)। ऐसे बिना भान के ज्ञानानन्दस्वभावी माने, वह वस्तु नहीं है। समझ में आया?

भगवान आत्मा... जैसा सिद्ध भगवान का आत्मा है, वैसा ही यह आत्मा है, वस्तुरूप से। मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ। मेरा स्वभाव जानना और आनन्द, वह मेरा स्वभाव। परन्तु वह स्वभाव कब माने? कि वह पुण्य-पाप के भाव की रुचि छोड़कर ज्ञानानन्द के स्वभाव की दृष्टि करके, ज्ञान और आनन्द की व्यक्त आंशिक दशा बाहर आवे, उसके द्वारा मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, ऐसा भान होता है। आहाहा! उसे सम्यक् दृष्टि—जैन का पहला एकड़ा कहने में आता है। समझ में आया? कहो, हेमचन्दजी! तुम्हारे सबको बहुत पैसेवालों को सुखी कहते हैं, लो! दस-दस लाख के मकान घर में। बीस-बीस लाख के मकान, बड़े-बड़े व्यापार, पाँच-पाँच, दस-दस लाख की आमदनी।

मुमुक्षु : दस लाख के मकान और घर के मकान अलग?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उस मकान का नहीं। बड़ा मकान बनाया है दिल्ली में, नहीं? वहाँ चरण किये थे।

चालीस लाख का मकान है न वहाँ गोवा में। एक मकान चालीस लाख का।

मुमुक्षु : मकान मकान में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु मकान जड़ का है या तेरा है? तेरा हो तो पृथक् कैसे रहे? और पृथक् चीज़, वह तेरी (होती नहीं)। भारी भ्रम जगत को अनादि से। कहीं चालीस लाख का मकान हो... ऐ मलूकचन्दभाई! ऐसे झूले में झूलता हो और यह क्या कहलाता है सब बाहर का? जा आये इनके पुत्र के पास। जा आये या नहीं? इनके—मलूकचन्दभाई पुत्र के पास पाँच करोड़ रुपये हैं। दो करोड़वाला वहाँ स्विट्जरलैण्ड में रहता है और तीन करोड़वाला मुम्बई रहता है। वृद्ध यहाँ रोटियाँ घर की बनाकर खाता है।

मुमुक्षु : वृद्ध घर की ही रोटियाँ खाये न, कहीं बाहर की खाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़के सेवा करने के लिये नहीं। वह वहाँ कमावे और वह वहाँ कमावे।

अरे भगवान! तुझमें सुख और ज्ञान भरा है, वह तेरा सुख कहीं बाहर से नहीं आता। परन्तु अनादि से मिथ्यात्व—उल्टी श्रद्धा से आत्मा में ज्ञान और आनन्द न मानकर, पर से मुझे सुख होता है—ऐसी मान्यता, भ्रम, मिथ्यात्व है और आत्मा के स्वरूप की घातक है। नवनीतभाई! आहाहा! समझ में आया? ऐसे तो अरबोंपति तो बहुत हैं अभी तो। अरबोंपति। अरे! धूल हो करोड़ (या) एक अरब, उसमें इसके कहाँ थे बापू के? वह तो जड़ के हैं। यहाँ कहते हैं, पहला अनादि का उस पद को—निजपद को भूलकर, वे बाहर के पद मेरे, ऐसी मान्यता थी, वह अधर्मदशा थी। आहाहा!

निज '**कै अपनौं पद आप संभारत।**' 'अरे! मैं तो ज्ञान और आनन्द ही हूँ। मेरे स्वभाव—सत्ता में ज्ञान और आनन्द ही भरा है।' ऐसा जो कोई धर्मी जीव, अनन्त काल का स्वरूप का विस्मरण था, उसे अन्तर में दृष्टि लेकर स्मरण करता है। उसे यहाँ

सम्यग्दृष्टि, धर्मी, सुख के पंथ में पड़ा है, ऐसा कहा जाता है। बराबर है ? यह सब दु:ख के पंथ में भटक रहे हैं।

मुमुक्षु : सुख मानते हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : माने तो लड़का लकड़ी के घोड़े को घोड़ा माने, कहे तो वह हिलने में काम आवे ? लकड़ी के घोड़े को घोड़ा नहीं मानता ? लकड़ी रखते हैं न ? लाओ घोड़ा। जरा पैर टूटे या बिच्छू काटा हो तो घोड़ा बैठने में, हिलने में काम आवे ? आहाहा! अरे! अज्ञानी की मूर्खता उसके जैसी है।

यहाँ परमात्मा वीतरागदेव ऐसा कहते हैं कि भाई! जो कोई जीव अपना निजपद, (कि जो) पुण्य और पाप के भाव से रहित, शरीर से रहित, धूल से तो रहित है। धूल अर्थात् लक्ष्मी, उससे तो रहित तेरी चीज़ है, परन्तु पुण्य और पाप के राग से (रहित) प्रभु! तेरी चीज़ है। कभी तेरी निधि को, तेरे निधान को कभी तूने स्मरण नहीं किया। तेरा नहीं उसे सम्हालने में रुक गया, परन्तु तेरे निधान को सम्हाला नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

'**कै अपनौं पद आप संभारत, कै गुरुके मुखकी सुनि बानी।**' पहले निसर्गज समकित कहा। यह अधिगमज। अर्थात् ? गुरु ने इसे कहा हुआ... देखो, '**गुरुके मुखकी सुनि बानी।**' गुरु की वाणी कैसी होती है ? कि राग और विकल्प से भिन्न बतावे, वह गुरु की वाणी। समझ में आया ? आहाहा! भगवान सच्चिदानन्द प्रभु सिद्धस्वरूपी, जो सिद्ध भगवान 'णमो लोए सव्व सिद्धाणं' हुए, वे सब अन्तर स्वरूप में से हुए हैं। वह कहीं बाहर की किसी क्रिया से हुए नहीं। आहाहा! कहते हैं, '**गुरुके मुखकी सुनि बानी।**' परन्तु यहाँ तो, वाणी सुनी, उसमें क्या था, यह और जरा कहना है।

'**भेदग्ज्ञान जग्यौ जिन्हिकै घट।**' गुरु ने उसे ऐसा कहा था। सच्चे सन्त, हों! आत्मज्ञानी धर्मात्मा। जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव कहते हैं, ऐसे धर्मी सन्त धर्मात्मा उसे ऐसा कहते हैं, भाई! भेदविज्ञान। प्रभु! तुझमें आनन्द और ज्ञान है। राग का विकल्प जो उठता है दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का वह राग है और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, वह पाप है। दोनों से तू भिन्न कर, ऐसी गुरु की वाणी थी। नेमचन्दभाई! अरे! कान में सच्ची बात पड़े नहीं और जिन्दगियाँ चली जाती है जंजाल में। आहाहा!

इसका जीवन कीड़े और पिल्ले और कौवे जैसा अवतार है। समझ में आया? जिसने आत्मा क्या—क्या चीज़ परमेश्वर कहते हैं और वह इस आत्मा की प्राप्ति कैसे हो—यह जिसने सुना नहीं, उस रीति की रीति—पद्धति सुनी नहीं, समझ में आया? तो उसे समझ में तो कहाँ से आवे? अरे! ऐसे अवतार अनन्त बार तो किये और मरा। वह कहीं अवतार मनुष्य का सच्चा नहीं कहलाता। आहाहा! '**भेदविग्यान जग्यौ जिन्हिकै।**' शरीर, वाणी, मन तो जड़ होकर रहे हैं। यह तो मिट्टी होकर रहे हैं। आत्मा के होकर रहे हैं यह? आत्मा तो अरूपी है। यदि आत्मा के होकर रहे तो वे अरूपी हो जाये। आत्मा उनका होकर रहे तो आत्मा जड़ हो जाये। आहाहा! बराबर है?

शरीर, शरीररूप से रहा है, अजीवरूप से वह तो रहा है। लक्ष्मी भी अजीवरूप से अजीव की होकर रही है। जीव की होकर जीवरूप से रही नहीं। ऐसा जिसे अन्तर में, अजीव लक्ष्मी, अजीव शरीर और अजीव कर्म और पुण्य और पाप, वह अचेतन विकार राग—उससे जिसे अन्तर भेद पड़ता है, भिन्नता होती है, उसे भेदज्ञानी, धर्मी और समकिती—धर्म की पहली शुरुआतवाला कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? क्यों? भेदविज्ञान अर्थात् दोनों जैसे (भिन्न) थे, वैसे भिन्न जाने।

चैतन्य भगवान आत्मा का आनन्द और शान्ति का स्वरूप है और रागादि, वह विकार और दु:खरूप है। ऐसे दो थे, उन्हें दो रीति से भेदज्ञान करके जाने। भेद कहा है न भाई इसमें? वह दु:खरूप था, यह आनन्दरूप है। वह अज्ञान था, यह ज्ञान है। वह अचेतन था, यह चेतन है। वह अनात्मा था, यह आत्मा है। कठिन बातें, भाई! समझ में आया? ऐसे परमात्मा तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ धर्मसभा में इन्द्रों के समक्ष में फरमाते थे। बड़े अर्धदेवलोक के स्वामी शकेन्द्र बत्तीस लाख विमान। सौधर्म देवलोक है, जिसके एक-एक विमान में असंख्य देव। और ईशानदेव। ऐसे (देवों की) समीप में तीर्थंकर की वाणी में यह आया है। अरे! समझ में आया? यह गुरु की वाणी कहो या तीर्थंकर की वाणी कहो। उस वाणी में भेदज्ञान आया है, ऐसा कहना है। तब उसे भेदज्ञान कहा। समझ में आया?

ऐसा किस प्रकार का (धर्म)! ऐसा धर्म होगा, कौन कहता है? भाई! भगवान का यह धर्म, बापू! तुझे खबर नहीं। भाई! तुझे इस पद्धति की खबर नहीं। समझ में

आया? कहते हैं, या अपने आप सम्हाले या गुरु से। इसका अर्थ कि गुरु से सुना है और न सुना हो तो अपने स्वभाव से प्रगट हुआ है, परन्तु प्रगट हुआ भेदविज्ञान। भेदविज्ञान अर्थात् दो का दोरूप से ज्ञान। आत्मा आनन्दमूर्ति है, ऐसा उसका ज्ञान और राग का विकल्प, शरीरादि सब दु:खरूप और अचेतन, पर है—ऐसा ज्ञान। पर और स्व का जैसा स्वरूप है, वैसा उसे पर से भिन्न पड़कर अपना ज्ञान होने से पर का भी ज्ञान हुआ कि रागादि अचेतन मेरी चीज़ नहीं। कहो, पण्डितजी! कठिन बात, भाई! ऐसा मार्ग।

'**भेदविग्यान जग्यौ जिन्हिकै**।' जिसके हृदय में—जिसके अन्तर में राग का विकल्प है, पुण्य का और पुण्य का बन्धन जो है और उसके फलरूप से यह धूल आदि प्राप्त होती है—उन सबसे आत्मा भिन्न, तीनों काल भिन्न रहा है। ऐसा जिसे '**भेदविग्यान जग्यौ**' अर्थात् क्या कहा? कि अनादि से भेदविज्ञान नहीं था, अभेदज्ञान था। राग, पुण्य और विकल्प मेरे, ऐसा एकपने का ज्ञान था, वह अज्ञान था। आहाहा! '**भेदविग्यान जग्यौ**' उस राग के विकल्प से और शरीर से भिन्न मेरा स्वरूप है, ऐसा जिसे भान हुआ, उस भेदविज्ञान उत्पन्न हुआ। अनादि से नहीं था, ऐसा उत्पन्न हुआ। '**जिन्हिकै जग्यौ**' जिसे अन्तर में निर्मल चैतन्यज्योति जलहल ज्योति भगवान आत्मा, प्रकाश चैतन्य के प्रकाश के नूर का पूर प्रभु आत्मा है। आहाहा! कैसे जँचे? नवनीतभाई! यह बाहर में फँसा हुआ ऐसा यह... आहाहा!

यह पुरुषार्थ नहीं अभी अन्दर में। यह बैठी (उसकी) हाँ पाड़े बिना भान के। सुमनभाई! ओघे अर्थात्? वस्तु देखे बिना यह हमको बैठी है, यह किस प्रकार कहा जाये? सबको बिना भान के है, ऐसी बात है। ऐ चेतनजी! चेतनजी का पक्ष... शुद्धनय का पक्ष करे तो... हाँ, बिना भान के न चले। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है, ऐसी सत्ता का स्वीकार कब होता है? ऐसी सत्ता को अन्दर स्पर्श करे और एकाकार हो, तब अंश प्रगट हो, तब ज्ञानानन्दस्वभावी है, ऐसी श्रद्धा हो। यह तो पहले कहा था। पहली समझ में यह बात ले कि इस प्रमाण ही होना चाहिए। दूसरे मार्ग है (नहीं)। वीतराग तीर्थंकर के मार्ग में दूसरा मार्ग नहीं है। समझ में आया?

'**जिन्हिकै प्रगटी सुविवेक-कला-रसधानी**।' आहाहा! जिसे सुविवेक कलारूपी

राजधानी, अरे! स्वरूप का ईश्वर हुआ। अनादि से जो पुण्य और पाप के फल का ईश्वर मानता मूढ़। समझ में आया? पोपटभाई! मूढ़ होगा यह?

मुमुक्षु : पूरा-पूरा, एक पॉईन्ट भी कहाँ कम।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाँच-पाँच, दस-दस लाख पैसा पैदा...

मुमुक्षु : आप कहते हो....

पूज्य गुरुदेवश्री : तुमको कहता हूँ अर्थात् क्या? आंशिक किसे कहना? उसका भाग पड़ता नहीं। वस्तु ऐसी, भगवान! सूक्ष्म बात है, भाई! ऐसे अनन्त काल थोथा किये इसने तो। अन्दर में ज्ञान और आनन्द का नाथ आत्मा है। अकेला अतीन्द्रिय... जैसा सिद्ध भगवान को आनन्द है, जैसा अरिहन्त परमेश्वर को आनन्द है, ऐसा आनन्द मुझमें है। उस आनन्द के स्वरूप की ओर सन्मुख होकर व्यक्तरूप से आनन्द की दशा हो और उसका ज्ञान हो, तब उसे आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, ऐसा प्रतीति में आवे। ऐसा है, भाई! बाकी बातें करके प्रसन्न होना हो (तो) उतरा हुआ (चेहरा), ऐसा नहीं, लो। भाई यह तो कहते हैं। समझ में आया?

कहते हैं, '**प्रगटी सुविवेक-कला-रसधानी।**' आहाहा! अपना राज मिला इसे। अनन्त-अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान का स्वभाव आत्मा का, ऐसी राजधानी आत्मा की सम्यग्दृष्टि को अर्थात् कि भेदज्ञानी को (मिली) अर्थात् कि राग और पुण्य की एकता टूटकर स्वभाव का भान होने पर चैतन्य महाराजा आनन्द का नाथ है, ऐसी राजधानी उसे मिली। आहाहा! उसका राजा हुआ। वह राग का राजा अनादि से मूढ़ मानता था। गुलाम-दास है, भिखारी है। ऐई! एक बार कहा था न बहुत वर्ष की बात है, ८१-८२ की। एक व्यक्ति ने पैसे दिये होंगे। (संवत्) १९८२ के वर्ष में। चालीस-पचास हजार दिये होंगे। तब कोई पाठशाला में। लींबड़ी थे न तब। दरबार आये थे दरबार, नहीं? क्या नाम? दौलतसिंह दादभा। दस लाख की उपज राज की बारह महीने में। फिर एक दिन व्याख्यान में आये थे। प्रति दूसरे दिन आना। कहा, मैं तो जहाँ एक दिन मेरा निश्चित हो वहाँ रहता हूँ। मैं तो अधिक (यहाँ रहनेवाला नहीं)। राजा आवे या बड़ा आवे, उसके घर में रहा। मैं कहीं दूसरे दिन रहनेवाला नहीं हूँ। सवेरे उठकर, अंकलेश्वर क्या कहलाता है? अंकेवाळीया के बाहर बैठा था। वहाँ आये थे।

'महाराज! पैसेवाले का इस धर्म में कहीं अधिकार है?' ऐसा प्रश्न पूछा था। ऐ नवरंगभाई! पैसेवाले तब नहीं? मणियार। पैसेवाला है न? तब चालीस हजार कुछ दिये थे। ओघडचन्दभाई नहीं, परन्तु छोटा था। मोहन-मोहन, छोटा केशव सब मिले हुए थे। तब बहुत पैसेवाले थे न! चालीस हजार तब ८२ में दिये थे। कहा, देखो, पैसेवाले का अधिकार धर्म में नहीं। ऐ नेमचन्दभाई!

मुमुक्षु : सही बात है....

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा तो जड़ है और पैसे में लक्ष्य जाता है, वह पाप का (कारण है)। 'यह मेरे' यह पाप है और कदाचित् राग घटाने का भाव आवे दया, दान का तो वह पुण्य है, वह विकार है। वह कहीं आत्मा की चीज़ है (नहीं)। भेदज्ञान कहना है न! समझ में आया? कठिन भाई! वीतराग का मार्ग अलौकिक मार्ग है, भाई! आहाहा!

जिन्हिकै प्रगटी सुविवेक-कला-रसधानी।' है न, वह भी ऐसा कहते हैं। एक बार कहा था न! गोवा में नहीं तुम्हारे? शान्तिलाल खुशाल। दो लाख चालीस करोड़ रुपये, दो लाख क्या? दो अरब चालीस करोड़ रुपये अभी हैं। गोवा में शान्तिलाल। शान्तिलाल खुशाल। दशाश्रीमाली बनिया है। प्रेमचन्दभाई के मामा का पुत्र। प्रेमचन्दभाई के सगे मामा का पुत्र। दो अरब चालीस करोड़ रुपये। दो सौ चालीस करोड़ रुपये हैं। फिर एक बार कहते थे दूसरे कि यह तुम यह क्या करते हो? 'हम व्यापार करते हैं (वह) क्या मुफ्त करते हैं? हम सात-आठ हजार लोगों को निभाते हैं।' ऐ मलूकचन्दभाई!

मुमुक्षु : हम व्यापार करें तो वे निभे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी निभाता नहीं। मुफ्त का अभिमान करता है। ऐई पोपटभाई!

यह तुम्हारा कारखाना चलता होगा और सबको निभाते होंगे। अभिमान है। अभी तो है अभी पैसा। पन्द्रह लाख का कारखाना है थाणा में। वहाँ है बड़ा कारखाना मुम्बई में। एक व्यक्ति कहता था कि पोपटभाई के पास पाँच करोड़ है। भाई! होंगे कौन जाने? क्या करना है, सुन न! पाँच करोड़ हो या धूल करोड़ हो। क्या उसमें है क्या धूल में?

मुमुक्षु : उसमें फँसे पोपटभाई।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे भगवान! एक व्यक्ति कहता था। अपने भाई कहते जयन्तीभाई। है या नहीं या गये?

मुमुक्षु : पेड़ पर चढ़ाते हैं पोपटभाई को।

पूज्य गुरुदेवश्री : चढ़ाते हों। इज्जत बड़ी दिखे, पैसे पन्द्रह-पन्द्रह लाख के दो कारखाना। निश्चित बड़े दो करोड़ होंगे और पाँच करोड़ होंगे। हो तो भी आत्मा को क्या? वह तो 'यह मेरे' यह मान्यता दुःख की दायक मिथ्या मान्यता है। धर्मी होने पर यह मान्यता छूट जाती है। फिर भले चक्रवर्ती के राज में दिखाई दे, परन्तु वह राज और लक्ष्मी मेरी नहीं। राग उत्पन्न हो शुभ का दया, दान का, वह भी मेरा नहीं। तब भेदज्ञान कहा न यहाँ! आहाहा!

'**प्रगटी सुविवेक**' सुविवेक कहा है। सुविवेक अर्थात् बराबर राग से भिन्न पड़कर अन्तर आत्मा में प्रगट हुआ है। '**कला-रसधानी।**' यहाँ शक्ति कही है, नहीं? ज्ञानशक्ति प्रगट हुई, ऐसा कहा है। ... ठीक है, उसमें कुछ नहीं। सुविवेक कला प्रगटी अन्दर। जैसे चन्द्रमा में दूज उगे, वैसे धर्मी जीव को शुरुआत में जो राग का विकल्प है—दया, दान, व्रत, पूजा और काम, क्रोध का आदि का—उससे भिन्न ऐसा आत्मा का भान होने पर उसे आत्मा की कला प्रगट होती है, केवलज्ञान लेने की कला प्रगट होती है। समझ में आया?

'**भाव अनंत भए प्रतिबिंबित,**' सूक्ष्म बात है, भगवान! यह आत्मा ज्ञान और धर्म प्राप्त करता है, तब उसका ज्ञान निर्मल होता है। राग की, विकल्प की वृत्ति से भिन्न ऐसा सम्यग्ज्ञान होने पर ज्ञान निर्मल होता है। और उस ज्ञान में जगत के पदार्थ ज्ञात होते हैं तथापि वह ज्ञान मैला नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? भरत चक्रवर्ती, ऋषभदेव भगवान के पुत्र, ९६ हजार स्त्रियाँ थीं, ९६ करोड़ सैनिक, ४८ हजार पाटण, ७२ हजार नगर, एक करोड़ हल। यह मेरे नहीं, हों! यह मेरे नहीं, मैं इनमें नहीं, हों! जहाँ मैं हूँ, वहाँ ये नहीं और जहाँ ये हैं, वहाँ मैं नहीं। ऐसा जिसे अन्तर में भेदज्ञान होता है, उसे समकिती और धर्मी कहा जाता है। समझ में आया?

'**भाव अनंत भए प्रतिबिंबित**' उसमें अन्दर लिखा है। **उन महात्माओं को जीवन**

मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है। 'भाव भये... 'जीवन मोख दसा ठहरानी।' पहला अर्थ ऐसा कर दिया, पहला ये किया। सम्यग्दर्शन होने पर वह विकल्प पुण्य-पाप की वृत्ति से भिन्न पड़ने पर, जीवनमुक्त—जीवित होने पर भी वह अन्तर तो मुक्त ही है। आहाहा! वह आयुष्य से धर्मी मुक्त है, पुण्य-पाप के राग से धर्मी मुक्त है, उसे यहाँ जीवनमुक्त कहा जाता है। समझ में आया? '**भाव अनंत भए प्रतिबिंबित**' कहते हैं कि ज्ञान में अनन्त पदार्थ ज्ञात हों। संयोग हों, वे ज्ञान में ज्ञात हों। संयोग मेरे हैं, ऐसा नहीं होता। समझ में आया?

'**भाव अनंत भए प्रतिबिंबित**'—झलके अन्दर भान। '**जीवन मोख दसा ठहरानी।**' यह आयुष्य और राग में रहा, ऐसा दिखने पर भी उससे मुक्त है। उसे सम्यग्दृष्टि और उसे धर्म की शुरुआत करनेवाला कहा जाता है। समझ में आया? कठिन बातें महँगी, भाई! लोगों ने सस्ती कर डाली है न, इसलिए यह बात उन्हें ऐसी बैठे कि यह तो कोई एल.एल.बी. की बात है। एम.ए. की बात है। भगवान! एल.एल.बी., एम.ए. की बात वह अभी आगे है। यहाँ तो अभी प्रथम सम्यग्दर्शन की बात है। समझ में आया?

अनंत भए... देखो! शब्द ऐसा लिया है। राग और शरीर, पुण्य के विकल्प से प्रभु चैतन्य भिन्न है, ऐसा भान होने पर धर्मी जीव को अनन्त पदार्थ जानने में तो आवे। वह ज्ञान का स्वभाव है कि अनन्त को जाने। अनन्त को माने मेरा, ऐसा स्वभाव नहीं था। वह माना था। वह अनन्त को जाने, ऐसा स्वभाव बतलाया। समझ में आया? '**ते नर दर्पण ज्यौं अविकार**' दर्पण में बाह्य के पदार्थ अग्नि, बर्फ, नारियल, कोयला ऐसा मानो कि अन्दर दिखते हैं, वह तो दर्पण की स्वच्छता है। उसमें दर्पण की मलिनता नहीं। अग्नि दिखती है ऐसे अग्नि बाहर से। अग्नि है वहाँ? वह तो दर्पण की स्वच्छता है।

उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पण भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब, ऐसा जहाँ भान हुआ। अनन्त पदार्थ ज्ञात हुए, वे ज्ञान की निर्मलता के कारण से ज्ञात होते हैं, परन्तु इससे आत्मा मलिन हो जाये, ऐसा नहीं है। समझ में आया? '**ते नर दर्पण ज्यौं अविकार, रहैं थिररूप सदा सुखदानी।**' आहाहा! **उनसे कुछ विकार नहीं होता। वे सदा आनन्द में मस्त रहते हैं।** आहा! वह धर्मी तो अपना आनन्द है, उसमें मस्त रहता है। अज्ञानी पर

में आनन्द मानकर गहलरूप से पागल होकर मस्त रहता है। आहाहा! बहुत अन्तर। पागल है, कहते हैं वह पागल।

'**रहे थिर रूप**' अन्तर भले रागादि हो, देह आदि की क्रिया हो, परन्तु स्वरूप की दृष्टि, अनुभव हुई है, इससे वह आत्मा में ही है। वह राग में और शरीर में नहीं। आहाहा! कठिन बातें, भाई! स्थिर रहे तो उसे बोलने की क्रिया नहीं होती हो वहाँ? चलने की नहीं होती हो ऐसा? खाता है वह तो जड़ की (क्रिया) है। आहाहा! ज्ञान उसे जाने कि ऐसा होता है। मैं वाणी करता हूँ, मैं शरीर को हिलाता हूँ—यह बुद्धि नहीं रहती। यह बुद्धि है, वहाँ तक मिथ्यात्व और अज्ञान है। समझ में आया? यह २२वाँ हुआ। '**सदा**' है न, '**सदा सुखदानी**' भाषा प्रयोग की है।

मुमुक्षु : केवली को सब ज्ञात होता है ऐसा अर्थ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, उसमें यह तो... **स्वच्छ आत्मा में अनन्तभाव झलकते हैं।** यहाँ तो दर्पण का डाल दिया स्पष्ट।

उनसे कुछ विकार नहीं होता। सदा आनन्द में मस्त रहते हैं। ज्ञानस्वरूपी (ऐसा) भान हुआ, वह आनन्द में ही है। आहाहा! दुःख तो विकल्प है। विकल्प से तो मुक्त है। सूक्ष्म बात! समझ में आया? सम्यग्दर्शन, वह कोई साधारण चीज़ नहीं। आबाल गोपाल मानते हैं साधारण, ऐसी कोई चीज़ नहीं। वह तो अनादि का मानते हैं अज्ञानी। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्द का धाम, ऐसा जहाँ पुण्य-पाप के राग से विकल्प से भिन्न पड़कर भान हुआ, सुख में है। वह सुख में है, दुःख में नहीं। सुख में है और दुःख में नहीं। दुःख में हो तो वह तो विकार है। विकार में हो तो अपना स्वरूप नहीं। आहाहा! कठिन काम, भाई! गले उतरना कठिन अभी तो, बात सुनना... यह २२ हुआ। कलश हुआ २१। पद हुआ २२। अब २२वाँ कलश।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं,
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञान-मुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेक:,
किल किलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्।।२२।।

ओहोहो! भेदविज्ञान की महिमा। जिसे विकल्पमात्र दु:खरूप लगता है और उससे (भिन्न) भगवान आनन्दस्वरूप है, ऐसी भेदज्ञान की महिमा गायी जाती है।

★ ★ ★

काव्य - २३

भेदविज्ञान की महिमा (सवैया इकतीसा)

याही वर्तमानसमै भव्यनिकौ मिटौ मोह,
लग्यौ है अनादिकौ पग्यौ है कर्ममलसौं।
उदै करै भेदज्ञान महा रुचिकौ निधान,
उरकौ उजारौ भारौ न्यारौ दुंद-दलसौं।।
जातैं थिर रहै अनुभौ विलास गहै फिरि,
कबहूं अपनपौ न कहै पुदगलसौं।
यहै करतूति यौं जुदाई करैं जगतसौं,
पावक ज्यौं भिन्न करैं कंचन उपलसौं।।२३।।

शब्दार्थ:-निधान=खजाना। दुंद (द्वंद्व)=संशय। उपल=पत्थर। महारुचि=दृढ़ श्रद्धान। जगत=जन्म-मरण रूप संसार।

अर्थ:-इस समय भव्य जीवों का अनादि काल से लगा हुआ और कर्म मल से मिला हुआ मोह नष्ट हो जावे। इसके नष्ट हो जाने से हृदय में महाप्रकाश करनेवाला, संशय समूह को मिटानेवाला, दृढ़ श्रद्धान की रुचि-स्वरूप भेदविज्ञान प्रगट होता है। इससे स्वरूप में विश्राम और अनुभव का आनन्द मिलता है तथा शरीरादि पुद्‌गल पदार्थों में कभी अहंबुद्धि नहीं रहती। यह क्रिया उन्हें संसार से ऐसे पृथक् बना देती है, जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण को किट्टिका से भिन्न कर देती है।।२३।।

काव्य-२३ पर प्रवचन

याही वर्तमानसमै भव्यनिकौ मिटौ मोह,
लग्यौ है अनादिकौ पग्यौ है कर्ममलसौं।
उदै करै भेदज्ञान महा रुचिकौ निधान,
उरकौ उजारौ भारौ न्यारौ दुंद-दलसौं।।
जातैं थिर रहै अनुभौ विलास गहै फिरि,
कबहूं अपनपौ न कहै पुदगलसौं।
यहै करतूति यौं जुदाई करैं जगतसौं,
पावक ज्यौं भिन्न करैं कंचन उपलसौं।।२३।।

यह तो वीतराग परमेश्वर का मक्खन है। '**याही वर्तमान**' **समय में...** देखो, भाषा ली है। इस काल में भी... इस वर्तमान समय में भी '**भव्यनिकौ**'—भव्य जीव—योग्य प्राणी है। उनका '**मिटौ मोह**'—मोह गया। सम्यग्दर्शन होने पर राग से भिन्न आत्मा को... यह वस्तु ऐसी है, (ऐसा) पहले समझ में तो ले। मार्ग यह है, दूसरा कोई मार्ग है (नहीं)। परलक्ष्यी समझ तो करे कि यह बात है। उसे अभी तो परलक्ष्यी समझ में भी भूल (होती है), उसे स्वलक्ष्यी हो कैसे? '**याही वर्तमानसमै भव्यनिकौ मिटौ मोह,**' नीचे है। **इस समय भव्यजीवों का अनादिकाल से लगा हुआ....**

'**मोह, लग्यौ है अनादिकौ पग्यौ है कर्ममलसौं।**' **और कर्ममल से मिला हुआ मोह नष्ट हो जाये।** कर्म के निमित्त में जो पर में अपनापन मानकर मिथ्यात्वभाव को सेवन करता था, वह मिथ्यात्व और कर्म से भिन्न आत्मा को प्राप्त करने से धर्मी का वह मोह नष्ट हो जाता है और भेदज्ञान समकित की उत्पत्ति होती है। समझ में आया? होश उड़ जाये, ऐसा है। ऐई! जा आये या नहीं तुम्हारे लड़के के यहाँ? इनका लड़का वहाँ स्विट्जरलैण्ड रहता है। दो करोड़ रुपये। एक भी लड़का नहीं, परन्तु राग बढ़ा। बाग-बगीचा और उसका वैभव देखो तो राजा जैसा। धूल में भी नहीं वहाँ सुख। फिर यहाँ आवे तो रोवे।

न्यालचन्दभाई है न, वह इनका (मलूकचन्दभाई का) बड़ा लड़का है। यहाँ

आवे तब रोवे। महाराज! अरे! वहाँ आपका नाम सुनने पर मुझे रुदन आ जाता है। अरर! कहाँ पड़े हैं? वहाँ दु:खी हैं। यहाँ आना है। तुम तो जा आये साक्षात्। हैरान हो आये। कितने समय रहे? पौने दो... पौने दो महीने रहे। बुलाया था, कहे, देखने तो आओ तुम्हारे पुत्र का वैभव। क्या है? धूल भी नहीं वहाँ, सुन न! ऐसा तो लड़का चतुर है, कहीं पागल नहीं है। विश्वास है कि बात तो सच्ची यह है। परन्तु सुख है नहीं, ऐसा कहे। चतुर है ऐसा। बहुत चतुर है। छोटा साधारण, परन्तु उसके पास पैसे तीन करोड़। इसके पास दो करोड़।

यह धूल तो पूर्व के पुण्य के परमाणु के कारण दिखती है। उसमें तेरे कहाँ थे वे पैसे? पोपटभाई! क्या होगा यह सब? भ्रम होगा यह सब? कहते हैं, **'लग्यौ है अनादिकौ पग्यौ है कर्ममलसौं।'** अनादि से राग और मैं—दोनों (एक) माने थे, वह मैल मिट गया। भगवान आत्मा ज्ञान का भेदज्ञान हुआ, राग पर से भिन्न पड़ा, इसलिए राग की एकता का मिथ्यात्व—मोह का व्यय हो गया। **'उदै करै भेदज्ञान'** और राग से भिन्न पड़कर अपना ज्ञान प्रगट करता है। जो ज्ञान राग की एकता में रुका हुआ था अनादि से अज्ञानी को, उस राग के विकल्प से भिन्न पड़कर पहले में पहला समकिती— धर्म की शुरुआत करनेवाला, उसकी यहाँ बात है। मुनि और केवली की बातें तो कोई अद्भुत, अलौकिक बातें हैं। बापू! वह तो कोई अलौकिक बातें हैं। यह तो चौथे गुणस्थान की, सम्यग्दर्शन की बात है। समझ में आया?

'उदै करै भेदज्ञान' लो। भेदज्ञान प्रगट होता है। है न? **इनके नष्ट हो जाने से हृदय में महाप्रकाश करनेवाला, संशय समूह को मिटानेवाला, दृढ श्रद्धान की रुचि स्वरूप भेदज्ञान प्रगट होता है।** महारुचि निधान, ज्ञानानन्द का समुद्र प्रभु, उसकी— निधान की रुचि हुई, सम्यग्दर्शन हुआ, राग से भेदज्ञान हुआ। महा रुचि का निधान बड़ा निधान की रुचि जिसे प्रगट हुई। रंक की, राग की रुचि थी, वह गई। समझ में आया? आहाहा! मैं रागी हूँ, पुण्यवाला हूँ, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह गया और **'भेदज्ञान महारुचिकौ निधान'** उसे प्रगट हुआ। **दृढ़ श्रद्धान की रुचि स्वरूप भेदज्ञान प्रगट हुआ 'उरकौ उजारौ'** अपना प्रकाश। (अर्थ) किया है न, हृदय में प्रकाश, महाप्रकाश।

यह चैतन्य का प्रकाश अनुभव में आया, तब उसे धर्मी कहा जाता है, तब उसे समकिती का भेदज्ञान हुआ, ऐसा कहा जाता है। आहाहा!

'**उरकौ उजारौ**' अन्दर में ज्ञान का प्रकाश दिखता है। '**भारौ न्यारौ दुंद-दलसौं**' संशय के दल से भिन्न पड़ जाता है, संशय रहता नहीं। समझ में आया? '**दुंद-दलसौं**' का अर्थ किया है न अन्दर—द्वंद्व, संशय अथवा दुविधा। पुण्य-पाप के विकल्प के द्वंद्व से भिन्न पड़ जाता है। भारी धर्म की व्याख्या! कोई कहे, यह और भगवान की होगी यह? परन्तु न्याय से तो कहा जाता है तुझे। न्याय से, तुलना से तो बात करते हैं। अब सुन, समझ तो तुझे खबर पड़े। यही वीतराग का मार्ग है।

'**उरकौ उजारौ भारौ न्यारौ दुंद-दलसौं**' संशय को जहाँ स्थान नहीं। पूर्णानन्द का नाथ आत्मा जहाँ श्रद्धा-ज्ञान में प्रगट हुआ, द्वंद्वपना नहीं। जहाँ आत्मा एकरूप है, ऐसा भान हुआ। जिसे जन्म-मरण के दु:खों से मुक्त होना हो तो यह करना ही पड़ेगा। बाकी चौरासी के अवतार के डण्डे खाकर अनादि से अरबोंपति अनन्त बार हुआ और सौ बार माँगे और ग्रास एक बार मिले, ऐसा भिखारी भी हुआ। यह तो बाहर की कर्म की क्रीड़ा है, यह कहीं आत्मा है (नहीं)। आहाहा! समझ में आया?

'**जातैं थिर रहै अनुभौ विलास गहै फिरि**' विकल्प के भेद से भिन्न पड़ा है। और '**थिर रहै**' स्वरूप में... अन्तर स्वरूप में... स्वरूप में... शुद्ध स्वरूप में स्थिर रहे, अनुभव में। अनुभव करके स्थिर रहे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? विलास, '**अनुभौ विलास गहै**' आनन्दस्वरूप प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का रस धर्म की पहली दशा प्रगट होने पर धर्मी आनन्द का विलास गहै। '**फिरि कबहूं अपनपौ न कहै पुद्‌गलसौं**' अब फिर से, शरीर मेरा, लक्ष्मी मेरी, राग मेरा—यह धर्मी कभी किसी दिन नहीं मानता। कठिन बात है, भाई! काजल की कोठरी में रहना और पैर को दाग लगाने देना नहीं, ऐसा नहीं। यह तो आनन्द की कोठरी में रहना और राग का लेप लगने देना नहीं। ऐ डालचन्दजी!

यह उसकी (ज्ञानी की) बात चलती है। अज्ञानी की कहाँ बात है यहाँ? अज्ञानी तो अनादि से मरा पड़ा है। वह साधु हुआ तो भी आत्मा का भान नहीं, वह मरा पड़ा बेचारा। राग की क्रिया से, देह की क्रिया से भिन्न है, (ऐसा) भान नहीं। वे सब मरे मुर्दे

हैं। चार गति में भटकनेवाले हैं। आहाहा! समझ में आया? जीवित कब हुआ है? मुर्दा है मुर्दा। शास्त्र में कहा है न! राग से और पुण्य के भाव से भिन्न भगवान आत्मा का जहाँ ज्ञान, श्रद्धान, अनुभव नहीं, वह चलता मुर्दा है। अष्टपाहुड़ में कहा है, चलता मुर्दा है। वह उठाकर चले अर्थी में, यह चलता मुर्दा है। भान नहीं कुछ (कि) जीवता जीव कैसी चीज़ है। समझ में आया? भारी कठिन काम लगे, नहीं? प्रकाशदासजी! वे महाव्रत पालना और अणुव्रत पालना, कुछ मेहनत थी उसमें? आहाहा!

कैसा तेरा मार्ग, बापू! कहेंगे आगे, हों! जिन सोही आत्मा... आगे आयेगा। 'जिनपद नांही शरीर को, जिनपद चेतन मांही।' सत्ताईस में आता है। 'जिनपद नांही शरीर को' यह शरीर कहाँ जिनपद है? जिनपद तो चैतन्य में है। सत्ताईसवाँ पद है, सत्ताईसवाँ। कहते हैं, '**जातैं थिर रहै अनुभौ विलास गहै फिरि, कबहूं अपनपौ न कहै पुद्‌गलसौं**' पुण्य और पाप के विकल्प भी पुद्‌गल हैं, जड़ हैं, अचेतन हैं। उसे ज्ञानी-धर्मी कभी मेरे हैं, ऐसा नहीं मानता। कठिन भाई महँगा ऐसा धर्म, कहते हैं। बापू! अपूर्व बात है न! अनन्त काल में यह किया नहीं, बाकी तो सब अनेक बार, अनन्त बार हुआ है।

धर्मी जीव अपने ज्ञान और आनन्दस्वभाव का अनुभव करता हुआ, उस विलास में रहता हुआ—यह उसका विलास। इस जीवन में विलास नहीं करते? बाग-बगीचा और विलास और ऐय! दो-पाँच लाख के बाग हों, शाम को फुरसत होकर कुर्सी में बैठे। हवा-पानी, कुर्सी-बुर्सी डाले न सब सात-आठ-दस मित्र इकट्ठे (होकर) गप्प मारे और फिर मजा करते हैं और श्रीखण्ड, पूड़ी और अरबी के पत्ते उड़ाते हों उस समय। गर्म-गर्म अरबी के पत्ते (के भुजिया) और श्रीखण्ड। सुखी हैं। होली प्रगटी, तू दुःखी है, सुन न! तुझे कौन सुखी कहता है?

मुमुक्षु : उसकी जाति के।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी जाति के पागल उसे सुखी कहते हैं। ऐई! समझ में आया?

ऐई नेमचन्दभाई! यह सब तुमको पैसेवाले, सुखी कहते हैं वहाँ। बड़े दस-दस लाख के बँगले घर में हैं ऐई बड़े। सुखी हैं भाई पैसेवाले हैं, ऐसा लोग कहते हैं। वह

सुख कहाँ धूल में था? कीर्ति में सुख था? बहुत अभिनन्दन दे, महिमा करे। ओहोहो! तुमने तो बाहुबल से, नहीं था और (इकट्ठा किया), हों! धूल भी नहीं, सुन न! वह तो पूर्व के पुण्य के रजकण थे, वे जल गये और बाहर दिखाई दिया तेरे पास। उसमें तेरा कहाँ है वह? आहाहा! पूर्व के सातावेदनीय आदि रजकण पड़े होंगे। कहीं एकेन्द्रिय आदि में शुभभाव हुआ हो, उसमें पुण्य परमाणु पड़े हों, उसका पाक काल आवे तो गोठी बैठ जाती है और कहीं पाँच-पचास (लाख), दो-पाँच करोड़ इकट्ठे हों। इकट्ठे किसके साथ? वे तो जड़ में इकट्ठे हुए हैं। तेरे साथ कहाँ इकट्ठे हुए थे? तू तो चैतन्य और वे तो जड़ हैं। पोपटभाई! बराबर होगा यह? परन्तु छह लड़कों में बैठे हों बँगले में वहाँ, तब ऐसा याद रहे? क्या कहना है? और ऐसा कहते हैं। आहाहा!

'न कहै पुद्‌गलसौं' अब सादि-अनन्त धर्मी राग, शरीर और पुद्‌गल है, उसे अपना माने (नहीं)।

मुमुक्षु : नाम....

पूज्य गुरुदेवश्री : नाम सुख भी नहीं। वहाँ माने नाम, मुफ्त का नाम दिया है। लोग सुख कहते हैं। सुख था कब धूल में? शरीर सुख है और यह पैसा सुख है। यह तो जड़ मिट्टी है। तेरा सुख वहाँ है? वही उसने पर में, अजीव में सुख मानकर मिथ्यात्व का सेवन किया है। मिथ्यात्व के पाप को सेवन करे और फिर कुछ दया, दान की करणी करे और उससे धर्म हो जाये, ऐसा माने। धूल भी धर्म नहीं, सुन न!

कहते हैं, **'यहै करतूति यौं जुदाई करैं जगतसौं'** देखो, भाषा ली है। पूरे जगत से भिन्न करते हैं, ऐसा कहते हैं। **शरीरादि पुद्‌गल पदार्थों में कभी अहंबुद्धि नहीं रहती। यह क्रिया उन्हें संसार से पृथक् बना देती है।** यह क्रिया। यह शरीर और पुण्य-पाप के भाव से भिन्न करने की जो क्रिया, उसका नाम किया। यह धार्मिक क्रिया। कठिन बात! समझ में आया? **'यहै करतूति यौं जुदाई करैं जगतसौं'** पूरी दुनिया से भिन्न करे अपने को। **क्रिया उन्हें संसार से...** यहाँ संसार शब्द प्रयोग किया है। पाठ में जगत शब्द है न! अर्थ में संसार (शब्द) प्रयोग किया है। पूरा संसार। पुण्य के शुभ परिणाम से लेकर पूरा संसार। धर्मी को उससे भिन्न अपना स्वरूप भासित होता है। आहाहा! समझ में आया?

'यहै करतूति यौं जुदाई करैं जगतसौं, पावक ज्यौं भिन्न करैं कंचन उपलसौं।' अग्नि, जैसे पत्थर और सोने को भिन्न करती है। पत्थर आता है न सोने का? खान में से निकले पत्थर सोनामिश्रित। अग्नि लगावे, सोना पृथक् पड़ जाये, पत्थर पृथक् पड़ जाये। इसी प्रकार अनादि का पुण्य और पाप के राग की खान में चैतन्य दिखता था, उसे भिन्न किया। कंचन समान भगवान आत्मा और पत्थर समान पुण्य और पाप के विकल्प कर्म और शरीर। सुनते हुए उसे चिल्लाहट मचा जाता है। ऐसा वीतरागमार्ग? यहाँ तो सीधा करके रखा है जगत ने। मन्दिर बनाओ, जाओ धर्म हो गया। पाँच लाख खर्च करो, जाओ धर्म। धूल भी नहीं सुन न! पैसे से धर्म हो तो रंक को रोना पड़े। रंक को पैसा खोजना पड़े। ऐसा है नहीं।

कहते हैं, अग्नि, जैसे कंचन और पत्थर को भिन्न करती है। **अग्नि स्वर्ण को किट्टिका से भिन्न कर देती है।** मैल से भगवान आत्मा को भिन्न कर डालता है। इसी प्रकार ज्ञानाग्नि—भेदज्ञान अग्नि, परसन्मुख के झुकाववाले विकल्प का भाव और स्वसन्मुख की अन्तर की शान्ति—दो को भिन्न करके भगवान आत्मा स्वभाव में एकत्वपने को पाता है। समझ में आया? इसका नाम सम्यग्दर्शन, इसका नाम सम्यग्ज्ञान, इसका नाम भेदज्ञान, इसका नाम धर्म की वीतराग मार्ग में शुरुआत। **भिन्न कर देती है।** लो। अनुवाद है न.... अनादि से जैसे.... जन्म-मरण का अनादि किया है न! अनादि से राग, पुण्य और (आत्मा) दोनों एकरूप से माने थे, वह मिथ्यादृष्टि का लक्षण। उसे आत्मा को भिन्न करके जाना, वह सम्यक् दृष्टि का लक्षण। और इस सम्यग्दर्शन बिना जो कुछ व्रत, तप और नियम, दया-दान करे, उसमें शुभभाव हो, पुण्य बँधे; धर्म नहीं। जन्म-मरण का अन्त उसमें आवे, ऐसी वह चीज़ है नहीं। जन्म-मरण के अन्त का तो यह उपाय है। विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २६, माघ कृष्ण अमावस्या, गुरुवार, दिनांक २५-२-१९७१
जीवद्वार, पद—२४ से २८

कहते हैं, २३वाँ कलश है। २४वाँ पद है।

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्,
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।।२३।।

इसका पद।

★ ★ ★

काव्य - २४

परमार्थ की शिक्षा (सवैया इकतीसा)

बानारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख,
कैहूं भांति कैसैंहूंकै ऐसौ काजु कीजिए।
एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होइ,
ग्यानकौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।।
वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
यौंही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वासकौ विलास सविकाररूप,
अंतकरि मोहकौ अनंतकाल जीजिए।।२४।।

शब्दार्थः-कैहूंभांति=किसी भी तरीके से। कैसैंहुंकै=आप किसी प्रकार के बनकर। हंस=आत्मा। कौतूहल=क्रीड़ा। भव-वासकौ विलास=जन्म-मरण की भटकना। अनंतकाल जीजिए=अमर हो जाओ अर्थात् सिद्धपद प्राप्त करो।

अर्थः-पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं-हे भाई भव्य! मेरा उपदेश सुनो कि किसी प्रयत्न से और कैसे ही बनकर ऐसा काम करो जिससे मात्र अन्तर्मुहूर्त के लिये मिथ्यात्व का उदय न रहे, ज्ञान का अंश जागृत हो आत्म-स्वरूप की पहिचान होवे। यावज्जीव उस ही का विचार, उस ही का ध्यान, उस ही की लीला में परमरस का पान करो और राग-द्वेषमय संसार की भटकना छोड़कर तथा मोह का नाश करके सिद्धपद प्राप्त करो।।२४।।

काव्य-२४ पर प्रवचन

बानारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख,
कैहूं भांति कैसैंहूंकै ऐसौ काजु कीजिए।
एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होइ,
ग्यानकौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।।
वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
यौंही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वासकौ विलास सविकाररूप,
अंतकरि मोहकौ अनंतकाल जीजिए।।२४।।

आचार्य कहते हैं और उनके पश्चात् बनारसीदास स्वयं कहते हैं, ऐसा लिया है। श्लोक में तो आचार्य स्वयं कहते हैं। '**बानारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख।**' हे भव्य! मेरा उपदेश—शिक्षा एकबार सुन। एकदम मक्खन की बात है। '**बानारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख। कैहूं भांति**' किसी भी प्रकार से और **कैसे ही प्रकार...** बनकर, '**कैसैंहूंकै।**' **किसी प्रयत्न से और कैसे ही बनकर...** '**ऐसौ काजु किजिए।**' यह कार्य, मनुष्य देह में करने का यह है। सब कोलाहल छोड़कर यह कर, कहते हैं। '**एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होई**' एक अन्तर्मुहूर्त भी मिथ्यात्व का नाश कर। '**ग्यानकौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।**' देखो यह। यह ज्ञानस्वरूप भगवान ज्ञानस्वभाव है, उसे खोजकर उसे प्रगट कर। आत्मा अकेला चैतन्यस्वरूप है, ऐसा अन्तर अनुभव

करने से मिथ्यात्व का अन्तर्मुहूर्त में नाश हो जाता है। आहाहा! समझ में आया?

'एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होई, ग्यानकौं जगाइ।' चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञान का पुँज प्रभु है, उसे जगा दे। ज्ञानसरोवर ज्ञानस्वरूप... कहो, समझ में आया? उस भाई ने लिखा है न, 'सरोवर कांठे रे मृगलां तरस्यां...'

मुमुक्षु : पाछा पड्या।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन पाछा पड्या।

मुमुक्षु : मृगला।

पूज्य गुरुदेवश्री : मृग सरोवर से वापस क्या ले आये? 'सरोवर कांठे मृगलां तरस्यां...' रमेशभाई ने लिखा है। छपाया है, किसी ने छपाया है। 'कमल' उपनाम है। छापकर आया है अभी, हों! छपाया है, हरिभाई ने छपाया है? अच्छा है। कितने छपाये?

मुमुक्षु : एक हजार।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक। अच्छे बड़े अक्षर हैं। उसमें है।....

'सरोवर कांठे रे मृगलां तरस्यां रे लोल, दोडे हांफी झांझवाना जलनी रे काज, अरेरे! साचा वारि अेने ना मळे रे लोल।' छपाया है। एक-एक देना भाई इन्हें। 'अरेरे! साचा वारि अेने ना मळे रे लोल, दोडे हांफी झांझवाना जलनी काज, ऐम मनना रे मृगलाने पाछा वाळजो रे लोल।' भगवान मनरूपी मृग, पुण्य-पाप के विकल्पों में जाता है, वह बहिर्मुख जाता है, हैरान होता है, दुःखी (होता) है। 'अे मन मनना रे मृगलाने पाछा वाळजो रे लोल।' यह अन्तर्मुख करना, ऐसा। व्याख्यान में से इसने जोड़ दिया। 'जोडी ल्यो आतमसरोवर आज, अेने मळशे आत्मसुख अमुला...'

कहते हैं... यहाँ ऐसा कहते हैं। देखो! **'ग्यानकौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।'** शब्द संक्षिप्त परन्तु भाव बड़े (गम्भीर) हैं, पुरुषार्थ अपेक्षित है। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा तो ज्ञानसरोवर चैतन्य का समुद्र है। आहाहा! अनन्त-अनन्त ज्ञान के स्वभाव का यह सागर आत्मा है। यह पुण्य और पाप के विकल्प, इसकी गन्ध नहीं। उसमें है नहीं, भाई! शरीर, वाणी वह तो जड़ बाह्य पदार्थ उनके कारण से आये

और उनके कारण से टिके और उनके कारण से जायेंगे, परन्तु शुभ और अशुभभाव, उसमें हंस नहीं। वह राग की विक्रिया का विकल्प, उससे भगवान ज्ञानस्वभाव.... ज्ञानस्वभाव.... वह ज्ञान की वर्तमान पर्याय ने पकड़कर ज्ञान का '**अंस जगाई हंस खोजि लीजिए**', आत्मा को खोज। वह आत्मा वहाँ है अन्तर में ज्ञानस्वरूप में। अब यह धन्धा करना या यह करना ? क्या करना इसमें ? ऐई पोपटभाई !

भाई ! बापू ! यह काम धन्धा-फन्धा के तो कर सकता नहीं। संकल्प-विकल्प करे और दुःखी हो और भ्रमण करे। अरे भाई ! एक बार तो देख तेरी चीज़ में क्या है ? वह कौन है ? क्या है ? कैसे प्राप्त हो ? कहते हैं कि उसकी अन्तर में ज्ञानस्वभाव सागर पड़ा है। उसे जगा, जगा उसे अन्तर में। अंश—उसके ज्ञान के अंश द्वारा उसे जगा। हंस ऐसा जो आत्मा खोज लीजिये। आत्मा को खोज, भाई ! बापू ! उसमें शान्ति है, उसमें आनन्द है। यह भाषा की बात नहीं, हों ! यह भाव की बात है। समझ में आया ?

जो पुण्य और पाप बहिर्मुख वृत्तियाँ, उसमें मन को मृग भटका करता है। भगवान ! एक बार अन्तर में ज्ञानस्वभाव को जगा न ! आहाहा ! यह करने का है। बाकी सब थोथा थोथा, सब सोजा होने का रास्ता है। समझ में आया ? भगवान ! तुझमें तो आनन्द है न और उस ज्ञान से अविनाभावी आनन्द है। जहाँ ज्ञानस्वभाव है, वहाँ आनन्द है। ऐसे भगवान आत्मा को अन्तर्मुख शोध करके हंस को जगा तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा और धर्म की शुरुआत होगी। यह वस्तु है। कहो, पण्डितजी ! सब पढ़ा हो, गुना हो, यह फलाना... फलाना, सब शून्य लगा, यहाँ जा। आहाहा !

'**एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होई**' नाश किया है न ! बहुवचन है न ! '**अनुभव भव मूर्ते पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्**' '**ग्यानकौ जगाई अंस हंस खोजि लीजिए**' '**वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल**' आहाहा ! उसका ही विचार कर। ज्ञानस्वरूप भगवान, चैतन्य के तेज का भण्डार भगवान है। ऐसे चैतन्य के तेज को अन्तर विचार उसमें कर। '**वाकौ ध्यान**' आहाहा ! उसे ज्ञान में ध्येय बनाकर उसका ध्यान कर। समझ में आया ? परन्तु यह बाहर के सब झंझट कहाँ डालना ? माने हैं न सब स्त्री और पुत्र और शरीर और यह सब। आहाहा ! भाई ! तू कहाँ है वहाँ ? वहाँ तो जड़पना है, अचेतनपना है, तेरा

जिसमें विरह है। उस राग में, शरीर में, स्त्री-पुत्र में तेरा उनमें विरह है, उनमें तेरापन उसमें है नहीं। आहाहा! कठिन बातें, भाई! यह करना, यह ऐसा कहते हैं। पहले क्या करना? पहले यह करना। आहाहा! समझ में आया? उसे ज्ञान में और श्रद्धा के लक्ष्य में तो ले कि यह वस्तु (में) अन्तर्मुख जाते ही स्वरूप की प्राप्ति होने से सम्यक्त्व हो और धर्म होता है। इसके बिना धर्म नहीं होता। आहाहा!

धमाल... धमाल ऐसी बड़ी बाहर चले न धर्म... धर्म... क्या कहा? चेतनजी! 'धामधूम से धमाधम चली, ज्ञानमार्ग रहा दूर।' आहाहा! यशोविजय कहते हैं, हों! ज्ञानमार्ग रह्यो दूर। प्रभु! अहो! कितनी धीरज! कितनी खोज! कितना परसन्मुख से मुड़ने का पुरुषार्थ! विमुख होने का, हों! और कितना अन्तर्मुख जाने का प्रयत्न! भाई! इसके बिना आत्मा प्राप्त नहीं होता। इसके बिना जन्म-मरण के दु:ख नहीं टलते। कहाँ रूपवान शरीर दिखे और जवानी दिखे और पाँच-पचास लाख पैसा दिखे, धूल भी नहीं, श्मशान की राख है सब, भाई! श्मशान में मुर्दा धूल में रगड़ाता है। उसी प्रकार ऐसी चीज़ में मेरा आत्मा मानकर रगड़ा गया। जहाँ स्वरूप है, उसे जाना नहीं और उसके बिना पर है, उसे अपना जानकर, माना। आहाहा! भाई! अब एक तो कर अब, ऐसा तो सब अनन्त बार किया, हों! कहते हैं। अब थक।

भगवान! तुझमें तो आनन्द है न, प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द की खोज कर। वहाँ पड़ा है, वह मिलेगा। कहीं पुण्य और पाप के राग में, शरीर, स्त्री, परिवार में कहीं सुख है (नहीं)। सुख का अस्तित्व तो प्रभु! तेरे स्वभाव में है। देखो! ज्ञान से बात की है। **'ग्यानकौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए'** देखो, हंस शब्द दिया है। राग, विकल्प, विकार और अविकारी ज्ञानस्वभाव—दोनों को पृथक् कर। हंस हो एक बार। यह दूध और पानी में हंस की चोंच पड़ने पर वह पानी और दूध पृथक् पड़ जाते हैं। दूध का वह हो जाता है, क्या कहलाता है? लच्छी। दूध का लच्छी हो जाता है, पानी पृथक् पड़ जाता है। भाई! करने का तो यह है। हितरूप और ठीकरूप करना हो तो यह है। बाकी सब बिना एक का शून्य है। बराबर होगा यह?

'लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी पर बढ़ गया क्या बोलिये।' परन्तु माने ऐसा, हों!

करोड़-दो करोड़ रुपये हों और यह लड़के ऐसे लम्बे मोटे पाँच-पाँच हाथ के पकें और वे भी वापस बड़े कमाऊ पके, क्या कहलाती है तुम्हारी? फैक्टियाँ। फैक्टियाँ करे और कमाऊ पुत्र पके, आहा! देख लो इसका बाप फिर। उद्योगपति, लो, भाई कहते हैं यह सच्ची बात है। उद्योगपति, पाप के उद्योगपति। अरे प्रभु! पोपटभाई! आहाहा! प्रभु! तुमने तेरे आत्मा को खोया है, हों! अब खोज न जहाँ है वहाँ। आहाहा!

'**वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल**' देखो! कौतुहल तो कर। यह वह क्या चीज़ है यह! आत्मा... आत्मा करते हैं और उसमें आनन्द है, उसमें ज्ञान, वह कितना भरा है कि अनन्त है! यह क्षेत्र इतना और यह अनन्त ज्ञान है, यह क्या है वह? कौतुहल तो कर। पर्दे के पीछे रानी रहती हो न, तब रानी साहब कैसे होंगे? कैसे रानी साहब होंगे? (ऐसा कौतुहल करता है।) पर्दा खोले तब खबर पड़े, कैसे रानी साहब होंगे। अभी बहुत पर्दे छोड़ देते हैं न। भावनगर की रानी में पर्दा छोड़ा, तो लोग देखने निकले। धूल भी नहीं, सुन न! यह पर्दा छोड़। आहाहा! पुण्य और पाप के राग के पर्दे के पीछे प्रभु तेरा आत्मा है। आहाहा! वहाँ आनन्द है, वहाँ मौज है, वहाँ मजा है। उसे खोज और उसका विचार कर, उसका ध्यान कर।

यही कौतुहल... उसे कौतुहल कर। समझ में आया? **विचार ध्यान उस ही की लीला में परमरस का पान करो।** ऐसा अर्थ किया। कौतुहल अर्थात् लीला। '**यौंही भरि जनम परम रस पीजिए।**' ऐसे जनमभर, ऐसा कहते हैं। अरे! जीवे यहाँ तक यह कर, भाई! अब यह करना है। आहाहा! फिर यह स्त्री, पुत्र को कब सम्हालना? बालचन्दभाई! भाईयों-महिलाओं को कब सम्हालना? आहाहा! मूर्ख होकर मानवी पागल होकर पड़ा है। आहाहा! अरे भाई! हैरान है, हों! तू हैरान है। एक बार इसका कौतुहल तो कर। क्या है यह! रजकण और राग से भिन्न चीज़, विज्ञानघन का पिण्ड आत्मा, उसे '**भरि जनम**' जनमभर—अब से पूरी जिन्दगी, ऐसा कहते हैं। '**परम रस पीजिए**' आत्मा के आनन्द की लीला कर न अब, कहते हैं। आत्मा के आनन्दरस को पी। निर्विकल्प रस पीजिये। आहाहा! कठिन बातें, भाई!

कितने ही कहें, बातें बड़ी-बड़ी (बातें) करते हैं परन्तु पहला साधन क्या है,

वह बताते नहीं। ऐसा और (कितने ही) दिगम्बर का आक्षेप करते हैं। भाई! यह साधन नहीं यह? आहाहा! जहाँ तेरी दृष्टि पर में है, उस दृष्टि को अब बदल। अन्तर में यह करना सीख, परन्तु यह करने की सूझ पड़ती नहीं। यह सब धमाधम मरकर हैरान हुए, फू होकर चले जायें। फिर अर्थी में बाँधे बढ़िया कपड़ा, चार नारियल और ओह... करके हाँके।

मुमुक्षु : वे तो चले गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो गया कहीं गति में भटकने और पीछे से नारियल और करे। तब नहीं हुआ था। खीमचन्दभाई, नहीं भाई? राजकोट।

मुमुक्षु : फोटोग्राफर।

पूज्य गुरुदेवश्री : फोटोग्राफी। (संवत्) १९८९ के वर्ष। हम बाहर थे सामने किनारे। भाई नहीं? मोरबीवाले का मकान आरोग्यभुवन। उसमें वह निकला। तब साठ हजार का मकान बनाया था, हों! ८९ के वर्ष। फिर उसका कोई दीवान होगा जूनागढ़ का मित्र, देखने लाये थे। देखते थे वहाँ, मुझे कुछ होता है। वह सोया और थोड़ी देर हुई और समाप्त।

लो, वास्तु भी पड़ा रहा। फोटोग्राफर के पैसे पैदा होकर पड़ा साठ हजार का... तब साठ हजार अर्थात् (संवत्) १९९० में। अभी कितने वर्ष हुए? ३७ वर्ष हो गये। उनकी अर्थी निकली, तब दिखता था ऊपर डाला हुआ, क्या कहलाता है? साटन... साटन... साटन। चकचक साटन अर्थी के ऊपर ऐसे डाले और लोगे दौड़े। क्या है कहा यह? वहाँ वे गुलाबचन्दभाई पारीख थे। गुलाबचन्द पारीख है न, वे आये। कि यह खीमचन्दभाई मर गये। कैसे? ऐसा (मकान) बताते थे, उसमें हार्टफेल हो गया। लो, ४८ वर्ष की उम्र।

ज्योतिषीयों ने कहा हुआ था ८४ वर्ष जियोगे। ज्योतिषीयों ने कहा ८४ वर्ष जियोगे।

मुमुक्षु : ८४ के ४८ हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : अंक बदल गया। लोग कहे, अरे! महाराज का योग है। भाई! में गया हूँ महाराज के पास सुनने, परन्तु अभी मेरे यह योग आ गया है। और उम्र अभी ज्योतिषीयों ने ८४ वर्ष की कही है। ठीक। यह ८४ के हो गये ४८। आहाहा! कहते हैं, यह कर न भाई अब! आहाहा! परन्तु भारी कठिन काम जगत को। दिशा बदलाना, दशा पलटे तब उसे आत्मा का ज्ञान हो और आत्मा प्राप्त हो।

'**यौंही भरि जनम परम रस पीजिए।**' एक बार भी आनन्द को शोध और ज्ञान को जगा, बस यह करने का है। सब पढ़कर, करके—सब करके यह करने का है। **परम रस**—आनन्दरस। अब यहाँ डाला। ज्ञान को जगाया था न! आनन्दरस पी। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद ले। बापू! कभी तूने लिया नहीं, भाई! तेरा स्वाद तूने कभी लिया नहीं। '**परम रस पीजिए, तजि भव-वासकौ विलास**' भव के वास का विलास—विकार छोड़। **राग-द्वेषमय संसार की भटकना छोड़कर...** पुण्य और पाप के विकल्प, **मोह का नाश करके सिद्धपद प्राप्त करो... 'अंतकरि मोहकौ अनंतकाल जीजिए' 'अनंतकाल जीजिए'**—अमर हो जाओ, सिद्धपद प्राप्त करके अनन्त काल अमर हो जाओ। यह २३ कलश का २४वाँ पद कहा।

अब २४। कलश २४, पद २५। अब क्या कहते हैं? कि भाई! तुम आत्मा... आत्मा... ऐसा, ऐसा (है ऐसा) करते हो, परन्तु शास्त्र में तो शरीर की महिमा करके आत्मा की महिमा की है। तीर्थंकर के शरीर की महिमा—गुणगान किये हैं। इसलिए शरीर, वही आत्मा। आत्मा वह अन्दर भिन्न, ऐसा हमको तो लगता नहीं। हमारे शास्त्र में भी ऐसा लिखा है कि भगवान ऐसे, भगवान ऐसे। वह तो सब शरीर के गुणगान हैं। शरीर के गुणगान वह आत्मा के गुणगान। हमारे शरीर और आत्मा एक है।

मुमुक्षु : पढ़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्टा पढ़ा है, कहाँ से निकाली उल्टी विपरीतता। ऐसा कहते हैं, लो! यह आचार्य की महिमा, तीर्थंकर की महिमा। यह सब पुण्य की महिमा की। वह कहाँ आत्मा के हैं? उनकी महिमा की इसलिए मुझे तो ऐसा लगता है कि शरीर और आत्मा को जैन भी एक मानते हैं।

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये,
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं,
वन्द्यास्तेऽष्ट-सहस्र-लक्षण-धरास्तीर्थेश्वराः सूरयः।।२४।।

इसमें शिष्य की ओर से यह प्रश्न है। देखो, यह तुम्हारे शास्त्र में तो भगवान का शरीर ऐसा और ऐसी दिव्यध्वनि और सब महिमा तो यह आयी है। देखो, '**तीर्थंकर भगवान के शरीर की स्तुति**' शरीर की स्तुति। तुम्हारे में भी ऐसा है, इसलिए शरीर, वह आत्मा, (ऐसा) हमको लगता है, कहता है।

★ ★ ★

काव्य - २५

तीर्थंकर भगवान के शरीर की स्तुति (सवैया इकतीसा)

जाके देह-द्युतिसौं दसौं दिसा पवित्र भई,
जाके तेज आगैं सब तेजवंत रुके हैं।
जाकौ रूप निरखि थकित महा रूपवंत,
जाकी वपु-वाससौं सुवास और लुके हैं।।
जाकी दिव्यधुनि सुनि श्रवणकौं सुख होत,
जाके तन लच्छन अनेक आई ढुके हैं।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुन,
निहचै निरखि सुद्ध चेतनसौं चुके हैं।।२५।।

शब्दार्थः-वपु-वाससौं=शरीर की गन्ध से। लुके=छुप गये। ढुके=प्रवेश किये। चुके=न्यारे।

अर्थः-जिसके शरीर की आभा से दशों दिशाएँ पवित्र होती हैं, जिसके तेज के

आगे सब तेजवान[१] लज्जित होते हैं, जिसका रूप देखकर महारूपवान[२] हार मानते हैं, जिसके शरीर की सुगन्ध से सर्व सुगन्ध[३] छिप जाती हैं, जिसकी दिव्यवाणी सुनने से कानों को सुख होता है, जिसके शरीर में अनेक शुभ लक्षण[४] आ बसे हैं; ऐसे तीर्थंकर भगवान हैं। उनके ये गुण व्यवहारनय से कहे हैं, निश्चयनय से देखो तो शुद्ध आत्मा के गुणों से ये देहाश्रित गुण भिन्न हैं।।२५।।

काव्य-२५ पर प्रवचन

जाके देह-द्युतिसौं दसौं दिसा पवित्र भई,
जाके तेज आगैं सब तेजवंत रुके हैं।
जाकौ रूप निरखि थकित महा रूपवंत,
जाकी वपु-वाससौं सुवास और लुके हैं।।
जाकी दिव्यधुनि सुनि श्रवणकौं सुख होत,
जाके तन लच्छन अनेक आई ढुके हैं।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुन,
निहचै निरखि सुद्ध चेतनसौं चुके हैं।।२५।।

शरीर की बात है। यह परमात्मा हो, अरिहन्त हो, तब उनका शरीर ऐसा होता है। उन्हें साधारण शरीर नहीं रहता। सर्वज्ञ पद हो, त्रिकाली ज्ञान का विकास हो, तब शरीर ऐसा होता है। समझ में आया?

कहते हैं '**जाके देहद्युति**'... देह का प्रकाश / आभा.... जैसे अरिहन्त—सर्वज्ञ हो, उनका शरीर परम औदारिक हो जाता है। आहाहा! समझ में आया? केसर है, वह डिब्बे में रहती है, बोरी में नहीं रहती। इसी प्रकार केवल (ज्ञान) एक समय में तीन काल—तीन लोक परमात्मादशा हो, उनके शरीर में इतना तेज होता है कि यह दसों

१. सूर्य, चन्द्रमा आदि। २. इन्द्र, कामदेव आदि।
३. मंदार, सुपारिजात आदि पुष्पों की।
४. कमल, चक्र, ध्वजा, कल्पवृक्ष, सिंहासन, समुद्र, आदि १००८।

दिशायें पवित्र हो जायें अर्थात् प्रकाश... प्रकाश... प्रकाश। कहो, समझ में आया? ऐसा तो उनका शरीर होता है। पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो, तीन काल—तीन लोक का ज्ञान और अनन्त आनन्द और अनन्त वीतरागता प्रगट हुई, उसे शरीर में तेज इतना होता है कि जिसके प्रकाश से '**दसौं दिसा पवित्र भई**' ऐसी भाषा है, देखो! पवित्र अर्थात् उज्ज्वल करे, ऐसा। चारों ओर प्रकाश... प्रकाश... प्रकाश...

जिसके तेज के आगे सब तेजवान लज्जित होते हैं। 'जाके तेज आगैं सब तेजवंत रुके हैं।' सूर्य, चन्द्रमा आदि। आहाहा! आत्मा की तो क्या बात करना! परमात्मा के आत्मा का तो क्या कहना! परन्तु उनका शरीर ऐसा होता है। इसलिए शरीर की महिमा से आत्मा की महिमा होती है, ऐसा हम तो मानते हैं। वह शिष्य प्रश्न करता है। समझ में आया? तेजवन्त चन्द्र और सूर्य के तेज भी जहाँ फीके पड़ जाते हैं, इतनी शरीर की कान्ति... कान्ति... कान्ति...

'**जाकौ रूप निरखि थकित महा रूपवंत**' इन्द्र और कामदेव भी भगवान के रूप देखकर थक जाते हैं। इतना सुन्दर रूप शरीर का और सब कोमलता अंग-अंग के अवयवों की। इतनी कोमलता और इतनी कान्ति और इतना तेज और इतनी व्यवस्थित चीज़ होती है कि रूपवान भी वहाँ थक जाये कि आहाहा! यह वह क्या है! देखो, इतना तो उनके पुण्य होता है। समझ में आया? उन्हें क्षुधा लगे और तृषा लगे और रोग हो—ऐसा नहीं होता, ऐसा कहते हैं। भगवान को अभी रोग हो, वे फिर दवा ले आवे और फिर दवा खाये। यह (खोटी) बातें, भगवान को तूने अभी जाना नहीं। उनके पुण्य को भी तूने जाना नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'**जाकौ रूप निरखि थकित महा रूपवंत**' जिनका रूप देखकर महा रूपवान, कौन? इन्द्र, कामदेव आदि हार मानते हैं। पुण्य की पूर्ण प्रकृति जहाँ महा परम औदारिकशरीर, यह डिब्बी भी ऐसी तेजवान हो जाये। चैतन्य का तेज जहाँ अन्दर प्रगट हुआ केवलज्ञान, वहाँ शरीर की डिब्बी जड़ की ऐसी हो जाती है। समझ में आया? '**जाकी वपु-वाससौं**'—जिनके शरीर की गन्ध से '**सुवास और लुके**' मन्दार, सुपारिजात आदि पुष्प हैं, उनकी सुगन्ध भी वहाँ थक जाती है, इतनी तो जिनके शरीर में सुगन्ध

होती है, श्वास से सुगन्ध निकले। अन्तर तो पूर्णानन्द सर्वज्ञपद प्रगट हुआ है (परन्तु) शरीर की दशा ऐसी होती है। जो वह भगवान मनाती है कि हम भगवान हैं, ऐसा हो सकता (नहीं), ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया? '**वपु वास**'—शरीर की गन्ध से '**और लुके, सुवास और लुके।**' शरीर की सुगन्ध, उसमें **सर्व सुगंध छुप जाती है**। यह सब फूल-फूल आदि।

'**जाकी दिव्यधुनि सुनि**' ऐसी आवाज निकले दिव्यध्वनि ॐ... ऐसी आवाज। पूर्ण सर्वज्ञपद हो, उन्हें ऐसी वाणी नहीं होती। ऐसे (हम-आप) बोलते हैं, वैसी वाणी उन्हें नहीं होती। समझ में आया? ॐ ध्वनि खिरती है। जिसकी '**दिव्यधुनि सुनि श्रवणकौ सुख होत**', लो। सुननेवाले को सुनकर कान में सुख होता है। सुख शब्द से शुभभाव में... वह आनन्द का सुख कहाँ है? परन्तु जरा साता होती है, ओहोहो! ऐसी मीठी मधुर ॐ ध्वनि उठे पूरे शरीर में से। सर्वज्ञ परमेश्वर हों, उन्हें ऐसा ओमकार होता है—ऐसी दिव्यध्वनि उन्हें होती है। आहाहा! समझ में आया? '**श्रवणकौं सुख होत, जाके तन लच्छन अनेक आई ढुके हैं**। शरीर में १००८ लक्षण होते हैं। समझ में आया? नीचे है, कमल, चक्र, ध्वजा, कल्पवृक्ष, सिंहासन, समुद्र आदि १००८ ऐसे लक्षण उनके शरीर में होते हैं। '**जाके तन लच्छन अनेक आई ढुके हैं**' ऐसे लक्षण आकर प्राप्त होते हैं, शरीर में, हों!

'**तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुन**' यह जिनराज के शरीर के व्यवहार के गुण कहे। '**निहचै निरखि सुद्ध चेतनसौं चुके हैं।' निश्चयनय से देखो तो शुद्ध आत्मा के गुणों से देहाश्रित गुण भिन्न है**। आत्मा के गुण और शरीर के गुण अत्यन्त भिन्न हैं। समझ में आया? यह सब शरीर की व्याख्या हुई और जो भगवान आत्मा अन्दर है, वह इससे अत्यन्त भिन्न है। समझ में आया? तीर्थंकर का, अरिहन्त का—परमात्मा का—सर्वज्ञ का स्वरूप साधारण प्राणी (ऐसा) कहे कि साधारण मनुष्य हो, वह भी त्रिकाल जाने और खाता हो, पीता हो, वस्त्र पहनता हो, घोड़े पर चढ़ता हो, वह परमेश्वर। तीन काल में झूठी बात है। परमेश्वर ऐसे नहीं हो सकते, ऐसा कहते हैं। शरीर के लक्षण का उसे भान नहीं, कहते हैं। आत्मा पूर्णानन्द सर्वज्ञ कैसे होते हैं, उसकी तो (बात) एक ओर रख, उनका शरीर कैसा, इसका (भी भान नहीं)। समझ में आया? यह तो

व्यवहार का है। '**निहचै निरखि सुद्ध चेतनसौं चुके हैं।**' आत्मा के गुण से देहाश्रित गुण भिन्न है, ऐसा कहना है। कहो, समझ में आया?

यह २४ कलश हुआ, हों! अब २५ (कलश)। २५वाँ यहाँ लिया '**प्राकारक नित्यंविकार**' **नियत्म-विकार...** है न यह तो पहला। २६। फिर २५ कर दिया। **प्राकारक....** यह तो ऊँचे-ऊँचे '**गढके कंगुरे**' परन्तु इस जिनपद का यहाँ से डाला है थोड़ा। फेरफार हो गया है।

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभ-मिव समुद्रं जिनेन्द्र-रूपं परं जयति।।२६।।

यह २६वाँ है। ऊपर २६ डालना। यह अंक बदला, लो।

★ ★ ★

काव्य - २६

जामैं बालपनौ तरुनापौ वृद्धपनौ नाहिं,
आयु-परजंत महारूप महाबल है।
विना ही जतन जाके तनमैं अनेक गुन,
अतिसै-विराजमान काया निर्मल है।।
जैसैं विनु पवन समुद्र अविचलरूप,
तैसैं जाकौ मन अरु आसन अचल है।
ऐसौ जिनराज जयवंत होउ जगतमैं,
जाकी सुभगति महा सुकृतकौ फल है।।२६।।

शब्दार्थः-तरुनापौ=जवानी। काया=शरीर। अविचल=स्थिर। सुभगति=शुभभक्ति।

अर्थः-जिनके बालक, तरुण और वृद्धपना[1] नहीं है, जिनका जन्मभर अत्यन्त

१. बालकवत् अज्ञानता, युवावत् मदान्धपना और वृद्धवत् देह जीर्ण नहीं होती।

सुन्दर रूप और अतुल्य बल रहता है, जिनके शरीर में स्वत: स्वभाव ही अनेक गुण व अतिशय[1] विराजते हैं, तथा शरीर अत्यन्त उज्ज्वल[2] है, जिनका मन और आसन पवन के झोकों से रहित समुद्र के समान स्थिर है, वे तीर्थंकर भगवान संसार में जयवन्त होवें, जिनकी शुभभक्ति बड़े भारी पुण्य के उदय से प्राप्त होती है।।२६।।

काव्य-२६ पर प्रवचन

'जामैं बालपनौ तरुनापौ वृद्धपनौ नाहिं' कैसे हैं, सर्वज्ञ परमेश्वर? जिन्हें त्रिकाल ज्ञान और अनन्त आनन्द प्रगट हुआ है, उनका शरीर कैसा है? उसकी बात चलती है। **'जामैं बालपनौ'** उनमें बालपना नहीं होता। **बालकवत् अज्ञानता, युवावत् मदांधपना और वृद्धवत् देह जीर्ण नहीं होती।** नीचे अर्थ है। सर्वज्ञ लाखों-करोड़ों वर्ष रहे, परन्तु वृद्धपना नहीं दिखता। उनके शरीर में रोग नहीं होता। बालपना नहीं, तरुणपना नहीं, वृद्धपना नहीं। **'आयु-परजंत महारूप महाबल है।'** **'नित्यम'** कहा है न! नित्य-नित्य। नित्य का अर्थ कि कायम रहता है ऐसा। शरीर की जो स्थिति है, ऐसी कायम उनकी रहती है।

८४ लाख पूर्व का आयुष्य हो... बहुत लम्बी बात है। (सीमन्धर) भगवान का करोड़ पूर्व का आयुष्य है, अभी महाविदेह में। यहाँ ऋषभदेव भगवान का ८४ लाख पूर्व का था। ८४ लाख पूर्व किसे कहे? एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाए। एक पूर्व में जाते हैं। सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाते हैं। ऐसा एक पूर्व। ऐसे ८४ लाख पूर्व का आयुष्य था। परन्तु वह ठेठ तक वृद्धावस्था नहीं दिखती, जवानी नहीं दिखती और बालपना नहीं दिखता, ऐसी स्थिति शरीर की। आहाहा! समझ में आया?

वह कहे, देखो, यह उनके शरीर की महिमा। तुम भी ऐसी महिमा करते हो शरीर की। और कहते हो कि आत्मा और शरीर भिन्न। सुन न अब, यह तो शरीर की व्याख्या, यह आत्मा की व्याख्या नहीं। आयुपर्यन्त... है न, नित्य शब्द पड़ा है न? नित्य

१. चौंतीस अतिशय।
२. पसीना, नाक, राल आदि मल रहित हैं।

रहता है, ऐसा। नित्य महारूप महाबल है। महा सुन्दर शरीर। इन्द्र हजारों चक्षु से देखे तो भी तृप्ति नहीं होती, ऐसे तो जिनके पुण्य होते हैं। ऐसे सर्वज्ञ के आत्मा की पवित्रता की बात तो क्या करना? '**आयु-परजंत महारूप महाबल है।**' '**सर्वांग**' है न!

'**विना ही जतन जाके तनमैं अनेक गुन**' लो, सर्वांग सुन्दर होता है। लावण्यता होती है। शरीर की शोभा मानो कारीगर ने की हो, ऐसी होती है। वह शरीर ही इतना शोभता है। वस्त्र, गहने कुछ नहीं। यह तो सब कपड़े, गहने डालकर शोभा करते हैं। परन्तु भगवान अरिहन्त का शरीर ही ऐसा होता है कि बिना कपड़े, बिना (गहने) लावण्यता अर्थात् अकेला शरीर ही शोभे। समझ में आया? '**विना ही जतन जाके तनमैं अनेक गुन**' (बाहर के) अनेक गुण होते हैं, लावण्यता, लावण्यता आदि।

'**अतिसै-विराजमान**' चौंतीस अतिशयसहित हैं। भगवान को चौंतीस अतिशय होते हैं, अरिहन्त तीर्थंकर को। लोगों ने सुना न हो, उस व्यक्ति को ऐसा लगता है कि यह क्या है? यह वह (शिष्य) तो शास्त्र का जानकार है। उनका (तीर्थंकर का) शरीर ऐसा होता है, ऐसा उसने जाना है। यह कहते हैं। तुम शरीर की महिमा करो, वही आत्मा का है, ऐसा हमको तो लगता है। अरे! यह तो शरीर की स्थिति का वर्णन है। इस शरीर की स्थिति से आत्मा का वर्णन (नहीं होता), आत्मा अत्यन्त भिन्न है। डिब्बी बहुत ऊँची शृंगारित हो, इससे अन्दर की भरी हुई केसर ऐसी होती है? समझ में आया? डिब्बी ऊँची रखते हैं न कितने ही, देखो न! घड़ी की डिब्बी ऊँची रखें, फलाना रखे। इससे घड़ी वैसी हो जाये? डिब्बा ऐसा हो तो। समझ में आया? शरीर ऐसा हो, इससे आत्मा ऐसा है नहीं।

'**जैसे विनु पवन**' देखो! काया निर्मल होती है, ऐसा कहते हैं। उज्ज्वल है। चौंतीस अतिशय से निर्मल है। '**पवन समुद्र अविचल**' पवन बिना समुद्र का पानी जैसे चलित बिना स्थिर होता है, वैसे भगवान का शरीर ऐसे स्थिर, कुतूहलता नहीं, शान्त गम्भीर... गम्भीर... गम्भीर... गम्भीर। समझ में आया? एक लड़का अहमदाबाद में देखा था (संवत्) १९८० के वर्ष में। वहाँ आया था। था आठ-दस वर्ष का होगा, ८० के वर्ष में (आया था) या बारह (वर्ष) का होगा। बोटाद रहता था। बैठा हो तो ऐसा लगे गम्भीर और बिल्कुल चपलता नहीं, बालक होने पर भी। उसका पिता लेकर आया

था। ८० के वर्ष में बोटाद। सामायिक करके बैठे। परन्तु शान्त... शान्त... शान्त... चपलता कुछ नहीं, ऐसे देखना और ऐसे देखना (ऐसा नहीं)। यह तो साधारण मनुष्य की बात है, बालक बेचारा।

यह तो तीर्थंकर का शरीर शान्त... शान्त। चिड़ा होता है न। चिड़ा हिलता है ऐसे... ऐसे... ऐसे। बहुत कषाय होती है न, ऐसे अस्थिर हो जाये। शरीर भी कम्पित हो ऐसा ऐसा होने पर, वह कषाय का लक्षण है। जहाँ अन्दर वीतरागता प्रगटी है, उसका शरीर भी लावण्यता की शोभा से शान्त, चलित नहीं उसका ऐसा शान्त। मानो सब पी गये हों जगत को, नया कुछ देखने का हो नहीं, ऐसी उनकी शरीर की स्थिति लगती है।

समुद्र का पानी... पवन बिना समुद्र अविचल '**तैसें जाकौ मन अरु आसन अचल है।**' जिनका मन और शरीर आसन अचल हो जाये। '**ऐसौ जिनराज जयवंत होउ जगतमैं**' ऐसे जिनराज वीतराग जगत में जयवन्त हों। '**जाकी सुभगति महा सुकृतकौ फल है।**'

जाकी सुभगति—ऐसे भगवान की भक्ति भी सुकृत का फल है। ऐसे भगवान मिलना, वह भी महापुण्य हो तब मिलते हैं। **जिनकी शुभभक्ति बड़े भारी पुण्य के उदय से प्राप्त होती है।** २७वाँ (पद)। उसके नीचे अर्थ है ऊपर के अधिक में है। अनुसन्धान में।

★ ★ ★

काव्य - २७

जिनराज का यथार्थ स्वरूप (दोहा)

जिनपद नांहि शरीरकौ, जिनपद चेतनमाँहि।
जिनवर्नन कछु और है, यह जिनवर्नन नांहि।।२७।।

शब्दार्थ:-और=दूसरा। जिन=जीते सो जिन अर्थात् जिन्होंने काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीता है।

अर्थ:-यह (ऊपर कहा हुआ) जिन वर्णन नहीं है, जिन वर्णन इससे निराला है; क्योंकि जिनपद शरीर में नहीं है, चेतयिता चेतन में है।।२७।।

काव्य-२७ पर प्रवचन

'**जिनपद नांहि शरीरकौ, जिनपद चेतनमाँहि।**' अब उत्तर देते हैं, '**जिनपद नांहि शरीरकौ**', यह शरीर की महिमा की, परन्तु वह जिनपद—आत्मपद नहीं है। परन्तु (शरीर) होता है तो ऐसा ही, हों! वापस ऐसा नहीं कि (चाहे जैसी स्थिति हो)। '**जिनपद नांहि शरीरकौ, जिनपद चेतनमाँहि।**' अखण्ड आनन्द और ज्ञान का समुद्र इस चैतन्य में जिनपद है। यह कहीं पुण्य में और बाह्य की क्रिया शरीर के लावण्यता में या १००८ लक्षण में या शरीर के प्रकाश के तेज में आत्मा नहीं है। समझ में आया? '**जिनवर्नन कछु और है, यह जिनवर्नन नांहि।**' यह शरीर का वर्णन किया, हो शरीर ऐसा, (अरिहन्त का) है ऐसा, तो भी वह जिनपद—आत्मा का वर्णन नहीं है।

जिनपद तो चैतन्यस्वरूप वीतरागमूर्ति आत्मा, पुण्य और पाप के रागरहित स्वरूप है, ऐसी दशा जिसे प्रगट हुई है—ऐसा वीतरागभाव, वह आत्मा है। ऐसी सुन्दरता शरीर की, वह कहीं आत्मा नहीं है। आहाहा! इसलिए केवली को चाहे जैसा शरीर हो और केवल (ज्ञान) हो, यह भी नहीं वापस। समझ में आया? केवलज्ञानी को—तीर्थंकर को ऐसा शरीर हो, तथापि शरीर, वह आत्मा नहीं। आहाहा! उन्हें चाहे जैसा शरीर हो, चाहे जैसा ऐसा हो, आत्मा जगा फिर क्या है? खोटी बात है। जिन्हें केवलज्ञान सर्वज्ञपद होता है, उनका शरीर ऐसा ही हो जाता है, पहले कहा वैसा, परन्तु आत्मा का स्वरूप वह नहीं है। आहाहा! कहो, धीरूभाई!

यह सब बहुत कहते हैं न कि भगवान को रोग होता है, क्षुधा लगती है, तृषा लगती है, आहार लेने जाते हैं। देखो! ऐसा भगवती (सूत्र) में आता है। भगवान को रोग हुआ था, गौशाला ने तेजोलेश्या मारी थी। खूनी दस्त हुआ, छह महीने तक दस्त हुआ। झाडा समझते हैं? खूनी दस्त। खूनी दस्त नहीं जानते? छह महीने रहा। छह महीने रोग। रोग आवे तो फिर लम्बे काल रहे न। साधु को भेजा आहार के लिये। जाओ

आहार ले आओ। आहार ले आये। आहार खाया। शरीर निरोगी हो गया। देव-देवियाँ सब प्रसन्न हो गये। अभी भगवान को रोग (हो) और रोग मिटे। अरे!

मुमुक्षु : शरीर अच्छा हुआ, उसमें प्रसन्न हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा पाठ है, हों, १५वें शतक में।

एक व्यक्ति ने तो लिखा है। कोई डॉक्टर होगा उसने लिखा है। यह १५वाँ शतक सब खोटा है, ऐसा लिखा है एक व्यक्ति ने। भगवतीसूत्र। उसका नाम भगवतीसूत्र। १५वाँ शतक। ऐसी सब बातें अन्दर खोटी।

मुमुक्षु : अभी पत्रिका में आया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आया है न, डॉक्टर का आया है। १५वाँ सब खोटा है। बात तो सच्ची, परन्तु अब सम्प्रदाय बाँधे हुए, उसमें से हटना, कठिन बात है। भगवान को रोग होता नहीं, शरीर का रोग नहीं होता। शरीर के रजकण ऐसे स्फटिक जैसे हो जाते हैं। क्षुधा होती नहीं, तृषा होती नहीं, आहार-पानी ले कौन? अरे! अमृत की डकार अनुभव हो गयी। अतीन्द्रिय आनन्द का का अनुभव पूर्ण हो गया, उन्हें क्षुधा, तृषा, रोग नहीं हो सकते। समझ में आया? कठिन!

'**जिनपद नांहि शरीरकौ,**' इस शरीर के इतने गुणगान किये, परन्तु वह आत्मपद नहीं, ऐसा कहते हैं। '**जिनपद चेतनमाँहि। जिनवर्नन कछु और है, यह जिनवर्नन नांहि।**' शरीर का वर्णन वह कोई आत्मा का वर्णन नहीं। अन्तर आत्मा भगवान पुण्य-पाप के विकल्परहित वीतरागी आनन्द का अनुभव करनेवाला, ऐसे आत्मा का यह वर्णन नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया? यह तो मुनि का कहा है (कि) शरीर सुगन्धित हो जाता है। नहीं? समयसार नाटक में आगे आता है। मुनि का शरीर... मुनि, सच्चे मुनि की बात है। (चौदह) गुणस्थान (अधिकार) में है न, यहाँ वर्णन है न उसमें। छठवें गुणस्थान में होगा। छठवें गुणस्थान। देखो, यह रहा ८०वाँ बोल है, ३९२ पृष्ठ पर। ३९२ पृष्ठ। देखो, मुनि बाहर में भी ऐसे होते हैं, ऐसा कहते हैं।

'**मंजन न करै केश लुंचै तन वस्त्र मुंचै त्यागे दंतवन पै सुगंध खास वैनको**' देखो है! ८०, ८०। ८० पद। **दंतबन नहीं करते तो भी वचन और श्वास में सुगन्ध ही**

निकलती है।' ३९२ पृष्ठ और ३९३ (पृष्ठ पर) इसका अर्थ। उसमें लिखा है, वह बराबर लिखा है। आहाहा! मुनि, जिसे आत्मज्ञान के उपरान्त स्वरूप की रमणता ऐसी जमी हुई होती है, बाहर में नग्न दशा होती है। उसमें उन्हें श्वास और वाणी सुगन्धित निकलती है। वीतरागता बहुत प्रगट हुई है। पूर्ण वीतरागता की बात क्या करना, परन्तु इतनी वीतरागता प्रगटे, उसे ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। है पण्डितजी?

'त्यागे दंतवन पै सुगंध स्वास वैनकौ, है? ठाडौ करसे आहार लघुभुंजी एकबार, अट्ठाइस मूलगुनधारी जती जैनको।' ऐसा। उन्हें जैन के वीतरागमार्ग के साधु कहते हैं। एकबार आहार, खड़े-खड़े आहार, जिनके श्वास और वाणी में सुगन्ध निकले। यह तो दाँत सड़े हुए और गन्ध मारे, ऐसे गन्ध मारे, उसकी आलोचना हो बाहर में। यह एक बार हुआ है, नहीं? पैसा चिपके। दाँत में ऐसा मैल हो कि पैसा चिपक जाये। क्योंकि मूल तो समकिती नहीं, मिथ्यादृष्टि है और बाहर की नग्न क्रिया ले ली है। ऐई! साधु सच्चे, जिन्हें वीतराग कहते हैं, उन्हें तो आत्मा के अनुभव उपरान्त चारित्र की दशा—वीतराग दशा इतना आनन्द जगा होता है कि जिनकी वाणी और दाँत, श्वास में सुगन्ध निकले, देखो! आहाहा! ऐ बालचन्दभाई! समझ में आया?

यह तो जय जय महाराज, जय नारायण। अपने से तो अच्छे हैं न, ऐसा कहे। ये खोटे मुनि कहलाते हैं। बिगड़ा हुआ दूध तो कम खट्टी छाछ से भी गया-बीता है। कम खट्टी छाछ में रोटियाँ चले। बिगड़े हुए दूध में नहीं चले। समझ में आया? वास्तविक तत्त्व का भान नहीं होता, साधुपद किसे कहना, उसकी खबर नहीं होती, वह सब बाह्य क्रिया में जुड़े और साधु नाम धरावे, वे तो बिगड़े हुए दूध हैं। समझ में आया? लो, अब २७वाँ कहा। यहाँ अर्थ किया है। जिन अर्थात् **'जीते सो जिन, जिन्होंने कामक्रोधादि शत्रुओं को जीता है।** नीचे अर्थ किया है २७ का।

यह (ऊपर कहा हुआ) जिनवर्णन नहीं है। शरीर का वर्णन आया न! कान्ति हो, ऐसा हो, फलाना हो, फलाना न हो, वह भी जिन का वर्णन नहीं है। **जिनवर्णन इससे निराला है क्योंकि जिनपद शरीर में नहीं है। चेतयिता चेतन में है।** उस ओर २७। समझ में आया? चेतयिता, जागृत भगवान आत्मा वह चेतन में है—चेतन में है, दूसरा

उसमें है नहीं। जागृत ज्योति भगवान वीतरागस्वरूप केवलज्ञान से जागकर जागृत ज्योति हो गयी है अन्दर। जिसने चैतन्य के प्रकाश के भाव में लोकालोक तो एक समय में ज्ञात हो जाये। तीन काल—तीन लोक एक समय में ज्ञात हो, ऐसा जिसका प्रकाश, उसे आत्मा कहते हैं। समझ में आया? शरीर का तेज नहीं, परन्तु आत्मा का तेज।

अब वह आया २५वाँ (कलश)। अंक में अन्तर है जरा। २५वाँ इसमें आया। **'ऊँचे ऊँचे गढके कंगुरे'** यह २८वाँ है।

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम्॥२५॥

कहते हैं कि उसके नगर के वर्णन से कहीं राजा का वर्णन हो नहीं सकता। इसी प्रकार शरीर के वर्णन से कहीं आत्मा का वर्णन—जिनपद वीतराग आत्मा का वर्णन नहीं हो सकता, ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया? देखो, यह जीव का अधिकार। जीव का अधिकार पूर्ण अखण्ड आनन्दकन्द जहाँ प्रगट हुआ, वह जीव के अधिकार की बात है। शरीर की स्थिति चाहे जो हो। चाहे जो हो अर्थात् ऐसी तेजवाली आदि हो, परन्तु उसे आत्मा और उसे (शरीर को) कुछ सम्बन्ध नहीं है। चाहे जैसी (अर्थात् हल्की) हो, ऐसा नहीं वापस। समझ में आया? कहो तम्बोली! वह कहे करो चर्चा। भगवान! किसके साथ चर्चा करें? भाई! आहाहा! नियमसार में (गाथा १५६-१५७ में) कहा है न! ज्ञाननिधि पाकर किसी के साथ वाद-विवाद करना नहीं। यह बात नहीं बैठेगी। आहाहा! जिसे मन का संग नहीं, विकल्प का संग नहीं, ऐसी असंग चीज़—वस्तु का भान, उसका ज्ञान उसका नाम धर्म। यह बात साधारण प्राणी के साथ वाद करने जायेगा (तो उसको) नहीं बैठेगी, भटक जायेगा। इसकी अपेक्षा तेरी ज्ञाननिधि एक ओर बैठकर अनुभव कर। समझ में आया? नियमसार में आता है। यह सज्झाय (गाथा पाठ) थी न आज?

★ ★ ★

काव्य - २८

पुद्गल और चैतन्य के भिन्न स्वभाव पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

ऊंचे ऊंचे गढ़के कंगूरे यौं विराजत हैं,
मानौं नभलोक गीलिवेकौं दांत दीयौ है।
सोहै चहूँओर उपवनकी सघनताई,
घेरा करि मानो भूमिलोक घेरि लीयौ है।।
गहिरी गंभीर खाई ताकी उपमा बनाई,
नीचौ करि आनन पताल जल पीयौ है।
ऐसो है नगर यामौं नृपकौ न अंग कोऊ,
यौंही चिदानंदसौं सरीर भिन्न कीयौ है।।२८।।

शब्दार्थ:-गढ़-किला। नभलोक=स्वर्ग। आनन=मुंह।

अर्थ:-जिस नगर में बड़े-बड़े ऊँचे किले हैं जिनके कंगूरे ऐसे शोभायमान होते हैं, मानो स्वर्गलोक निगल जाने के लिये दाँत ही फैलाये हैं, उस नगर के चारों ओर सघन बगीचे इस प्रकार सुशोभित होते हैं मानो मध्यलोक ही घेर रक्खा है और उस नगर की ऐसी बड़ी गहरी खाइयाँ हैं मानो उन्होंने नीचा मुँह करके पाताल लोक का जल पी लिया है, परन्तु उस नगर से राजा भिन्न ही है, उसी प्रकार शरीर से आत्मा भिन्न है।

भावार्थ:-आत्मा को शरीर से सर्वथा निराला गिनना चाहिए। शरीर के कथन को आत्मा का कथन नहीं समझ जाना चाहिए।।२८।।

काव्य-२८ पर प्रवचन

पुद्गल और चैतन्य के भिन्न स्वभाव पर दृष्टान्त।

ऊंचे ऊंचे गढ़के कंगूरे यौं विराजत हैं,
मानौं नभलोक गीलिवेकौं दांत दीयौ है।
सोहै चहूँओर उपवनकी सघनताई,
घेरा करि मानो भूमिलोक घेरि लीयौ है।।

गहिरी गंभीर खाई ताकी उपमा बनाई,
नीचौ करि आनन पताल जल पीयौ है।
ऐसो है नगर यामौं नृपकौ न अंग कोऊ,
यौंही चिदानंदसौं सरीर भिन्न कीयौ है।।२८।।

यह तो नगर की व्याख्या हुई, कहते हैं। यह कहीं राजा का अंश है नहीं। इसी प्रकार चिदानन्द भगवान ज्ञानानन्द से शरीर के तेज आदि हैं परन्तु सब भिन्न है। दोनों एक है नहीं।

'**ऊँचे ऊँचे गढके कंगूरे यौं विराजत हैं।**' लो, नगर में बड़े-बड़े ऊँचे किले... गढ़-किला होता है न बड़ा। उस वींछिया में अन्दर नहीं? रानियों को रहने का बहुत ठेठ बहुत ऊँचा काम किया है। अन्दर रहने का मकान वींछिया में है न? कितना लम्बा अन्दर। अपने व्याख्यान वाँचते थे न, उसके अन्दर होगा बड़ा-बड़ा ठेठ। वह बाई बाहर नजर न कर सके। ऐसे गढ़ हैं। बड़े पक्के गढ़। उस दिन के, हों! पत्थर। परन्तु वह तो ऊँचे-ऊँचे गढ़ के उसे कंगूरे। **कंगूरे ऐसे शोभायमान होते है मानो स्वर्गलोक निगल जाने के लिए दाँत ही फैलाये हैं।** मानो स्वर्गलोक... ऐसे ऊँचे हों अन्दर मानों स्वर्ग को पी जाने के लिये दाँत फैलाये हों। उपमा है न! उपमा देते हैं न! ऐसे गढ़ बड़े हों, मानो यह पाताल में आया हो यह... पाताल का ग्रास कर जाये इतना बड़ा गढ़ ऐसा, परन्तु वह तो नगर की व्याख्या है। नगर का राजा है, वह उसमें कहाँ आया? वह राजा की महिमा नहीं। राजा तो उदार होता है, ऐसा होता है, ब्रह्मचर्य सेवन, सत्य बोलना। ऐसे जो हों लौकिकरूप से, वे राजा के गुण कहलाते हैं। यह कहीं गुण कहलाये?

'**सोहै चहूँओर उपवनकी सघनताई**' और नगर की चारों ओर इतना... मध्यलोक है न? **सघन बगीचे इस प्रकार सुशोभित होते हैं....** चारों ओर बड़े-बड़े बगीचे। लो, आया इसमें। ऐ मलूकचन्दभाई! यह बगीचा, बगीचा आया। बगीचे हों, उसकी महिमा करे, वह उसमें अन्दर रहता हो, उसकी महिमा है? वह तो धूल की बाहर की है। उसमें राजा की महिमा नहीं होती।

मुमुक्षु : बगीचा किसका? उसका या दूसरे का?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसके बाप के? धूल के। मलूकचन्दभाई अहमदाबाद रहते हैं, न्यालभाई वहाँ रहता है, ऐसा कहते हैं। धूल भी नहीं, न्यालभाई के नहीं और मलूकचन्दभाई के नहीं। वह तो जड़ के हैं, धूल के हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा करके सन्तोष करा देते हो आप।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ऐसा है न! स्वयं स्वत: उसमें पड़ा हो तो ऐसे मर जाये, लो।

वह जॉर्ज नहीं था, जॉर्ज एडवर्ड? साढ़े तीन करोड़ का बड़ा बँगला। मर गया रात में सोता था वहाँ। सवेरे मुर्दा देखा। अब उसके तो बड़े-बड़े मिलने वाले डॉक्टर हों। साढ़े तीन करोड़ का बँगला। तब की बात है, हों! बहुत वर्ष की (बात है)। अभी तो... सोता था वहाँ.... डॉक्टर देखकर सब सोता था। सवेरे मर गया वहीं का वहीं। कौन था जॉर्ज एडवर्ड?

मुमुक्षु : जॉर्ज।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं। साढ़े तीन करोड़ में हें... हें... फू... करके स्वयं मर गया। जाओ। जाना हो उसे नीचे। कहते हैं, नगर के आसपास मानो नगर पूरा घिर गया हो, इतना उपवन हो बाहर, ऐसा कहते हैं। परन्तु वह तो नगर का वर्णन है, वह कहीं उसके राज का वर्णन नहीं। इसी प्रकार शरीर का वर्णन, वह कहीं आत्मा का वर्णन नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २७, फाल्गुन शुक्ल १, शुक्रवार, दिनांक २६-२-१९७१
जीवद्वार, पद—२८ से ३२

कलश चलता है। नगर का वर्णन वह कहीं राजा का वर्णन नहीं है, इसी प्रकार शरीर का वर्णन, वह कहीं आत्मा का वर्णन नहीं है, ऐसा सिद्धान्त सिद्ध करते हैं। थोड़ा सा चला है। फिर से लेते हैं।

ऊंचे ऊंचे गढ़के कंगूरे यौं विराजत हैं,
मानौं नभलोक गीलिवेकौं दांत दीयौ है।
सोहै चहूँओर उपवनकी सघनताई,
घेरा करि मानो भूमिलोक घेरि लीयौ है।।
गहिरी गंभीर खाई ताकी उपमा बनाई,
नीचौ करि आनन पताल जल पीयौ है।
ऐसो है नगर यामौं नृपकौ न अंग कोऊ,
यौंही चिदानंदसौं सरीर भिन्न कीयौ है।।२८।।

नगर में बड़े-बड़े ऊँचे किला और कंगूरे होते हैं, उनसे नगर शोभता है। ऐसी नगर की व्याख्या होती है, वह कहीं अन्दर में रहे हुए राजा की व्याख्या नहीं है। **मानो स्वर्गलोक निगल जाने के लिए दाँत ही फैलाये हैं।** यह किला और कंगूरे बड़े हैं कि मानो पूरा पाताल पी गये हों ऊपर का, ऐसी उनकी उपमा दी है। इतने किले बड़े होते हैं। समझ में आया? क्या? किले बड़े कंगूरे मानो जगत को—पाताल को पी गये हों, पाताल (उसमें) चला गया। (ऐसी) उपमा दी है। **नगर के चारों ओर सघन बगीचे हैं।** चारों ओर गहन बगीचे। ऐसे बहुत उगे हुए वृक्ष-पत्ते आदि... **इस प्रकार सुशोभित होते हैं मानो मध्यलोक ही घेर रखा है।** मानो कि मध्यलोक घिर गया है।

उस नगर की ऐसी गहरी खाईयाँ हैं। अब नीचे खाई, **मानो उन्होंने नीचा मुँह करके पाताललोक का जल पी लिया है।** गहरी खाई, (ऐसा कहते) हैं। **परन्तु उस नगर से राजा भिन्न ही है।** यह महिमा कहीं राजा की नहीं है, यह तो नगर की है। **उसी**

प्रकार शरीर से आत्मा भिन्न है। शरीर की जितनी व्याख्या कहें, ऐसे सुन्दर (रूप) और ऐसे दिव्यध्वनि और.... यह तो नगर का वर्णन है, इसमें कहीं आत्मा का वर्णन आया नहीं। **आत्मा को शरीर से सर्वथा निराला गिनना चाहिए।** भगवान तो इस शरीर के रजकण की एक-एक पर्याय से अत्यन्त भिन्न है। **शरीर के कथन को आत्मा का कथन नहीं समझ जाना चाहिए।** देखो, अब सच्ची स्तुति करते हैं। **तीर्थंकर के निश्चय स्वरूप की स्तुति।**

★ ★ ★

काव्य - २९

तीर्थंकर के निश्चय स्वरूप की स्तुति (सवैया इकतीसा)

जामैं लोकालोकके सुभाव प्रतिभासे सब,
जगी ग्यान सकति विमल जैसी आरसी।
दर्सन उद्योत लीयौ अंतराय अंत कीयौ,
गयौ महा मोह भयौ परम महारसी।।
संन्यासी सहज जोगी जोगसौं उदासी जामैं,
प्रकृति पचासी लगि रही जरि छारसी।
सोहै घट मंदिरमैं चेतन प्रगटरूप,
ऐसौ जिनराज ताहि बंदत बनारसी।।२९।।

शब्दार्थ:-प्रतिभासे=प्रतिबिंबित होता है। दर्शन=यहाँ केवलदर्शन का प्रयोजन है। छारसी=राख के समान।

अर्थ:-जिन्हें ऐसा ज्ञान जागृत हुआ है कि जिसमें दर्पण के समान लोक-अलोक के भाव प्रतिबिम्बित होते हैं, जिन्हें केवलदर्शन प्रगट हुआ है, जिनका अन्तरायकर्म नष्ट हुआ है, जिन्हें महामोह कर्म के नष्ट होने से परम साधु व महासंन्यासी अवस्था प्राप्त हुई है, जो स्वाभाविक योगों को धारण किये हैं तो भी योगों से विरक्त हैं, जिन्हें

मात्र पचासी[1] प्रकृतियाँ जरी जेवरी की भस्म के समान लगी हुई हैं; ऐसे तीर्थंकरदेव देहरूप देवालय में स्पष्ट चैतन्यमूर्ति शोभायमान होते हैं, उन्हें पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।।२९।।

काव्य-२९ पर प्रवचन

जामैं लोकालोकके सुभाव प्रतिभासे सब,
जगी ग्यान सकति विमल जैसी आरसी।
दर्सन उद्योत लीयौ अंतराय अंत कीयौ,
गयौ महा मोह भयौ परम महारसी।।
संन्यासी सहज जोगी जोगसौं उदासी जामैं,
प्रकृति पचासी लगि रही जरि छारसी।
सोहै घट मंदिरमैं चेतन प्रगटरूप,
ऐसौ जिनराज ताहि बंदत बनारसी।।२९।।

देह में रहा होने पर भी भगवान भिन्न कैसे है और उसका स्वरूप क्या है?

---

१. १. असातावेदनीय २. देवगति। **पाँच शरीर –** ३. औदारिक ४. वैक्रियक ५. आहारक ६. तैजस ७. कार्मण। **पाँच बंधन –** ८. औदारिक ९. वैक्रियक १०. आहारक ११. तैजस १२. कार्मण। **पाँच संघात –** १३. औदारिक १४. वैक्रियक १५. आहारक १६. तैजस १७. कार्मण। **छह संस्थान –** १८. समचतुरस्र संस्थान १९. न्यग्रोधपरिमंडल २०. स्वातिक २१. वामन २२. कुब्जक २३. हुण्क। **तीन आंगोपांग –** २४. औदारिक २५. वैक्रियक २६. आहारक। **छह संहनन –** २७. वज्रवृषभनाराच २८. वज्रनाराच २९. नाराच ३०. अर्द्धनाराच ३१. कीलक ३२. स्फाटिक। **पाँच वर्ण –** ३३. काला ३४. नीला ३५. पीला ३६. सफेद ३७. लाल। **दो गंध –** ३८. सुगन्ध ३९. दुर्गन्ध। **पाँच रस –** ४०. तिक्त (तीखा) ४१. अम्ल (खट्टा) ४२. कडुवा ४३. मीठा ४४. कषायला। **आठ स्पर्श –** ४५. कोमल ४६. कठोर (कड़ा) ४७. शीत ४८. उष्ण ४९. हलका ५०. भारी ५१. स्निग्ध ५२. रूक्ष ५३. देवगति प्रायोग्यानुपूर्व ५४. अगुरुलघु ५५. उपघात ५६. परघात ५७. उच्छ्वास ५८. प्रशस्तविहायोगति ५९. अप्रशस्तविहायोगति ६०. अपर्याप्तक ६१. प्रत्येक शरीर ६२. स्थिर ६३. अस्थिर ६४. शुभ ६५. अशुभ ६६. दुर्भग ६७. सुस्वर ६८. दुस्वर ६९. अनादेय ७०. अयश:कीर्ति ७१. निर्माण ७२. नीच गोत्र ७३. साता वेदनीय ७४. मनुष्यगति ७५. मनुष्यायु ७६. पंचेन्द्रिय जाति ७७. मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व ७८. त्रस ७९. बादर ८०. पर्याप्तक ८१. सुभग ८२. आदेय ८३. यश:कीर्ति ८४. तीर्थंकर ८५. उच्च गोत्र।

अरिहन्त सर्वज्ञ परमात्मा होते हैं, उसकी बात है। '**जामैं लोकालोकके सुभाव प्रतिभासै**' ज्ञान से लिया। जिसके ज्ञान की ऐसी निर्मलता प्रगट होती है भगवान अरिहन्त को। उनका शरीर भले परम औदारिक आदि रोगरहित हो, परन्तु आत्मा में केवलज्ञान में तीन काल—तीन लोक ज्ञात हों, ऐसी उनकी शक्ति का विकास हो गया है। उसे अरिहन्त और जिनराज परमेश्वर कहते हैं। समझ में आया? '**जगी ग्यान सकति विमल जैसी आरसी**' आरसी (दर्पण) जैसे विमल हो और उसकी स्वच्छता में सब वस्तु भासित हो, इसी प्रकार केवलज्ञान की स्वच्छ शक्ति प्रगट हुई है, वह आत्मा का गुण है। शरीर की सुन्दरता आदि वे कहीं आत्मा के गुण नहीं हैं। '**दर्शन उद्योत लीयौ**' दूसरा दर्शनावरणीय लिया। दर्शन एक समय में तीन काल—तीन लोक एक साथ सत्ता-महासत्ता का उपयोग हो—ज्ञात हो—उसे दर्शन कहा। ऐसा दर्शन जिसे—भगवान को प्रगट हुआ है।

'**अंतराय अंत कीयौ**' और अन्तराय का अन्त हो गया, उसे कोई विघ्न है नहीं। '**गयौ महामोह भयौ परम महारसी**' अब मोह की बात की। पहला ज्ञान, दूसरा दर्शन, तीसरा अन्तराय, चौथा मोह। '**गयौ महामोह**' भगवान आत्मा सर्वज्ञ और जिनराज परमेश्वर होता है, तब उसका मोह अंश भी नहीं रहता। '**भयौ परम महारसी**' आनन्द का परम अनुभवी हो जाता है। शुद्धता हुई है न! मोह जाने से आत्मा में परम अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव परमेश्वर को होता है। उसे आहार का आनन्द और पानी का, ऐसा नहीं होता। आहाहा! कहते हैं, **जिन्हें महामहो कर्म के नष्ट होने से परम साधु व महासंन्यासी अवस्था प्राप्त हुई है....** लो। **महारसी संन्यासी....** त्यागी हो गया। एक विकल्प भी जिसमें रहा नहीं, ऐसी दशा सर्वज्ञ की एक समय में प्रगट होती है, उसे परमात्मा और उसे जिनराज और उसे अरिहन्त कहा जाता है।

'**सहज जोगी**' स्वाभाविक स्वरूप की एकाग्रता वहाँ वर्तती है, अब कुछ नया करने का रहता नहीं। स्वाभाविक जोगी '**जोगसौं उदासी**' आत्मा के प्रदेश कँपते हैं, अभी सिद्ध हुए नहीं इसलिए, परन्तु तो भी योग से तो भिन्न उदास हैं। उन्हें तीर्थंकर और जिनराज और केवली और परमेश्वर कहते हैं। जिसे-तिसे परमेश्वर माने, ऐसा स्वरूप नहीं है। '**प्रकृति पचासी लगि रही जरि छारसी**' चार कर्म का नाश हुआ है, चार अघाति कर्म अभी बाकी हैं। उनके कारण ८५ प्रकृतियाँ जली हुई रस्सी जैसी वहाँ रह

गयी हैं। श्रीमद् में आता है न 'वेदनीय आदि चार कर्म वर्ते जहाँ, जली रस्सीवत् आकृति मात्र जो, वह देहायुष आधीन जिसकी स्थिति है, आयुष्य पूर्ण मिटता देह पात्र जब।' सर्वज्ञ परमेश्वर, जिनकी दशा में चार कर्म अभी अन्दर बाकी हैं, परन्तु कैसे? '**पचासी प्रकृति लगी रही**' है सत्ता में परन्तु जली हुई राख—भस्म जैसी है। जैसे रस्सी जली हुई हो, वह रस्सी बाँधने में काम नहीं आती। उसी प्रकार वह प्रकृति कहीं आत्मा को नुकसान करे, ऐसा नहीं है। यह ८५ का अर्थ (-नाम) नीचे है।

'**सोहै घट मंदिरमैं चेतन प्रगटरूप**' सर्वज्ञस्वभाव, सर्वदर्शीस्वभाव, शुद्धता पूर्ण और अन्तरायरहित अनन्त वीर्य जो था, वह सब प्रगट हो गया है। '**घट मंदिरमैं चेतन प्रगटरूप**' शरीर होने पर भी उसमें भगवान आत्मा अत्यन्त भिन्न, केवलज्ञान, केवलदर्शन से शोभायमान है। समझ में आया? '**ऐसौ जिनराज ताहि बंदत बनारसी।**' ऐसे वीतरागदेव... यह जिनराज कोई सम्प्रदाय की चीज़ नहीं, वस्तु का स्वभाव ऐसा है। समझ में आया? जिसने अज्ञान और राग-द्वेष टालकर ज्ञान और वीतरागता पूर्ण प्रगट की, उसे कहते हैं, ८५ प्रकृति अभी अरिहन्त हैं, उन्हें बाकी हैं, जली हुई रस्सीवत्। '**ऐसौ जिनराज ताहि बंदत बनारसी।**' उसे बनारसीदास वन्दन करते हैं।

इन ८५ प्रकृतियों का नीचे कथन है। भगवान को—केवली को अभी ८५ प्रकृति होती हैं। १४८ प्रकृति है, आठ कर्म हैं, उनके अन्तर विभाग १४८ (प्रकृतियाँ)। परन्तु तीर्थंकर, केवली को ८५ बाकी हैं, जली हुई रस्सी के आकार (-स्वभाव) जैसी। समझ में आया?

(८५ प्रकृति के नाम)। उनको असातावेदनीय होती है, देखो पहला डाला। असातावेदनीय सत्ता में पड़ी है। इसलिए वह गिनने में (आती है), परन्तु असाता वेदनीय के उदय से शरीर में रोग हो, ऐसी असातावेदनीय सर्वज्ञ को नहीं होती। सातावेदनीय भी लेंगे। पहले यहाँ से शुरु किया है, असाता-असाता। देवगति। देवगति सत्ता में पड़ी होती है। अरिहन्त सर्वज्ञ परमेश्वर पूर्ण हों, तथापि देवगति जली हुई रस्सीवत् अन्दर प्रकृति होती है। पण्डितजी! दूसरी ली। पहले वेदनीय का भाग लिया (पश्चात्) नामकर्म का लिया। गति है न! पाँच शरीर होते हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण प्रकृति। सत्ता में प्रकृति अभी उदय पड़ी है, उसे यहाँ अरिहन्त

और जिनराज और वीतराग और केवली सर्वज्ञ कहा जाता है। पाँच बन्धन। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण ये पाँच प्रकृति के बन्धन हैं।

पाँच संघात है—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण, यह उसका संघात है। रजकण ग्रहे, ऐसी एक प्रकृति होती है। छह संस्थान होते हैं। है न नामसहित देख लेना। छह संस्थान—आकार है। उन्हें आकार हो, वह प्रकृति हो अन्दर। तीर्थंकर को आकारसहित समचतुरस्र ही संस्थान होता है, परन्तु उनकी सत्ता में छह संस्थान प्रकृति पड़ी होती है। ऐसे छह संहनन। अरिहन्त को तो वज्रवृषभनाराच संहनन ही शरीर होता है, परन्तु सत्ता में पड़ी हुई छह प्रकृति है। यह तो प्रत्यक्ष सर्वज्ञ से सिद्ध हुई बात है। आहाहा! यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं होती नहीं। समझ में आया? जली हुई रस्सीवत् कहा है न, वह भी दिगम्बर शैली है उसमें। सनातन परम सत्य। दूसरे में ऐसा नहीं कहा।

मुमुक्षु : विवाद निकाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विवाद निकाला है। आहाहा! क्या करे? ऐसा मार्ग। विवाद निकाला है न! कहे, नहीं, जली रस्सी होती नहीं।

मुमुक्षु : कर्म के उदय और अनुभाग में जली रस्सी कैसी?

पूज्य गुरुदेवश्री : जली रस्सी ही है, सुन न अब।....

छह संस्थान हैं। छह संहनन हैं, हड्डियों की मजबूताई। प्रकृति हों! संहनन एक होता है। प्रकृति। पाँच वर्ण होते हैं (कर्म) प्रकृति। काला वर्णन, दो गन्ध होती है प्रकृति। पाँच रस होती है प्रकृति। आठ स्पर्श होते हैं प्रकृति में, हों! फिर देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी होती है। है न, देवगति पहले आ गयी है। यह देवगति प्रायोग्य आनुपूर्वी। आनुपूर्वी पड़ी हो उनके अन्दर सत्ता में। अगुरुलघु प्रकृति होती है। उपघात प्रकृति होती है। परघात प्रकृति होती है, लो! उच्छ्वास प्रकृति होती है। प्रशस्त विहायोगति। हिलने की गति प्रशस्त, वह प्रकृति होती है। अप्रशस्त भी प्रकृति होती है अन्दर। अपर्याप्त प्रकृति होती है। स्वयं पर्याप्त शरीर है, परन्तु अन्दर प्रकृति अपर्याप्त। प्रत्येक शरीर की कर्मप्रकृति होती है। स्थिर प्रकृति, अस्थिर प्रकृति। शुभ-अशुभ प्रकृति।

दुर्भग प्रकृति, लो। पाँचवें गुणस्थान से दुर्भग प्रकृति का उदय नहीं होता। सत्ता है केवली को भी। अरे! यह सब जानपना करना पड़ता होगा? सच्चे वीतराग सर्वज्ञ कैसे होते हैं, इसे यह सब जानना चाहिए। जो यह सब परमात्मा नाम धराकर सर्वज्ञ हो जाये, ऐसा इसमें नहीं चलता। वस्तु की स्थिति... आगे कहेंगे। '**परिचित तत्त्वै**' है न शब्द? नीचे अर्थ किया है। '**परिचित तत्त्वै—**समस्त प्रकार से जिसे ज्ञान में यह सब तत्त्व ज्ञात हो गया है तीन काल—तीन लोक। बाद में आयेगा। यह परिचित का अर्थ ही सर्वज्ञ किया है। परिचित—परि अर्थात् समस्त प्रकार से, चित अर्थात् ज्ञान। जिसे तीन काल—तीन लोक ज्ञान में ज्ञात हो जाते हैं और शरीर की प्रकृति सुन्दर और आकृति सुन्दर होती है, तथापि सत्ता में ऐसी प्रकृति कर्म की पड़ी होती है। वह अगुरुलघु की बात हो गयी।

अप्रशस्त, अपर्याप्तक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, लो। केवली को भी दुर्भग नाम की प्रकृति सत्ता में पड़ी है। ऐसे दुर्भग का उदय पाँचवें (गुणस्थान) से नहीं होता। क्या कहा पण्डितजी! दुर्भग, अनादेय, अपजश—तीन प्रकृति का उदय पंचम गुणस्थान में नहीं होता। तथापि यह प्रकृति सत्ता में तेरहवें तक होती है। कार्यकारी नहीं। समझ में आया? यह तीर्थंकर को होती है, इसलिए सबको (होती है)। यहाँ तो तीर्थंकर की बात कही है। अन्दर ८५ पड़ी है। पिच्यासी होती है, देखो न! किसी-किसी को नहीं, ऐसा नहीं। क्या लिखा, देखो न! '**प्रकृति पचासी लगी रही जरि छारसी।**' होती है अन्दर सत्ता में। यह अर्थ ही बतलाता है। सुस्वर प्रकृति, हों! दुस्वर प्रकृति। अनादेय, लो। अनादेय का उदय पाँचवें में नहीं होता, परन्तु प्रकृति पड़ी होती है तेरहवें (गुणस्थानवर्ती) केवलज्ञानी को, अन्दर फल कुछ नहीं देती। अपयशकीर्ति होती है, लो। वह भी पाँचवें से उदय नहीं होती। निर्माण। जहाँ-जहाँ जाये वहाँ शरीर के अवयव निर्माण हो।

नीच गोत्र है, देखा! वह सत्ता में नीच गोत्र, उच्च गोत्र दोनों हैं। साता (वेदनीय) पहले असाता कही। वेदनीय दोनों होती हैं। समझ में आया? मनुष्यगति प्रकृति होती है। मनुष्य आयु, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय, लो। और यशकीर्ति तथा तीर्थंकर और उच्च गोत्र। यह ८५ प्रकृतियाँ जली हुई रस्सी के समान वहाँ प्रकृतियाँ होती हैं। यदि वे जायें, तब तो सिद्ध हो जाये अशरीरी परमात्मा—शरीर रहित हो जाये। शरीर....

मुमुक्षु : तीर्थंकरप्रकृति भी रस्सी जैसी एक जगह पड़ी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा क्या है?

मुमुक्षु : उसका कुछ जोर होता नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : जोर क्या हो? प्रकृति तो जड़ है। जली हुई रस्सीवत् कही न! तीर्थंकरप्रकृति को भी ऐसा कहा। ऐई चेतनजी! जली हुई रस्सी जैसी। यह तो प्रकृति छह, उदय आवे, संयोग आवे, उसमें क्या है? उसमें आत्मा को कुछ है नहीं।

'ऐसौ जिनराज ताहि बंदत बनारसी।' अहो! बनारसीदास कहते हैं, हे नाथ! ऐसे जिनराज अर्थात् वीतराग आत्मा में प्रगट दशावाले, जिन्हें अभी चार कर्म की ८५ प्रकृतियाँ बाकी हैं, उन्हें मैं वन्दन करता हूँ, पहिचानकर वन्दन करता हूँ। ऐसे अरिहन्त और जिनराज णमो अरिहंताणं... वे यह अरिहन्त। ऐसे नाम ले, ऐसा नहीं। णमो अरिहंताणं। चार कर्मरूपी अरि का नाश है और चार कर्म जली हुई रस्सीवत् पड़े हैं और अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि प्रगट हुए हैं, ऐसे अरिहन्त भगवान को पहिचानकर मैं वन्दन करता हूँ।

मुमुक्षु : परम महारसी का अर्थ नहीं आया इसमें।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं आया, इसमें अद्धर से डाला है। खबर है, यह ऊपर से किया है। नहीं, कोई-कोई रह गया है। महा मोह जाने से उसे परमरस होता है परम आनन्दरस। यह ऊपर से अर्थ किया है, उसमें नहीं। कहीं कोई शब्द रह गये हों। अब २७वाँ कलश, २७वाँ है न? ४८ पृष्ठ पर २७वाँ कलश।

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ।।२७।।

★ ★ ★

काव्य - ३०

निश्चय और व्यवहारनय की अपेक्षा शरीर और जिनवर का भेद (कवित्त)

तन चेतन विवहार एकसे,
निहचै भिन्न भिन्न हैं दोइ।
तनकी थुति विवहार जीवथुति,
नियतदृष्टि मिथ्या थुतिसोइ।।
जिन सो जीव जीव सो जिनवर,
तन जिन एक न मानै कोइ।
ता कारन तनकी संस्तुतिसौं,
जिनवर की संस्तुति नाहि होइ।।३०।।

शब्दार्थ:-संस्तुति=स्तुति।

अर्थ:-व्यवहारनय से शरीर और आत्मा की एकता है, परन्तु निश्चयनय में दोनों जुदे-जुदे हैं। व्यवहारनय में शरीर की स्तुति जीव की स्तुति गिनी जाती है परन्तु निश्चयनय की दृष्टि से वह स्तुति मिथ्या है। निश्चयनय में जो जिनराज है, वही जीव है और जो जीव है, वही जिनराज है, यह नय शरीर और आत्मा को एक नहीं मानता; इस कारण निश्चयनय से शरीर की स्तुति जिनराज की स्तुति नहीं हो सकती।।३०।।

काव्य-३० पर प्रवचन

उसका पद है ३०वाँ। निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा से शरीर और जिनवर का भेद। '**तन चेतन विवहार एकसे,**' लोकव्यवहार शब्द रखा है उसमें, 'अध्यात्मतरंगिणी' में। उसमें आता है न, द्रव्यसंग्रह में। लोकव्यवहार में बोलने में आता है (कि) शरीर और (आत्मा) एक। बाकी वस्तु (ऐसी) है नहीं। अत्यन्त भिन्न-भिन्न है। 'अध्यात्मतरंगिणी' में है। लोकव्यवहार से बोलने में आता है। वस्तु से शरीर को रहित कहा है। '**तन चेतन विवहार एकसे, निहचै भिन्न भिन्न हैं दोइ।**' चैतन्य भगवान तो

आनन्द और ज्ञान का समुद्र भिन्न है। शरीर के रजकणों का तत्त्व वह अत्यन्त भिन्न। दोनों अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं। कहो, समझ में आया? शरीर के सहारे बिना तो विचार भी नहीं होता, ऐसा आया है। आ गया अमरचन्द का (लेख)। आहाहा! इतना फेरफार हो गया है। लोगों को जैसे स्वयं को सुहावे, वह बात ले लेते हैं और न सुहावे, उसे छोड़ देते हैं। सत्य क्या है, उसकी दरकार नहीं। आहाहा!

'**निहचै भिन्न भिन्न हैं दोइ।**' भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु शक्ति ज्ञान और आनन्द से भरपूर प्रभु और शरीर जड़ अजीवतत्त्व से भरपूर—दोनों अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं। आहाहा! '**तनकी थुति विवहार जीवथुति।**' लो, व्यवहार स्तुति है या नहीं? वह व्यवहार, लोक (व्यवहार) कहनेमात्र है। '**तनकी थुति विवहार जीवथुति। नियतदृष्टि मिथ्या थुति सोइ॥**' शरीर की महिमा करने से आत्मा की महिमा (माने), वह मिथ्या स्तुति है। आहाहा! वास्तव में तो विकल्प सहित की स्तुति, वह भी मिथ्या है, ऐसा सिद्ध किया है। सर्वज्ञ परमेश्वर की ओर के झुकाव का विकल्प, वह व्यवहार स्तुति है, वह सच्ची स्तुति है नहीं।

'**नियतदृष्टि मिथ्या थुति सोइ॥**' निश्चय से देखो तो व्यवहार, वह मिथ्या—झूठा है। आहाहा! '**जिन सो जीव जीव सो जिनवर, तन जिन एक न मानै कोइ।**' जिन सो जीव—वीतरागस्वरूप का बिम्ब प्रभु, उसे जीव कहते हैं, उसे जिन कहते हैं, उसे जीव कहते हैं। अकेला वीतरागी गोला, राग से भिन्न, शरीर से तो भिन्न। शरीर और काया और राग आदि सब वह काया ही कहलाती है। राग, शरीर—काया से भिन्न। इस काया शब्द से राग आदि वह सब काया में जाता है। समझ में आया?

'**जिन सो जीव जीव सो जिनवर, तन जिन एक न मानै कोइ।**' ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, उसमें तन का अत्यन्त (भिन्न अस्तित्व है)। शरीर की स्तुति वह उसकी—आत्मा की स्तुति नहीं कहलाती। झूठी स्तुति है, कहते हैं। '**तन जिन एक न मानै कोइ।' जो जिनराज है, वह जीव है और जो जीव है, नहीं जिनराज है। निश्चय की दृष्टि से वह स्तुति मिथ्या है।** व्यवहार से दी है न। परन्तु व्यवहार से दी, इसका अर्थ क्या? यह नहीं। व्यवहारनय अन्यथा कहता है। आहाहा! अभी तो अरिहन्त सर्वज्ञ कैसे

होते हैं, इसकी खबर नहीं होती, उसे आत्मा कैसा होता है (इसकी क्या खबर होगी)? आहाहा! जैसा अरिहन्त ने प्रगट किया, वैसा ही यह आत्मा है। आत्मा में कुछ अन्तर नहीं है।

‘**जिन सो ही जिनवर और जिनवर सो जीव, तन जिन एक न माने कोई।**’ शरीर और आत्मा... जिनस्वरूप आत्मा अविकारी निर्दोष वीतराग का पिण्ड प्रभु आत्मा, उसे और शरीर को कोई एक न माने। देखा, इसमें तो कोई न माने, ऐसा कहते हैं, माननेवाले मूढ़ है, कहते हैं। सच्चे हों (वे) इसे मानते नहीं। ‘**ता कारण तन की संस्तुतिसौं**’ शरीर की महिमा से ‘**जिनवर की संस्तुति नाहि होइ**’ आत्मा के जो गुण हैं, उसकी स्तुति वह है नहीं। नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं हो सकता, इसी प्रकार शरीर की स्तुति से भगवान आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया? शब्द पड़े हैं न ‘**तु पुनः कायात्मनोनिश्चया**’ संस्कृत में। काया और आत्मा का अर्थ ही—अकेला वीतरागी स्वरूप, वह आत्मा और राग आदि वह सब काया में जाता है। समझ में आया? वह आत्मा नहीं। आहाहा!

‘**वस्तु स्वरूप की प्राप्ति में गुप्त लक्ष्मी का दृष्टान्त**’ ३१ पद, इसका कलश २८, नहीं? २८। २७वाँ आ गया ३० (पद) में। २८ (कलश) का ३१ (पद)।

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां,
नयविभजनयुक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य,
स्व-रस-रभस-कृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव॥२८॥

इसका पद

★ ★ ★

काव्य - ३१

वस्तु स्वरूप की प्राप्ति में गुप्त लक्ष्मी का दृष्टान्त (सवैया तेईसा)

ज्यौं चिरकाल गड़ी वसुधामहि,
भूरि महानिधि अंतर गूझी।
कोउ उखारि धरै महि ऊपरि,
जे दृगवंत तिन्हैं सब सूझी।।
त्यौं यह आतमकी अनुभूति,
पड़ी जड़भाउ अनादि अरूझी।
नै जुगतागम साधि कही गुरु,
लच्छन-वेदि विचच्छन बूझी।।३१।।

शब्दार्थ:-चिरकाल=बहुत समय। वसुधा=पृथ्वी। भूरि=बहुतसी। गूझी=छुपी हुई। महि=पृथ्वी। अरूझी=उलझी। विचच्छन (विचक्षण)=चतुर। लच्छन-वेदि=लक्षणों के ज्ञाता। बूझी=समझी।

अर्थ:-जिस प्रकार बहुत समय से पृथ्वी के अन्दर गड़े हुए बहुत से धन को उखाड़कर कोई बाहर रख देवे तो नेत्रवानों को वह सब दिखने लगता है, उसी प्रकार अनादि काल से अज्ञानभाव में दबी हुई आत्मज्ञान की सम्पदा को श्रीगुरु ने नय, युक्ति और आगम से सिद्ध कर समझाया है, उसे विद्वान लोग लक्षण से पहिचानकर ग्रहण करते हैं।

विशेष:-इस छन्द में 'दृगवंत' पद दिया है, सो जिस प्रकार बाहर निकाला हुआ धन भी नेत्रवालों को ही दिखता है-अन्धों को नहीं दिखता, उसी प्रकार श्रीगुरु द्वारा बताया हुआ तत्त्वज्ञान अन्तर्दृष्टि भव्यों को ही प्राप्त होता है, दीर्घ संसारी और अभव्यों की बुद्धि में नहीं आता।।३१।।

काव्य-३१ पर प्रवचन

ज्यौं चिरकाल गड़ी वसुधामहि,
भूरि महानिधि अंतर गूझी।
कोउ उखारि धरै महि ऊपरि,
जे दृगवंत तिन्हैं सब सूझी।।
त्यौं यह आतमकी अनुभूति,
पड़ी जड़भाउ अनादि अरूझी।
नै जुगतागम साधि कही गुरु,
लच्छन-वेदि विचच्छन बूझी।।३१।।

आहाहा! कैसे पद बनाये हैं, देखो न! '**ज्यौं चिरकाल गड़ी वसुधामहि,' जिस प्रकार बहुत समय से पृथ्वी के अन्दर गड़े हुए बहुत से धन को उखाड़कर।** लक्ष्मी अन्दर पड़ी हो।

ऐ! तेरे पिता ने यहाँ पाँच करोड़ दबाये हैं यहाँ। आता है न वह (दृष्टान्त)। शंकर के देवल में....

मुमुक्षु : बहियों के पुठ्ठे में....

पूज्य गुरुदेवश्री : बही के पुठ्ठे में लिखा कि तेरे पिता ने पाँच करोड़ शंकर के देवल (मन्दिर) में दबाये हैं। शंकर का मन्दिर साथ में था।

मुमुक्षु : अण्डे में।

पूज्य गुरुदेवश्री : शंकर का मन्दिर होता है, (उसमें) अण्डा होता है न उसमें दबाये हैं। उसका पिता मर गया। अब उसके पिता के मित्र को पूछा, 'अब क्या करना ?' उसमें शंकर का मन्दिर लिया पूरा बिकता हुआ और उसमें से एक-एक अण्डा खोदा परन्तु निकला नहीं। तब उसने उसके पिता के मित्र को पूछा कि 'यह मेरे पिता ने दबाया... ?' तो कहे, तेरा पिता कहीं पागल है कि अण्डे के नीचे दबाये ? वहाँ दबाये ? इसका अर्थ यह है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी को आठ बजे अण्डे में दबाया है, ऐसा लिखा

था। उसका अर्थ यह है कि उस अण्डे की छाया (परछाईं) चैत्र शुक्ल अष्टमी को आठ बजे तेरे बरामदे में आती है, वहाँ खोज। मूल में नहीं, यह तो दृष्टान्त है। खोदे कौन?

वे मणिभाई गाँधी थे, बोटाद। शास्त्र में आयी न एक बार बात, कि भाई! वनस्पति में भी परिग्रह संज्ञा है। ऐसा शास्त्र में पाठ है, धवल में है। उसमें भी है। परिग्रह संज्ञा है। जो वृक्ष जल्दी उगे (वह) जहाँ लक्ष्मी हो उस ओर शीघ्र ऐसे जाये। नीचे दबाया हो न, उस ओर शीघ्र जाये। ऐसा सुनकर घर में बेल बोयी। मणिलाल गाँधी, मणिलाल रायचन्द गाँधी। फिर पूरा खोदा। भाई कहते थे, हम खोदनेवाले थे। भाई मनमोहनदास। मनमोहनदास नहीं वे? छोटाभाई का पुत्र। हम खोदनेवाले साथ में थे। कुछ धूल भी नहीं निकला। यहाँ कहते हैं, जैसे बहुत समय से पृथ्वी के अन्दर दबे हुए **बहुत से धन को...** वापस ऐसा। बहुत धन, बहुत लक्ष्मी। समझ में आया? **उखाड़कर कोई बाहर रख देवे।** देखो! यह लक्ष्मी। वह तो दृष्टान्त है, हों! लक्ष्मी का यहाँ काम नहीं। **तो नेत्रवानों को वह सब दिखने लगता है।** कौन देखे? आँखेंवाला देखे। अन्धा देखे? ऐसा कहते हैं।

करोड़ों रुपये की पूँजी अन्दर पड़ी हो... अब तो करोड़ की गिनती बहुत कम हो गयी। अब तो बहुत पाँच करोड़, दस करोड़, बीस करोड़ और लम्बा लप्प होकर ममता बढ़ गयी है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बीस गुने, पच्चीस गुने लो न, तीस गुने। पूर्व के एक लाख हों और अभी तीस लाख हों, तब समान गिने जाते हैं। इतना पैसा घट गया—पैसे की कीमत घटकर दूसरे भाव बढ़ गये। कहते हैं, यह लक्ष्मी करोड़ों हो और अरबों हो। अंक गिनना है न! नीचे दबायी हो और खोदकर निकालकर रखे। इस प्रकार, आँखोंवाला देखे। अन्धा कहीं देखता होगा? जिसकी आँखें फूट गयी हैं। क्या कहते हैं, समझ में आया? पोपटभाई! **नेत्रवानों को वह सब दिखने लगता है, उसी प्रकार अनादि काल से अज्ञानभाव में दबी हुई, त्यों यह आतम की अनुभूति।** राग और विकल्परहित आत्मा का अनुभव, उस अनुभव में आत्मा की लक्ष्मी देखी और दूसरे को कहे कि देखो! इस

अनुभूति में आत्मा ऐसा होता है। परन्तु जिसके नेत्र खुले हों, वह देख सकता है, किन्तु अन्धा नहीं देख सकता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

'**जे दृगवंत तिन्है सब सूझी**।' ऐसी सब सूझ पड़ी उसे। वह लक्ष्मी का दृष्टान्त दिया। '**त्यौं यह आतमकी अनुभूति**।' आत्मा के स्वभाव को अनुसरकर आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो, उसने दबी हुई लक्ष्मी को नजर में देखा है। कर्म और राग में ढँक गयी भगवान आत्मा की लक्ष्मी, वह राग और कर्म से भिन्न पड़कर अनुभव होने पर यह आत्मा सच्चिदानन्द पूर्णानन्दस्वरूप है, ऐसा उसकी दृष्टि में आया। कहो, समझ में आया? गुरु ने बताया, कहते हैं। देखो! ऐसा आत्मा होता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं आया। दृगवन्त भाव से, ऐसा कहा इसमें। देखो न, क्या कहा? '**जे दृगवंत तिन्हैं सब सूझी**' इसी प्रकार यह भी अनादि की अरुचि से पर में उल्लसित होकर, पुण्य, पाप, विकल्प, निमित्त में उल्लसित होकर... है न!

'**नै जुगतागम साधि कही गुरु**।' परन्तु निश्चयनय का स्वरूप बताकर वास्तविक भगवान तो निर्विकल्प आनन्द का धाम है। ऐसे निश्चयनय की युक्ति से कहकर '**साधि' गुरु कही,...** यह वस्तु तेरी आत्मा है। अनन्त केवलज्ञान और अनन्त आनन्द का धाम तेरा स्वभाव है। आहाहा! राग तो नहीं परन्तु अल्पज्ञपना भी तेरा स्वरूप नहीं। समझ में आया? प्रकाशदासजी! आहाहा! सवेरे के वह ज्ञान का आया था न। कषाय की क्रिया का आवे वहाँ अज्ञान का दोनों का मिटाया वहाँ। आहाहा! भगवान! वस्तु तो ऐसी है। आहाहा! अनुभूति वह ज्ञान, ऐसा कहते हैं, समझ में आया?

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य की मूर्ति पूरा चैतन्यदल, उसे अनुसरकर अनुभव में आत्मा 'यह पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु है,' ऐसी सूझ पड़ी और दूसरे को बताया, देख इस प्रमाण सूझ कर। परन्तु वह सूझ करे तो सूझे, वरना सूझे नहीं—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कैलाशचन्दजी ने लिखा है न जरा विरुद्ध का, नहीं आया? अब वे लोग सामनेवाले उसे छपाते हैं। देखो, कैलाशचन्दजी भी उनके लिये ऐसा कहते हैं। अब कैलाशचन्दजी क्या, सब लाख कहे, सुन न! ऐसा कहकर सब पत्रिका—

अखबार में आया था। उसने डाला था जैनसन्देश में। उसमें से निकालकर दूसरे ने छपाया है। देखो, यह सोनगढ़वाले के लिये उनके दिगम्बर के पण्डित भी कहते हैं। दिगम्बर के पण्डित थे कब? ऐई! आहाहा! वीतरागी भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ स्व-आश्रय करके अनुभव करे, उसे समकिती और वह दिगम्बर का पण्डित कहलाता है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है न! उसे पण्डित कहते हैं, आहाहा! यह कठिन काम भाई! समझ में आया?

राग के अंश और रजकण से भिन्न भगवान राजधानी उसकी.... ईश्वर की सत्ता स्वयं आप है। आहाहा! राजधानी में आया था न! 'रजधानी।' राजधानी। भगवान का राज शोभते, ऐसी राजधानी। पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शान्ति, स्वच्छता—ऐसी अनन्त शक्तियों का संग्रह, उनका संग्रह किया। ...यह बाहर का संग्रह करते हैं। बाहर का संग्रह पैसा, चूड़ियाँ, छोटा लड़का। दु:खी। अब दुकान पर बैठे तब वहाँ चौड़ा हो चौड़ा, हीराभाई ऐसे बैठे हों, ऐसे बापूजी, बापूजी करे। भाई! इसमें ऐसा करूँगा। इनकार करे कि बापूजी! यहाँ तुम्हारी बहुत आवश्यकता नहीं है। परन्तु आकर बैठेगा। पूरे दिन सुहावे नहीं। दो घण्टे तो आऊँ बैठने?

मुमुक्षु : परन्तु घर में बैठे तो कैदखाना जैसा लगे, करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ अन्दर घर में जाये तो कहीं कैदखाना नहीं लगे। वह घर कब था इसका? आहाहा! निवृत्त होकर अन्दर में निवृत्ति घर को देखे न! अनुभूति से वह ज्ञात हो, ऐसा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कोई व्यवहार की क्रिया और दया, दान, व्रत और भक्ति से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा महँगा मार्ग। कोई सस्ता नहीं होगा? परन्तु मार्ग ही यह है, फिर महँगा-सस्ता कौनसा कहना? मार्ग की पद्धति और पक्ष ही यह है। आहाहा! परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ अनन्त तीर्थंकर एक ही आवाज में यह कह गये हैं। समझ में आया? तेरा भगवान अन्दर पड़ा है न, प्रभु! उसके सम्मुख देख और उसका अनुभव कर तो तुझे आत्मा की लक्ष्मी प्रतीति में आवे। कहा न, वह खोदकर निकालकर बाहर रखा। परन्तु आँखें बिना का....

मुमुक्षु : क्या करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

'सहेजे समुद्र उलस्यो जेमां रतन तणातां जाय,
भाग्यवान कर वावरे, ऐनी मोतीऐ मूठीयुं भराय।'

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, अनादि का आत्मा... जैसे खड्डे में करोड़ों-अरबों रुपये थे, दबाकर पड़े हुए। खबर पड़ी कि अरे! इसमें तो पैसे हैं यह तो। और वे निकालते हुए... जैसे निकालकर बाहर रखे रत्न और देखती आँखोंवाला देखे। उसी प्रकार आत्मा की लक्ष्मी, भाई! एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण वीतरागता स्वच्छता का नाथ तू है। तू अपूर्ण न मान। तू अपूर्ण नहीं, तू रागवाला नहीं, तू शरीरवाला नहीं। आहाहा! इस लक्ष्मी की कितनी कीमत होगी इसमें अब? शून्य। मलूकचन्दभाई! इनका आनेवाला है, इनका न्यालभाई। उसके पिता को हुए बाद आया नहीं न। मर जाते तो भले मर जाते।

मुमुक्षु : पुत्री की सगाई की।

पूज्य गुरुदेवश्री : लो, उसके लिये आता है, ऐसा कहते हैं, हों! तुम्हारे लिये नहीं, ऐसा कहते हैं। अरे! सब स्वार्थ के पुतले हैं। ऐ पोपटभाई! आहाहा!

भगवान! तेरा स्वरूप तो अन्दर अनन्त... अनन्त आनन्द का नाथ, अनन्त आनन्द से भरपूर पदार्थ, लक्ष्मी है। गुरु ने उसे निश्चय के स्वरूप बताकर राग से और अल्पज्ञ से भिन्न बताया, परन्तु जिसकी आँखें खुली, उसने देखा। आहाहा! समझ में आया? '**नै जुगतागम**' ऐसा कहते हैं। देखा! **श्रीगुरु ने नय, युक्ति और आगम से सिद्ध कर समझाया है।** भाई! आत्मा वस्तु है, पदार्थ है। उसमें ज्ञान और आनन्द है और आनन्द और ज्ञान एकरूप है। एकरूप अर्थात् पूर्ण है। वस्तु पूर्ण है, उसका स्वभाव भी पूर्ण है। उस चीज़ पर दृष्टि देने से तुझे आत्मा की लक्ष्मी प्राप्त होगी। आहाहा! परन्तु लोग ऐसा कहते हैं कि पहले क्या करना? ऐई! कहते हैं, नय और युक्ति और आगम से उसे साध्य बताया। बताया, देखो, आगम से इस प्रमाण है। परमात्मा कहते हैं, युक्ति से सिद्ध होता है, निश्चयनय से ऐसा है। समझ में आया? आहाहा!

भाई ने लिखा है न रमेश ने, नहीं? ...भारी वह दृष्टान्त। 'सरोवर कांठे रे मृगला

तरस्या ले लोल, वे दोडे हांफी झांझवाना पाणीने काज, अरेरे! अेने साचा वारि मळवा दोह्यला रे लोल।' वह है तो भारी होशियार। वह वहाँ है घाटकोपर। अपने बीछिया का है। यह प्रेमचन्दभाई का पौत्र है। प्रेमचन्दभाई उसे बहुत नहीं गिनते। उसका दादा कहलाये न! परन्तु लड़का वह बोले मानो ढंग से, हों! सभा तो ऐसे एक शान्त हो जाये। 'अेने साचा वारि मळवा दोह्यला रे लोल।' उस मृगजल के पानी में मृग दौड़े, उन्हें वहाँ पानी नहीं मिलता। इसी प्रकार पुण्य-पाप के विकल्प में, पर में आत्मा खोजने जाये, वहाँ नहीं मिलता, प्रभु!

रतिभाई पहिचानते हो तुम? बींछिया का। रतिभाई नहीं आये थे। घर से स्त्री आयी, खबर है। मन्दिर के सामने है न! वे और यह बहिनें आयीं थीं दोनों, मलूकचन्दभाई की। इन तीनों को देखा। कहा, यह तीन कौन? सामने है न सामने। रतिभाई के घर से आये.... रम्भाबेन को ले गये थे वहाँ। मन्दिर के सामने हैं न, परन्तु इन बेचारों को खबर नहीं। छूने देते नहीं। यह चुनीभाई की बहू है, वह बेचारी आड़े-टेढ़े गयी होगी। यह तो मानो भ्रष्ट हो गये हों ऐसा। आहाहा! मन्दिर और ऐसा करे... प्रभु! तुझे खबर नहीं, हों! तुझे वस्तु की खबर बिना लुट गया। कुगुरु ने उल्टा बताया और माना, उसमें आत्मा की लक्ष्मी खो गया। उसी और उसी में अटक गया, रुक गया। आहाहा!

यहाँ तो आचार्य कहते हैं, **आत्मज्ञान की सम्पदा को श्री गुरु ने नय, युक्ति और आगम से सिद्ध कर समझाया, उसे विद्वान लोग लक्षण से पहिचानकर ग्रहण करते हैं।** '**लच्छन-वेदि**' ऐसा है न? '**लच्छन-वेदि विचच्छन बूझी।**' आहाहा! विचक्षण तो उसे कहते हैं कि जिसे चैतन्य का अनुभव और दृष्टि पड़े उसे (विचक्षण कहते हैं।) यह सब दुनिया के होशियार कहलाते हैं। बाकी यह दुनिया के होशियार भटकनेवाले हैं, यह तो संसार के समझदार गहरे उतरनेवाले हैं। ऐ पोपटभाई! टाईल्स में ऐसी छांट (डिजाईन) डाली हो, ऐसी छांट डालना, ऐसी... छांट कहलाये न, तुम्हारे क्या कहलाती है? टाईल्स बनाते हों। कुछ डालते हैं अन्दर। उतरे थे न। वहाँ उतरे थे न। उसकी मशीन... फैक्ट्री तो प्रभु तेरे पास है, हों! आनन्द का खजाना तेरे पास है। यह पुण्य और पाप के क्रियाकाण्ड के राग में नहीं मिले प्रभु! यह तो मृगजल का पानी है, हों! वह मृगजल का पानी सच्चा नहीं मिले तुझे। आहाहा!

अरे! अनन्त काल ऐसा का ऐसा ठगाया है। सच्ची बात आवे तब, लक्ष्मी तिलक करने आवे तब मैं मुँह धो आता हूँ। अब यह (तिलक) करने दे न अब, मुख धोये बिना। बाद में नहीं आयेगी फिर से। समझ में आया? इसी प्रकार ऐसी तत्त्व की बातें बापू! अनन्त काल में मिलना मुश्किल है, ऐसा कहते हैं। कहते हैं, **नै जुगत...** (नय), युक्ति और आगम—तीन कहे न! गुरु ने नय से समझाया। भाई! पर्याय में अल्पज्ञता, रागादि तो व्यवहार है, वह व्यवहार झूठा है। सच्चा तो तेरा तत्त्व परमेश्वर प्रभु पूर्ण स्वरूप आनन्द और ज्ञान से भरपूर है, ऐसा नय से सिद्ध कर दिया। युक्ति से सिद्ध कर दिया कि वस्तु हो वह पूर्ण ही होती है। समझ में आया? आगम से सिद्ध किया। आगम भी निश्चय से वस्तु को ऐसी बताता है। समझ में आया?

लच्छन-वेदि... जो कोई लक्षण का जाननेवाला... चैतन्य तो ज्ञान लक्षण से प्राप्त होता है। उसका लक्षण तो ज्ञान है। उसका लक्षण कहीं दया, दान, व्रत का विकल्प, वह कहीं उसका लक्षण नहीं है। लक्षण तो उसे कहते हैं कि जो लक्ष्य को पहुँचे। समझ में आया? ऐसा इसे **लच्छन-वेदि...** लक्षण का जाननेवाला **विच्छन बुझी**—जाना। समझा विचक्षण, लो।

विशेष : इस छन्द में 'दृगवन्त' पद दिया है—देखो, उन्होंने स्पष्टीकरण किया है। वह है न, **'जे दृगवंत तिन्है सब सूझी'** है न? **सो जिस प्रकार बाहर निकाला हुआ धन भी नेत्रवालों को ही दिखता है, अन्धों को नहीं दिखता....** विद्यमान ऋद्धि भी अन्धों को नजर में नहीं आती। **उसी प्रकार श्रीगुरु द्वारा बताया हुआ तत्त्वज्ञान अन्तर्दृष्टि भव्यों को ही प्राप्त होता है।** देखा! कितना सरस लिखा है। ऐसा भगवान आत्मा अन्तर्दृष्टि (से), बहिर्दृष्टि छोड़कर अन्तर ज्ञान का धाम, आनन्द का स्वरूप, उसमें इसे झुकाव होने पर अन्तर लक्ष्मी का भान इसे होता है, इसे समकित और समकितज्ञान कहा जाता है। समझ में आया?

अब इस सम्यक्त्व की खबर नहीं होती और व्रत, तप और बालव्रत तथा बालतप। आहाहा! लोगों को कठिन लगे, इससे यहाँ की बात को (उड़ावे)। यहाँ की बात नहीं, प्रभु! यह तो वीतराग की बात है। आहाहा! तुझे खबर नहीं, भाई! तुझे उल्टे रास्ते ले जाते हैं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : अपवास कर सकते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कर सकते नहीं अपवास, इसलिए इनकार करते हैं। अरे प्रभु! आहाहा! ऐसे लंघन तो अनन्त बार किये। आत्मा शुद्ध स्वभाव का सागर, भण्डार, उसमें समीप में जाकर रहना, इसका नाम उपवास है। बाकी दूसरे का नाम तो अपवास है। राग में रहना, वह तो अपवास—बुरा वास है। क्या हो? दुनिया को उल्टे रास्ते लगाया है न।

मृग का एक दृष्टान्त आता है। मृग दौड़ते थे, शिकारी उसे हाँकता था पूर्व में। उसे वे थे वहाँ, क्या कहलाते हैं? पकड़ने के जाल। मृग को हाँकता था वापस। उसमें कोई दयालु आया, उसने मृग को वापस मोड़ने के लिये ऐसा किया, इससे शंका उठी उसे। उसे शंका उठी, यह .... ऐसा श्लोक सम्प्रदाय में आता है। ... वेग में चढ़े हुए मृग... वह पुकार करता है कि उसकी ओर नहीं, हों! या ऐसे आ या ऐसे जा, या ऐसे जा। उसमें शंका करता है। नहीं, यह क्या? दौड़कर वहाँ जाता है। आहाहा! ....शंका के स्थान में शंका करता नहीं, अशंका के स्थान में शंका करता है। आहाहा! कान्तिभाई!

कहते हैं, यह तत्त्वज्ञान धर्मात्मा गुरु ने बताया इसे। भाई! तेरी चीज़ में पर की अपेक्षा की आवश्यकता नहीं। गुरु कहते हैं, हमारी भी तुझे आवश्यकता नहीं, हों! वह तो उसने बतलाया, ऐसा कहा इतना। परन्तु बतलाया क्या? कि मेरी ओर के (लक्ष्य की) भी तुझे आवश्यकता नहीं है, ऐसा उन्होंने बतलाया। नय-प्रमाण से ऐसा बतलाया नय में कि निश्चय का स्वाश्रय कर तो तुझे ज्ञात होगा। हमारे सन्मुख देखेगा तो ज्ञात नहीं होगा। ऐसे निश्चयनय से श्रीगुरु ने उसे कहा। प्रकाशदासजी! **अन्तर्दृष्टि भव्यों को ही प्राप्त होता है, दीर्घ संसारी और अभव्यों की बुद्धि में नहीं आता।** अनन्त संसार (में) जिसे भटकने की दृष्टि है, उसे नहीं भटनकेवाला स्वभाव कैसे दृष्टि में आवे? आहाहा! कैसे बैठे? समझ में आया?

और अभव्य... (ऐसे) दो लिये। भव्य में भी दीर्घ संसारी जीव। मिथ्यात्व के कारण दीर्घ संसारी है। अभव्य तो योग्य ही कभी नहीं। ऐसा भगवान आत्मा जिन और जिनवर स्वरूप ऐसा अन्तर (में) एक ही है। उसकी चीज़ की ओर सम्हाल नहीं की। और करनेवाला नहीं, वह दीर्घ संसारी और अभव्य जीव है। आहाहा! **बुद्धि में नहीं आता...**

उसे ख्याल में नहीं आता। यह २८वाँ आया न यह। २८वाँ कलश का ३१ वाँ पद। २८वें कलश का। उसमें बराबर शब्द नहीं आये। कहते हैं, **'न बोधो बोधोमेवाध कस्य।'** किसे यह सम्यग्ज्ञान नहीं होगा, ऐसा। आहाहा! वह तो आ गया न... ऐसा जिसे भिन्न करके जैसे हथेली में बतावे, वैसे आत्मा बताया, वह किसे नहीं ख्याल में आयेगा? ऐसा कहते हैं। है न, बोध। ज्ञान से बात ली है। ज्ञान और आत्मा अभेद है, ऐसा करके ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होगा? क्यों नहीं होगा? किसे नहीं होगा? अज्ञानी हो दीर्घ संसारी, वह बात अलग है, बाकी तो हुए बिना रहेगा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? २९ कलश। कलश २९, हों!

अवतरति न यावद् वृत्ति–मत्यन्त–वेगा–
दनव–मपर–भाव–त्याग–दृष्टान्तदृष्टिः।
झटिति सकल–भावै–रन्यदीयैर्विमुक्ता,
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ।।२९।।

अरे! मक्खन परोसा है। **'भेदविज्ञान की प्राप्ति में धोबी के वस्त्र का दृष्टान्त'**

★ ★ ★

काव्य - ३२

भेदविज्ञान की प्राप्ति में धोबी के वस्त्र का दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ जन गयौ धोबीकै सदन तिन,
पहिर्‍यौ परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है।
धनी देखि कह्यौ भैया यह तौ हमारौ वस्त्र,
चीन्हैं पहिचानत ही त्यागभाव लह्यौ है।।
तैसैंही अनादि पुदगलसौं संजोगी जीव,
संगके ममत्वसौं विभाव तामैं बह्यौ है।
भेदज्ञान भयौ जब आपौ पर जान्यौ तब,
न्यारौ परभावसौं स्वभाव निज गह्यौ है।।३२।।

शब्दार्थ:-सदन=घर। धनी=मालिक। विभाव=परवस्तु के संयोग से जो विकार हो।

अर्थ:-जैसे कोई मनुष्य धोबी के घर जावे और दूसरे का कपड़ा पहिनकर अपना मानने लगे, परन्तु उस वस्त्र का मालिक देखकर कहे कि यह तो मेरा कपड़ा है, तो वह मनुष्य अपने वस्त्र का चिह्न देखकर त्यागबुद्धि करता है; उसी प्रकार यह कर्मसंयोगी जीव परिग्रह के ममत्व से विभाव में रहता है, अर्थात् शरीर आदि को अपना मानता है परन्तु भेदविज्ञान होने पर जब निज-पर का विवेक हो जाता है तो रागादि भावों से भिन्न अपने निज स्वभाव को ग्रहण करता है।।३२।।

काव्य-३२ पर प्रवचन

जैसैं कोऊ जन गयौ धोबीकै सदन तिन,
पहिर्‌यौ परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है।
धनी देखि कह्यौ भैया यह तौ हमारौ वस्त्र,
चीन्हैं पहिचानत ही त्यागभाव लह्यौ है।।
तैसैंही अनादि पुदगलसौं संजोगी जीव,
संगके ममत्वसौं विभाव तामैं बह्यौ है।
भेदज्ञान भयौ जब आपौ पर जान्यौ तब,
न्यारौ परभावसौं स्वभाव निज गह्यौ है।।३२।।

देखो ! कर्म के कारण नहीं। संग के ममत्व के कारण, कर्म की ममता के कारण, वह विभाव में आया है।

आहाहा ! अकेला जीवद्रव्य का व्याख्यान। यह जीव का अधिकार है। जीव किसे कहना ? भगवान ने जीव किसे कहा और यह जीव की श्रद्धा किसे कहना ? समझ में आया ? जीव उसे कहना कि जो शरीर, कर्म से रहित और राग के विकल्प से रहित है। समझ में आया ? परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यद्रव्य, उसे जीव कहा जाता है। आहाहा ! यह ५६३ भेद जीव के आते हैं न, वह जीव नहीं, वह तो सब व्यवहार की व्याख्या है। सच्चा परमार्थ जीव तो भगवान एक समय में परिपूर्ण शक्ति का सागर भगवान। ज्ञान से पूरा,

दर्शन से पूरा, आनन्द से पूरा, वीर्य से पूरा, स्वच्छता से पूरा। अनन्त-अनन्त शक्ति का एक सत्त्व, एकरूप सत्त्व ऐसा आत्मा, उसे जीव कहते हैं। उस जीव की दृष्टि—अनुभव हो तब ऐसा जीव ज्ञात होता है, तब उसने जीव माना कहलाता है। आहाहा! समझ में आया?

'**जैसैं कोऊ जन गायौ धोबीकै सदन तिन**' धोबी के घर गया। वस्त्र दिये होंगे धोने के लिये। सदन अर्थात् घर। '**पहिरयौ परायौ वस्त्र**' अपना वस्त्र भूल गया और किसी का ले लिया। पछेड़ी-वछेड़ी या कोट। '**पहिरयौ परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है।**' वह वस्त्र है किसी का, परन्तु (अपने) बदले किसी का लिया। अपना हाथ में नहीं आया, वह ले लिया। यह मेरा वस्त्र है। अपना हाथ नहीं आया। यही मेरा है, ऐसा कहते है। '**जैसैं कोऊ जन गायौ धोबीकै सदन तिन, पहिरयौ परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है। धनी देखि कह्यौ भैया यह तौ हमारौ वस्त्र**' उस वस्त्र का स्वामी आया। ओढ़कर सो रहा था। चद्दर खींची। भाई! मेरा नाम है, देख इसमें छोर पर। आहाहा! पछेड़ी मेरी है।

कोट को करते हैं न पीछे निशानी ऐसी। एस.वी., फलाना, ढिंकना। एस.वी. दूसरे भी ऐसे एस.वी. दूसरे बहुत हों न। आहाहा! वह कहे 'देख भैया! तूने बिना देखे (ले लिया)।' मालिक आया, वह धोबी के यहाँ गया। धोबी को कहे 'मेरा वस्त्र?' अभी एक व्यक्ति ले गया, वह तुम्हारा लगता है। तब चलो। जाकर उसके घर में, देखो, इस वस्त्र पर मेरा नाम है। मेरा यह निशान। '**भैया यह तौ हमारौ वस्त्र, चीन्हैं पहिचानत**' उसके लक्षण से देख। यदि तुझे बराबर बाहर में बैठता नहीं, ओढ़ने में बहुत छोटी है, यह.... ऐसी है। फलाना है, ढींकणा है। ऐसे लक्षण... '**भैया यह तौ हमारौ वस्त्र, चीन्हैं पहिचानत**' उसके लक्षण से देख। जाना कि ओहोहो! यह वस्त्र मेरा नहीं। दृष्टि में त्याग हो गया। ओढ़े हुए पड़ा है तो भी अब त्याग हो गया। इसी प्रकार आत्मा में क्या है, यह बात कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २८, फाल्गुन शुक्ल २, शनिवार, दिनांक २७-२-१९७१
जीवद्वार, पद—३२, ३३, ३४

(समयसार) नाटक, बनारसीदास (कृत)। उसका जीवद्वार अधिकार। आये हैं, मेरठवाले आये हैं? वे हिन्दी कहते थे न। मेरठ, मेरठ। नहीं आये? वे आयेंगे। वे कहें, हमारे (लिये) हिन्दी करना... यह समयसार नाटक का जीवद्वार अधिकार। कैसा जीव है कि उसे मानने, अनुभव करने से धर्म की पहली दशा समकित होती है? उसकी व्याख्या है। अर्थ है न ३२ कलश (पद्य) का।

जैसे कोई मनुष्य धोबी के घर जावे—धोबी के घर गया। **दूसरे का कपड़ा पहनकर अपना मानने लगे।** कपड़ा दूसरे का था, परन्तु उसने अपना कोट जानकर ले लिया। **परन्तु उस वस्त्र का मालिक देखकर कहे कि यह तो मेरा कपड़ा है।** वस्त्र का जो मालिक था, वह धोबी के यहाँ गया। 'भाई! मेरा वस्त्र यहाँ कहाँ है? इसमें नहीं है, भाई!' वह कोई ले गया है अभी, वहाँ हो तो। वहाँ देखे तो कपड़ा उसका था। वह ओढ़कर सो रहा था। पहनकर या चाहे जो। **तो वह मनुष्य वस्त्र का चिह्न देखकर त्यागबुद्धि करता है।** अरे! यह वस्त्र मेरा नहीं। उसमें चिह्न होते हैं न सबके। क्या कुछ नाम सब पीछे लगाते हैं न कोट के, पछेड़ी के।

मुमुक्षु : पट्टी लगायी हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : पट्टी लगायी हो। कितने ही पट्टी लगाते हैं।

मुमुक्षु : धोबी का मार्का।

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्का। वह फिर धोबी (करता है)। यह तो मनुष्य करे अपना। ऐसा कि दूसरे ने देखा कि यह वस्त्र तो भाई मेरा है। छूकर देख, यह लक्षण मेरे हैं सब नाम लिखे हुए, किये हुए। उसने ओढ़ा है तो भी छोड़ दिया, दृष्टि में से छूट गया (कि) वस्त्र मेरा नहीं। दृष्टान्त हैं।

उसी प्रकार कर्मसंयोगी जीव' क्या कहते हैं? यह भगवान आत्मा तो आनन्द और ज्ञान की मूर्ति है। परन्तु कर्म के संयोग से उसमें जो पुण्य-पाप के विकल्प और

राग होता है, वह आत्मा की चीज़ नहीं। यह स्त्री-पुत्र, परिवार, पैसा, मकान तो जड़ के हैं, वे कहीं आत्मा के नहीं। बराबर होगा ? दूर रहा। आहाहा ! यहाँ तो भगवान परमेश्वर तीर्थंकरदेव कहते हैं, 'भाई ! तुझे तेरे लक्षण की खबर नहीं। तू तो ज्ञान और आनन्द लक्षण से लक्षित तत्त्व है। यह शरीर, वाणी, मन, ये दूसरे तत्त्व जड़, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार—यह तो परतत्त्व हैं। वह तो कर्म के संयोग से अन्तर और बाह्य आनेवाली उपाधि है। यह क्या कहा ? कर्म के संयोगी जीव ऐसा। **परिग्रह के ममत्व से विभाव में रहता है।**

एक तो अघातिकर्म है, उसके कारण से यह पैसा, शरीर, यह सब स्त्री, पुत्र निमित्त कर्म के संयोग से दिखते हैं। अन्दर में घातिकर्म के संयोग से पुण्य और पाप और हीन ज्ञान की दशा आदि दिखती है, वह वास्तविक आत्मा की नहीं। **विभाव में रहता है।** अनादिकाल से विकल्प शुभ और अशुभराग, पुण्य और पाप के वर्तमान होने वाले भाव—वह मैं हूँ, ऐसा इसने माना है। जैसे किसी का वस्त्र (स्वयं) ओढ़कर अपना माना है। बराबर होगा यह ? यह सब लड़के सब किसके ? लड़के, लड़के के ? अरे यह !

मुमुक्षु : लड़के थे कब जीव के ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! भाई ! तुझे खबर नहीं। तुझमें क्या है और तुझमें क्या नहीं ? तुझमें आनन्द और ज्ञानस्वरूप वह तू और आत्मा कहलाता है। अन्तर के कर्म के सम्बन्ध से विभाव परिणाम पुण्य और पाप के होते हैं, वह तेरी चीज़ नहीं। वह तो क्रम-क्रम से बदलती संयोगी उपाधि है। आहाहा !

और बाहर की यह संयोगी उपाधि शरीर शरीर वाणी और यह सब... वह तो शरीर, शरीररूप होकर रहा है, कहीं तुझरूप होकर रहा नहीं। वह तो जड़ होकर रहा है या तुझरूप होकर रहा है ? लक्ष्मी आदि है, वह तो जड़रूप होकर रही है। वह कहीं तुझरूप होकर रही नहीं और तू उसरूप होकर रहा (नहीं)। बराबर है ? ...यह वस्तु ऐसी कठिन है। ऐई !

मुमुक्षु : समझता है तो भी....

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची, कहते हैं यह। यह समझे बिना हल आवे ऐसा नहीं है। आहाहा ! जन्म-मरण के चौरासी के अवतार इसने सहे और किये, भगवान

ने जाने। ऐसे अवतार अनन्त बार इसने किये, उसके कारण यह दु:खी है। समझ में आया?

कहते हैं, '**शरीर आदि को अपना मानता है—**इस शरीर को अपना मानता है। पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उन्हें अपना मानता है, वे इसके नहीं हैं। **परन्तु भेदविज्ञान होने पर....** आहाहा! 'अरे! मैं तो आत्मा हूँ। मेरा स्वरूप तो शुद्ध आनन्द और घन—ज्ञानघन है। चिद्घन, वह मेरा स्वरूप है आनन्दघन। वह मैं हूँ कि जो स्वरूप मुझसे भिन्न नहीं हो सकता। यह पुण्य और पाप के विकल्प, शरीर, वाणी, मन और पैसा आदि, लक्ष्मी आदि, वह तो जगत की संयोगी चीज़ें हैं। उसे अपनी माना था, वही मिथ्यात्व और अनन्त संसार का कारण था।' कठिन काम! परन्तु जब भेदविज्ञान होता है... अर्थात् कि तीर्थंकरदेव परमेश्वर की वाणी के सुनने से... भगवान ने ऐसा कहा। 'भाई! तेरा स्वरूप तो चैतन्य शुद्ध ज्ञान का घन है। अन्तर्मुख देख तो तेरा स्वरूप तो पुण्य-पाप के विकल्प और राग से रहित है, वह तेरी चीज़ है।' कहो, समझ में आया? तेरी नहीं, उसे तूने (तेरी) माना है, तेरी है उसे तूने (तेरी) माना नहीं। आहाहा! अनन्त काल से (भटका है)। समझ में आया?

शरीर आदि को मानकर... **परन्तु भेदविज्ञान होने पर जब निज-पर का विवेक हो जाता है।** स्वयं आनन्द और ज्ञान स्वरूप है और पुण्य-पाप का राग और विकल्प, वह विभाव और पर है। शरीर तो पर है ही, वह तो जड़ है। यह तो खबर पड़ती नहीं लोगों को? जीव निकल जाये और यह तो शरीर (के) रजकण पड़े रहे। राख होकर उड़ जाते हैं। यह तो जड़—अजीव है। वह कहाँ तेरा है और कहाँ तेरा होकर आया है? वह तो जड़ होकर आया है। आहाहा! कठिन! समझ में आया?

परन्तु कुछ निरोगी शरीर हो और पाँच-पचास लाख, करोड़-दो-चार करोड़ हों। पाँच-पचास लाख तो साधारण के लिये। करोड़-दो करोड़ हों, पाँच करोड़ रुपये हों तब कुछ, आहाहा! परन्तु भगवान! वह तो जड़ के हैं और तेरे कहाँ से आये?

मुमुक्षु : घर में आये।

पूज्य गुरुदेवश्री : घर में कहाँ आये थे? घर में आये तो आत्मा में घुस जाये। घर

में आवे तो आत्मा में घुसकर वे परमाणु अरूपी हो जायें। वे तो रूपी होकर रहे हैं, आत्मा में आये नहीं।

मुमुक्षु : तिजोरी में तो आये न या उसमें भी नहीं आये?

पूज्य गुरुदेवश्री : तिजोरी किसे बाप की थी? तिजोरी। आहाहा!

भगवान! तेरी तिजोरी में तो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता पड़ी है, उसे आत्मा कहते हैं। उसे निजस्वरूप और निजनिधान कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह निज-पर का जब विवेक होता है, तब **रागादि भावों से भिन्न...** शरीर और कर्म तो भिन्न हैं, उनके कारण से रहे हैं और खड़े हैं। परन्तु तुझे कर्मसंयोग के लक्ष्य से (उत्पन्न), जो स्वभाव में नहीं थे ऐसे शुभ-अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय भोगवासना—यह दोनों भाव उपाधि—मैल और दुःख और तेरे नहीं। स्वरूपचन्दभाई! यह स्वरूप के नहीं। आहाहा! लोग बाहर से मानकर बैठे हैं। यह दया पालते हैं और व्रत पालते हैं और भक्ति करते हैं और पूजा करते हैं तो धर्म हो जायेगा। अरे भगवान! बापू! तेरी चीज़ भिन्न है, भाई! समझ में आया?

'अरे रे! साचा वारि रे अेने न मळे।' लिखा है न भाई ने। उस पर्चे में दिया है न।

मुमुक्षु : भजन में।

पूज्य गुरुदेवश्री : भजन का पर्चा। उसमें रमेशभाई ने लिखा है। आहाहा! मन के मृग दौड़े और हाँफे। मृगजल के पानी में पानी है, ऐसा मानता है। 'अरेरे! अेने साचा वारि—पानी न मळे।' इसी प्रकार अनादि का अज्ञानी मृगजल में पानी जैसे पुण्य और पाप के राग और फल शरीर आदि—उनमें अपनापन खोजने जाता है, परन्तु उनमें अपनापन है नहीं। आहाहा! परन्तु पैसा-बैसा हो तो दान हो, मन्दिर बनाया जाये। कहो, इससे कहीं लाभ होगा या नहीं?

मुमुक्षु : यह निर्णय करने की आवश्यकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई चन्द्रकान्तभाई! ले, यह तो चक्कर कहते हैं। ऐई पोपटभाई! पास में पैसे थे और यह मकान होता है, होगा। यह तीनों लड़के आये हैं वहाँ से। कुछ

अहमदाबाद काम से आये होंगे, ... दर्शन कर आवें।

अरे! यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तेरा क्षेत्र तो यहाँ है न! असंख्य प्रदेशी प्रभु आत्मा, वह तेरा क्षेत्र और उसमें अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वह तेरा भाव। उसे जब तक पहिचानकर प्रतीति और अनुभव न करे, तब तक चौरासी के अवतार के भटकना, रुलना तेरा नहीं मिटेगा। आहाहा! समझ में आया? प्रकाशदासजी! क्या करना इसमें?

मुमुक्षु : बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बराबर है? आहाहा! कहते हैं, **रागादि भावों से भिन्न अपने निज स्वभाव को ग्रहण करता है।** धर्मी उसे कहते हैं, सुखी उसे कहते हैं, लक्ष्मीवान उसे कहते हैं कि जो आत्मा के आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी अपनी मानकर विकार को दृष्टि में से छोड़ देता है। उसे धर्मी कहते हैं और उसे सुखी कहते हैं। बाकी सब हैरान, हैरान यह सब करोड़पति और दुःखी, दुःखी हैं। बेचारे। बेचारे हैं, हों, भिखारी हैं। अरे अरे कठिन!

मुमुक्षु : ज्ञानपति मिटकर करोड़पति हो तो ऐसा ही होगा न।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भगवान आत्मा करोड़पति है। करोड़ अर्थात् जड़ और जड़ का पति जड़ है। मलूकचन्दभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : आज मलूकचन्दभाई को पसन्द किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : इनके दो पुत्रों के पास पाँच करोड़ रुपये हैं, इसलिए जरा स्मरण किया। यहाँ आनेवाला है अभी, न्यालभाई आनेवाला है। नहीं? कोई कहता था। यहाँ इसके पिता के नाम से भी आयेगा सही यहाँ। स्विट्जरलैण्ड है न, न्यालभाई इनका बड़ा पुत्र। छोटा वहाँ है तुम्हारे मुम्बई। पूनमचन्द, उसके पास तीन करोड़ हैं। इसके पास दो करोड़ हैं। पाँच करोड़ इनके पुत्रों के पास, हों! वह इनको नहीं मिलते।

मुमुक्षु : इनके भी नहीं ऐसा कहते हो, फिर इनके....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वे मानते हैं मेरे। यह तो ऐसा न माने कि मेरे हैं। लड़के मेरे हैं, ऐसा मानते हैं।

मुमुक्षु : वह भी नहीं माने।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यहाँ है ही नहीं। महेन्द्रभाई आत्मा में है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान! तेरे....

मुमुक्षु : प्रेम तो है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रेम, वह तो राग है, राग है, वह तो दुःख है, ज्वाज्ल्यमान अग्नि है। आहाहा! अशुभराग, वह तो ज्वाजल्यमान भट्ठी। यह शुभराग....

मुमुक्षु : यह छोटी भट्ठी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है तो भट्ठी—कषाय अग्नि है। आहाहा! समझ में आया? शुभ और अशुभराग... भले (शुभभाव) दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा का हो, परन्तु वह है तो कषाय अग्नि, हों! वह तेरा स्वरूप नहीं। भगवान! तुझे खबर नहीं। इस भट्टी से सुलग रहा है, परन्तु मानता है कि वे मेरे। ...यह वह कुछ गजब है न! कुछ पागल का प्रमाण होगा? पोपटभाई! यहाँ तो ऐसी बात है, भाई!

परमात्मा कहते हैं, **भिन्न अपने निज स्वभाव को ग्रहण करता है।** शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आनन्दस्वरूप वह मैं, तब वह सुखी हो और तब उसे धर्मी कहा जाये। पुण्य-पाप के भाव और उसके फलरूप से बन्धन और उसके फलरूप से संयोगी (चीज़)—वह चीज़ मेरी नहीं, मुझमें नहीं, मेरी नहीं। मुझे और उसे कुछ सम्बन्ध नहीं। मेरा स्वभाव चैतन्यस्वभाव राग से और शरीर से निराला है, ऐसा जो अन्तर में ग्रहण करे और राग आदि को दृष्टि में से छोड़े कि मेरी चीज़ नहीं, उसे यहाँ आत्मप्राप्त कहते हैं, उसे धर्मी कहते हैं, उसे शुद्ध चैतन्य की लक्ष्मी का स्वामी कहते हैं। आहाहा! कठिन काम भाई! तीर्थंकरदेव परमेश्वर इन्द्रों के समक्ष में धर्मसभा में ऐसा फरमाते थे, वह यह मुनि यहाँ कहते हैं। आहाहा! ३०वाँ श्लोक। नीचे पद है न!

सर्वतः स्व-रस-निर्भर-भावं चेतये स्वय-महं स्व-मिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि।।३०।।

देखो, ऊपर श्लोक का (पद)। प्रकाशदासजी! वह कहा था अहोनिधि, वह आया देखो। ३३ (पद)

★ ★ ★

काव्य - ३३

निजात्मा का सत्य स्वरूप (अडिल्ल छन्द)

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।
अपने रससौं भर्‌यौ आपनी टेक हौं।।
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है।
सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है।।३३।।

शब्दार्थ:-टेक=सहारा। मम=मेरा। सिंधु=समुद्र।

अर्थ:-ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि मैं सदैव अकेला हूँ, अपने ज्ञान-दर्शन रस से भरपूर अपने ही आश्रय हूँ। भ्रमजाल का कूप मोहकर्म मेरा स्वरूप नहीं है! नहीं[1] है!! मेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्यसिन्धु है।।३३।।

काव्य-३३ पर प्रवचन

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।
अपने रससौं भर्‌यौ आपनी टेक हौं।।
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है।
सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है।।३३।।

आहाहा! '**कहै विचच्छन पुरुष**' धर्मी जीव उसे कहते हैं, सुख के पंथ में पड़ा हुआ उसे कहते हैं। आहाहा! दु:ख के पंथ को जिसने विसार दिया है। आहाहा! पुण्य-पाप के विकल्पों का पंथ, वह तो दु:ख का पंथ है। प्रतिकूल संयोग, वह नहीं, प्रतिकूल संयोग तो बाह्य परचीज़ है। अन्दर में पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव, वही प्रतिकूल और वही दु:खरूप है। उसे जिसने विसार दिया है और जिसने आत्मा... **(ज्ञानी) पुरुष विचार करता है कि मैं तो सदैव अकेला हूँ**। मेरे—मेरे स्वभाव में शुद्धता, चैतन्यता, आनन्दता पड़ी है। आहाहा! भारी कठिन काम। **मैं सदैव अकेला हूँ**। मैं तो चैतन्य...

१. यहाँ दो बार 'नहीं है' कहकर विषय का समर्थन किया है।

अकेला कैसा? **अपने ज्ञानदर्शनरस से भरपूर अपने ही आश्रय हूँ।** सहारा कहा है न सहारा। वह आश्रय लिया यहाँ। मैं तो जाननेवाला-देखनेवाला, राग से लेकर पूरी दुनिया का मैं तो जानने-देखनेवाला हूँ। वह चीज़ मेरी है, ऐसा माननेवाला मैं नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम है, भाई!

'कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।' अपने रससौं भर्‌यौ' निजस्वरूप भगवान आत्मा में तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द पड़ा है। वह मुझे सहारा और वह मुझे आश्रय है। राग और पुण्य, वह मेरा सहारा नहीं, वह मेरा आश्रय नहीं। आहाहा! छह खण्ड के राज्य में पड़ा हो भरत चक्रवर्ती, ऋषभदेव भगवान के पुत्र, जिन्हें ९६ हजार रानियाँ थीं, ९६ करोड़ सैनिक। यह मैं नहीं, हों! यह नहीं। मैं हूँ, वहाँ यह नहीं और यह है, वहाँ मैं नहीं। समझ में आया? उसे भेदज्ञान कहा जाता है और इसका नाम समकिती और धर्मी कहा जाता है। बाकी व्रत और दम और सब तपस्या और भक्ति आदि करे, परन्तु वह क्रिया राग है, उसे अपनी मानता है और उससे मुझे धर्म होता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा! समझ में आया या नहीं? यहाँ ऐसा है यह। आहाहा!

अपने ज्ञान दर्शन रस,... जानन स्वभाव, देखन—दृष्टा स्वभाव, आनन्द स्वभाव ऐसे निजरस—निजशक्ति—निजस्वरूप। भरपूर... वापस परिपूर्ण है। आहाहा! जिसका स्वभाव जानना, देखना और आनन्द है, उस स्वभाव में अपूर्णता और विपरीतता कैसे होगी? देखो, यह सम्यग्दर्शन के विषय का तत्त्व। जो जीव ऐसा मानता है, ऐसा जीव माने, तब उसने जीव को माना, अनुभव किया, प्राप्त किया कहा जाता है। आहाहा! कहो, भीखाभाई! बहुत आगे जाना है यह। हीराभाई कहीं रह गये, लक्ष्मी कहीं रह गयी। अरे... अरे!

मुमुक्षु : आपने तो राग भी निकाल दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो राग है शुभ, तीन लोक के नाथ भगवान परमेश्वर की भक्ति का राग, वह तेरा नहीं।

मुमुक्षु : उसे भ्रमकूप कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : भ्रम का कुँआ है वह राग तो। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

जगत ने बाहर से मनवा लिया है न! बहुत पाप करता हो फिर छोड़ने के लिये यहाँ आवे और पाँच-पच्चीस हजार खर्च करो, अमुक कराओ, दान दो, तुम्हारे धर्म होगा। धूल भी नहीं धर्म, सुन न अब! मार डालेंगे तुझे उसमें। ऐई! वह भ्रमणा का कुँआ है। राग आया शुभ और उसमें तुझे कल्पना हुई कि यह राग मेरा कर्तव्य है और यह मुझे लाभदायक है, (वह) मिथ्यात्व का कुँआ है, ऐसा कहते हैं। **भ्रमकूप है** ऐसा है न! भ्रम—भ्रमणा का कुँआ है वह। भगवान आनन्द का समुद्र है। आहाहा! क्या कहते हैं, समझ में आया? **भरपूर अपने ही आश्रय—**मैं तो मेरे स्वरूप के आश्रय में हूँ। मुझे कोई पुण्य-पाप का विकल्प, शरीर, वाणी, लक्ष्मी का आश्रय मुझे नहीं। वह मेरा आश्रय नहीं, वह तो परचीज़ है। आहाहा! समझ में आया?

भ्रमजाल का कूप मोहकर्म मेरा स्वरूप नहीं है.... अर्थात् क्या कहा? चैतन्य भगवान आनन्द और ज्ञानस्वभावी वस्तु, ऐसा जानने से, मानने से, धर्म होने पर उसे शुभभाव भी भ्रमणा का कुँआ लगता है। ...यह भरमा गया है कि शुभ है न, शुभ मेरा है न, मुझे लाभ है न! ऐसा मिथ्यात्व का कुँआ है, शुभ को एकता मानने से, ऐसा कहते हैं। आहाहा! शुभ हों, अशुभ की तो बात ही क्या करना? वह व्यापार और व्यापार का धन्धा और उसमें पाँच-दस लाख मिले। सवेरे उठे वहाँ, हे भगवान! आज चार होओ... शंकर का... क्या कहलाता है? सामने लकड़ा....

मुमुक्षु : गल्ला।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुकान का गल्ला, वन्दन करे न गल्ले को। आज भरपूर भरेगा। किसकी? होली यह पैसे की। अरे! होली यह सब... उस लकड़ी को वन्दन करे, गल्ला होता है न गल्ला। आज अच्छा दिन जाओ। अच्छा किसे कहना? सुन न! धूल मिली पाँच-दस लाख की, वह अच्छा कहलाये? किसने कहा तुझे ऐसा? तुझे भूत लगा है। समझ में आया?

कहते हैं... यह शब्द क्या है? '**मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है**। अर्थात् मोहकर्म जड़ तो ठीक, परन्तु उसके लक्ष्य से होनेवाला विकारीभाव शुभ या अशुभ, वह तो भ्रमणा है, वह मेरा है—ऐसा माने, वह भ्रमणा का कुँआ है। भ्रम में पड़ा है, हों!

प्रशस्त राग तो है न।... प्रशस्त राग है न, परन्तु प्रशस्त राग है, वह राग विकार, दु:ख है। भगवान की भक्ति में राग है न, उसमें कहाँ हमारा उपयोग कषायवाला है? हमारा लक्ष्य तो भगवान के ऊपर है। हमारा लक्ष्य कहाँ स्त्री-पुत्रों पर है? ऐई कान्तिभाई!

मुमुक्षु : अपने को चूक गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने को चूक गया है। अकेला शुभराग में जुड़ जाता है, भ्रमणा का कुँआ है वह। आहाहा! भारी कठिन बात, भाई! जगत को वीतराग का सत्य तत्त्व सुनना मुश्किल हो गया है, उसे रुचना और सुहाना तो कहाँ रह गया? आहाहा! जिन्दगी चली जाती है, भाई! आयुष्य की जितनी अवधि है, तत्प्रमाण शरीर रहेगा। तेरे रखने से नहीं रहेगा। यह छूटने का समय निश्चित होकर आया हुआ है। आहाहा! मृत्यु के समीप जाता है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा के समीप का जहाँ भान होता है, उसे राग का समीपपना अपना है, ऐसा भासित नहीं होता। समझ में आया? उसे धर्म कहते हैं। समझ में आया?

भ्रमजाल का कुँआ—मोहकर्म। आहाहा! दो बातें ली है इसमें। एक ओर मोहकर्म से उत्पन्न हुए विकारभाव ऐसे पुण्य-पाप। एक ओर भगवान आनन्द का धाम—आनन्द का निधान। अब जहाँ जाना हो वहाँ जा।

मुमुक्षु : निधान में ही जाये न।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भारी मिठास लगे, मार डाला। हम व्रत पालते हैं, अपवास करते हैं, वर्षीतप किये। राग की मन्दता हो कदाचित्, (परन्तु) मिथ्यात्वसहित है। आहाहा! मार डाला है तुझे। वे भी मनावे ऊपर बैठे हुए। भ्रमणा का कुँआ है, मर जायेगा उसमें, सुन न! वह विकल्प की वृत्तियों की वासना, वह आत्मा नहीं। आत्मा तो ज्ञान और आनन्द का घन है। उसकी अन्तर की ऐसी एकाग्रता वह आत्मा की क्रिया है। समझ में आया? यह बहिर्मुखी वृत्तियाँ सब मेरी है, ऐसा हो जाता है न, वह भ्रम का कुँआ है, कहते हैं। भ्रम हो जाता है तुझे, भाई! आहाहा! समझ में आया?

'सुद्ध चेतना सिंधु' देखो, भाषा प्रयोग की है। यह पुण्य और पाप की वृत्तियाँ, उनसे रहित... ७२ वीं गाथा में आता है न! 'यह तो पीपर की लाख है।' भाई ने डाला

है, रमेशभाई ने। पीपर का वृक्ष होता है न, उसमें लाख हो वह तो पीपर का नाश करती है। इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का धाम-वस्तु है। उसमें पुण्य और पाप तो लाख समान है, आत्मा की शान्ति का घात करते हैं। समझ में आया? उसने डाला है उसमें, हों! कागज है न उसमें कहीं होगा उसमें। कविता का कागज होगा कहीं। सबको दिये थे, देखो!

यह लिखा, देखो, 'जेम खो पीपर तणो घात ज बने रे लोल।' खो अर्थात् लाख। लाख हो वहाँ। जैसे लाख पीपर की लाख। खो शब्द प्रयोग किया है समुच्चय में। 'जेम खो पीपर तणो घात ज बने रे लोल, अेम आस्रव आ जीवने जणाय, जुदे जुदा ज अनादिथी जाणजो रे लो।' यह आस्रव है, पुण्य और पाप के भाव नये आवरण के कारण हैं। चाहे तो भगवान की भक्ति हो या पंच महाव्रत के परिणाम हों, नये आवरण का कारण है, धर्म का कारण है नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया? भारी कठिन काम, भाई! आहाहा! है?

'वाईना वेगे रे अे तो आवतां रे लोल।' वाई आती है न वाई। वाई नहीं आती? झाग आ जाये। उसी प्रकार पुण्य और पाप के भाव तो मिर्गी के वेग जैसे हैं। आहाहा! (समयसार गाथा) ७४। 'शुभ ने अशुभभाव अेथी जुदो आतमदेव जाणजो रे लोल। शुभ ने अशुभभाव अेथी जुदो आतमदेव जाणजो...' लड़कों ने बनाया यहाँ का सुनकर।

मुमुक्षु : बींछिया में सुना हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम थे? यह बींछिया में कहा था। थे भाई। थोड़ा वह लम्बा है, उसका बहुत। देखो वहाँ आया था न पहला।

'मारग साधुना जगने दोह्यलां रे लोल, दोह्यली जोने आतम केरी वाट, अे तो जीवडा मानवभव दोह्यला रे लोल, मानवभव जगमां दोह्यलो रे लोल। दुर्लभ दुर्लभ जैनी अवतार, अेनी साथे रे सद्गुरु छाया दोह्यली रे लोल।' सच्चे ज्ञानी मिलना, सुनना मिले, यह दुर्लभ है, कहते हैं। पैसे करोड़ों-अरबों, राज मिले, परन्तु सच्ची बात कान में पड़ना बहुत दुर्लभ है। भाई! यह लड़के ने सुनकर बनाया है। प्रेमचन्दभाई का है पुत्र का पुत्र—पौत्र, घाटकोपर है। वह भजन मण्डली, नहीं? अपने भजन मण्डली नहीं की?

घाटकोपरवालों ने। है, यह तो पोपटभाई के लड़के को कहता हूँ। खबर है या नहीं? उसे यह कहता हूँ। पैसे की खबर है तो इसकी खबर है या नहीं? वहाँ एक भजन मण्डली है। है न? आहाहा!

'सरोवर कांठे रे मृगला तरस्यां रे लोल।' अरे! चैतन्य सरोवर... यह पानी के सरोवर के किनारे प्यासे तड़पे और कहाँ जाते हैं? 'दोडे हांफी झांझवा जलनी काज, अरेरे! साचां वारि अेने ना मळे रे लोल।' मृगजल के जल में मृग दौड़ मरते हैं, परन्तु वहाँ कोई पानी नहीं मिलता। इसी प्रकार पुण्य और पाप के फल और पुण्य-पाप के भाव मृगजल का पानी है। उसमें दौड़कर धर्म हो, ऐसा मूर्ख मानता है। स्वरूपचन्दभाई!

यह पत्र आया है या नहीं तुमको? नहीं मिला? ठीक। यहाँ है न एक। कितने हैं।

मुमुक्षु : हरिभाई के पास।

पूज्य गुरुदेवश्री : हरिभाई के पास हैं। वे देना फिर एकाध। कितने हैं?

मुमुक्षु : आठ।

पूज्य गुरुदेवश्री : आठ। कामाणी को दो। ले तो जाये यह थोड़ासा। यहाँ हैं थोड़े। आये हैं न उत्साह से। दिया न? किसका था? ले लो जिसका हो उसका, दे दो। यहाँ यह हरिभाई ने बड़ी प्रभावना की है। हजार छपाये हैं। तुमको दिया? दिया न भाई! लो, यह लो। तीनों लड़के लो, भाई! देखे तो सही अन्दर। यह तुम्हारे पिता तो पैसे का—धूल का उत्तराधिकार दे। यह दूसरा उत्तराधिकार है। यह लो। है?

'अे सरोवर कांठे रे मृगला तरस्यां रे लोल।' तीसरी लाईन है तीसरी। 'दोडे हांफी झांझवा जलनी काज, अरेरे! साचां वारि अेने नहीं मळे रे लोल।' वारि अर्थात् पानी। वह तो मिला नहीं वहाँ। मृगजल के पानी में क्या हो? खारी जमीन, सूर्य की किरणों का निमित्त, दिखे पानी जैसा। धूल भी नहीं वहाँ। इसी प्रकार भगवान आत्मा के अतिरिक्त पुण्य और पाप के विकल्प में सुख है और मुझे लाभ करेंगे, मृगजल के पानी में मृग पड़ा है। पोपटभाई!

मुमुक्षु : सच्ची बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो। 'अेम मनना रे मृगलाने पाछां वाणजो रे लोल।' इस मृगजल के पानी में कुछ नहीं है, धूल भी नहीं। 'जोडी द्यो आतम सरोवर आज, अेने मळशे आतम सुख अमुला रे लोल।' उसने ऐसा सरस रचा है। समझ में आया?

कहते हैं... यहाँ तो अधिक क्या कहूँ? '**मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप**' आहाहा! यह शुभ परिणाम मेरे, ऐसी तुझे भ्रमणा हो जाती है, ऐसा कहते हैं। प्रशस्त राग होता है न, यह तो उसे ऐसा हो गया कि यह मेरा है, हों! उसमें से मुझे.... भ्रम का कूप है। मगनभाई! आहाहा! धर्मी होने पर भी ऐसा भाव आवे सही, परन्तु उसे माने दुःखरूप और हेय। अशुभ से बचने को ऐसे शुभ का काल होवे तो होता है, परन्तु है वह राग और कषाय की अग्नि है। जगत को सत्य सुनना दुर्लभ हो पड़ा है। वीतराग का मार्ग अनादि परमेश्वर तीर्थंकर का। यहाँ गिरनार की यात्रा और सम्मेदशिखर की यात्रा, कहते हैं कि वह सब शुभभाव है।

मुमुक्षु : आप हमको ले गये थे वहाँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, भाव तो होता है, परन्तु वह दुःखरूप है किन्तु आये बिना रहता नहीं। पूर्ण वीतराग न हो तब अशुभ से बचने के लिये ऐसी स्थिति होती है, खड़ी है, परन्तु है हेय। आहाहा! अनन्त काल में ऐसे माप अन्दर से निकालना भारी कठिन है। ओहोहो! दुःखी... दुःखी... मृगजल में दुःखी ऐसे मृगजल के जल में (दुःखी है)। भगवान सरोवर आनन्द प्रभु पड़ा है, उसकी दृष्टि करता नहीं, उसके सामने देखता नहीं। जहाँ पिण्ड पड़ा है, वहाँ स्वयं उसकी परवाह करता नहीं और पुण्य और पाप के विकल्प और बन्ध, जिसमें स्वयं नहीं, जिसमें सुख नहीं, वहाँ मृगजल के जल में यह चिपटा है। कहो, भीखाभाई! आहाहा! भाई! यह सच्ची शान्ति वहाँ नहीं मिलेगी।

'**सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है**' है? वह भ्रम का कूप है। यह राग मेरा, मेरा ऐसी तुझे भ्रमणा हो गयी है। प्रशस्त तो है न, शुभ तो है न!

मुमुक्षु : अशुभ से तो बचे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुभ से बचे हैं, परन्तु मिथ्यात्व है, वहाँ अशुभ से भी बचा नहीं। मिथ्यात्व है, वह बड़ा पाप है। आहाहा! इस शुभ से मुझे लाभ होता है, ऐसा

मिथ्यात्वभाव पड़ा है, वहाँ अशुभ से बचा कहाँ है? मिथ्यात्व बड़ा पाप है, उसकी तो खबर नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह तो भारी कठिन वीतराग। वीतराग परमेश्वर कहे, 'अरे! मेरा सुनने बैठा, परन्तु तुझे विकल्प है, हों! आवे सही, परन्तु विकल्प है, ध्यान रखना।'

मुमुक्षु : उसमें फँस नहीं जाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें फँस जाना नहीं। भ्रम है, भटक जायेगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पण्डितजी! आहाहा! प्रकाशदासजी!

बापू! प्रकाश का पिण्ड प्रभु है, वह तुझमें एक कण अशुभ का भी शोभता नहीं। आहाहा! उसका मार्ग अलग है। '**सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है।**' धर्मी और विचक्षण समकिती ऐसा मानता है (कि) हम तो ज्ञान के—जानन स्वभाव के समुद्र हैं। जिसमें से जानना... जानना... जानना... जानना निकला करे, परन्तु कम नहीं हो। राग और पुण्य निकाले, वह आत्मा के स्वभाव में नहीं। आहाहा! कठिन बातें, भाई! ऐई मुनीमजी! ऐसा मार्ग है। गजब! अब गिरनार की यात्रा करे, मानस्तम्भ करे, तो कहे, शुभभाव है, ले।

मुमुक्षु : वह धर्म है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब मेहनत करते हैं वहाँ मानस्तम्भ के लिये। आहाहा! विशाल पंचकल्याणक करे, गजरथ निकाले, करोड़ रुपये खर्च करे। अब खर्चे कौन? सुन न! वह तो जड़ है। जड़ का स्वामी होकर तू बैठे तो वह तो मिथ्यात्व लगता है। आहाहा! मोह की भूतावल है सब। समझ में आया? '**मेरा स्वरूप तो शुद्ध चेतना सिंधु है।**' आहाहा! धर्मी जीव की दृष्टि तो आत्मा के आनन्द के ऊपर होती है। अर्थात् ज्ञान का समुद्र प्रभु आत्मा, जानने के स्वभाव का सिन्धु—सागर, उसमें उसकी दृष्टि होती है, उसे अपना मानता है। आहाहा! भारी काम परन्तु। जगत से तो बहुत उल्टा लगे, हों! लो, यह ३३वाँ हुआ।

३१वाँ कलश नीचे है।

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके,
स्वयमय-मुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटित-परमार्थै-र्दर्शन-ज्ञानवृत्तैः,
कृत-परिणति-रात्मा-राम एव प्रवृत्तः।।३१।।

इसका ३४वाँ पद। यह ३१वाँ पद्य है उसका यहाँ हिन्दी का पद्य है। वह संस्कृत का पद्य (कलश) है। ३४ है न।

★ ★ ★

काव्य - ३४

तत्त्वज्ञान होने पर जीव की अवस्था का वर्णन (सवैया इकतीसा)

तत्त्वकी प्रतीतिसौं लख्यौ है निजपरगुन,
दृग ज्ञान चरन त्रिविधि परिनयौ है।
विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ,
आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है।।
कहत बनारसी गहत पुरुषारथकौं,
सहज सुभावसौं विभाव मिटि गयो है।
पन्नाके पकायें जैसैं कंचन विमल होत,
तैसैं सुद्ध चेतन प्रकास रूप भयो है।।३४।।

शब्दार्थः-प्रतीति=श्रद्धान। विशद=निर्मल। विराम (विश्राम)=चैन। सोधि=खोज करके। पन्ना के पकायें जैसैं कंचन विमल होत=अशुद्ध सोने के छोटे छोटे टुकड़े करके कागज के समान पतला पीटते हैं, उन्हें पन्ना कहते हैं। उन पन्नों को नमक तेल आदि की रसायन में अग्नि में पकाते हैं तो सोना अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, इस रीति से शोधा हुआ सोना नेशनल पाटला आदि से बहुत उच्चतम होता है।

अर्थः-तत्त्वश्रद्धान होने से निज-पर गुण की पहिचान हुई जिससे अपने निज गुण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में परिणमन किया है, निर्मल भेदविज्ञान होने से उत्तम

विश्राम मिला और अपने स्वरूप में ही अपना सहायक खोज लिया। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि इस प्रयत्न से स्वयं ही विभाव परिणमन नष्ट हो गया और शुद्ध आत्मा ऐसा प्रकाशवान हुआ जैसे रसायन में स्वर्ण के पत्र पकाने से वह उज्ज्वल हो जाता है।३४।।

काव्य-३४ पर प्रवचन

तत्त्वकी प्रतीतिसौं लख्यौ है निजपरगुन,
दृग ज्ञान चरन त्रिविधि परिनयौ है।
विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ,
आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है।।
कहत बनारसी गहत पुरुषारथकौं,
सहज सुभावसौं विभाव मिटि गयो है।
पन्नाके पकायें जैसैं कंचन विमल होत,
तैसैं सुद्ध चेतन प्रकास रूप भयो है।।३४।।

तत्त्व की प्रतीति—श्रद्धा। 'मैं तो आनन्द और ज्ञान स्वरूप त्रिकाल हूँ। पुण्य-पाप के विकल्प और उनके फल में मैं कहीं नहीं।' ऐसी आत्मा के शुद्धस्वरूप की प्रतीति, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा! सच्ची प्रतीति। जैसा है, वैसा आत्मा; जैसा पूर्ण शुद्ध है, ऐसा आत्मा ज्ञान में लेकर प्रतीति की, उसे सच्ची प्रतीति कहा जाता है। यह उसकी सच्ची रीति और सच्चे पक्ष में चढ़े हुए का यह मार्ग। आहाहा! **'तत्त्वकी प्रतीतिसौं लख्यौ है निजपरगुन' तत्त्वश्रद्धान होने से निज-पर गुण की पहिचान हुई।** आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, वह निज और शुभ-अशुभ विकल्प, वे पर विभाव। इस तत्त्व के भान से दोनों की भिन्नता का भान हुआ। आहाहा!

'दृग ज्ञानचरन त्रिविधि परिनयौ है।' देखो, यहाँ तो सम्यग्दर्शन होने पर तीनों ही परिणमित हुए, ऐसा कह दिया। तत्त्व की प्रतीति कही है न उसमें। आहाहा! मैं ज्ञान हूँ, ज्ञायकभाव शुद्ध चेतना का सिन्धु हूँ—ऐसे स्वरूप-सन्मुख की दृष्टि होने पर, श्रद्धा,

ज्ञान और चारित्र तीनों ही परिणमन होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अर्थ में लिया है कि भाई यह तो तुम अकेले सम्यग्दर्शन की व्याख्या में यह तीन कहाँ डाले? कहे, तीनों आ जाते हैं, आ जाते हैं। सम्यग्दर्शन होने पर, वस्तु के परिपूर्ण तत्त्व की श्रद्धा-अनुभव में, ज्ञान, श्रद्धा और स्थिरता का अंश इकट्ठा होता है। अकेला सम्यग्दर्शन अर्थात् अकेली श्रद्धा अनुभव में, इतना नहीं। परन्तु उसके अन्दर स्थिरता आनन्द की दशा और अनन्तानुबन्धी के अभाव का स्वरूपाचरण भी समकिती को होता है। समझ में आया?

'**तत्त्वकी प्रतीतिसौं लख्यौ है निजपरगुन, दृग ज्ञान (चरन)**।' दृग अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान अर्थात् स्व का ज्ञान, चरण अर्थात् स्वरूप में रमणता, यह '**त्रिविधि परिनयौ**'—तीन रूप परिणमित हुआ है। आहाहा! भारी रूखी बात लगे। अधिक लोग हों न पाँच-पाँच, दस-दस हजार, उसमें ऐसी बात... क्या कहते हैं यह? यह तो सब व्यवहार उत्थापित करते हैं। व्यवहार में कुछ धर्म तो मनवाते नहीं।

मुमुक्षु : था कब कि मनावे?

पूज्य गुरुदेवश्री : इतना यह करते हैं। बेचारे कितने सवेरे से उठे, गिरनार पर्वत पर चढ़े, चार बजे थककर आवे और मुनीम का कचूमर निकाल दे। 'लाओ पानी, लाओ लकड़ी, लाओ, थककर आये हैं।'

मुमुक्षु : वह यात्रा करायी नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यात्रा, ऐसी यात्रा उसकी होती है। 'शीघ्रता करो। शाम पड़ जाती है। लाओ यह मुनीम, लकड़ी लाओ, पानी लाओ, फलाना करो।' परन्तु अब शान्ति तो रख। यह उसकी यात्रा। आहाहा! होता है शुभभाव, परन्तु उसकी मर्यादा होती है न! मेरे स्वरूप से मैं बाहर जरा गया, तब मुझे यह शुभभाव आया है। समझ में आया?

मुमुक्षु : व्यवहार संसारफल।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार स्वयं संसार उदयभाव है। उदयभाव स्वयं संसार है। आहाहा! कठिन!

'**विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ**' लो! **निर्मल भेदविज्ञान होने से उत्तम विश्राम मिला...** आहाहा! कहते हैं, शुभ और अशुभराग में रहता था, उसमें से हटकर स्वरूप की दृष्टि होने पर '**विसराम**'—विश्राम मिला। '**आछौ विसराम पायौ**'... आहाहा! निर्मल आत्मा में विश्राम मिला। पुण्य और पाप के राग में अनादि से अविश्राम—विषमभाव था। आहाहा! उससे हटकर भगवान आनन्द और ज्ञानस्वभाव में—धाम में आता है समकिती, तब उसे विश्राम मिलता है, अनादि की थकान उतर जाती है। कहो, पोपटभाई! यह विश्राम, हों! आहाहा! पाँच-पच्चीस लाख मिले, अब निश्चिन्त, अब अपने निश्चिन्त। अब चलो निश्चिन्तता है अपने को अब। लड़के कमायेंगे और अपन निश्चिन्तता से धर्म करेंगे, विश्राम (करेंगे)। वह कहीं विश्राम नहीं है।

मुमुक्षु : वह तो यहाँ ही सुनने को मिलता है। अन्यत्र तो सब कहे पैसा हो तो ही....

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा हो तो होता है। बात सच्ची।

मुमुक्षु : पैसा हो तो धर्म होता है, तो तुम मोक्ष में जाओगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं जायेगा। मोक्ष नीचे है। उसमें माना हुआ मोक्ष अर्थात् मनुष्यपना। मुक्त से रहित हो जायेगा। श्रद्धा जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ उसके फल में निगोद है। वह मक्खन चोपड़ने के लिये तुम्हारे पैसेवाले सबको ऐसा कहे। १०-२० हजार खर्च करे, पचास हजार खर्च करे, यात्रा निकाले। निकाला था न तुम्हारे कौन?

मुमुक्षु : वे यहाँ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आया है वह। उसने निकाला था न बिना पूछे।

मुमुक्षु : माफी माँग ली न आपकी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह और तो दे... यह तो बात। जानने की बात में कहाँ दिक्कत है?

मुमुक्षु : यात्रा कराओ तो मोक्ष में जाओगे। दूसरे ने समझाया, तत्प्रमाण किया उसने?

पूज्य गुरुदेवश्री : किया उसने। वह उसका मित्र मिल गया। नहीं, परन्तु आकर फिर उसे बुरा लगा।

मुमुक्षु : फिर पश्चाताप हुआ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो होता है, होता है।

मुमुक्षु : इसलिए पहले सुना हुआ नहीं यहाँ का। सुनने के बाद खबर पड़ी कि यह तो खोटा किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है शुभभाव, परन्तु वह पुण्य है, धर्म नहीं। अशुभ से बचने के लिये यात्रा, भक्ति भाव होता है। परन्तु उसे धर्म मानना और उससे मुझे धर्म होगा, बड़ा मिथ्यात्व का पाप है। समझ में आया? आहाहा!

कान्तिभाई, कान्तिभाई न? बढवाणवाले। यह हमारे किशोर का मित्र है न! किशोर नहीं? किशोर। हमारे भूपेन्द्रभाई... वह भी मित्र है। उसमें कुछ खोया है, उसने किशोर ने। आहाहा! वह तो बड़ी दुकान है वहाँ। परन्तु सब बड़ा करने जाये न मानो अब। पाँच हजार की आमदनी में से दस हजार की आमदनी मिले। धूल में भी नहीं अब। पुण्य बिना एक रजकण आवे, ऐसा नहीं है। यह पुरुषार्थ से होता है यह आत्मा का धर्म पुरुषार्थ से होता है। बाहर की लक्ष्मी प्राप्त करने का पुरुषार्थ जरा भी काम करता नहीं। 'हुनर करो हजार, भाग्य बिन मिले न कोढ़ी।' वह तो पूर्व के परमाणु पड़े हैं, वे जलें, तब बाहर मिले, ऐसा कहने में आता है। जले तब, हों! यह तुम्हारे पाँच-पचास लाख हुए हैं, इसलिए हमको पैसावाला... इतना पुण्य लेकर तुम्हारे पिता आये थे, वह जल गया और तुम भी इतना पुण्य लेकर आये हो। आहाहा! गजब अब! यह बात सुनना कठिन पड़े। वे सब मक्खन चोपड़े।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मक्खन चोपड़ा है न सबको। अब थोड़ा फैलाव कम किया है इसने? आहाहा!

भाई! यह तो वीतराग का मार्ग है। तीन काल में—तीन लोक में सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा, वह मार्ग है। इसमें किसी की सिफारिश नहीं चलती। हम बड़े हैं, इसलिए हमारे... धूल भी नहीं, सुन न अब! धूल भी चलता नहीं। स्वयं मरकर कहाँ जानेवाला है, इसका भान नहीं, अब क्या चिट्ठी लिख देना? यह तो कहा था न ८१ में। यह

मणियार, मणियार। लींबडी के मणियार। पैसेवाले तीन भाई हैं न! (संवत्) १९८१ के वर्ष की बात थी। फिर वे आये थे। व्याख्यान में आते थे। परन्तु एक दिन आये... दरबार आये स्वयं। दादभा कहे, भाई हमारे तुम्हारा सुनना है, हों! कहा, हमारी अवधि पूरी हो गयी अब। कोई राजा हो या महाराजा, हम दूसरे दिन नहीं रहते। सवेरे पूछे बिना चले गये। और भाई थे मोहनभाई। मोहनभाई... आये थे। 'महाराज! आप धर्म की बातें करते हो। उसमें पैसेवाले का कुछ....

मुमुक्षु : स्थान है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्थान है या नहीं?'

लींबडी से उठकर अंकवाडिया गये। अंकेवाडी नहीं? चार मील है। वहाँ हम वापस समय हो तब गाँव में जायें, पहले न जायें। वहाँ हम बाहर बैठे थे। वहाँ उसकी एका घोड़ागाड़ी आयी। 'महाराज! इन पैसेवालों को कहीं इस धर्म में स्थान है?' बिल्कुल नहीं। पैसेवाला अर्थात् क्या? 'मैं पैसेवाला हूँ' यह मान्यता अज्ञान और भ्रमणा है। जड़वाला आत्मा है?

मुमुक्षु : आप कहो वह ठीक, परन्तु हमको बराबर पक्का करा दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : पक्का कौन करे? भाई कहते हैं न कि वह हमारी भूल हुई न अब... वह पक्का कुछ कोई करावे?

मुमुक्षु : गुरु मिले तो गुरु का भी कुछ काम तो होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : गुरु क्या करे? ब्राह्मण विवाह करावे, कहीं उसका घर चला दे? आहाहा! समझ में आया?

इसे समझाते हैं कि यह मार्ग है। समझना तो इसे है या दूसरे को? आहाहा! भाई! तूने अनन्त काल व्यतीत किया ऐसा और ऐसा जमारा (जिन्दगी)। अरेरे! कहाँ इसका अवतार होगा? यह आँधी का तिनका उड़कर कहाँ पड़ेगा? इसी प्रकार जिसे पुण्य-पाप के भाव मेरे, उससे मुझे लाभ होगा, ऐसा मिथ्यात्वभाव, वह मिथ्यादृष्टि कहाँ जाकर भटककर निगोद आदि में जायेगा। समझ में आया? भाई! तुझे भवभ्रमण का दुःख नहीं लगता?

मुमुक्षु : प्रभु! आपको हमने सुना ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुना नहीं, बात सच्ची, बापू! ऐसा है, बात तो ऐसी है। आहाहा!

अरे प्रभु! तूने ऐसे दु:ख भोगे हैं। तू जाने और भगवान ने जाने हैं, भाई! तूने भोगे भगवान! उसे क्या कहें? यहाँ जरा थोड़ा कुछ बाहर का मिला वहाँ आहाहा! मैं चौड़ा और गली सकड़ी हो गयी। ऐई! यह तीनों बड़े हैं (या) बिचले? कौन हैं?

मुमुक्षु : बड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़े तीनों। ऐसा लगा अवश्य था कि यह बड़े। वे तीन छोटे रह गये। फिर यह पास करे तब सब हो न। आहाहा! चैतन्यसूर्य तेरा तूने पास नहीं किया अनन्त काल में, हों! ऐसा कहते हैं। अरे! उसके पास बिना तू नापास है। स्वरूपचन्दभाई!

मुमुक्षु : बिल्कुल बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बराबर है? यह दुनिया के कामढा, आहाहा! पाँच-दस करोड़ हों वहाँ ओहोहो! परन्तु क्या कर्मी जगा है न परिवार में। कर्मी जगा कहे न?

मुमुक्षु : परन्तु धर्मी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्मी नहीं। कर्म का करनेवाला कुएँ में जाये और हम पड़ेंगे साथ में उसके साथ, ऐसा। स्वरूपचन्दभाई! आहाहा! प्रभु!

कहते हैं, जहाँ आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर, भ्रमणा में पुण्य और पाप मेरे उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें रमणता, वे संसार के कारण थे। उसमें से भिन्न पड़ा। अरे! यह मेरी चीज़ नहीं। पहला श्रवण में आया, उसके लक्ष्य में आया, फिर अन्तर में उतरा अन्दर। ओहो! चैतन्य स्वभाववाला तत्त्व, वह मैं हूँ। ऐसी अन्दर श्रद्धा राग से भिन्न पड़कर हुई, उस आत्मा का ज्ञान हुआ और आत्मा में स्थिरता का अंश आया। इन तीनों का उसे परिणमन हुआ। उसकी दशा में वह सुखरूप दशा हुई, तब उसे धर्मी और सुख के पंथ में पड़ा हुआ कहा जाता है। समझ में आया?

विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ,
आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है।।

देखो तो सही! आहाहा! बात तो बात। '**आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है।**' मेरा स्वरूप तो आनन्द और शुद्ध चैतन्यस्वभाव, अकेला ज्ञान का घोलन और आनन्द के घोलन स्वरूप हूँ। ऐसे अन्तर के स्वभाव को खोजी... स्वयं अपने से खोजा। उसे निमित्त की और पुण्य-पाप के विकल्प की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? है? '**आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है।**' देखो! मेरा सहायक पुण्य के परिणाम व्यवहार नहीं, ऐसा कहते हैं। पण्डितजी! कलश में है? बनारसीदास कहते हैं, देखो! शास्त्र का सार निकालकर रखा है। मूल कलश आचार्य का है, उसका यह सार।

बनारसीदास गृहस्थाश्रम में थे, श्रृंगारी (कवि) थे, व्यभिचारी थे, फिर धर्म को प्राप्त हुए, तब यह श्लेक बनाये हैं। यह तो होता है, संसार है। जगे तब, ओहोहो! '**आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है।**' चैतन्य भगवान ज्ञानमूर्ति... अभी समझ का ठिकाना नहीं होता, बाह्यलक्ष्यी ज्ञान सच्चा नहीं होता, उसे खोजने की दृष्टि कहाँ से जगे? क्या कहा? देखो! **अपने स्वरूप में ही अपना सहायक खोज लिया...** यह साधन भी मेरा स्वभाव है। पुण्य और व्यवहार विकल्प भी मेरा साधन नहीं। इसमें से निकलता है ऐसा? '**आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि**' लिया। शोध लिया। आहाहा!

'**कहत बनारसी गहत पुरुषारथकौ**' यह स्वभाव-सन्मुख का पुरुषार्थ, विभाव के सन्मुख का पुरुषार्थ छोड़कर, जिसने अन्तर्मुख पुरुषार्थ किया, '**सहज सुभावसौं विभाव मिटि गयौ।**' सहज स्वभाव का अनुभव होने पर पुण्य और पाप के विकल्प मेरे में नहीं, ऐसा विभाव पृथक् पड़ गया। जैसे दाने में से कंकड़ निकाल डाले, वैसे विभाव—कंकड़ निकाल दिये। मेरा माल तो यह है। देखो, इसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्मी की पहली सीढ़ी। आहाहा! उसका भान नहीं और बड़े-बड़े व्रतधारी और महाव्रतधारी और तपस्वी महीने-महीने के अपवास। धूल भी नहीं, सब बिना एक के शून्य हैं। फिर दृष्टान्त है जरा। विशेष समय आये।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २९, फाल्गुन शुक्ल ३, रविवार, दिनांक २८-२-१९७१
जीवद्वार, पद—३४ - ३५

यह जीवद्वार चलता है। उसका ३४वाँ पद है, पद। उसका अर्थ कितना तो हो गया है। फिर से लेते हैं, देखो!

तत्त्वकी प्रतीतिसौं लख्यौ है निजपरगुन,
दृग ज्ञान चरन त्रिविधि परिनयौ है।
विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ,
आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है।।
कहत बनारसी गहत पुरुषारथकौं,
सहज सुभावसौं विभाव मिटि गयो है।
पन्नाके पकायें जैसैं कंचन विमल होत,
तैसैं सुद्ध चेतन प्रकास रूप भयो है।।३४।।

सूक्ष्म बात है। अनादि का अन-अभ्यास है न, इसलिए क्या चीज़ कहते हैं, वह जरा समझने में कठिन लगे। यह आत्मा है.... सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने जो आत्मा देखा है, वह आत्मा, तो उस आत्मा की प्रतीति कैसे होती है, ऐसा कहते हैं। कि '**तत्त्व की प्रतीतिसौं लख्यौ है निजपरगुन**' मैं तो ज्ञान और आनन्द हूँ और पुण्य-पाप का भाव विकल्प-राग है वह पर, विभाव, दु:खरूप है। यह लक्ष्मी का राग, लक्ष्मी का दान देने का राग वह सब दु:खरूप है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : क्या लक्ष्मी समुद्र में डाल देना?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी लक्ष्मी थी? इसकी कहाँ थी? इसके बाप की कहाँ थे? वह तो जड़ की है। लक्ष्मी तो जड़ की है। अजीवरूप से रहकर रही है।

मुमुक्षु : अब आपके मत से लक्ष्मी सम्हालना तो सही।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्हाले कौन? रखे कौन?

मुमुक्षु : सम्हालनी हो तो भी सम्हले नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सम्हले नहीं, लो। वह तो जड़ है। जड़ अपना मानना और जड़ की क्रिया मैं कर सकता हूँ, ऐसा मानना, चैतन्य का बड़ा भ्रम और आत्मा की हिंसा है। ऐसी बात है।

अरे! कभी उसने अन्तर का मार्ग (जो) भगवान सर्वज्ञ ने कहा, ऐसा सुना नहीं। अरे! ऐसा मनुष्य देह अनन्त बार मिला, व्यर्थ गँवाया। समझ में आया? भगवान आत्मा... कहते हैं कि जब तत्त्व की प्रतीति होती है, तब निज-परगुण भिन्न जानते हैं। शरीर, वाणी, मन तो भिन्न है ही, परन्तु अन्दर शुभ-अशुभ विकल्प उठते हैं, राग—शुभ-अशुभ दोनों ही, वह पर है। मैं शुद्ध चैतन्यधातु आनन्द हूँ। ऐसे तत्त्व की, दो तत्त्व की प्रतीति में भेदज्ञान से ऐसा भान होता है। कठिन बात!

'दृग ज्ञानचरन त्रिविधि निज परिनयौ है।' भगवान आत्मा अपना—निज स्वरूप शुद्ध चैतन्य आनन्दघन है, ऐसी अन्तर श्रद्धा और उसका ज्ञान और उसका चारित्र का परिणमन—तीन दशारूप आत्मा परिणमता है, होता है। भेद पड़ने से रागरूप भी होता नहीं पीछे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! शरीर, यह तो मिट्टी, जड़, धूल है, उसरूप तो हुआ नहीं। जमीन, मकानरूप, पैसारूप हुआ है कभी?

मुमुक्षु : तो जड़ हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़ हो जाये। हुआ ही नहीं कभी। यहाँ तो कहते हैं कि जब तत्त्व की प्रतीति उत्पन्न होती है... जीवद्वार है न, तो जीव तो चैतन्य ज्ञानस्वरूप आनन्द ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से भरा पड़ा भगवान आत्मा है और पुण्य-पाप के विकल्प वे पर, विकार, विभाव, दुःखरूप है—ऐसी तत्त्व की प्रतीति उत्पन्न होती है, तब निज-परगुण का भेदज्ञान होता है। आहाहा! विकल्प पर। निजस्वरूप ज्ञान चैतन्यपुंज प्रकाश, चैतन्य के प्रकाश का नूर, प्रकाशस्वरूप वह आत्मा। तथा शुभ और अशुभराग; शरीर, वाणी, मन तो पर है, परन्तु राग की प्रतीति हुई (अजीव) तत्त्व की, तो राग तो परतत्त्व है। आहाहा! समझ में आया? नहीं आया? बहुत अच्छा। वन्स मोर (Once more) कहते हैं वह। नाटक में करते हैं न वह।

क्या कहा? कि आत्मा जो है, वह तो शुद्ध ज्ञान-आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञान

की मूर्ति ऐसा अतीन्द्रिय आत्मा है। जब स्व की और पर की प्रतीति यथार्थ होती है, जब धर्म होता है तो सम्यग्दर्शन में स्व और पर का भिन्न भान होता है। यह राग जो है, अशुभराग तो भिन्न ही है, परन्तु शुभराग दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-नामस्मरण आदि, यह भी विकल्प है, राग है, वासना है। उससे भी मैं भिन्न हूँ और मुझसे वह राग भी भिन्न है। आहाहा!

मुमुक्षु : वासना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : वास—गन्ध। गन्ध नहीं होती है बर्तन में? कस्तूरी जिसमें पड़ी हो, कस्तूरी तो ले ली, परन्तु गन्ध उठती है न अन्दर में। इसी प्रकार राग की गन्ध है उसमें। राग मेरा है, (वह) गन्ध है, दुर्गन्ध है। आहाहा! भाई! धर्म की चीज़ ऐसी है। यहाँ तक पहुँचना (बहुत कठिन)!

यह तो वह पढ़कर विचार ऐसा आया वहाँ। उसमें वह लेख आया है कि भाई! यह बुद्ध तो कोली थे। अभी तो... और ऐसा कि द्रोणाचार्य ने... हिन्दूधर्म में द्रोणाचार्य ने... वह कथा आती है न भाई! वह एक शिष्य सीख गया। फिर वे द्रोणाचार्य निकले और कुत्ता भौंका द्रोणाचार्य पर, तो उसने कुत्ते का बाण मारे। मुख बन्द हो गया, मरा नहीं। ऐसी विद्या किसकी यह? ऐसी विद्या किसकी? कि अर्जुन के अतिरिक्त यह तो विद्या होती नहीं, तो यह कौन है? बुलाओ। (एकलव्य :) 'मैं हूँ।' कहाँ से विद्या सीखी? कहे, आपके पास से। मैं तो आया ही नहीं तुम्हारे पास। तुम हमारे पास आये नहीं। (एकलव्य :) आपकी मूर्ति रखकर विद्या साधी। (द्रोणाचार्य :) अरे! अर्जुन के अतिरिक्त... मेरा तो वचन है कि अर्जुन के अतिरिक्त ऐसी विद्या किसी को नहीं मिलती (मिलेगी)। लाओ अंगूठा लाओ दाहिना।

मुमुक्षु : एकलव्य....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भाई कहते, था कुछ उसमें। उसमें नाम है। हाँ, एकलव्य। अंगूठा काटकर दिया। तो लिखते हैं वे लोग उसमें कुछ... अरे! ऐसे हिन्दू धर्मवाले ऐसा करते हैं? यह हिन्दूधर्म हमारे नहीं चाहिए। आहाहा! ऐसे के ऐसे लिखे लोग।

और दशरथनन्दन राम, जिन्होंने शम्बुक को मार दिया। यह एक कथा आती है।

क्या वह शम्बूक का आता है न... बहुत ख्याल नहीं। बाँस का वृक्ष है न बाँस का। बड़ा बाँस का वन होता है न बाँस, उसमें वह तलवार साधता था। कैसा नाम चन्द्र या... ?

मुमुक्षु : चन्द्रहास।

पूज्य गुरुदेवश्री : चन्द्रहास। किसने कहा ?

मुमुक्षु : नेमीलालभाई ने।

पूज्य गुरुदेवश्री : चन्द्रहास खडग साधता था शम्बूक। साधते-साधते लक्ष्मण आ गये। लक्ष्मण ही है प्राय:। लक्ष्मणजी आ गये। उन्होंने खड्ग लेकर बाँस के बीडा में वह शम्बुक था, साधता था, वह तो बहुत बड़ी विद्या थी। तो लक्ष्मण ने ऊपर ऐसा मारा तो शम्बुक अन्दर मर गया। देखो (दशरथ) का नन्दन... दशरथ का (नन्दन) राम। फिर उन्होंने मार डाला है। ऐसा किया। नहीं, ऐसा धर्म होता ही नहीं, हिन्दू धर्म ऐसा नहीं। भाई! वे तो राम तो महापुरुष थे। तुझे खबर नहीं, भाई! आहाहा! वह तो विकल्प होता है। परन्तु ज्ञानी धर्मात्मा थे। वे तो आत्मा के आनन्द के भान में रहते थे। ऐसा हिन्दूधर्म, करके ऐसा कहे, 'हिन्दूधर्म का बहिष्कार करो। हमारे ऐसा हिन्दूधर्म चाहिए नहीं,' ऐसा लिखा है उसमें। कोई सोलंकी है।

अरे भाई! राम तो कौन है ? 'निजपद रमे सो राम।' वे तो अपने ज्ञान और आनन्द में रमनेवाले राम थे। जरा विकल्प-राग था, परन्तु उसे भी हेय मानकर अपने में उसे मानते नहीं थे। राग अपने में नहीं मानते थे। आहाहा! तो ऐसा लिखा है कि ऐसा हिन्दूधर्म हमारे नहीं चाहिए। यह बौद्ध चाहिए, ऐसा। बौद्ध में धूल में.... आहाहा! ऐसा यह वाँचकर लगा कि अरे रे! इन लोगों को यह आत्मा ऐसा अनन्त गुण का पिण्ड, राग से भिन्न है, वह बात पहुँचना....

मुमुक्षु : बहुत कठिन।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! राम जैसे पुरुष के लिये ऐसा कहकर हिन्दूधर्म हमारे नहीं चाहिए। उसमें है कुछ। कोई यह आम्बेडकर है न, वह गुजर गये न, उनके नाम का यह पत्र निकाला। पत्र निकालते होंगे पहले से। उसमें है न ? कहाँ गया पन्ना ? यह रहा।

'यदि यह सही है कि द्रोणाचार्य ने एकलव्य का अंगूठा कटवा दिया था और दशरथनन्दन राम ने शम्बुक का वध किया था तो ऐसे कठोर, निर्दय, निर्मम हिन्दू समाज में रहने से अच्छा हम नमस्कार कर उसे अपना ओजस बता दें। ऐसे के ऐसे। अरेरे! अभी हिन्दूधर्म की यह शैली उसे बैठती नहीं, तो यह तो आत्मा (कैसे बैठे) ? आहाहा! प्रभु! तेरी चीज़ में विकल्प उठते हैं, वे भी दुःखरूप हैं। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन होता है आत्मा का भान आत्मज्ञान, तब तो शुभराग होता है, वह भी दुःखरूप लगता है, परतत्त्व लगता है और मेरा तत्त्व तो शुद्ध ज्ञानघन आनन्द है। ऐसे भान बिना सब ज्ञान थोथा है। समझ में आया ? हेमन्तकुमार एम.। सोलंकी है कोई लिखनेवाला। होगा कोई ऐसा। अभी सिर घूमे हुए बहुत निकलते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : कुमारपाल सोलंकी वह कुरान माननेवाला हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुसलमान हो गया ? आहाहा! अरेरे! भाई!

यह आत्मा की बात है। तो कहते हैं, **तत्त्वश्रद्धान होने से निज-पर गुण की पहिचान हुई, जिससे अपने निज गुण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में परिणमन किया है, निर्मल भेदविज्ञान होने से उत्तम विश्राम मिला। 'विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ।'** आहाहा! शुभ-अशुभराग में जो रहते थे, वह श्रम था, दुःख था। आहाहा! जहर का प्याला पीते थे। परन्तु आत्मा आनन्दमूर्ति, राग से पृथक् ऐसा अपना भान हुआ, **'विसद विवेक आयौ'** राग से स्पष्ट भिन्न आत्मा का ज्ञान हुआ। समझ में आया ? **'आछौ विसराम पायौ।'** अन्तर आनन्दधाम भगवान चैतन्यमूर्ति, उसे राग से पृथक् करके जब अपना स्वरूप जाना, विश्राम मिला। आनन्दधाम में विश्राम मिला। आहाहा!

अनादि का विकार में (था वह) थकान थी, दुःख था, वह छूट गया। कहो पोपटभाई! ऐसी सूक्ष्म बात है। आहाहा! ऐसी बात सुनने को मिलना मुश्किल पड़े। अभी तो इसे समझना तो कहाँ... नहीं ? सुनने को नहीं मिलती, सब मक्खन चुपड़े तुमको यह सब पैसेवालों को। पैसा खर्च करो यहाँ २५-५० हजार, तुमको धर्म होगा। धूल भी नहीं होगा, सुन न! पैसा कहाँ तेरे बाप का... बाप का नहीं परन्तु तेरा कहाँ था ?

मुमुक्षु : बाप का तो सही।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाप का भी वास्तव में नहीं। बाप पड़ा है यहाँ और वह खर्च करता है वहाँ। फिर खबर पड़ी कि चलो बापू! वहाँ पालीताणा, मैं जाता हूँ। क्यों पोपटभाई? ऐसा हुआ था या नहीं? परन्तु फिर उसने बदल डाला वापस। पिता कहीं माने और तुम कहीं मानो, भटको, यह कहाँ बात हुई यह मेल खाया? समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि वीतरागमार्ग सर्वज्ञदेव (प्रणीत) सनातन वीतराग दिगम्बर जैन धर्म, उसमें भी धर्म के नाम से दान आदि की क्रिया करे, तो भी वह राग की मनदता का पुण्यभाव है। इसके अतिरिक्त दूसरे में (अन्यमत में) करे वह तो मिथ्यात्व का पोषक है। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं, '**आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है।**' आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दघन चैतन्य के नूर का पूर पड़ा है अन्दर, उसे अन्तर के स्वभाव से शोध लिया, राग और पुण्य के आश्रय बिना... अरे! धर्म तो कोई अपूर्व होता है या धर्म कुछ ऐसे साधारण लोग मान लें, ऐसा धर्म होगा? समझ में आया? सामायिक की और प्रौषध किये और प्रतिक्रमण किये और धर्म हुआ। अब ऐसा धर्म करना आया नहीं अनन्त काल में? आहा! तुझे धर्म की खबर नहीं। जयन्तीभाई!

यहाँ तो कहते हैं परमात्मा... सन्त कहते हैं, परमात्मा कहते हैं, ज्ञानी कहते हैं, सब एक ही बात है। भगवान! तेरी चीज़ में तो अमृत भरा है अमृत, हों! परमात्मा स्वरूपी आत्मा है। आहाहा! कठिन! कैसे बैठे? पामर को परमात्मा कहना! भाई! सर्वज्ञ परमेश्वर अरिहन्त हुए, वह सब अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन एक समय में आया, कहाँ से आया? बाहर से आया है? अन्दर में है। खबर नहीं होती। स्वसन्मुख की समृद्धि की खबर नहीं और बाहर में खोजने जाये। आहाहा! समझे? समझ में आया? कहते हैं कि '**आपुहीमैं आपनौ सहारौ**' देखो! राग का, निमित्त का सहारा नहीं। स्वभाव का सहारा—शुद्ध ज्ञान के सहारे से अपने को शोध लिया। उसका नाम सम्यग्दर्शन और उसका नाम सम्यग्ज्ञान, उसका नाम धर्म। आहाहा!

'**कहत बनारसी गहत पुरुषारथकौं**'—अपना निजस्वरूप सन्मुख का पुरुषार्थ ग्रहण करने से '**सहज सुभावसौं विभाव मिटि गयौ है।**' विभाव अर्थात् पुण्य और पाप के विकल्प की गन्ध जो है, अपने स्वभाव के भान से उसको दूर कर दिया। आहाहा!

समझ में आया? कठिन मार्ग! ऐसा मार्ग सुना न हो इसने, सुना ही नहीं कभी। सुने तो (लगे कि) यह क्या कहते हैं? यह ग्रीक-लेटिन (अटपटी) जैसी बात। वह तो झट समझ में आये। भाई, २५ हजार खर्च किये, ५० हजार खर्च किये तो कुछ न कुछ कुछ न कुछ होगा न उसमें। पाप करें, उसकी अपेक्षा कुछ धर्म होगा या नहीं इसमें? उसमें धर्म होगा या नहीं? धूल भी धर्म नहीं होगा, सुन तो सही! और उल्टी श्रद्धावाले का पोषण करना, वह तो मिथ्यात्व का पोषण है। भीखाभाई!

मुमुक्षु : नई विपरीतता की।

पूज्य गुरुदेवश्री : नई विपरीतता की। आहाहा! भाई! तेरा मार्ग अलग, प्रभु! आहाहा! वाँचा नहीं वह? कागज दिये हैं न तीन। वाँचा है पूरा? ठीक, बहुत अच्छा।

'साधुना मारग रे जगतथी जुदा दोह्यला।' आहाहा! कामाणी! यह वाँचा न कागज। वह अपने बींछिया के... बींछिया के भाई हैं न वृद्ध, वे प्रेमचन्दभाई, उनके पुत्र का पुत्र। वह भी ऐसा गजब करे न। अभी तो कुँवारा है, विवाह नहीं किया। ललकारे सभा में तो ऐसे एक मिनिट रुक जाये। जैन और अन्य एक बार में रुक जाये, हों! बहुत लोग वहाँ बोटाद में व्याख्यान में थे न प्रवचन। बहुत लोग जैन—जैनेतर आते हैं। यह शक्ति का वर्णन था। ४७ शक्तियाँ हैं न, आत्मा की शक्ति का वर्णन। यह अमरचन्दभाई का गाँव था वह। पीछे से धुन लगावे। एक गायन बोले और धुन लगावे। आहाहा! इस जगत से धर्म का मार्ग अलग है। भाई! तुझे खबर नहीं। बेखबर होकर तू पड़ता है, संसार में भटकता है। चौरासी काय योनि में दुःखी... दुःखी... दुःखी है। उस दुःख के राग से (भिन्न) अपना स्वरूप शोधकर, भिन्न करके '**विभाव मिटि गयौ।**' यहाँ तक तो आया था कल।

'**पन्नाके पकायें जैसें कंचन विमल होत**'—सोना की वह भट्टी लगाते हैं न। नीचे है देखो। **अशुद्ध सोने के छोटे-छोटे टुकड़े करके कागज के समान पतला पीटते हैं, (उसे पन्ना कहते हैं)**। पतला बनाते हैं न, बर्फी में डालते हैं वर्क... वर्क... पतला बनाते हैं न पन्ना। यहाँ पन्ना लिखा है न! **कागज के समान पतला पीटते हैं, उन पन्नों को तेल आदि की रसायन से अग्नि में पकाते हैं तो सोना शुद्ध हो जाता है। इस रीति से**

शोधा हुआ सोना नेशनल पाटला आदि से बहुत उच्चतम होता है। ऐसे आत्मा में राग से भिन्न करने की ध्यानाग्नि से ऐसा आत्मा शुद्ध बना दिया (कि) जिसमें राग आदि मल अपने अनुभव से भिन्न कर दिया। आहाहा! समझ में आया? वीतराग का मार्ग यह है, भाई! राग में धर्म मनाते हैं, वह वीतराग मार्ग ही नहीं। अजैनमार्ग को लोग जैन कहते हैं। समझ में आया? **जैसे रसायन में स्वर्ण के पत्र पकाने से वह उज्ज्वल हो जाता है।** लो। यह ३४ (पद) हुआ। अब ३१। यह आ गया न। ३१ आ गया। अब ३२, यह जीवद्वार का अन्तिम कलश। ३२ है इस ओर। अन्तिम पृष्ठ पर, ५२ पृष्ठ पर नीचे है। नीचे कलश है।

मज्जन्तु निर्भर-ममी सम-मेव लोका,
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रम-तिरस्करिणीं भरेण,
प्रोन्मग्न एष भगवा-नवबोध-सिन्धुः।।३२।।

'**प्रोन्मग्न**' प्र+उन्मग्न उछला। उन्मग्न-निमग्न। आहाहा! देखो! कितनी बार सिन्धु आया। ऐई प्रकाशदासजी! देखो! सिन्धु आया। भगवान सिन्धु आत्मा, आहाहा! उसे राग से और पुण्य से धर्म माने, पामर होकर मिथ्यात्व होकर भ्रमणा में भ्रमते हैं। ३५। '**वस्तुस्वभाव की प्राप्ति में नदी का दृष्टान्त**' वास्तव में नटी चाहिए। खोटी बात है। नदी नहीं चाहिए, नटी चाहिए। नट का दृष्टान्त है, उसमें नदी का दृष्टान्त नहीं है। नटी... नटी... नाचनेवाली नटी आती है न, उसका दृष्टान्त देकर... नटी है ऊपर, हों! नदी झूठ है। छपने में अन्तर पड़ गया है।

★ ★ ★

काव्य - ३५

वस्तुस्वभाव की प्राप्ति में नटी का दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आड़ौ पट करिकैं।
दुहूँ ओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभाके लोग देखैं दृष्टि धरिकैं।।
तैसैं ग्यान सागर मिथ्याति ग्रंथि भेदि करि,
उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहूं लोक भरिकैं।
ऐसौ उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
सुद्धता संभारै जग जालसौं निसरिकैं।।३५।।

शब्दार्थ:-पातुर (पात्रा)=नटी, नाचनेवाली। अखारे=नाट्यशाला में। निशि=रात्रि। पट=वस्त्र, परदा। ग्रंथि=गांठ। निसरिकैं=निकलकर।

अर्थ:-जिस प्रकार नटी रात्रि में वस्त्राभूषणों से सजकर नाट्यशाला में पर्दे की ओट में आ खड़ी होती है तो किसी को दिखाई नहीं देती, परन्तु जब दोनों ओर के शमादान ठीक करके पर्दा हटाया जाता है तो सभा की सब मण्डली को साफ दिखाई देती है, उसी प्रकार ज्ञान का समुद्र आत्मा जो मिथ्यात्व के पर्दे में ढँक रहा था, सो प्रगट हुआ जो त्रैलोक्य का ज्ञायक होवेगा। श्रीगुरु कहते हैं कि हे जगवासी जीवो! ऐसा उपदेश सुनकर तुम्हें जगज्जाल से निकलकर अपनी शुद्धता सम्हालना चाहिए।।३५।।

काव्य-३५ पर प्रवचन

जैसैं कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आड़ौ पट करिकैं।
दुहूँ ओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभाके लोग देखैं दृष्टि धरिकैं।।

तैसैं ग्यान सागर मिथ्याति ग्रंथि भेदि करि,
उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहू लोक भरिकैं।
ऐसौ उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
सुद्धता संभारै जग जालसौं निसरिकैं।।३५।।

उमग्यो... यह उमग्यो। '**प्रोन्मग्न**' को। '**प्रोन्मग्न**' का अर्थ '**उमग्यौ**' किया। पण्डितजी! उमग्यो—उछला। आहाहा!

यह बनारसीदास का है। सेठीजी! बनारसीदास का है। यह शुरु किया है अभी। जैसे कोई '**पातुर**' अर्थात् नटी। देखो, लिखा है '**पातुर**' अर्थात् (पात्रा)—नटी। लिखा है अन्दर। '**नटी बनाय वस्त्र आभरन**'**—**वस्त्र-वस्त्र बराबर कपड़ा पहने। **आभरन—** गहने। '**आवति अखारै**' बाहर आवे, परन्तु पर्दा आड़े हो, पर्दा। है न। **जिस प्रकार नटी रात्रि में वस्त्राभूषणों से सजकर नाट्यशाला में पर्दे की ओर से आ खड़ी होती है, तो किसी को दिखाई नहीं देती।** आड़ा पर्दा है न बीच में, तो दिखाई नहीं देती। '**दूहुँ और दीवटि संवारि पट दूर कीजै**' आड़ा पट दूर किया और दोनों ओर दो दीपक लगाये। ओहो! नटी तो श्रृंगार और आभरण पहनकर अच्छी बनी है। यह तो दृष्टान्त है, हों!

'**सकल सभाके लोग देखैं दृष्टि धारिकैं**' सभा के सब लोग दृष्टि में घर के नटी को श्रृंगार और आभरण से (सहित) देखते हैं। '**तैसैं ग्यान सागर मिथ्याति ग्रंथि भेदि करि।**' आहाहा! **मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका, आप्लाव्य विभ्रम तिरस्करिणीं भरेण**' यह उसके साथ आया वापस। आहाहा! शुभराग के पर्दे में भगवान अन्दर भिन्न पड़ा है। शुभराग की एकता के पर्दे में आत्मा दिखता नहीं। पर्दा डालते हैं न!

यह एक हमारे पालेज में बना था। उसका मैनेजर था न, वह पिंगला हुआ था। अन्दर (तैयार) होता था। पिंगला... पिंगला... भर्तृहरि का नाटक था। यह पिंगला और भर्तृहरि, नहीं? उसकी रानी। नाटक था। पालेज में दुकान बन्द करके, नाटक आवे तो रात्रि में देखने जायें। बहुत देखे हुए ऐसे। परन्तु उस समय वैराग्य के नाटक थे, हों! यह सब अभी फिल्म... फिल्म... (मारा) मारी और भ्रष्ट और व्यभिचार। आहाहा! पिंगला, उसका जो मैनेजर था न वह पिंगला का वेश पहनता था। परन्तु यहाँ कुछ तकरार हो गयी। वहाँ वोहरा—मुसलमान है। वह मुफ्त बैठता था... सब मुफ्त बैठने आवे। पैसे दे

नहीं सिर के फिरे हुए। विवाद हुआ और ऐसा का ऐसा बाहर निकला पर्दे में से। पर्दे में था, वहाँ तक दिखता नहीं था। समझे न? आहाहा!

वह कपड़ा पहनता था और ऐसे कपड़े बाँधे थे... वह बड़ा विवाद हुआ न, ऐसे का ऐसा बाहर निकला। अरे! यह तो मैनेजर, कहा। वह पिंगला होकर आनेवाली थी। फिर बाहर निकला और लोग शान्त हुए। पालेज की बात है। बहुत वर्षों की बात है। ६४-६५ की बात होगी। संवत् १९६४-६५। कितने वर्ष हुए? ६३। उस वर्ष की बात है। परन्तु पर्दा आड़े डाला था, अन्दर पहनावा पहनता था वह मैनेजर। कपड़ा और... अभी कपड़ा रखा था न... वह ऐसे कपड़े का पिण्डा डालता था अन्तर के कपड़े में और ऐसा करके सब पहनकर बाहर एकदम आना पड़ा न। अरे! कहा, यह तो मैनेजर!

इसी प्रकार आत्मा, राग और पुण्य के प्रेम में जो आत्मा अन्दर फँस गया— अटक गया है। आहाहा! है तो अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति से, शृंगार से भरा हुआ है। कठिन काम! कहते हैं, **'तैसें ग्यान सागर'** चैतन्य भगवान अन्तर्मुख देखने से तो महासागर ज्ञान का सागर—समुद्र है। यह सब दुनिया से विरुद्ध की बात है। इंजीनियर! यह दुनिया से भिन्न की बात है। वे हमारे वजुभाई भी इंजीनियर हैं। वांकानेर राज का बड़ा इंजीनियर। ... ठीक, वहाँ भी वह बहुत दु:खी थे सब। राजा के साथ राग... राग... राग... राग... राग... उसमें यहाँ आये, उसमें भी जरा फँसे हैं। भाई! संसार तो ऐसा है। यह मकान बनता है न बारह लाख का, वहाँ अन्दर विवाद उठा है। अब उसका सब काम है यह। वजुभाई के सिर पर, वजुभाई ने सब लिया है। क्या करना? लो।

कहते हैं, **जब दोनों ओर के शमादान ठीक करके...** अर्थात् दीपक... दीपक। **ठीक करके पर्दा हटाया जाता है तो सभा की सब मण्डली दिखाई देती है, उसी प्रकार ज्ञान का समुद्र आत्मा...** आहाहा! राग और पुण्य और पाप के विकल्प की मिठास ऐसा जो मिथ्यात्वभाव... समझ में आया? मिथ्याग्रन्थि। शुभराग या अशुभराग उसमें एकत्वबुद्धि यह मिथ्यात्व ग्रन्थि है। **'ग्यान सागर मिथ्याति ग्रंथि भेदि करि'—**अज्ञानी ऐसे राग की एकता की ग्रन्थी को भिन्न करके—पृथक् करके... भारी क्रिया, भाई! यह क्रिया धर्म की। कहो, स्वरूपचन्दभाई! यह धर्म की क्रिया। यह भारी कठिन बात! बाहर से कुछ होता होगा या नहीं? आहाहा! अन्दर चैतन्यसागर है न प्रभु, जिसमें अनन्त अपरिमित

ज्ञान और आनन्द पड़ा है, उसको आत्मा कहते हैं। ऐसे आत्मा सन्मुख दृष्टि करने से, राग की एकता की बुद्धि-गाँठ गल जाती है, मिथ्यात्व का नाश होता है। दूसरा कोई उसका उपाय है नहीं। समझ में आया?

मिथ्याति, मिथ्यात्व के पर्दे में ढँक रहा था, सो प्रगट हुआ।' पर्यायबुद्धि में रहा था, तो द्रव्यबुद्धि—वस्तुबुद्धि नहीं थी, ऐसा कहते हैं मूल तो। एक समय की अवस्था और राग की बुद्धि में पड़ा था, सारी चीज ढँक रही थी। है महासत्ता, उसको भी मानता नहीं। शास्त्र में (आता है कि) 'हम तो रागी हैं, द्वेषी हैं, क्रिया करनेवाले हैं, अल्पज्ञ हैं'—हमने तो यह पढ़ा है। ऐसी दृष्टि मिथ्यात्व है। महा आत्मा के स्वभाव से विपरीत बुद्धि है। जब ज्ञानसागर भगवान चैतन्यस्वरूप, उस ओर के झुकाव से जब '**मिथ्याति ग्रंथि भेद करिकै उमग्यो**' भगवान चैतन्यजल से उछला।'**प्रोन्मग्न**'—प्र—प्रकृष्ट उन्मग्नं। जो ढँक गया था, वह प्रगट हुआ—ऐसा कहते हैं। कहो सेठी! भाषा तो हिन्दी है तुम्हारी। आहाहा!

अरे! आत्मा कैसा है और क्या है खबर नहीं। यह सब यह... यह... यह... धूल... धूल... धूल... बहुत तो पुण्य और पाप के... पाप के भाव न करे और पुण्य के करे कदाचित्, तो वह आत्मा। धूल भी नहीं है, सुन तो सही! आत्मा क्या चीज़ है? उसमें कैसी लक्ष्मी और सम्पदा—समृद्धि है? उसकी तुझे खबर नहीं और ऐसे खबर बिना चाहे तो पंच महाव्रत पाले नग्न साधु होकर, क्रियाकाण्ड में २८ मूलगुण पाले तो भी वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' ऐसा... थोथा क्रियाकाण्ड का—करके मर गया, परन्तु आत्मा क्रिया के राग से भिन्न है, ऐसे स्वभाव के ओर की—सन्मुख की दृष्टि नहीं की। राग से भेद नहीं किया। आहाहा! कठिन काम भाई ऐसा! वीतराग का मार्ग ऐसा सूक्ष्म! मन्दिर बनवाना हो, पूजा-भक्ति करनी हो, सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण करना हो तो सीधे कर डालें, चलो। चलो। तुम्हारे कहते थे न कि हमारे पिता अभी धर्मी, सामायिक करके बैठ जाये, ऐसे बैठ जाये। भान बिना की सामायिक अज्ञान, मूर्खता से भरपूर सामायिक। आहाहा!

कहते हैं, '**ग्यान सागर मिथ्याति**'—वह था तो मिथ्यात्वी पहले, ऐसा कहते हैं।

परन्तु '**ग्रंथि भेद करि**' विकल्प सन्मुख दृष्टि थी, तो विकल्प की एकताबुद्धि थी। समझ में आया? परसन्मुख जो वृत्ति उठती है राग, उस ओर बुद्धि थी तो एकताबुद्धि थी। तो स्वभाव की एकता करने से वह एकता टूट जाती है। आहाहा! मार्ग भी कठिन!

मुमुक्षु : विधि बतलाईये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विधि कही। हलुवा ऐसे होता है। शीरा-शीरा, हलुवा कहते हैं न हलुवा! वह महँगा पड़े, परन्तु हलवा तो ऐसे (ही) होता है। पहले घी में आटा सेंकना, पश्चात् शक्कर-गुड़ का पानी डालना। घी पी जाता है आटा। तो क्या करना? पहले गुड़ के-शक्कर के पानी में आटा सेंकना। बाद में डालना घी। तेरे तीनों जायेंगे, सुन न! पह पोटीस भी नहीं होगी।

पोटीस समझते हैं? फोड़ा (हुआ) हो वहाँ पोटीस (लगावे)। पोटीस ऐसे नहीं होती। स्त्रियाँ बातें करें वह सुना हो, अपने कहाँ बनाया है? कहे, देखो, थोड़ा बहुत घी डालना। ऐसा कहे महिलायें। उसकी बहू को या पुत्री को कहे। पोटीस बनाना। पोटीस करना पोटीस। क्या करना? जातुंवणतुं घी डालना। (ऐसा) हमारी गुजराती भाषा में (कहते हैं)। जातुंवणतुं अर्थात् घी बहुत पड़े नहीं और पड़े बिना रहे नहीं। परन्तु एक चतुर की पुत्री ऐसी निकले कि यह तो घी पी जाता है पूरा (बहुत)। इसलिए अपने पहले गुड़ के पानी में आटा सेंको, फिर घी डालो। धूल भी नहीं होगा। तेरे तीनों जायेंगे आटा, गुड़ और घी। विधि की पद्धति है, उसकी तुझे खबर नहीं और हलुवा हो जायेगा?

इसी प्रकार आत्मा में राग और विकल्प से भिन्न आत्मा की श्रद्धा करना, उसमें अनन्त पुरुषार्थ है। आहाहा! ऐसे अनन्त पुरुषार्थ की सूझ पड़ती नहीं। लाओ, पुण्य की क्रिया से अपने को धर्म हो जायेगा। पोटीस नहीं होगी। चार गति में रुलना पड़ेगा, सुन तो सही। समझ में आया? आहाहा! कठिन! यह सेठिया के पिताजी के नाम से ऐसे लाख-दो लाख खर्च कर डाले तो कुछ होगा या नहीं पिताजी को? भाई! यह पाप करके पैसे इकट्ठे किये हैं तो फिर पाँच लाख रुपये देने का विचार हुआ है मेरा। मृत्यु के समय। मृत्यु के समय होते हैं न ऐसे विचार। ६०-७० लाख हुए हों तो पाँच लाख देना, हों! मेरा विचार ऐसा है। परन्तु उसमें अन्तिम (स्थिति) ऐसी हो गयी हो, भाषा

बन्द न हो परन्तु तैयारी हो भाषा बन्द होने की। इसलिए कहे, वह कहता हो तो... लड़के सब ऐसा कहेंगे अन्त में, हों!

मुमुक्षु : क्या कहेंगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! 'बापूजी! अभी धर्म याद करो। यह सब बैठे हैं और पाँच लाख कहो, हमारे देना कैसे?

मुमुक्षु : पैसे की बात नहीं की जाती। महाराज कहे पैसे की बात न करो।

पूज्य गुरुदेवश्री : महाराज कहते थे कि पैसे में धर्म नहीं। भाई! ऐसा बनता है न ऐसा।

मुमुक्षु : ऐसा ही बनता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ,.... फिर भाषा न हो, वचन बन्द हो गया हो। यह उल्टा लेते थे, कहे। मैंने तो कहा कि भाई! यह पाप मैंने किये, पूर्व का पुण्य जल गया, तब इतनी लक्ष्मी करोड़ या ७० लाख-८० लाख हुई। तो भाई पाँच लाख तो मेरे नाम से देना। तुम्हारे भाग करोगे छहों व्यक्तियों के तो एक-एक के (भाग में) इतने आयेंगे। तो क्या सातवाँ भाग मेरा तो करे। आहाहा! अरे! दुनिया तो स्वार्थ के पुतले हैं, हों! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि ऐसा भाव किया कदाचित् और देने में न आवे तो भी उसको तो पुण्य होगा और (मरने के) बाद देने में आवे तो भी उसको तो जो भाव हुआ था, उसका पुण्य है, धर्म-बर्म नहीं बिल्कुल, जन्म-मरण का अन्त उसमें नहीं है। समझ में आया? '**प्रगट रह्यौ तिहूं लोक भरिकैं**' देखो, तीन लोक का ज्ञाता-दृष्टा हो गया। आहाहा! सम्यग्ज्ञान हुआ तो सब लोक का ज्ञाता-दृष्टा आत्मा हो गया। किसी का कर्ता और किसी को अपना मानना, वह सब छूट गया। आहाहा! जादवजीभाई! यह सब पैसेवाले हैं, देखो सब। परन्तु पीछे से सब यह होगा, हों! इसकी अपेक्षा पहले जीतेजी कुछ ममता घटाना। ऐई!

यहाँ तो कहते हैं, भगवान! तेरी पूँजी में अन्तर में अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द प्रभु! तेरी सत्ता में पड़ा है। तेरी सत्ता वह है, पुण्य-पाप का विकल्प, वह तेरी सत्ता नहीं। तेरी सत्ता में नहीं, तेरी सत्ता नहीं और तेरी चीज़ नहीं। आहाहा! वीतराग तीर्थंकर

परमेश्वर इन्द्रों के समक्ष यह बात करते थे। अर्धलोक के स्वामी इन्द्र। भगवान विराजते हैं, वे सीमन्धर परमात्मा। इन्द्र आते हैं भगवान के दर्शन करने। हाँ, वहाँ भगवान की वाणी (खिरती है)। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे और यह (वाणी) लाये।

यह पाथेय लाये, पाथेय। पाथेय लावे न कि बापू! कहाँ गये थे? कुछ लाये मेरे लिये? घड़ी। वह क्या कहलाता है? इंडिपेन कुछ अच्छी लाये या नहीं? भाई लाया, लाया, तेरे लिये, ले। फिर सब बैठे सामने देखने कि कहाँ है और कैसे है? इसी प्रकार यह भगवान के पास गये थे वे यह लाये हैं। देखो, यह तेरे लिये पाथेय! आहाहा! भाथा कहते हैं, क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : पाथेय।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाथेय। इसी प्रकार यहाँ परमात्मा सन्त कुन्दकुन्दाचार्य के श्लोक का अर्थ करनेवाली टीका और उसका अर्थ करनेवाले राजमलजी, उसका पद बनानेवाले बनारसीदास हैं।

भगवान ऐसा फरमाते हैं, भाई! तेरा स्वरूप विकल्प से भिन्न करके, अन्तर्मुख दृष्टि करने से आत्मा '**उमग्यौ**'—चैतन्यस्वभाव से उछलता है। ज्ञाता-दृष्टा होकर पर को जानने में काम ले, ऐसा उछलता है। आहाहा! राग होता है, राग का भी जाननेवाला रहता है। उसका नाम धर्म और सम्यग्दर्शन है। आहाहा! '**उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहूँ लोक भरिकै**'—तीन काल—तीन लोक को जाननेवाला रह गया। समझ में आया? '**त्रैलोक्यका ज्ञायक होवेगा**' देखो अन्दर।

जाननहार चैतन्य भगवान वह राग में दिखे, तो भी राग और स्त्री और स्त्री के प्रति विकल्प—सबका ज्ञाता-दृष्टा रहता है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि वह तो ज्ञानसागर आत्मा है। ज्ञान उछला—ज्ञान प्रगट हुआ। '**प्रोन्मग्न**'—उछला। वह राग में ढँक गया था, राग से भिन्न करके जब सम्यक्त्व हुआ, ओहो! अपरिमित ज्ञान, अपरिमित आनन्द ऐसा भण्डार मैं हूँ, ऐसा ज्ञान हुआ, लोकालोक का जाननेवाला हो गया। किसी को करनेवाला नहीं और पर को अपना माननेवाला नहीं। लो, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! यह चौथे गुणस्थान की बात है। पीछे स्वरूप में ठहरकर त्रिकाल केवलज्ञान

उत्पन्न हो जाता है, तो वह केवली होता है। पहले ऐसी दशा हुए बिना केवलज्ञान और चारित्र होता नहीं। जीव अधिकार है न, जीव अधिकार।

'**ऐसौ उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव**' हे जगत के जीवों! '**ऐसौ उपदेस सुनि**'— ऐसा उपदेश सुनकर '**शुद्धता संभारै**'। आहाहा! जो शुद्धता का विस्मरण है और जो अशुद्धता स्मरण में है। आहाहा! मैंने दया पालन की, व्रत किये और भक्ति की, ऐसा अशुद्धता का स्मरण है, वह छोड़ दे। '**शुद्धता संभारै**' ओहो! मैं तो शुद्ध चैतन्यघन, यह मैं हूँ। ऐसे '**शुद्धता संभारै जग जालसौं निसरिकै**' विकल्प की जगजाल से छूटकर अपनी शुद्धता को याद करते हैं, शुद्धता को अनुभवते हैं, उसका नाम धर्म और सम्यग्दर्शन कहा जाता है। भारी महँगा भाई कहे यह! अब उसे यहाँ पहुँचना। अब ऐसे ... निकले, देखो न कहे, बौद्ध लिखाओ, बौद्ध लिखाओ। कहे, आम्बेडकर ऐसे थे और यह हिन्दू धर्म का ठिकाना नहीं था। अब तुझे कुछ खबर नहीं होती। उसमें इस रास्ते आना भारी कठिन! ओहोहो! मन के मृग को वापस मोड़ना... आया था न अभी। वह सरोवर किनारे रे मृग प्यासे। पानी का भरपूर सरोवर दिखता नहीं। उसे खारी जमीन में मृगजल का पानी देखने में आता है। वहाँ शान्ति मिलती नहीं, तृषा टूटती नहीं और पानी मिलता नहीं। आहाहा!

इसी प्रकार चैतन्य सरोवर भगवान आत्मा को भूलकर... यह '**संभारै**' है न? भूलकर पुण्य और पाप के राग में सावधान सम्हालने से इसे शान्ति कहीं नहीं मिलती, इसे धर्म नहीं मिलता। आहाहा! अभी तो यह बात सुनना मुश्किल पड़े। यह क्या कहते हैं परन्तु ऐसी बात? ऐसा धर्म! यह तो बाबा हो जाये, तब यह बैठे। बाबा ही है, सुन न! दूसरी कौन सी चीज़ तुझमें है? राग से रहित, शरीर से रहित, कर्म से रहित, पर से खाली, तू बाबा ही है पर से तो। समझ में आया? आहाहा! अपना ज्ञान सागर से भरा है, ऐसा लिखा है न। **ऐसा उपदेश सुनकर तुम्हें जगज्जाल से निकलकर....** जगजाल अर्थात् राग से लेकर सब संसार—यह जगजाल। आहाहा! पद भी बनाये हैं न! आहाहा!

अन्दर चैतन्यबिम्ब सागर भरा है, तो विकल्प के जाल से छूटकर वहाँ जा। ऐसा उपदेश सुनकर तुझे यह करना है। देखो, यह करना है, वह क्रिया नहीं? वह सत्य

क्रिया। आयी थी अभी। यह सत्य क्रिया है। भारी कठिन पड़े परन्तु लोगों को, हों! यह सम्प्रदायवालों को तो ऐसा लगे। यह धर्म ऐसा निकाला है मानो। निकाला नहीं, वह तो भगवान का था, वह आया है बाहर। आहाहा! समझ में आया? ठीक, तुम्हारे। खाना, पीना और त्याग करना नहीं और धर्म हो जाये, ऐसा अब कितने ही बोलते हैं। ऐ रतिभाई! यह तुम्हारे सब ऐसा बोलते हैं वहाँ सामने। ओघडचन्दभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कहा वहाँ। एक नहीं, बहुतों को ऐसा ही है। यह क्या हो? उसकी दिशा भूला है न! मृग दिशा भूला है। उसे भूल को मिटानेवाले मिले तो उसमें उसे शंका पड़े। शंका पड़े उसको। नहीं, नहीं, यह नहीं, यह नहीं। अपने कहते हैं न, वह बराबर है। सीधे ऐसी की ऐसी परीक्षा हो जाती होगी एकड़िया सीखे बिना? स्वरूपचन्दभाई! ऐसा कहते हैं न? अरे! एकड़ा ही है, सुन तो सही। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, '**सुद्धता संभारै**' अन्तिम शब्द यह आता है बस। '**जग जालसौं निसरिकैं**'—जगजाल से नास्ति और स्वभाव की अस्ति का ज्ञान। बस, इसका नाम '**शुद्धता संभारै**' कहने में आता है। यह अनेकान्त है। अशुद्धता से भी धर्म होता है और शुद्धता से भी धर्म होगा, यह अनेकान्त नहीं है, यह तो फूदड़ीवाद हुआ। आहाहा! कठिन काम! यह बात सुनना तो पुण्य हो तो मिले। और हाँ करना तो अनन्त पुरुषार्थ चाहिए वहाँ। आहाहा! समझ में आया? जीव अधिकार पूरा हुआ।

अब, **प्रथम अधिकार का सार। आतम पदार्थ...** कैसा है अन्दर? '**शुद्ध**' है। पुण्य-पाप के विकल्प, वह आत्मा नहीं, आत्मा नहीं। आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! '**बुद्ध**' है। यह तो ज्ञान का समुद्र है। 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन...' आता है न। श्रीमद् में आता है। 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम; दूसरा कितना कहें, कर विचार तो पाम।' समझ में आता है? आहाहा! **शुद्ध, बुद्ध...** भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य निर्मलानन्द और बुद्ध अर्थात् ज्ञान का सागर चैतन्यमूर्ति आत्मा। आहाहा! यह चैतन्यसूर्य है। **निर्विकल्प...** अभेद है। उसमें राग नहीं है। अभेद है। अभेद बताना है। शुद्ध में उसे

(विकल्प से) रहित बताया, परन्तु अभेद है। एकस्वरूप अखण्ड आनन्दमूर्ति प्रभु... समझ में आया? निर्विकल्प है।

'**देहातीत**' है। देह से अतीत है—रहित है। '**चिच्चमत्कार**' मात्र है। आहाहा! ज्ञान का चमत्कार उसमें है। एक क्षण में तीन काल—तीन लोक को जाने, ऐसा चिच्चमत्कार है, यही चमत्कार है। समझ में आया? कितने ही ऐसा कहे न, यहाँ आवे उसे पैसे होते हैं। परन्तु वह चमत्कार नहीं। धूल भी नहीं, सुन न अब! सुनते हैं न ऐसा। यह चलता है या नहीं? हाँ, बहुत से कहते हैं। लकड़ी में कुछ है, ऐसा कहते हैं। सर्वत्र चलता है मुम्बई और सब जगह। इस लकड़ी में कुछ है, हों! ऐसे सिर पर फिरे और पैसा हो जाये। परन्तु यहाँ गरीब भी बहुत हैं, सुन न! यह तो हाथ में पसीना आवे और शास्त्र को छुए तो असातना होती है, इसके लिये यह है। खो जाये, कोई ले जाये चुपचाप।

मुमुक्षु : ऐसा बना हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बना है। सनावद न?

मुमुक्षु : सोनासन।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनासन। यह लकड़ी पहली थी न वह सूखड़ की। कोई ले गया कि महाराज की लकड़ी में कुछ है। जादू है जादू। करोड़पति हो वह उनके पास आते हैं, ऐसे-ऐसे गृहस्थ। अरे भगवान! चिच्चमत्कार यह आत्मा है यहाँ तो। यह चमत्कार-फमत्कार का क्या काम तुझे यहाँ? आहाहा! समझ में आया?

देखो, क्या शब्द पड़ा है? '**चिच्चमत्कार**'। आहाहा! एक क्षण में सबको जाने और राग न हो, ऐसा चैतन्य चमत्कार भगवान आत्मा है। श्रद्धा में खबर नहीं, ज्ञान में खबर नहीं और धर्म करना है। धर्म करनेवाला कौन आत्मा है, इसकी खबर नहीं। धर्म करो। क्या धर्म होगा? धूल में भी नहीं होगा, सुन न। समझ में आया? '**चिच्चमत्कार, विज्ञानघन...**' लो। चिच्चमत्कार कहा, वह विज्ञान का घन है। आत्मा में संसार का, विकल्प का प्रवेश नहीं। आहाहा! देह का प्रवेश नहीं, वाणी का प्रवेश नहीं, पुण्य-पाप के विकल्प राग का अन्दर प्रवेश नहीं—ऐसा विज्ञानघन आत्मा है। सर्वज्ञदेव परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने ऐसा आत्मा कहा है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि राग उसको स्पर्शता नहीं। तो राग से आत्मा को धर्म हो, यह कहाँ से आया? '**विज्ञानघन**'।

'**आनंदकन्द...**' ज्ञानघन है, साथ में आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। शकरकन्द में जैसे मिठास भरी है, वैसे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। आहाहा! समझ में आया? उसको आत्मा कहते हैं। पुण्य-पाप के विकल्प और दु:ख उसमें है नहीं। व्यवहार है नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अब अभी ऐसा आत्मा सुनने में आवे नहीं। कब—कभी समझ करे और कभी श्रद्धा और अनुभव करे। और अनुभव बिना धर्म होता नहीं।

'**परमदेव**' है, लो। ओहोहो! यह तो परमदेव आत्मा है। आ गया न, आगे आया था। दिव्यशक्ति का धरनेवाला आत्मा परमदेव है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, ऐसी ४७ शक्तियाँ ली हैं। ऐसी अनन्त शक्तियाँ... अनन्त शक्ति का देव है। दिव्य शक्ति का धरनेवाला देव है। ऐसा परमदेव आत्मा, आहाहा! समझ में आया? ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता—ऐसी अनन्त शक्तियाँ दैवशक्ति—दिव्यशक्ति, ऐसा दिव्य शक्ति का धरनेवाला आत्मा, वह परमदेव है। देव नहीं, परन्तु परमदेव है, ऐसा कहा। आहाहा!

'**सिद्ध सदृश**' है। जैसे अशरीरी परमात्मा 'णमो लोए सव्व सिद्धाणं'... आता है न? णमो सिद्धाणं आता है। परन्तु 'लोए' है उसमें मूल तो। 'णमो लोए सव्व सिद्धाणं' है अपने। यह अन्तिम शब्द है न अन्तिम-अन्त में 'णमो लोए सव्व साहूणं'। यह 'लोए' शब्द सर्वत्र लागू करना, पाँचों में। 'णमो लोए सव्व अरिहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आईरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।' अन्तिम पद में एक में रखा, परन्तु चारों में समझ लेना। पण्डितजी।

मुमुक्षु : .... अन्तदीपक....

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तदीपक है। अन्तदीपक अन्त-आखिर में। आहाहा! ऐसा भगवान सिद्ध सदृश है। सिद्ध जैसा है। जैसे सिद्ध भगवान, ऐसा है। आदर्शरूप से सिद्ध को लक्ष्य में ले कि जो सिद्ध में नहीं, वह मुझमें नहीं। सिद्ध में है, वह मुझमें है। ऐसे आत्मा को अन्तर्दृष्टि करके समझना, भेदज्ञान करना, अनुभव करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३०, फाल्गुन शुक्ल ४, सोमवार, दिनांक ०१-३-१९७१
जीवद्वार का सार

प्रथम अधिकार का सार

आत्मपदार्थ शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, देहातीत, चिच्चमत्कार, विज्ञानघन, आनन्दकन्द, परमदेव, सिद्ध सदृश है। जैसा वह अनादि है, वैसा अनन्त भी है अर्थात् न उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट भी होगा। यद्यपि वह अपने स्वरूप से स्वच्छ है परन्तु संसारी दशा में जब से वह है, तभी से अर्थात् अनादि काल से शरीर से सम्बद्ध है और कर्मकालिमा से मलिन है। जिस प्रकार कि सोना धाऊकी दशा में कर्दम सहित रहता है परन्तु भट्टी में पकाने से शुद्ध सोना अलग हो जाता है और किट्टिमा पृथक् हो जाती है; उसी प्रकार सम्यक्तप मुख्यतया शुक्लध्यान की अग्नि के द्वारा जीवात्मा शुद्ध हो जाता है और कर्मकालिमा पृथक् हो जाती है। जिस प्रकार जौहरी लोग कर्दम मिले हुए सोने को परखकर सोने के दाम देते-लेते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी लोग अनित्य और मल भरे शरीर में पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्दमय परमात्मा का अनुभव करते हैं।

जब कपड़े पर मैल जम जाता है, तब मलिन कहा जाता है, लोग उससे ग्लानि करते हैं और निरुपयोगी बतलाते हैं, परन्तु विवेकदृष्टि से विचारा जावे तो कपड़ा अपने स्वरूप से स्वच्छ है, साबुन पानी का निमित्त चाहिए। बस! मैलसहित वस्त्र के समान कर्दमसहित आत्मा को मलिन कहना व्यवहारनय का विषय है और मैल से निराले स्वच्छ वस्त्र के समान आत्मा को कर्मकालिमा से जुदा ही गिनना निश्चयनय का विषय है। अभिप्राय यह है कि, जीव पर वास्तव में कर्मकालिमा लगती नहीं है, कपड़े के मैल के समान वह शरीर आदि से बँधा हुआ है, भेदविज्ञानरूप साबुन और समतारसरूप जल द्वारा वह स्वच्छ हो सकता है। तात्पर्य यह कि जीव को देह से भिन्न शुद्ध-बुद्ध जाननेवाला निश्चयनय है और शरीर से तन्मय, राग-द्वेष-मोह से मलिन कर्म के आधीन करनेवाला व्यवहारनय है। सो प्रथम अवस्था में इस नयज्ञान के द्वारा जीव की शुद्ध और अशुद्ध परिणति को समझकर, अपने शुद्ध स्वरूप में लीन होना चाहिए इसी का नाम अनुभव है। अनुभव प्राप्त होने के अनन्तर फिर नयों का विकल्प भी नहीं रहता,

इसलिए कहना होगा कि नए प्रथम अवस्था में साधक हैं और आत्मा का स्वरूप समझे पीछे नयों का काम नहीं है।

प्रथम अधिकार के सार पर प्रवचन

यह समयसार नाटक, जीवद्वार का सार, जीवद्वार का सार। थोड़ा आया है, फिर से (लेते हैं)।

जैसा यह आत्मा है, वैसा अन्तर में अनुभव हो, तब उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। जड़ सब पदार्थ हैं, वे हैं, वे आत्मा के नहीं और आत्मा में नहीं। आत्मपदार्थ तो **शुद्ध...** है, त्रिकाल शुद्ध है। चैतन्यस्वभाव ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि वह त्रिकाल शुद्ध है। आत्मपदार्थ ही शुद्ध है, उसे आत्मा कहते हैं। पर्याय में अशुद्धता है, वह आत्मा नहीं, वह तो अनात्मा है। आहाहा! समझ में आया? आत्मा शुद्ध है, **बुद्ध** है, वह तो ज्ञान का सूर्य है, चैतन्यपुंज है। इस प्रकार उसे जब नजर में आवे, तब उसने आत्मा जाना और प्राप्त किया कहने में आता है।

मुमुक्षु : कुछ पहले तो चाहिए न!

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले कुछ नहीं मिलता। पहले आ गया सवेरे। नवनीतभाई कहते हैं... निरपेक्ष आया था न भाई! परम निरपेक्ष। वस्तु ऐसी है। उसका स्वभाव ही ज्ञाता स्वभाव से प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वरूप ही है। समझ में आया? ऐई! स्याद्वाद कहाँ गया परन्तु तुम्हारा? अभी स्याद्वाद डाला था वापस।

मुमुक्षु : स्याद्वाद....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रश्न नारद है न! वहाँ भी करता होगा नारदाई वेडा। मुम्बई में प्रश्न करते होंगे। प्रश्न में नारद जैसा... परन्तु जरा बाहर में भटकाऊ प्रकृति है न! जहाँ-तहाँ भटके, ऐसा। ऐ देवानुप्रिया!

भाई! तू जहाँ है, वहाँ तो अकेला ज्ञान का सागर है, भाई! उसमें नहीं पुण्य-पाप का राग, नहीं शरीर, नहीं कर्म, ऐसा बुद्धस्वरूप भगवान आत्मा है। बुद्ध अर्थात् वे बुद्ध

भगवान नहीं, हों! '**बुद्ध**' अर्थात् ज्ञान चैतन्यसूर्य, पुण्य-पाप के विकल्प के राग के पीछे अकेला चैतन्यसूर्य प्रभु, उसे यहाँ आत्मा कहा जाता है। वह '**निर्विकल्प**' है, अभेद है। अभेद अर्थात् उसमें गुण-गुणी का भेद भी नहीं। वस्तु तो अभेद ही है।

मुमुक्षु : प्रमाण की बात चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पर्याय अंश है, वह गुण-गुणी का, पर्याय का भेद—विशेष करे, वह तो व्यवहारनय का विषय है। परन्तु वह अभूतार्थ है, सत्यार्थ है (नहीं), ऐसी बात है। भेदस्वरूप वह जीव स्वरूप ही नहीं। यहाँ तो यही लेना है। एक समय की पर्याय है, वह भी जीवस्वरूप नहीं। मगनभाई! गजब भगवान! ऐसी चीज़ तू है, भाई! तुझे खबर नहीं।

यह आनन्द का धाम भगवान है। उसमें अतीन्द्रिय आनन्द की वह शिला है। '**निर्विकल्प**' अभेद; गुण-गुणी का भेद नहीं, एक समय का पर्यायभेद भी वह तो व्यवहार है। व्यवहार है, वह अभूतार्थ है। त्रिकाल की अपेक्षा से व्यवहार जीव झूठा है। आहाहा! '**देहातीत**' है। भगवान तो इस शरीर से अत्यन्त भिन्न है। 'ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव...' स्फटिक रत्न होता है, अकेला स्वच्छ और निर्मल। वह जड़ है, यह चैतन्य स्फटिक रत्न है। कैसे बैठे? रंक होकर रुलता है, पामर होकर परिभ्रमण करता है, उसे यह वस्तु ऐसी है, ऐसा बैठता नहीं। समझ में आया? जैसे निर्विकल्प... क्या कहा?

'ज्यों निर्मलता स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव, श्रीजिन वीर ने रे धर्म प्रकाशिया, प्रबल कषाय अभाव रे... ज्यों निर्मलता वह स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव रे, श्री जिन वीर ने धर्म प्रकाशिया...' सर्वज्ञ परमात्मा जिनेन्द्र वीर देव ने कहा, भगवान! तेरा स्वरूप तो अभेद, देह से रहित है। उसकी दृष्टि करने से तुझे सम्यग्दर्शन होता है। क्योंकि आत्मा ऐसा है। पर की अपेक्षा रखे और आत्मा का भान हो, ऐसा आत्मा ही नहीं। आहाहा! सवेरे आया था न परम निरपेक्ष! मगनभाई! भाई! ऐसा है, हों! तू पंगु नहीं कि लकड़ी के आधार से चले। विकल्प और व्यवहार के आधार से तेरा भान हो, ऐसा तू नहीं है। ऐसा तू नहीं और ऐसा उसे मानना, यह भ्रम है। आहाहा!

जेठाभाई ! सूक्ष्म बात है, भगवान ! अनन्त काल से इसकी जाति को जिनेन्द्रदेव कहते हैं, ऐसा ही जिनेन्द्रदेव आत्मा है।

कहते हैं कि '**देहातीत**' है। शरीर के, जड़ के रजकणों से अत्यन्त निराला— अतीत अर्थात् भिन्न अन्दर चैतन्य है। देह को और भगवान आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह रजकण मिट्टी का पुतला होकर रचे हुए हैं। यह कहीं तेरी चीज़ नहीं, यह तुझमें नहीं, इनसे तेरा चैतन्य चमत्कार... यह बाद में आयेगा। '**चिच्चमत्कार**'... भगवान ! तेरा चमत्कार तो चैतन्य का है। तू तुझे जान और तुझमें रहकर पर के आश्रय बिना जगत के लोकालोक पदार्थ को जानने की चमत्कारिक शक्ति तुझमें है। आहाहा ! समझ में आया ? '**चिच्चमत्कार...**'

'**विज्ञानघन**' है वह। विशेष ज्ञानगुण का घन है वह। जैसे सर्दी का घी ठोस होता है, उसमें अँगुली प्रवेश करने पर तो लगती है। क्या कहलाती है ? फाँस। फिर उसे छह-छह महीने तक वेदन होता है। अँगुली में घी की फाँस लगे ऐसा कठिन। अब तो यह सब कालाबाजार हो गया है, सब फेरफार हो गया है। पहले का... पहले का घी ऐसा था। चेला में देखा था न हमने। ऐसे घी का तुम्हारे धरमशीभाई इतना आधा डिब्बा रखते और गुड़ सहित डाले हाथ में। डेढ़ पावसेर, अधसेर घी। तब कहाँ कीमत थी ? अब यहाँ तुम्हारे कितना कुछ कहते हैं ? बारह रुपये किलो और...

मुमुक्षु : १७ रुपये किलो।

पूज्य गुरुदेवश्री : १७ रुपये किलो। अब होवे वह ठीक। तब तो ढाई रुपये का सेर। समझ में आया ?

उस सर्दी में ठोस घी में अँगुली तो प्रवेश न करे, परन्तु तवेथो प्रवेश न करे, तवेथो मुड़ जाये। तवेथो समझे ? तवेथो समझते हैं ? खूरपा, खूरपा। इसी प्रकार भगवान आत्मा '**विज्ञानघन**' है, जिसमें पुण्य और पाप के विकल्प का प्रवेश नहीं। कर्म और शरीर का तो प्रवेश नहीं, परन्तु जिसमें, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव का स्वरूप में प्रवेश नहीं। आहाहा ! ऐसा '**विज्ञानघन**' आत्मा है। उसे जानना पड़ेगा, यदि हित करना हो तो। और जानकर 'ऐसा आत्मा' उस पर नजर डालने से वास्तविक

सम्यग्दर्शन और आत्मा का अनुभव हो, उसे धर्म कहा जाता है। आहाहा! देखा '**विज्ञानघन**'।

'**आनन्दकन्द**' है वह तो। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। उसे पीते... पीते... अतीन्द्रिय आनन्द पीने से पार नहीं आता। अनुभव में अतीन्द्रिय आनन्द पीने से पार नहीं आता, ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द है। कैसे बैठे? आहाहा! यहाँ मिथ्या प्रयास करता है बाहर में पैसे में आनन्द सुख, बाहर में सुख, स्त्री में सुख, कीर्ति में सुख। धूल में भी नहीं। भगवान! भूला पड़ा है तू। जहाँ आनन्द है वहाँ तुझे खबर नहीं। समझ में आया? '**आनन्दकन्द**' है। कन्द-कन्द जैसे शकरकन्द होता है न, शकरकन्द मीठा... मीठा... उसमें भी जहाँ उसे बाफकर शक्कर डालकर... स्वयं ही मीठा है। इसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्द का कन्द है, कन्द है, दल है। आहाहा! यह रजकण में अन्दर भिन्न अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द दल है। आहाहा! लड़के आईसक्रीम नहीं चूसते! क्या कहलाता है? कुल्फी। यह तो अतीन्द्रिय आनन्द को चूसनेयोग्य चैतन्य है। आहाहा!

ऐसा आनन्द का धाम भगवान '**परमदेव**' है वह। '**परमदेव**।' एक-एक शक्ति दिव्य शक्ति, ऐसी अनन्त शक्ति का स्वामी परमदेव है। ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, आनन्द इत्यादि अनन्त शक्तियाँ, वे शक्तियाँ दिव्य शक्तियाँ हैं। ऐसी अनन्त शक्ति का भगवान देव स्वामी, वह परमदेव है। आहाहा! देखो न यह जहाँ लेख आया है पद्मावती का। भाई! यह विवाद पण्डितों का ऐसा चलता है। मक्खनलालजी... पद्मावती को मानना, यह और यह। यह क्या? बापू! देव का देव तू, उसे कौन सी देवी कौन हो? भाई! वीतराग परमदेव मानना, वह भी एक विकल्प है। ऐसे पद्मावती और फद्मावती देवी मानना, वह जैन के लक्षण नहीं, वह तो व्यभिचारी के लक्षण हैं। आहाहा! पण्डितजी!

अरे! जैन में भी कहाँ चला गया? शिकोतेर अम्बाजी। तुम्हारे कांप में अम्बाजी बहुत मानते हैं। मगनभाई! उसे खबर है। जहाँ तहाँ... (संवत्) १९८२ का चातुर्मास था न वढवाण। आहार लेने गये। भगवान... भगवान क्या, भगवानजीभाई। सुन्दरवणा के उपाश्रय में सेठ भगवानदास। चुनीभाई के छोटे भाई। मैं आहार लेने गया था, मुझे कुछ खबर नहीं। उस रसोई में ब्राह्मण कूटते थे। वे वृद्ध। उससे लकड़ी की मोगरी से। ऐ यह

क्या ? कहे, यह मनौती की है। अरर ! यह भगवान सेठ, वह सुन्दरवणा के उपाश्रयवाले सेठ।

मुमुक्षु : सेठ ऐसे ही होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सभी सेठ ऐसे होते हैं ?

मुमुक्षु : उस प्रकार के सेठ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उस प्रकार के दूसरी बात है। नवनीतभाई जैसे सेठ लो न। यह भी सेठ बाहर में तो कहलाये न। ....

आहाहा ! भाई ! तू देव का देव है, हों ! तेरे लिये दूसरा देव नहीं हो सकता। तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव भी तेरे लिये तो व्यवहार है, भाई ! आहाहा ! निश्चय तू अनन्त शक्ति का धनी है, भाई ! चैतन्यचमत्कार की शक्तियाँ जो अनन्त हैं, संख्या से, हों ! एक-एक शक्ति दिव्यशक्ति और एक शक्ति में अनन्त सामर्थ्य। जिसका स्वभाव है, उसका क्या कहना ! जिसका स्वभाव है, शक्ति है, सत्त्व है, तत् का तत्त्व है, सत् का सत्त्व है। ऐसी एक-एक शक्ति की अनन्तता, अपरिमितता, बेहदता, वह दिव्यशक्ति है। ऐसी अनन्त शक्ति का तू परमदेव है। समझ में आया ? वह देव प्रसन्न हो जाये न कोई व्यन्तर और भूतड़ा। आहाहा ! हमारे देव आते हैं। अरे भाई ! क्या है तुझे ? तू अनन्त बार व्यन्तर और बड़ा वैमानिक का नौवें ग्रैवेयक का देव हुआ, भाई ! वह देव नहीं। देव तो दिव्य शक्ति का धारक भगवान स्वयं देव है। ऐसे आत्मा को अन्तर में पहिचानकर अन्दर अनुभव करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्म की पहली सीढ़ी—शुरुआत है।

'**सिद्ध सदृश**' है। जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही यहाँ अन्दर है। सिद्धस्वरूप सदा पद मेरो। 'सिद्धसमान सदा पद मेरो।' **जैसा वह अनादि है...** ऐसा स्वरूप तो इसका अनादि है, है और है। भाई ! तेरी नजर में तुझे नहीं आया। नजर में न आवे अर्थात् कि वस्तु है, वह चली जाये ? समझ में आया ? आहाहा ! कहते हैं... यह तो दो-चार व्यक्ति... कहो, समझ में आया ? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की वाणी में आत्मा का स्वरूप यह आया है। तेरी जाति को इस प्रकार से भगवान ने देखा है।

मुमुक्षु : होवे वह देखे न भगवान।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाणो देखे वैसा कहे। आता है न बारोट में। भाणो बारोट था। उसे किसी के साथ बातें करते-करते ऐसा कि ऐसा कैसे कहते हैं? 'भाणो देखे ऐसा कहे।' आता है न बारोट में। जमींदार के पास गया होगा। कुछ बोला होगा कुछ उसकी उघाड़ दशा (के सन्दर्भ में)। भाणो देखे वैसा कहे। तीनों भभ्भा। इसी प्रकार भगवान देखे वैसा कहे। आहाहा! स्वरूपचन्दभाई!

भगवान ने यह देखा है प्रभु! तेरे स्वरूप को। भाई! तू तो अनादि का शुद्ध आनन्दघन है। अनादि का है, तेरी उत्पत्ति है नहीं। **अनन्त भी है अर्थात् उत्पन्न न हुआ और न कभी नष्ट होगा।** अविनाशी भगवान की उत्पत्ति कहाँ है और नाश कहाँ से? अरे! इसके घर के गहनों की खबर नहीं कि मेरे घर में गहना कैसा है? किसी का गहना देखे तो आहा... आहाहा! क्या है आहाहा...? भाई! तेरे घर में तो अनन्त चैतन्य रत्न पड़े हैं। ऐसा जो भगवान अनादि का है, ऐसा अनन्त काल रहनेवाला है। यद्यपि **यह अपने स्वरूप से स्वच्छ है....** यद्यपि अपने निज स्वरूप से तो शुद्ध और स्वच्छ ही भगवान आत्मा है।

इस देह में परमात्मा स्वरूप आत्मा, वह शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने ऐसा देखकर कहा, 'भाई! तू तो ऐसा है, हों! तुझे तेरी खबर नहीं। तू कहाँ रुक गया है? जहाँ जाना है, वहाँ जाता नहीं।' अथवा दया, दान, व्रत और विकल्प को मेरा (ऐसा मानकर) रुक गया, वस्तु पड़ी रही। अथवा एक समय की दशा जितना मैं, वस्तु रह गयी भगवान! आहाहा! जैसा है, वैसा अनादि स्वच्छ ही है। **परन्तु संसारी दशा में....** अनादि पर्याय में—संसारदशा में **जब से वह है तभी से....** जब से अनादि संसार दशा है, तब से अनादि काल से **शरीर से सम्बद्ध....** अनादि का शरीर के साथ निमित्त सम्बन्ध है। वस्तुस्वभाव के साथ कुछ है नहीं। आहाहा! पर्याय में इस शरीर का सम्बन्ध दिखता है। बापू! वह तू नहीं। आहाहा!

कण्डे का भीतरी भाग बड़ा हो। समझ में आया? उसमें जैसे सर्प रहता हो, परन्तु वह तो कड़वा तीखा जहरवाला... कितनों को भीतरी भाग में से सर्प काटता है न। ऐसे सवेरे कण्डे लेने जाये, हाथ (डाले तो) टुकड़ी उसमें से निकले और काटे, उल्टे

मर जाये बाहर। इसी प्रकार इस शरीर के अन्दर में अमृतरूपी आत्मा आनन्द पड़ा है, कहते हैं। वह अनादि का ऐसा है, नया है नहीं। इसी प्रकार उसकी भूल भी दशा में अनादि की है। अनादि से शरीर सम्बन्ध और **कर्मकालिमा से मलिन है।** पुण्य-पाप के मिथ्यात्व के भाव से अशुद्धनिश्चय से मलिन है। कर्म से असद्भूत व्यवहारनय से वह मलिन है, ऐसा कहा जाता है। शरीर सम्बन्ध है।

जिस प्रकार से सोना.... सोना धातु की दशा में... जब पत्थर में सोना दिखता है... खान में से जब निकाले, तब वह दशा में कर्दमसहित रहता है। सोना अन्दर मिट्टी सहित दिखता है, परन्तु उस मिट्टी से तो सोना अत्यन्त भिन्न है। तब उसे अग्नि लगाने से पिघलकर मिट्टी से भिन्न करते हैं। आहाहा! क्या बराबर है? वह आया है अग्नि से जलाने का इसलिए? परन्तु ऐसा जहाँ माने, इसलिए वह अग्नि लगी उसे, ऐसा कहते हैं। ऐसा भगवान आत्मा है। अरे! उसका माहात्म्य जहाँ अन्दर आया और अन्तर्मुख जहाँ गया, मिथ्यात्व का चूरा और राग-द्वेष का नाश हो जाता है। ऐसी वह चीज़ है, परन्तु उस चीज़ की उसे खबर नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : खबर पड़ने के पश्चात् क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : खबर पड़ने के पश्चात् करना क्या प्रश्न? खबर पड़ने के पश्चात् खबर हो गयी कि ऐसा है, अब उसमें वह स्थिरता हो। क्या करना है?

मुमुक्षु : व्यवहार करना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार कहाँ आया? वह विकल्प आवे, उसे जाने। जाना हुआ प्रयोजनवान है, बीच में विकल्प आवे, वह जाना हुआ प्रयोजनवान है, आदरणीय प्रयोजनवान या किया हुआ प्रयोजनवान नहीं है। ऐ देवानुप्रिया!

यह प्रश्न नारद है। वहाँ हिम्मतभाई को बहुत उखेड़ते होंगे मुम्बई। कहो, समझ में आया? तुम्हारी छाप ऐसी पड़ी है। नवनीतभाई कहते थे कि अब तुम अकेले हो। छोड़ दो न सब, रहो न (यहाँ)। उसे कहा पोसाता (हो)। उसे खाने-पीने की सुविधा की गृद्धि हो वहाँ। यहाँ सब मिले नहीं। कहा नवनीतभाई ने कि तो बाई रखना। तो वह भी पोसाता नहीं। व्यवस्थित करे, न करे। ऐई!

मुमुक्षु : अब विचार करूँगा साहेब आगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो नवनीतभाई ने बहुत कहा था। अन्दर नहीं कहा था तुमको? आहाहा!

वह तो जोड़िया बैल जैसा है न। सहारा लगाये तो खड़ा हो, वहाँ गिरे। हमारे गढडा में चातुर्मास था न... बोटाद में ८१ में। महाजन का जीमण नहीं था उन लोगों का? महाजन का उसमें वण्डा में। वहाँ व्याख्यान सुनकर सब लोग उतरे तो समूणगा धू.... होकर पड़े, (ठीक सा) लगे। उसी प्रकार जिसे अन्तर में वीर्य की जागृति स्वभाव सन्मुख नहीं, उसे सहारा डालकर शब्द करके खड़ा करे...

मुमुक्षु : वापस गिरे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह टिके कहाँ तक? जेठाभाई! आहाहा!

सोना धातु की दशा में कर्दम सहित रहता है परन्तु भट्टी में पकाने से शुद्ध सोना अलग हो जाता है। मिट्टी से शुद्ध सोना भिन्न पड़ जाता है। **और किट्टिमा पृथक् हो जाती है,....** कालिमा भिन्न पड़ जाती है। परन्तु उसी प्रकार सम्यक्तप... यहाँ तो अन्तिम (दशा) है, वह लेनी है न! शुक्लध्यान पूरा ले लिया है। पहले से अन्तर अग्नि लगाना, धर्मध्यानरूपी पहली अग्नि... शुद्ध चैतन्य पर दृष्टि करके एकाग्र होने से, वे पुण्य और पाप और कर्म भिन्न पड़ जाते हैं। रहते हैं, परन्तु भिन्न पड़ जाते हैं। फिर स्वरूप में ध्यानाग्नि लगाने से उस अस्थिरता का नाश होकर अकेला भगवान स्वर्ण समान सोलहवान हो जाता है। कहो, समझ में आया? सोने से (कालिमा) पृथक् हो जाती है। **जिस प्रकार जौहरी लोग कर्दम मिले हुए सोने को परखकर (सोने के) दाम लेते-देते हैं।** उस सोने का दाम दे, वह कहीं कथीर (के पैसे) दे?

सोने का गहना हो न पाँच-दस सेर का... पहले ऐसा रिवाज था। पहले लाख डालते थे न अन्दर। फिर घर साधारण हो जाये और गहना पड़ा हो २५-५० हजार का, बेचने निकले तो लाख अन्दर हो। उस सोनी की दुकान पर जाये। कितना सोना है इसमें? काटे बिना तौलना। क्योंकि हमारे वापस अन्यत्र बताना है। काटे बिना तौले सोनी। दो तराजू ले और दो तराजू डाले पानी में। उसमें—पानी में लाख और सोना दोनों पड़े

हों। तौल आवे सोना का और लाख का तौल न आवे। सोनी उस ओर काट ले तो फिर मुझे किसे बतलाना? मुझे दूसरे घर में बतलाना है कि वह क्या देता है? तीसरे घर में बतलाना है। कितना सोना मेरा इसमें? भाई! पाँच सेर है सोना और तीन सेर है लाख? देखो! तौल आया पाँच सेर का। लाख का तौल न आवे। इसी प्रकार आत्मा में पुण्य-पाप की कीमत नहीं आती। उसे सम्यग्ज्ञान से तौलने पर पुण्य-पाप की कालिमा वह आत्मा की कीमत नहीं उसमें। आहाहा! कठिन बात! समझ में आया?

चैतन्य बादशाह अनन्त आनन्द का धाम विज्ञानघन चिच्चमत्कार प्रभु की कीमत ज्ञानी को आती है। झवेरी उस सोने की कीमत दे। वह कथीर हो एकवान, दोवान, उसकी कीमत दे? **सोने को परखकर दाम लेते-देते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी लोग अनित्य और मल भरे शरीर में....** पुण्य-पाप के भाव विकल्प अनित्य हैं, यह मल भरा हुआ शरीर धूल है, उसमें **पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्दमय परमात्मा का अनुभव करते हैं।** वह झबेरी सोना का दाम दे, कथीर की कीमत न दे। उसी प्रकार भगवान आत्मा धर्मी अनुभव करने पर शुद्ध चैतन्य का अनुभव करे, वह राग का अनुभव करे नहीं। आहाहा! व्यवहार का अनुभव न करे, ऐसा कहते हैं। क्या करना? यही कहते हैं, देखो न!

ज्ञानी लोग अनित्य और मल भरे शरीर में.... शरीर को अनित्य कहा जाता है, परन्तु पुण्य-पाप के विकल्प भी अनित्य हैं। उत्पन्न होते हैं न! यह शरीर, उसमें रहा हुआ भगवान पूर्ण ज्ञान का पिण्ड प्रभु चैतन्य सूर्य पूरा और पूर्ण आनन्दमय... दो बातें हैं। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द। ऐसा कहते हैं। पूर्ण ज्ञानस्वभाव है, वह पूर्ण ही है, उसका और आनन्दस्वभाव है अतीन्द्रिय आनन्द का रस अमृतरस, वह भी पूर्ण ही है। उस पूर्ण आत्मा स्वरूप की कीमत देकर अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं। पर्याय के ऊपर दृष्टि न रखकर, व्यवहार के ऊपर दृष्टि न रखकर, निमित्त के ऊपर दृष्टि न रखकर, अकेला परमात्मा पूर्ण स्वरूप ज्ञान और आनन्द का अनुभव करे, उसकी कीमत करता है। आहाहा!

कठिन ऐसा धर्म सूक्ष्म कहते हैं यह। इसकी अपेक्षा बेचारे सामायिक और प्रौषध, प्रतिक्रमण, यात्रा और भक्ति। यह कहाँ आया परन्त इसमें? भाई! वह तेरा धर्म नहीं।

भाई! तुझे खबर नहीं। वह तो शुभराग की—पुण्य की क्रियायें हैं। वह आत्मा की क्रिया और धर्म की (क्रिया) नहीं है। तुझे खबर नहीं। तेरी क्रिया तो पूर्ण ज्ञान और आनन्द में अन्तर (में) रहना, अन्तर का ध्यान करके अनुभव करना, वह धर्म की क्रिया है। भारी कठिन बात! कहो, समझ में आया?

परमेश्वर के मार्ग में जाना हो तो उसका दरवाजा खटखटाना पड़ेगा पहले। इसी प्रकार आत्मा पूर्णानन्द प्रभु है, उसे अन्तर निर्णय में लेना पड़ेगा, फिर अनुभव होगा। समझ में आया?

मुमुक्षु : स्व उपलब्धि तो प्रसिद्धि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रसिद्धि है अर्थात?

मुमुक्षु : है चौबीसों घण्टे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कब थी? धूल भी नहीं, अज्ञान की उपलब्धि है।

मुमुक्षु : चौबीसों घण्टे।

पूज्य गुरुदेवश्री : चौबीसों घण्टे अज्ञान की है। राग वह मैं और उसकी क्रिया मेरी, यह अज्ञान की उपलब्धि है। आत्मा की उपलब्धि कहाँ थी? आत्मा की उपलब्धि तो उसे कहते हैं जि जिसमें आनन्द और शान्ति की प्राप्ति हो। अतीन्द्रिय आनन्द और शान्ति की प्राप्ति वह आत्मा की उपलब्धि है। समझ में आया? आहाहा! नहीं, नहीं, यह तो नारद है, इसलिए पूछे।

मुमुक्षु : ज्ञानस्वरूप आत्मा है फिर.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : है अर्थात् क्या? किसे परन्तु? किसे? यही कहा। उसकी सेवा करे उसे। राग की सेवा करे, उसे ज्ञानस्वरूप आत्मा है?

यह प्रश्न आया है इसमें जीव अधिकार में, नहीं? शिष्य ने कहा, 'महाराज! वह तो ज्ञानस्वरूप है, उसकी सेवा करने का तुम क्या कहते हो? अनादि से है, वह अनादि का, वह तो कहा न।' अरे! सुन न! वह ज्ञानस्वरूप और आनन्द होने पर भी उसकी सेवा कभी नहीं की। दृष्टि बदली नहीं, दशा बदली नहीं। कहाँ से आयी तुझे आत्मा की

उपलब्धि? समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा... ऐसा आत्मा है, ऐसा जहाँ अनुभव में आवे, दशा में—अनुभव में आवे, तब उसने आत्मा जाना और उपलब्धि हुई, ऐसा कहा जाता है। ऐसी की ऐसी बातें करे, ऐसा कहीं चले? आहाहा!

अतीन्द्रिय आनन्दमय है, अतीन्द्रिय ज्ञानमय है। मय अर्थात् अभेद है। ऐसी अभेद पर दृष्टि पड़ने से उसे अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे। तब उसे सम्यग्दर्शन में आत्मा की उपलब्धि का अंश प्रगट हुआ, ऐसा कहा जाता है। ऐसे (अनुभव) बिना का पड़ा (है, वह तो) अभव्य को भी है, उसमें क्या हुआ? समझ में आया? आया है न कहीं? जीव अधिकार में आया है १९ गाथा में। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है। वाँचा है न, इसलिए मुझे बीच में एक प्रश्न का गोला। यह प्रश्न नारद है। कहा, समझ में आया? वह नारद है न....

मुमुक्षु : वह झगड़ा करावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : झगड़ा करावे। वह नारद है न, वह चलती बात में प्रश्न करे। बखेड़ा नहीं कहते। हमारे नवनीतभाई ने तो ऐसा कहा, प्रवाह पूरे ऐसा कहा। भाई! खबर है न! व्यक्तिगत कहा था। नवनीतभाई कहे, चलते प्रश्न में प्रवाह पूरता है।

नाटक में आता है। सुना है न? वड़ोदरा में नाटक देखने गये थे। संवत् ६४-६५ की बात होगी। पालेज। १८-१९ वर्ष की उम्र में। दोपहर में माल लिया, फिर फुरसत हो, लाओ न देखने जायें। उसमें बड़ा नाटक था, बड़ा नाटक अनुसूईया का था। तब बारह आने की टिकिट ली और पुस्तक लें। अपने कुछ समझे बिना बैठे नहीं, कहा, इसलिए लाओ पुस्तक, क्या बोलते हैं... पुस्तक वापस बिकती हुई ली। उसमें नारद पहले आया 'ब्रह्मा सुत मैं...'

मुमुक्षु : ब्रह्मा को सुत कैसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : 'नारद कहावुं, जहाँ हो संप वहाँ कुसंप करावुं। ब्रह्मा सुत मैं...' ऐ परन्तु ब्रह्मासुत ऐसा होगा? 'नारद कहावुं जहाँ हो संप वहाँ कुसंप करावुं।'

रामचन्द्रजी जैसों को भी पुत्रों के साथ नारद ने कुसम्प कराया। लव और... क्या कहलाये लव को?

मुमुक्षु : लव-कुश।

पूज्य गुरुदेवश्री : लव-कुश को। कारण करे उनका जन्म हुआ अन्यत्र। उन्हें तो (सीताजी को) देश निकाला दिया था रामचन्द्रजी ने, वनवास दिया था। सीताजी धर्मात्मा थी। आत्मज्ञानी आनन्द... आनन्दवाली थीं। अब उन्हें अन्यत्र प्रसव हुआ पुत्रों का। पुत्रों को खबर पड़ी कि मेरे पिताजी ने ऐसा किया है। मेरी माताजी को (देश निकाला दिया)। 'सीधे हम नहीं जायेंगे, पहले युद्ध करेंगे, फिर हम जायेंगे। मेरी माँ को ऐसा किया उन्होंने?' युद्ध... नारद ने खोस्युं हों! ऐई! लड़ते... लड़ते... लड़ते... रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी उत्तम पुरुष हैं।

रामचन्द्रजी तो मोक्षगामी, उसी भव में मोक्ष हो गया है, परमात्मा हुए हैं। परन्तु जब तक राग का विकल्प है, तब तक राग... ऐसे लड़ते... लड़ते... लड़ते... सब हथियार डाले, वे खाली गये। नारद ने लड़कों से कहा कि ध्यान रखना, वे तुम्हारे पिताजी हैं। हाँ, उन्हें खबर नहीं कि यह मेरे पुत्र हैं। इस प्रकार से बाण डाले कि पिताजी बच जाये। दूसरे बाण जाये। यह क्या? मेरे सब बाण समाप्त हो जाते हैं। राम को लगा, दूसरे लक्ष्मण और राम पके? भगवान तो इनकार करते हैं। वासुदेव और बलदेव एक ही होते हैं। दूसरे हो नहीं सकते, क्या हुआ यह? ऐसी जहाँ शंका पड़ी। वहाँ नारद ने लड़कों को कह दिया, 'बन्द करो, युद्ध बन्द करो। जाओ, वे तुम्हारे पिता हैं, चरणस्पर्श करो।' नीचे उतरकर....

मुमुक्षु : यह तो कुसंप था तो संप कराया।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पहले तो कुसंप कराया न? ऐई! पहले कराया या नहीं पिता को? बाण पर बाण। वह तो राजकुमार थे न! पढ़े हुए थे। बाण छोड़ते हैं। 'यह कौन है? हमारे बाण सामने खाली जाते हैं। अरे! कोई दूसरे पके?' ऐसी शंका पड़ी। फिर नारद ने कहा, 'तुम्हारे पिताजी को शंका पड़ी है। दूसरे कोई बलदेव-वासुदेव? जाओ चरणस्पर्श करो।' नीचे आकर... 'अरे पिताजी! हम तो आपके चिरंजीव पुत्र हैं। हमारे माताजी को ऐसा किया इसलिए जरा...' फिर मिलते हैं। बाद में तो दीक्षा ले लेते हैं। लक्ष्मणजी का देह छूटता है। लक्ष्मणजी को रामचन्द्रजी छह महीने तक घुमाते हैं।

लव और कुश दो पुत्र। 'पिताजी, आज्ञा दो, हम तो दीक्षा लेंगे। आनन्दकन्द में रमने के लिये वनवास होवेंगे। हमारे यह चाहिए नहीं। दीक्षा लेंगे।' आहाहा! वह धन्य काल, धन्य अवसर! यह दशा आत्मा की करने का काल है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भाई! दूसरा कुछ करनेयोग्य नहीं। समझ में आया? ...चला तो फँस गया कहीं... कहीं... कहीं। पोपटभाई!

मुमुक्षु : सच्ची बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं लड़के भी हों, कहीं पैसे हों, कहीं शरीर हो, वहाँ फँस गया। वह तो जड़ है, पर है, भूतावल है।

जब... अब दृष्टान्त देते हैं। **जब कपड़े पर मैल जम जाता है, तब मलिन कहा जाता है...** मलिन कहा जाता है। वास्तविक वस्त्र मलिन (नहीं है)। **जब कपड़े पर मैल जम जाता है, तब मलिन कहा जाता है, लोग उससे ग्लानि करते हैं।** क्या कहते हैं? मलिन वस्त्र की लोग ग्लानि करे, मलिन हो तो। परन्तु वस्तु तो मैली नहीं, वह तो स्वच्छ है। मैल तो दूसरी चीज़ है। **निरुपयोगी बतलाते हैं।** वह कपड़ा पहनने जैसा नहीं, मैल है, जूट है, गन्ध मारता है। **परन्तु विवेकदृष्टि से विचारा जावे तो कपड़ा अपने स्वरूप से स्वच्छ है।** वह तो स्वच्छ ही है। मैल भिन्न चीज़ अन्दर दिखती है। **साबुन पानी का निमित्त चाहिए।** लो, यह निमित्त आया। अर्थात् होता है। वह मैल जब निकलना हो, तब उस साबुन का पानी (निमित्त) होता है। करते हैं न, धोते हैं न लड़के-आदमी। दो पैर ऊपर मारे ऐसे कुछ झपट करते हैं न। मैल पृथक् पड़े। फिर पानी में डालते हैं तो मैल भिन्न पड़ जाता है। मैल भिन्न था, वह भिन्न पड़े। उसमें अन्दर एकाकार कहाँ था? वस्त्र के साथ कुछ मैल तन्मय नहीं, तन्मय हो तो भिन्न पड़े कहाँ से? क्यों, बराबर है पण्डितजी?

बस मैलसहित वस्त्र के समान कर्दमसहित आत्मा को मलिन कहना व्यवहारनय का विषय है। लो! आहाहा! मैल सहित को कपड़ा कहना, उसे निरुपयोगी कहना और ग्लानि करना, वह व्यवहारनय है। बापू! वह वस्तु का स्वरूप नहीं। आहाहा! है अवश्य, हों! जाननेयोग्य है, परन्तु आदरनेयोग्य नहीं।

मुमुक्षु : व्यवहारनय वह सम्यग्ज्ञान है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं व्यवहारनय सम्यग्ज्ञान। अकेला व्यवहार तो मिथ्याज्ञान है। आत्मा का अनुभव होने के बाद जाने, उसका नाम वह व्यवहारज्ञान है। उस व्यवहार को जाने। अकेला अज्ञानी का व्यवहार वह कहाँ से आया उसे ? अकेले अशुद्ध को जाने, वह तो अज्ञान है, मूढ़ है। उस अशुद्धतारहित ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य हूँ, उसका अनुभव होने पर, निश्चय का भान होने पर, पर्याय में जरा राग आदि दिखता है, वह व्यवहार है, अभूतार्थ है—ऐसा जानता है। सच्चा-सच्चा स्वभाव मेरा उसमें नहीं। उसके कारण मेरी वस्तु मलिन हो गयी है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! जेठाभाई! कहो, समझ में आया ? आहाहा!

चैतन्य बादशाह की बात चलती है, भाई! अरे! पामर होकर पड़ा है, एक बीड़ी बिना चले नहीं, तम्बाकू बिना चले नहीं। आहाहा! गर्म-गर्म रोटी ठीक सी तवे में से सीधी पड़ती न हो वहाँ... लाओ ओसामण गर्म-गर्म लाओ। धूल भी नहीं अब, सुन न! आहाहा! अमृत की डकार आवे ऐसी चीज़ आत्मा, उसे ऐसे गन्ध की डकार लेकर बैठा है तू, ऐसा मुझे ठीक पड़ता है, मूढ़ है। आहाहा! समझ में आया ? देखो न, मुम्बई में तो ऐसा होता है न विवाह में। सवेरे करे जीमण और दोपहर में करे विवाह, शाम को करे... क्या कहलाता है तुम्हारा ? पार्टी, सत्कार समारम्भ। रात्रि में हो गया, विदा कर दे, लो, झट निपटे। ऐसा विवाह करते हैं न! मुम्बई में (झट) निपट जाये सब, देखो न! यह विवाह है न त्रिभोवनभाई के पौत्र का। शाम और शाम को विदाई। अरे.. अरे... गजब यह!

अरे भगवान! किसके साथ (सम्बन्ध) किया ? बापू! आत्मा आनन्दस्वरूप है। अरे! उसका संग छोड़कर यह संग का किया सम्बन्ध किया ? आहाहा! भाई! तेरे स्वरूप में वह है नहीं। संग का राग भी तेरा स्वरूप नहीं। **मैल से निराले स्वच्छ वस्त्र के समान आत्मा को कर्मकालिमा से जुदा ही गिनना निश्चयनय का विषय है....** सच्चा विषय यह है। राग और कर्म की मलिनता से मेरा प्रभु निर्मल है, भिन्न है। आहाहा! यह भेदज्ञान, इसका नाम ज्ञान। यह राग का विकल्प उठे दया-दान-व्रत, वह भी मैल है।

आहाहा! कठिन बैठे! उससे मेरी चीज़ अत्यन्त प्रभु! निर्मल हूँ, निर्मल हूँ—ऐसा परलक्ष्यी ज्ञान हो, वह भी ज्ञान नहीं। आहाहा! उसे स्व का आश्रय करके जो निश्चय का ज्ञान हो, उसे ज्ञान के साथ आनन्द आता है, उसे यहाँ ज्ञान कहा जाता है। समझ में आया?

अभिप्राय यह है कि जीव पर वास्तव में कर्मकालिमा लगती नहीं है। वास्तव में तो इस वस्त्र की स्वच्छता में मैल अन्दर प्रविष्ट ही नहीं है। **कपड़े मैल के समान वह शरीर आदि से बँधा हुआ (दिखता) है।** कपड़े से मैल जैसे भिन्न, वैसे शरीर और भगवान आत्मा, वस्त्र सहित दिखाई दे मैल। ... **भेदविज्ञानरूप साबुन और समतारूप जल द्वारा वह स्वच्छ हो सकता है....** 'भेदज्ञान साबु भयो', समता निर्मल समतारस... आता है न? 'निर्मल समरस नीर, निर्मल समरस नीर।'

पुण्य-पाप के भाव से भगवान निर्मलानन्द प्रभु को अन्दर भिन्न जानने पर, जो समता—वीतरागी दशा प्रगटे, वह निर्मल नीर और राग से भिन्न करना, वह भेदज्ञान, वह साबुन और उससे निर्मल जल में उसे धोवे, क्या कहे नहीं?

मुमुक्षु : तारवे... तारवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, उस पानी में महिलायें करती हैं न?

मुमुक्षु : वस्त्र तारवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्त्र धोवे न पहले, मैल पृथक् पड़ जाये, फिर वस्त्र फैलाकर... पानी जिसे हो न उसे। हमारे तो पानी बहुत था न वहाँ उमराला में नदी। ऐ..ई, पानी चला जाये, उसमें फिर महिलायें धोवे। फिर उसकी भाषा कुछ है... निचोड़े ऐसा कुछ है। उस समय की भाषा कुछ याद नहीं आती। निचोड़े, मैल पृथक् पड़ जाये।

इसी प्रकार राग से, पुण्य से भिन्न आत्मा को जानने से समता प्रगट होती, उससे आत्मा और मैल पृथक् पड़ जाते हैं। आहाहा! यह वस्तु है। कहो, समझ में आया? इसका नाम सामायिक है। वहाँ बिना भान के सामायिक सब बिना एक के शून्य हैं, भटकने के भाव हैं। कठिन काम, भाई! चैतन्य चक्रवर्ती महाराजा का जिसे भान नहीं, राग से भिन्न का भेदज्ञान नहीं, भेदज्ञान होने पर आत्मा में शान्ति पड़े, ऐसी समता नहीं, उसे मैल कैसे धुला जाये और मैल कैसे जाये? समझ में आया? अभी पद्धति की खबर

नहीं होती। **तात्पर्य यह कि जीव को देह से भिन्न शुद्ध-बुद्ध जाननेवाला निश्चयनय है....** देखो! सच्चा ज्ञान तो उसे कहते हैं कि देह और राग से भिन्न आत्मा को जाने, उसे सच्चा ज्ञान कहते हैं। समझ में आया? दूसरे को समझाना, वह भी विकल्प है। और वह (क्षयोपशम) ज्ञान है, वह ज्ञान ही नहीं। ज्ञान तो अन्तर ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर का झुकाव होकर **देह से भिन्न शुद्ध-बुद्ध जाननेवाला...** ऐसी ज्ञान और आनन्द की दशा सहित का ज्ञान, उसे निश्चयनय कहा जाता है।

और शरीर से तन्मय—शरीर के साथ एकमेक मानना। **राग-द्वेष-मोह से मलिन कर्म के आधीन करनेवाला व्यवहारनय है....** देखो! वह व्यवहारनय यह। मानता है व्यवहार है अज्ञानी को। **शरीर से तन्मय, राग-द्वेष-मोह से मलिन।** पुण्य-पाप से मलिन हूँ अथवा पुण्य-पापवाला जीव हूँ, वह तो व्यवहारनय का विषय, अभूतार्थ, झूठी दृष्टि का विषय है। आहाहा! **सो प्रथम अवस्था में इस नयज्ञान के द्वारा जीव की शुद्ध और अशुद्ध परिणति को समझकर....** देखो! पहली दशा में आत्मा त्रिकाल शुद्ध है (ऐसा) विकल्पवाला ज्ञान और पर्याय में अशुद्धता है, ऐसा जाने। समझ में आया?

अशुद्ध परिणति को समझकर अपने शुद्ध स्वरूप में लीन होना चाहिए.... लो! अशुद्ध पर्याय—दशा रागी है, उसे छोड़कर शुद्धस्वभाव का अनुभव करना, इसका नाम आत्मा का ज्ञान, दर्शन और धर्म कहा जाता है। कठिन धर्म भाई ऐसा! ऐसा 'जिन' का धर्म होगा?

मुमुक्षु : दूसरा किसी का नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो कन्दमूल नहीं खाना, रात्रिभोजन नहीं करना, छह काय की दया पालना, लो, ऐसी बातें चलती हैं अभी तो। कौन पाले? सुन न! जगत के जीव इसे पाले, परन्तु वह तो उसके कारण से रहे हैं। जीव तो भी उसके कारण से और मरे तो भी उसके कारण से। तू उसे पाले और जिलावे, यह मान्यता अज्ञानी का भ्रम है। समझ में आया?

तत्त्व की भिन्नता की, अनेकता की तुझे खबर नहीं। अनेक तत्त्व अनेकरूप से स्वयं के कारण से रहे हैं। उन्हें दूसरा उसे रखे और मारे, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं

है। उसमें राग और अज्ञान हो कि उसे मार सकता हूँ, उसकी दया पाल सकता हूँ और पैसे का दान दूँ—ऐसा भाव, वह मिथ्यात्व का राग है। आहाहा! गजब बात है न! समझ में आया? **सो प्रथम अवस्था में समझकर....** जानना चाहिए। **अपने शुद्ध स्वरूप में लीन होना चाहिए।** परन्तु जानकर करना क्या? वह राग है, ऐसा जानकर भी अन्तर में उतरने के लिये जानना चाहिए। वह मेरा स्वरूप है नहीं, ऐसा। आहाहा! समझ में आया? **नयज्ञान के द्वारा जीव की शुद्ध और अशुद्ध परिणति को समझकर अपने शुद्धस्वरूप में लीन होना चाहिए, इसी का नाम अनुभव है।** पर्याय में राग की मलिनता है, इतना ज्ञान करके, उससे हटकर स्वभाव शुद्ध चैतन्य भगवान का अनुभव करना, यह उसका तात्पर्य और सार है। जीव के जानने का सार यह है।

भारी कठिन! सुना न हो उसे तो ऐसा लगे कि यह क्या कहते हैं यह? ऐसा मार्ग वीतराग का होगा? क्यों चम्पकभाई! सम्प्रदाय में तो यह मिले, प्रौषध करो, अपवास करो, आठम का यह करो, कन्दमूल न खाओ, रात्रिभोजन न करो। अभी तो देश के लिये बेचारे धमाल... धमाल... एक व्यक्ति आया था। देश के लिये आया था। 'महाराज कुछ शान्ति हो ऐसी पुस्तक दो।' हिम्मतभाई का साला। कहाँ गया? रविन्द्र! तेरे मामा आये थे। इतना बोले, 'इस धमाल में इस युद्ध में पड़े हैं तो भी शान्ति नहीं हुई।' एक दिया था भगवानदास का, है न आठ प्रवचन अष्ट प्रवचन। यह है, कहा, अन्दर वाँचो, परन्तु कठिन पड़ेगा। परन्तु ऐसा कहा, हों! यह युद्ध में पड़े हैं तो भी शान्ति नहीं हुई। धूल में भी नहीं बाहर में। ...मरकर हैरान होते हैं। उसे वोट देना चिल्लाहट मचाये। आहाहा! हैरान का रास्ता और मानते हैं कि हम कुछ अच्छा करते हैं।

कहते हैं, उस शुद्धस्वरूप में लीन होना, इसका नाम अनुभव है। **अनुभव प्राप्त होने के अनन्तर फिर नयों का विकल्प भी नहीं रहता।** लो। फिर यह अशुद्ध पर्याय है और त्रिकाली शुद्ध हूँ—ऐसा भेदरूप विकल्प भी अनुभव में नहीं रहता। कहो, भीखाभाई! कितना आश्रय होगा पर का?

मुमुक्षु : रहता ही नहीं साहेब।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन लोक के नाथ तीर्थंकर फरमाते हैं कि 'मेरी शरण तुझे

काम की नहीं। भाई! तू वीतरागमूर्ति आत्मा है, भाई! तेरी शरण के लिये तू है, बस। पामर होकर बैठा और झपट्टे मारे बाहर में। बाहर से कुछ आ जायेगा, कोई दे देगा, किसी की कृपा हो जायेगी। मोक्ष तो किसी की कृपा होने से मोक्ष मिल जाये, लो। धूल भी मिलता नहीं, सुन न! तेरे पुरुषार्थ के कार्य दूसरा कर दे, कैसे बने?

यह कहते हैं, अनुभव में मैं शुद्ध हूँ त्रिकाली और पर्याय में अशुद्ध हूँ—यह भाव भी फिर नहीं रहता। समझ में आया?

मुमुक्षु : श्रीमद् ने ऐसास कहा कि पन्द्रह भव में (न हो) तो (सम्यक्त्व) मेरे पास से ले जाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें हैं। 'मेरे पास से ले जाना' अर्थात् यह दशा हो तो तुझे पन्द्रह भव से अधिक नहीं होंगे, ऐसा कहते हैं। मेरे पास से लेज जाना, वहाँ कहाँ उनके पास था?

मुमुक्षु : याद रखते हैं बराबर।

पूज्य गुरुदेवश्री : याद रखे न! यह प्रश्न नारद है न। ऐसा कि इस प्रमाण मैं कहता हूँ, इस प्रमाण यदि अनुभव कर (तो) सोलहवाँ भव नहीं होगा, पन्द्रह में मुक्ति हो जायेगी। यदि ऐसा प्रयत्न हो तो। परन्तु ऐसे मेरे पास से ले जाना (अर्थात्) तुझे कुछ मिले बिना रहेगा नहीं, ऐसा कहते हैं। मगनभाई! इन्होंने बहुत पढ़ा है न। बहुत वाँचा है, फिर ऐसे चुटकला रखे बीच में।

नय प्रथम अवस्था में साधक है। क्या कहते हैं? यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर ने... आत्मा अनन्त गुण कैसे है? कैसे होना चाहिए? उसकी अवस्था कैसी है? उसका एक रूप क्या है? उसे जानने के लिये नय अर्थात् ज्ञान के अंश पहले होते हैं। समझ में आया? अवस्था को साधक कहा जाता है, यथार्थ वस्तु को सिद्ध करने की अपेक्षा से। वस्तु अभी तो, हों! अनुभव नहीं। **और आत्मा का स्वरूप समझे पीछे नयों का काम नहीं है।** अन्तर अनुभव में तो, मैं आत्मा शुद्ध हूँ, पर्याय से अशुद्ध है—यह कोई भी नय का ज्ञान वहाँ काम नहीं करता। समझ में आया? **गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं।** अब व्याख्या, द्रव्य और पर्याय की व्याख्या करते हैं। यह आत्मा द्रव्य—वस्तु जिसे कहते हैं,

वह तो गुण का पिण्ड, गुण का समूह है। वह तो इसमें आता है, नहीं? सिद्धान्त प्रवेशिका, सिद्धान्त प्रवेशिका। द्रव्य किसे कहते हैं? ऐई रविन्द्र!

मुमुक्षु : गुणों के समूह को....

पूज्य गुरुदेवश्री : गुणों के समूह को द्रव्य कहा जाता है। लड़कों को सिखाते हैं पहला। गुण क्या, द्रव्य क्या, उसका भान नहीं होता। शब्द की ही खबर नहीं होती। पाठशाला में यह चलता नहीं।... रटो पाठ।....यहाँ तो द्रव्य किसे कहना? द्रव्य अर्थात् पैसा नहीं, हों! आहाहा!

वस्तु, रजकण हो या आत्मा हो, गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। समझ में आया? पाठशाला में सिखते हैं। अपनी पाठशाला में, हों! पाठशाला। **जीव के गुण...** अब गुणों का समूह कहो द्रव्य। वस्तु जो भगवान आत्मा है, वह गुणों का पिण्ड है। अब तो गुण किसे कहना? **गुण चैतन्य, ज्ञान, दर्शन।** चैतन्य सामान्य। चेतन का चैतन्य गुण है। आत्मा का चैतन्यगुण है। उपयोग, उसके दो भेद—ज्ञान और दर्शन आदि हैं। वे अनन्त गुण हैं। वस्तु एक, गुण का पिण्ड; गुण अनन्त। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता, विभुता इत्यादि... आहाहा! घर में कितने पैसे हों, उसकी इसे सब खबर होती है। इतनी आमदनी हुई, इतने खर्च खाते गये, इतने बढ़े, गत वर्ष (पहले) साठ लाख थे। पाँच लाख बढ़े, दस लाख बढ़े। एक-एक धूल की खबर इसे होती है, धूल की। इसके घर में क्या है, उसकी खबर नहीं होती। आहाहा! चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीतरागता आदि त्रिकाल गुण है। अभी प्रश्न आया था न किसी का! 'यह गुण तो अनन्त है और तुम समकित को पर्याय कहते हो, और श्रद्धा को गुण कहते हो।' अरे! सुन न अब। आया था कोई। अरे! भगवान वस्तु है। वह तो त्रिकाल है। उसकी शक्तियाँ हैं वे गुण हैं। अब उसकी हालत हो वर्तमान में, उसे पर्याय कहा जाता है। यह बात थोड़ी लम्बी है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३१, फाल्गुन शुक्ल ५, मंगलवार, दिनांक ०२-३-१९७१
जीवद्वार का सार, अजीवद्वार पद १, २

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं, जीव के गुण चैतन्य, ज्ञान, दर्शन आदि हैं। द्रव्य की हालत को पर्याय कहते हैं, जीव की पर्यायें नर, नारक, देव, पशु आदि हैं। गुण और पर्यायों के बिना द्रव्य नहीं होता और गुण-पर्याय बिना द्रव्य के नहीं होते, इसलिए द्रव्य और गुण-पर्यायों में अव्यतिरिक्त भाव है। जब पर्याय को गौण और द्रव्य को मुख्य करके कथन किया जाता है, तब नय द्रव्यार्थिक कहलाता है और जब पर्याय को मुख्य तथा द्रव्य को गौण करके कथन किया जाता है, तब नय पर्यायार्थिक कहलाता है। द्रव्य सामान्य होता है और पर्याय विशेष होता है, इसलिए द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय के विषय में सामान्य-विशेष का अन्तर रहता है। जीव का स्वरूप निश्चयनय से ऐसा है, व्यवहारनय से ऐसा है, द्रव्यार्थिकनय से ऐसा है, पर्यायार्थिकनय से ऐसा है, अथवा नयों के भेद शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय, उपचरित व्यवहारनय इत्यादि विकल्प चित्त में अनेक तरंगें उत्पन्न करते हैं, इससे चित्त को विश्राम नहीं मिल सकता, इसलिए कहना होगा कि नय के कल्लोल अनुभव में बाधक हैं परन्तु पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानने और स्वभाव-विभाव के परखने में सहायक अवश्य हैं। इसलिए नय, निक्षेप और प्रमाण से अथवा जैसे बने तैसे आत्मस्वरूप की पहिचान करके सदैव उसके विचार तथा चिंतवन में लगे रहना चाहिए।

यह समयसार नाटक, जीवद्वार अधिकार का सार। तीसरा पेरेग्राफ। नीचे है।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। क्या कहते हैं ? आत्मा को पहिचानना है न! तो आत्मा द्रव्य क्या, गुण क्या, पर्याय क्या—उसका ज्ञान करना चाहिए न! ऐसे का ऐसे बिना भान आत्मा... (आत्मा) करे ऐसा नहीं चलता, यह कहते हैं।

मुमुक्षु : ओघे ओघे अर्थात् ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ओघे अर्थात् समझे बिना। यह आत्मा है, ये गुण हैं, क्या समझना इसमें ? वह स्वभाव रत्नत्रय... स्वभाव रत्नत्रय है। दोपहर में कहे स्वभाव

रत्नत्रय... स्वभाव रत्नत्रय, वह तो पर्याय है, पर्याय है। स्वभाव रत्नत्रय त्रिकाल की बात नहीं थी। उन्हें स्वभाव रत्नत्रय शब्द समझाना है। इसलिए उसे समझना चाहिए, ऐसा कहते हैं। सवेरे आया था न!

मुमुक्षु : हमको सबको लागू पड़ता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं, जरा यह चतुराई करता है न वह थोड़ा इसलिए उसे कहा जाता है। यहाँ तो कहते हैं कि स्वभाव रत्नत्रय जो धर्म है न, वह क्या चीज़ है? ऐसे धर्म... धर्म कहते हैं, परन्तु धर्म है क्या? वह कुछ वस्तु है या वस्तु की गुण-शक्ति है या वस्तु की प्रगट अवस्था है? समझ में आया?

एक व्यक्ति को पूछा था बहुत वर्ष पहले, सुन्दरवणा के उपाश्रय में। ७६ के वर्ष में। कहा, यह सामायिक अर्थात् क्या? द्रव्य होगा, गुण होगा या पर्याय होगी? साधु था साधु। (जवाब दिया), 'मेरे गुरु ने मुझे कुछ सिखाया नहीं।' स्वयं... स्वयं धोये हुए मूला जैसा। कहा, सामायिक कहलाती है यह, उसे द्रव्य कहना, गुण कहना या पर्याय कहना? कुछ खबर बिना ऐसे के ऐसे अन्ध के अन्ध।

मुमुक्षु : द्रव्य, गुण, पर्याय शब्द भी सुना न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं... पण्डितजी! द्रव्य किसे कहते हैं? आत्मा... यह सुन्दरवणा के उपाश्रय में था। वीरमगाम का था, नहीं? मोहनलाल के पास दीक्षा ली थी। ७६ की बात है, बहुत वर्ष हो गये। ५१ वर्ष।

यह आत्मा है और यह परमाणु रजकण—पॉईन्ट। यह (शरीर) तो बहुत रजकण का पिण्ड है, कुछ मूल नहीं। एक रजकण टुकड़ा करते अन्तिम टुकड़ा रहे, उसे द्रव्य कहते हैं, जड़द्रव्य। यह आत्मा जो है अन्दर, वह तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि का पिण्ड है, उसे द्रव्य कहते हैं। गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। ऐसे जीव में... अब उसकी व्याख्या करते हैं। **जीव के गुण चैतन्य, ज्ञान, दर्शन आदि है।** जीव में गुण... जानना, देखना, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, विभुता इत्यादि अनन्त गुण जीवद्रव्य के अन्दर है। जैसे शक्कर में मिठास, सफेदाई आदि है। उसी प्रकार आत्मा में उसके गुण ज्ञान, जानना, देखना, आनन्द इत्यादि अनन्त गुण हैं। ऐसा कौन जाने कहाँ... सामायिक

करो और प्रतिक्रमण करो, हो गया। धूलधाणी नहीं तेरी सामायिक और प्रतिक्रमण। सब रण में शोर मचाने जैसा है। समझ में आया? वस्तु क्या है, वह जहाँ खबर नहीं। धर्म करनेवाला, उसे द्रव्य कैसे कहना, उसे शक्ति कैसे कहना, उसकी दशा कैसे कहना? इसकी खबर नहीं होती। पोपटभाई!

मुमुक्षु : आता नहीं था।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं आता था? लो। यह सब किया है पण्डितजी के साथ।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। समझ में आया? जैसे सोना, वह सोना द्रव्य—वस्तु कहते हैं और पीलापन, चिकनापन, वजन वे उसके गुण कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा द्रव्य वस्तु कहते हैं। अर्थात् कि अनन्त शक्ति का एकरूप, उसे द्रव्य कहते हैं। और उसके गुण कायम रहनेवाले चैतन्य, जानना, देखना, आनन्द आदि उसके गुण अन्दर में अनन्त है। **द्रव्य की हालत को पर्याय कहते हैं।** वह वस्तु जो है भगवान आत्मा, उसकी दशा—हालत—पर्याय—अवस्था, उसे यहाँ पर्याय—अवस्था कहते हैं। **जीव की पर्यायें नर, नारक, देव पशु आदि है।** वह स्पष्टीकरण करना पड़ा न गुण का चैतन्य, ज्ञान, दर्शन आदि। परन्तु उसकी पर्याय? यह मनुष्य की गति का भाव, नरक गति का भाव, देव, पशु, राग-द्वेष और ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्रगट अवस्था, उन सबको पर्याय—अवस्था कहने में आता है। समझ में आया? यह जहाँ वस्तु की खबर नहीं होती (और) आत्मा... आत्मा करे, परन्तु आत्मा क्या चीज़ है?

गुण और पर्यायों के बिना द्रव्य नहीं होता। यह आत्मा वस्तु है, वह जानना, देखना, आनन्द आदि गुण और उनकी वर्तमान दशा, हालत। वह गुण अर्थात् कायम रहनेवाली शक्ति और अवस्था—वर्तमान दशा। उस गुण और हालत के बिना वह वस्तु नहीं हो सकती। समझ में आया? बिना भान के कहे, यह आत्मा है और यह सम्यग्दर्शन और यह पर्याय। परन्तु यह पर्याय क्या है? उसकी स्थिति कितनी? गुण की स्थिति कितनी? द्रव्य की कितनी? द्रव्य वह त्रिकाली रहनेवाला है। उसमें जो ज्ञान, दर्शन, आनन्द गुण, वे भी त्रिकाल रहनेवाले हैं और पर्याय है, वह वर्तमान उसकी एक समय की हालत है। समझ में आया? **और गुण-पर्याय बिना द्रव्य के नहीं होते।** द्रव्य बिना

गुण, पर्याय नहीं होते। **इसलिए द्रव्य और गुण-पर्यायों में अव्यतिरिक्त भाव है।** इसलिए द्रव्य अर्थात् आत्मा और उसके गुण अर्थात् शक्तियाँ और उसकी धर्म या अधर्म की दशा अव्यतिरेक अर्थात् भिन्न नहीं है। अव्यतिरेक अर्थात् पृथक् नहीं है।

सोना में—वस्तु सोना, उसमें पीलापन, चिकनापन, वजन, उसके गुण सोना से पृथक् नहीं। तथा कुण्डल, कड़ा की अवस्थायें सोना की, वह भी कहीं सोना के द्रव्य से भिन्न नहीं। समझ में आया? इसी प्रकार आत्मा वस्तु है, उसका त्रिकाली ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि भाव—शक्ति—गुण है। उसकी अवस्था का भान न हो, इसलिए राग और पुण्य वे मेरे—ऐसी अवस्था, वह मिथ्यात्व की अवस्था है। समझ में आया? और आत्मा अनन्त आनन्दमय ध्रुवस्वरूप है, ऐसा अन्तर में भान होने पर, धर्म की दशा सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगटे, वह पर्याय है। सिद्धपद प्रगटे, वह भी पर्याय है, वह गुण नहीं। समझ में आया? **गुण, पर्याय अव्यतिरिक्त....**

जब पर्याय को गौण और द्रव्य को मुख्य करके कथन किया जाता है। जानने की अपेक्षा से बात है। अवस्था जो आत्मा में हों दशायें, उनका मुख्यपना न करके, उन्हें गौण करके अन्तर वस्तु को जब बतलाना हो... द्रव्य अर्थात् वस्तु, उसके कथन को **नय द्रव्यार्थिक कहलाता है।** उस ज्ञान के अंश को, द्रव्य का प्रयोजन जिसे ज्ञान में है, इसलिए उसे द्रव्यार्थिकनय कहा जाता है। इसने आत्मा को समझने की भांजगड (मेहनत) कभी की नहीं। इसने यह भटकने के भाव किये। आहाहा! गुरु नहीं मिले... इसने किया नहीं, इसलिए गुरु नहीं मिले। वैसे तो अनन्त बार तीर्थंकर मिले, सभा में अनन्त बार गया तीर्थंकर की सभा में। क्या हो? यह स्वयं न समझे, वहाँ इसे कौन समझावे? क्योंकि उसकी अवस्था का बदलाव वह न करे तो दूसरा कैसे करावे? समझ में आया?

कहते हैं कि आत्मा वस्तु है। प्रत्येक में ऐसा है, परन्तु यहाँ तो आत्मा की यह व्याख्या है। जीवद्वार था न! इसलिए आत्मा जो पदार्थ है अन्दर वस्तु, वह त्रिकाल अविनाशी है। उसमें ज्ञान, दर्शन, अनन्त आनन्द आदि गुण हैं, वे भी अविनाशी ध्रुव हैं। उसकी वर्तमान में दशा हो—हालत हो, उसे पर्याय, अवस्था कहा जाता है। तो मोक्ष का

मार्ग भी पर्याय है। स्वभाव रत्नत्रय, ऐसा करके... त्रिकाल में स्वभाव में रत्नत्रय पड़ा है। वहाँ भी स्वभाव रत्नत्रय की व्याख्या ही वहाँ नहीं। वहाँ स्वभाव रत्नत्रय तो पर्याय की व्याख्या है। कल सवेरे आया था न! फिर जो आया, वह ध्रुव आया था। परन्तु दिमाग ऐसे घूमा करता हो न, जहाँ-तहाँ भटकाऊ की भाँति। क्या कहा?

अन्दर वस्तु जो कही... दो मिनिट में आया न। जो सहज परमपारिणामिक भाव से स्थित वह द्रव्य कहा। उसमें स्थित अनन्त चतुष्टयात्मक शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम जो, वह नियम है। ऐसा आया था, इतना शब्द आया था। सूक्ष्म बात है! ऐसे रटे और ऐसा का ऐसा सुन रखे और जाओ समझ गये, समझ गये। क्या समझे? भगवान सर्वज्ञदेव ऐसा फरमाते हैं कि जो... नियमसार है न? कि नियम किसे कहना? जो भगवान आत्मा परमपारिणामिक सहज स्वभावभाव त्रिकाल, उसमें रहे हुए अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य उसरूप, चार का एकरूप गिनकर उसे—गुण को शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम कहा गया है। स्वरूपचन्दभाई! रतिभाई! सवेरे (चलता है), उसकी बात है। आहाहा!

वस्तु भगवान आत्मा अनादि-अनन्त जो नित्य ध्रुव, उसे यहाँ परम स्वभावभाव, परमपारिणामिकभाव कहा। शब्द भी सुने नहीं हों। जैन में जन्म, तथापि जैन में वस्तु के गुण क्या? पर्याय क्या? इसकी खबर नहीं। भाई! गर्म पानी पीना, अपवास करना, रात्रिभोजन नहीं करना, कन्दमूल नहीं खाना, जाओ हो गया धर्म। धूल भी धर्म नहीं, सुन न! अभी धर्म का करनेवाला कितना, कैसे, कैसी शक्ति, कैसी दशा है, उसका तो भान नहीं। समझ में आया? नवरंगभाई! यह तो वह भी समय था न एक। आहाहा! कहते हैं कि वस्तु जो है आत्मा, जिसे द्रव्य अर्थात् त्रिकाली रहनेवाला कहा जाता है, उस द्रव्य को स्वाभाविक पारिणामिकभाव कहा जाता है। उसमें रहे हुए अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द, उसे गुण कहा जाता है। द्रव्य में रहे हुए यह। पारिणामिकभाव में स्थित कहो या द्रव्य में रहे हुए कहो।

सवेरे कहा था। तुमने कहा न इसलिए पूछा। आत्मधर्म मँगाते हो? कहे, 'नहीं,.... वह तो मुझे आता है।' बहुत अच्छी बात। नहीं, अब मँगाते हैं। पहले मँगाते थे या

नहीं ? नहीं, वह तो व्याख्यान में आता है। परन्तु अब हरिभाई का कुछ ठीक लेख है इसलिए अब मँगाता हूँ। ऐई ! कहा था या नहीं ?

मुमुक्षु : सबके बीच में तो नहीं पूछना।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने यहाँ कहाँ गुप्त है ? गुप्त किसका रखना ? आहाहा ! क्या कहा ? यहाँ द्रव्य किसे कहा ?

सवेरे के (विषयानुसार) कि जो सहज पारिणामिकभाव में (स्थित) वह द्रव्य कहलाता है। उसमें रहे हुए अनन्त चतुष्टय—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य, वे गुण हैं। वे द्रव्य में—परम स्वभाव में रहे हुए अनन्त गुण, उसमें चार चतुष्टयरूप शुद्ध ज्ञानचेतना, वापस स्मरण कर ज्ञान में डाल दिया। इन चार का एकरूप गिनो तो शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम, वह गुण है। वह शुद्धस्वभाव में रहे हुए गुण हैं। चन्दुभाई ! क्या हो ? आत्मा को क्या वस्तु भगवान कहते हैं, इसकी लोगों को खबर नहीं होती और यह धर्म करते हैं और सामायिक करते हैं और प्रौषध करते हैं और प्रतिक्रमण सब करते हैं। वह सब धूल है तेरी, सुन न ! वह तो सब विकल्प है। वह विकल्प क्या है, क्रिया जड़ क्या है और उसका जाननेवाला कौन है—इसकी तो उसे खबर नहीं। समझ में आया ? कहते हैं, उस वस्तु में... आहाहा ! कैसी बात की ! यह यहाँ कहते हैं, देखो !

वस्तु जो है त्रिकाल, उसे वहाँ सहज पारिणामिकभाव कहा था और यहाँ जो गुण कहे थे, यहाँ कहे जाते हैं, वह उसमें रही हुई शक्तियाँ ध्रुव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य। फिर उनका एकरूप गिनकर, है तो ध्रुव, शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम, शुद्ध ज्ञानचेतनारूप भाव, एकरूप भाव को नियम कहा जाता है। यह नियम की कैसी व्याख्या ! उसे—त्रिकाली वस्तु को नियम कहा जाता है। वह स्वभावरूप रत्नत्रय अलग। वहाँ से लेकर आये थे अन्दर भाई। अन्दर फेरफार पड़ा न, वह लेकर आये थे। यह एकाध बार समझना पड़ेगा या नहीं इसे ? आहाहा ! भाई ! स्वभाव रत्नत्रय था, वह तो पर्याय की व्याख्या है, प्रगट दशा की बात है। यह जो नियम की बात है, वह त्रिकाली गुणों का पिण्ड, जिसमें अनन्त आनन्द, ज्ञान स्वरूप है, ऐसा द्रव्यस्वभाव, वह द्रव्य, गुण के बिना नहीं होता; गुण, द्रव्य के बिना नहीं होते। समझ में आया ?

जब पर्याय को गौण करके द्रव्य को मुख्य करे... सवेरे यह कहा था। पर्याय जो मोक्षमार्ग है, उस अवस्था को मुख्य न करके, मुख्यपना जब द्रव्य को दिया जाता है कि त्रिकाली ज्ञायकभाव शुद्धचेतना परिणामरूप स्वरूप, वह द्रव्य है, वह नियम है, वह कारणनियम है, वह कारणपरमात्मा है। समझ में आया? सुना भी न हो, कारणपरमात्मा और यह क्या है? समझ में आया? और उसका जो कार्य जो नियमसार शब्द है पर्याय, उसे कार्य नियम कहेंगे, वह यहाँ पर्याय कहा जाता है। वह निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय स्वद्रव्य के आश्रय से होती है, उस पर्याय और गुण बिना का द्रव्य नहीं होता और द्रव्य, गुण-पर्याय बिना का नहीं होता।

अब इतना तो स्पष्ट होता है, परन्तु अब पकड़े नहीं, फिर कहे हमको समझ में नहीं आता। यह सूक्ष्म बात मुझे पकड़ में नहीं आती। गजब! संसार में यदि विशेष चतुर होने बैठा हो तो चक्रवृद्धि ब्याज निकाले। आठ आना रूप से और अभी फिर कुछ दिक्कत आयी है। तुम आठ आनारूप से देते हो, नहीं, एक रुपया रूप से अभी पैसा मिलता है। कोई कहता था। कहीं पत्र में था। एक रुपये का... प्रतिशत चलता है न अभी वापस। कहीं तो डेढ़ चलता है, ऐसा सुना है। डेढ़ चलता है, जो हो वह। फिर उसका ब्याज चढ़ावे। दस लाख दिये हों, डेढ़ प्रतिशत का ब्याज चढ़ावे दिन का और उसके ऊपर पैसा और ब्याज का वापस ब्याज निकाले, चक्रवृद्धि ब्याज। यह सब वहाँ चतुर। भटकनेवाला चक्रवर्ती है।

वह तो 'धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टीणं...' णमोत्थुणं में आता है न। किया था या नहीं? आहाहा! णमोत्थुणं में आता है। 'धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टीणं...' प्रभु! सर्वज्ञ परमात्मा तो धर्म में प्रधान, चार गति का अन्त करनेवाले चक्रवर्ती हैं। ऐसा ही आत्मा है। भव के विकल्प का अन्त करनेवाला उसका स्वभाव है, वह त्रिकाली स्वभाव है और उसकी अवस्था वर्तमान हो धर्म की या अधर्म की, वह अवस्था है। उस अवस्था और गुण बिना वस्तु नहीं होती और वस्तु गुण और अवस्था बिना नहीं होती। समझ में आया? अर्थात् कि आत्मा की पर्याय अपने द्रव्य बिना नहीं होती, परन्तु पर बिना नहीं होती, ऐसा नहीं होता, ऐसा कहते हैं। और क्या कहा यह? आत्मा वस्तु है, उसकी शक्तियाँ भगवान ने अनन्त कही हैं और ऐसा है। शक्ति कहो या गुण कहो। उस गुण

बिना का गुणी नहीं होता और गुणी बिना का गुण नहीं होता। और उसकी वर्तमान दशा अज्ञान की या ज्ञान की या सम्यक्त्व की या मिथ्यात्व की, वह अवस्था द्रव्य के बिना नहीं होती, पर के बिना नहीं होती, ऐसा नहीं। पर के बिना ही होती है। आहाहा! पण्डितजी!

जब पर्याय को मुख्य तथा द्रव्य को गौण करके कथन किया जाता है, तब नय पर्यायार्थिक कहलाता है.... परन्तु जब त्रिकाली द्रव्यस्वरूप, गुणस्वरूप, ध्रुवस्वरूप को मुख्य न करके, वर्तमान दशा का ज्ञान कराना हो तो, मुख्यरूप से पर्याय का ज्ञान करके त्रिकाल को गौण करने में, गर्भित में रखा जाता है। **द्रव्य सामान्य होता है और पर्याय विशेष होता है।** क्या यह सब शब्द? अभ्यास नहीं होता। भगवान परमात्मा सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि वस्तु है, वह सामान्य है। द्रव्य सामान्य में भेद नहीं और गुण-पर्याय है, वह विशेष है। पर्याय उसकी अवस्था है, हालत—दशा। समझ में आया?

यह जड़-बड़ तो कहीं रह गये बाहर, यह तो मिट्टी है। (द्रव्यरूप से) उसकी भी बात है, परन्तु यह तो जीवद्वार की व्याख्या है, इसलिए उसकी व्याख्या की नहीं। वह परमाणु है, वह रजकण—पॉईन्ट—टुकड़ा, वह वस्तु है। उसकी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श शक्ति है, वह गुण है और उसकी यह हालत दिखती है, वह पर्याय, वह हालत है। इस हालत और गुण बिना का परमाणु नहीं होता और परमाणु गुण और पर्याय बिना नहीं होता। समझ में आया? **द्रव्य सामान्य होता है।** सोना और सोना का गुण जो है न पीलापन, चिकनापन, वजन वह सामान्य सदृशरूप से त्रिकाल रहता है। इसी प्रकार आत्मा द्रव्य अर्थात् सदृशरूप से कायम रहे, उसे सामान्य कहते हैं। और उसकी अवस्थायें बदले, वे विसदृश हैं, उसे पर्याय कहते हैं। समझ में आया? यह समझाकर कहना क्या है? कि पर की पर्याय के कारण से तुझमें पर्याय होती है, ऐसा नहीं है। और तेरी पर्याय के कारण से पर में पर्याय होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

द्रव्य सामान्य होता है और पर्याय विशेष होता है। ग्रीक-लेटिन (अटपटा) जैसा लगे, जिसे कुछ अभ्यास न हो एकड़ा का (उसे)। वीतराग का मार्ग क्या है? आहाहा! परन्तु कोई मनुष्य ऐसा कहना चाहे कि मुझे धर्म करना है। लो, एक दृष्टान्त।

तब धर्म करना है, इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी दशा में धर्म नहीं। धर्म नहीं तो उसकी दशा में अधर्म है और (धर्म) करना है। इसका अर्थ यह है कि अधर्मदशा टालनी है और धर्म दशा करनी है। वह पर्याय है। टालना और होना, वह तो अवस्था है। वह गुण नहीं। गुण तो कायम रहते हैं। उसे टालना भी नहीं, उत्पन्न करना नहीं, नया होना नहीं, नाश होता नहीं। वस्तु और वस्तु के गुण त्रिकाल अविनाशीरूप से रहे, उसे सामान्य कहते हैं और उसकी हालत—दशा हो, उसे विशेष कहते हैं। सिद्ध भी पर्याय एक विशेष है, उसका आत्मा जो त्रिकाली है, वह द्रव्य है।

दूसरे प्रकार से, यह आत्मा जो है सामान्य, वह द्रव्य है सदृश और उसकी दशा वह उसका विशेष है। उसका विशेष शरीर, वाणी, कर्म और स्त्री, पुत्र, उसका विशेष, ऐसा नहीं। कहो, समझ में आया या नहीं? क्या कहा? शान्तिभाई को बहुत पुरुषार्थ करना पड़े (मोह) तोड़ने के लिये। हमारे सहज स्त्री मर गयी, वह सहज छूट गया, त्याग हो गया। धूल भी त्याग नहीं। समझ में आया? यह कहते हैं। होवे तो उसके कारण से वह है। न हो तो उसके कारण से वह है। उसे आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं।

यहाँ तो कहते हैं, सामान्य और विशेष। सामान्य वस्तु त्रिकाली और उसकी विशेष उसकी दशा—हालत, उसे विशेष कहते हैं। उसका विशेष शरीर, कर्म, स्त्री, पुत्र, देश, उसका विशेष नहीं। जेठाभाई! आहा! समझ में आये ऐसी बात है, हों! भाषा बहुत सादी आती है। भाव भले कठिन हैं, परन्तु भाषा में कहीं बहुत कठिनता नहीं है, यदि ध्यान रखे तो। कभी इसे समझ में सुना नहीं। ऐसे बिना भान के गहलता में—पागलपन में जिन्दगी गँवायी। धर्म के बहाने सब साधु भान बिना के अन्दर में ऐसे के ऐसे सब जिन्दगी गँवाते हैं, ऐसा कहते हैं। कुछ अपने विशेष करना तो पड़े न, ऐसा कहते हैं। ऐ देवानुप्रिया! क्या विशेष? तेरी दशा वह विशेष करने की है। पर का विशेष करना है कुछ? आहाहा! मगनभाई!

द्रव्य सामान्य होता है और पर्याय विशेष होता है, इसलिए द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय के विषय में सामान्य-विशेष का अन्तर रहता है। क्या कहते हैं? भगवान आत्मा त्रिकाल द्रव्य रहता है, वह सामान्य और अवस्था, वह विशेष। दोनों में

अन्तर पड़ता है। कायम रहनेवाले को सामान्य कहते हैं, अवस्था बदले, उसे विशेष (कहते हैं)। यह दोनों में ऐसा अन्तर है। सदृश है, वह विसदृश नहीं। पर्याय में सदृश रहता है, ऐसा नहीं और पर्याय विसदृश बदलती है, इसलिए द्रव्य भी बदलता है, ऐसा नहीं है। द्रव्य और पर्याय दोनों में विशेषता, अन्तर है। समझ में आया? कठिन ऐसा भाई!

ऐसा वीतराग के मार्ग में होगा? कहते हैं। वीतरागमार्ग में ही होता है, अन्यत्र कहीं है ही नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर ने तीन काल—तीन लोक ज्ञान में देखे, जाने, वे पर्याय में जाने। गुण, द्रव्य तो त्रिकाल है। समझ में आया? द्रव्य का विशेष तो उसकी दशा है और विशेष का सामान्य उसका द्रव्य है। विशेष का सामान्य उसका द्रव्य है, उस विशेष का दूसरा कोई द्रव्य है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? देखो न, बुद्धिलाल ने किया है न यह सब! **सामान्य-विशेष का अन्तर रहता है।** भगवान आत्मा कायम रहनेवाली चीज़—द्रव्य और वर्तमान अवस्था विशेष—दोनों में अन्तर है। दोनों में एकता नहीं। दो में अन्तर, दो में अन्तर पड़ता है, कहते हैं। जेठाभाई! आहाहा!

जीव का स्वरूप निश्चयनय से ऐसा है। क्या कहते हैं? भगवान आत्मा का स्वरूप निश्चयनय से तो द्रव्य है, ध्रुव है, सामान्य है। **व्यवहार (नय) से ऐसा है।** पर्याय है, भेद है, वह व्यवहारनय का विषय है। यहाँ तो कहते हैं, उन सब विकल्पों में आत्मा प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं। समझने के लिये तो पहले समझना, परन्तु फिर यह द्रव्यार्थिकनय से त्रिकाल ध्रुव है, पर्याय से—अवस्था से अनित्य है, विशेष है। है भले ऐसा, परन्तु उसके विकल्पों का राग में रुकना, तो उसे आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसा कहते हैं। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय से तो प्राप्ति नहीं होगी, परन्तु ऐसे नय के विकल्प द्वारा भी आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसा कहते हैं। धर्म नहीं होगा, ऐसा कहते हैं। कठिन बात, भाई!

मुमुक्षु : नयों की लक्ष्मी उदय नहीं पाती।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, 'उदयति नय निक्षेप' वह यह बात है। इन सबका अर्थ किया है न यहाँ।

द्रव्यार्थिकनय से ऐसा है, पर्यायार्थिकनय से ऐसा है। द्रव्य अर्थात् त्रिकाल दृष्टि

से देखें तो वह ध्रुव है, पर्यायदृष्टि से देखें तो वह अध्रुव और वर्तमान अवस्था है। **अथवा नयों के भेद शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय।** शुद्ध निश्चयनय से देखो तो त्रिकाल ज्ञायकभाव है। अशुद्ध निश्चय से देखो तो वह विकारी पर्याय में है, वह अशुद्ध निश्चय है। उसमें है, इसलिए निश्चय; परन्तु मलिन है, इसलिए अशुद्ध। विकारी पर्याय है वह अशुद्ध, निश्चय उसकी है इसलिए अशुद्ध निश्चय। त्रिकाली वस्तु है शुद्ध निश्चय। समझ में आया?

सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय.... यहाँ भेद किया। गुण और गुणी का भेद करना, वह सद्भूत व्यवहार है। आत्मा गुणी है और उसमें आनन्द आदि गुण है, ऐसा भेद करना, वह सद्भूत व्यवहार है। है, उसके भेद करना, वह व्यवहार है। उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। आत्मा में राग आदि, पुण्य आदि के भाव, वे असद्भूत उपचार हैं। असद्भूत व्यवहार है। कितना याद रखना इसमें? अभ्यास नहीं होता अभ्यास। लोगों को मूल तत्त्व की खबर नहीं होती और तत्त्व की दृष्टि बिना चल निकले, धर्म करते हैं हम। कहाँ धर्म करता था? सुन न अब!

उपचरित व्यवहारनय... अर्थात् राग जानने पर भी मेरा है, ऐसा उसे उपचरित व्यवहारनय कहते हैं और आत्मा में ज्ञात नहीं हो, ऐसा राग, उसे अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। इतने सब भेद किये हैं। पंचाध्यायी की शैली है न! **....इत्यादि विकल्प चित्त में अनेक तरंगें उत्पन्न करते हैं।** इतने सब विकल्प अर्थात् राग के भाग, आत्मा में तरंग उठे राग की। **इससे चित्त को विश्राम नहीं मिल सकता।** उसमें आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन ऐसे विकल्पों के आश्रय से नहीं होता। आहाहा!

आत्मा को सम्यग्दर्शन धर्म की पहली दशा, ऐसे सब नय के भेदों के विचार के विकल्प में रुकना, उससे उसे सम्यग्दर्शन होता नहीं। कहो, समझ में आया? यह विकल्प आते हैं न, ऐसा कहा, ऐई! विकल्प... विकल्प कहते हैं। वह विकल्प होते हैं परन्तु वह आत्मा की प्राप्ति का कारण नहीं। जब तक, वस्तु ऐसी पूर्ण है, पर्याय है, ऐसा ज्ञान करने में नय और विकल्प से विचारता है, तब तक उसे स्वरूप का अन्तर विश्राम (सम्यग्दर्शन की) प्राप्ति नहीं होती, तब तक चित्त में विकल्प के डाँवाडोल में पड़ा है। कठिन मार्ग भाई! समझ में आया? कहो, जेठाभाई! आहाहा!

वस्तु त्रिकाली भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु, वह द्रव्य का विषय, द्रव्यार्थिकनय का, शुद्ध निश्चय का (विषय)। और पर्याय का विषय व्यवहारनय का और विकार का विषय अशुद्ध निश्चयनय का और त्रिकाल का विषय शुद्ध निश्चयनय का। ऐसे भेद करके जानने के लिये पहले होता है, परन्तु इस भेद के विकल्प में जो रुकता है तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। कहो, मगनभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। है अन्दर में। वस्तु जो चैतन्य भगवान सर्वज्ञस्वभावी पूर्ण आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। आहाहा! उसकी ओर का झुकाव होने पर विकल्पों का आश्रय नहीं रहता। आहाहा! तब उसे सम्यग्दर्शन होता है अभी तो। सम्यग्ज्ञान और चारित्र की विशेषता तो फिर बाद में। समझ में आया?

नय अर्थात् ज्ञान के अंशों के प्रकार; उसके भेद में रुकने से, अटकने से उसे आत्मा में स्थिरता का विश्राम सम्यग्दर्शन नहीं होता। उसके बदले यह बाहर के विकल्प भक्ति, पूजा, दया, दान और उससे धर्म होता है, (यह) दृष्टि एकदम मिथ्या है। आहाहा! यह वीतराग का मार्ग अलग है, भाई! सुना नहीं, सुनने को मिलता नहीं और मिले वह सब उल्टा मिलता है। **इससे चित्त को विश्राम नहीं मिल सकता...** किससे? कैसा? कि आत्मा है, वह तो है ही त्रिकाली आनन्दमूर्ति प्रभु, अनन्त गुण का विश्राम-स्थान और उसकी दशा—हालत—अवस्था है।

यह अवस्था विशेष है, द्रव्य सामान्य है, इत्यादि नयों के ज्ञान को विचारने से, अटकने से, वहाँ आत्मा में अन्दर स्थिर शान्ति की प्राप्ति उससे नहीं होती। तो फिर व्यवहार के दूसरे विकल्पों से सम्यग्दर्शन हो, यह तीन काल में नहीं है। भाई! भ्रमणा का रोग हुआ है, भाई! तुझे वस्तु की खबर नहीं। कहते हैं, **चित्त को विश्राम नहीं मिल सकता, इसलिए कहना होगा कि नय के कल्लोल अनुभव में बाधक है।** वह नय का ज्ञान विकल्पवाला, यह शुद्ध हूँ और पर्याय विशेष अशुद्ध, विकार आदि है या निर्मल आदि पर्याय है—ऐसे दो प्रकार के भेद के राग की कल्लोलें, वह तो अनुभव को विघ्न करनेवाली है। आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन। आत्मा का अनुभव... 'अनुभव रत्न चिन्तामणि, अनुभव है रसकूप; अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप।'

आत्मा आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान का अन्तर्मुख होकर अनुभव होना, उसमें यह नय के विकल्प तो विघ्न करनेवाले हैं। आहाहा! **परन्तु पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानने और स्वभाव-विभाव के परखने में सहायक अवश्य है।** सर्वज्ञ परमेश्वर ने वास्तविक आत्मा, गुण और दशा जानने के लिये जो कहा, उसके लिये उसे पहली भूमिका में जानने का भाव होता है। माल लेने जाये बर्फी, तो पहले भाव पूछता है (कि) कितने रुपये सेर? पाँच रुपये, दस रुपये जो हो वह और बाट भी परखे। सरकार की छापवाले हैं या नहीं बाट। तराजू का धड़ा करावे। क्योंकि जिस ओर माल डाले उस ओर लाख तो नहीं चिपकायी सेर की। परन्तु वह सब माल लेने के पहले की व्याख्या है। परन्तु जब माल खाता है, तब वह रटता नहीं कि दस रुपये की सेर है, यह बाट का मैंने यह किया था और मैंने धड़ा कराया था। उस समय होता है? रटे तो खाये नहीं और खाये, तब रटने का रहे नहीं। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा!

तेरी महिमा का पार नहीं, परन्तु उसकी इसे सूझ नहीं पड़ती। कहते हैं, पहले विचार में इसे अवश्य करना। ऐसा का ऐसा खाने लगे तो खाने दे वे? भाई! भाव तो पूछ। कितना लेना है और कितने भाव में मण देता है? यह पूछ तो सही। इसी प्रकार आत्मा, भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा। अज्ञानी भी आत्मा... आत्मा करते हैं और परमेश्वर ने आत्मा कहा, दोनों में अन्तर है। समझ में आया? इसलिए उसका अन्तर मिटाने के लिये, आत्मा द्रव्य क्या है, गुण क्या है, उसकी दशा क्या है? ऐसे ज्ञान के अंशों द्वारा उसे जानना चाहिए। बराबर है? पण्डितजी! परन्तु उसे जानने के काल में उसे विकल्प होता है, अन्तर दशा होने में—अनुभव में फिर वह विकल्प नहीं होता। आहाहा! सम्यग्दर्शन होने पर वह नय और निक्षेप नहीं रहता।

'उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं' ऐसा आता है न! उसकी तो व्याख्या की। मूल तो उसकी व्याख्या की है। आहाहा! **इसलिए नय, निक्षेप और प्रमाण से....** नय अर्थात् एक-एक धर्म को बतलानेवाला ज्ञान का अंश; प्रमाण अर्थात् पूरी चीज़ को बतलानेवाला ज्ञान का अंश। प्रमाण वह भी अंश है न, पर्याय है। और निक्षेप अर्थात् जानने की चीज़ नामरूप है, आकाररूप है, योग्यतारूप है या यथार्थ भावरूप है? उसके लिये पहले जानना चाहिए। समझ में आया?

जैसे बने तैसे आत्मस्वरूप को पहिचान.... इसलिए नय, निक्षेप और प्रमाण से अथवा जैसे बने तैसे... ऐसा। यथायोग्य शक्ति से... यथाशक्ति आत्मा, उसके गुण, उसकी दशा, उसके नय, निक्षेप और प्रमाण से पहले जानना चाहिए। यहाँ तो नय, निक्षेप, प्रमाण क्या है, इसकी खबर नहीं होती। अन्धेरे में भी गुड़ मीठा लगे न, कहते हैं। ऐसी और बात बाहर आयी है। परन्तु (अन्धेरे में) गुड़ के बदले गोबर आ जाये तो? समझ में आया? गोबर अर्थात् छाण। बापू! ऐसा वीतरागमार्ग में नहीं चलता। उसकी समझण चाहिए। आत्मा भगवान ने कहा वह कैसा? भगवान ने गुण कहे, वे कैसे? उसकी दशा कैसी ज्ञान की और अज्ञान की? अज्ञानी आत्मा कहते हैं, वह आत्मा कैसा? दोनों का इसे अन्तर करके यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। समझ में आया?

नहीं तो आत्मा... आत्मा तो सब करते हैं, नास्तिक के अतिरिक्त। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने केवलज्ञानी ने जैसा आत्मा देखा, वैसे अनन्त आत्मा, उन्होंने उसके अनन्त गुण देखे और उसकी दशायें अनन्त देखीं—उसे बराबर निर्णय करना चाहिए। यह **पहिचान करके सदैव उसके विचार तथा चिन्तवन में लगे रहना चाहिए....** लो। ऐई! उसमें रहना चाहिए, कहते हैं। मुझे आता है, लो। जानपने का वापस वह अजीर्ण हो गया। आता है किसे कहते हैं? ऐई! यहाँ तो इकट्ठी बात है न!

आत्मा अखण्ड निर्विकल्प है, उसका ज्ञान हो, उसे आया कहलाता है। समझ में आया? आहाहा! सरोवर किनारे रे मृग प्यासे... प्यासे... प्यासे। अनादि काल से निज निधान आत्मा, वह सर्वज्ञ ने कहा हुआ यह आत्मा निधान के भान बिना, यह जैन के सम्प्रदाय में रहे, वे भी प्यासे चले जाते हैं। कहो, समझ में आया? पम्पलैट मिला है या नहीं? नहीं मिला होगा। नहीं बोले थे। मोहनभाई कल नहीं थे, नहीं? कल नहीं थे। दोपहर में आये थे न? वह रमेशभाई है, प्रेमचन्दभाई के पुत्र का पुत्र। नहीं? वह भजन करता है।

सरोवर कांठ रे मृगला तरस्यां रे लोल
अे दोडे हांफी झांझवाना पाणीने रे काज।
अरेरे! अेने साचा पाणी-वारि मळवां दुर्लभ,
साचा मळवा रे अेने दोह्यला रे लोल।

यह मृगजल के पानी में रुकता है, प्रभु! आहाहा! वह विकल्प का जाल, नयों का (जाल) वह मृगजल का पानी है, कहते हैं।

अेने साचा वारि रे अेने नहीं मळे रे लोल।
पाणीना साचा सरोवर कांठे नहीं जाय रे लोल।
मनना मृगलाने पाछा वाळजो रे लोल।

मन के मृग को... यह बाहर भटका-भटक करता है न....

मुमुक्षु : हाँ जी।

पूज्य गुरुदेवश्री : ले, हाँ करता है। मन के मृग को वापस मोड़ना रे लोल। यह नय के विकल्प पुण्य-पाप के होते हैं, उनसे वापस मुड़, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह सुनकर बनाया है, हों! सुनकर तुरन्त बनाता है। धीरुभाई! तुम्हारे साले का पुत्र है न। वे थे वहाँ। सभा को तो शान्त कर डाले, ऐसा कण्ठ उसका कण्ठ। यहाँ कहते हैं, कण्ठ हों, परन्तु है वह जड़ न।

कहते हैं, भगवान आत्मा का स्वरूप जो द्रव्य, गुण और पर्याय जैसे है वैसे, पहले नय, निक्षेप और प्रमाण से... ज्ञेयों के भेदवाला—निक्षेपवाला ज्ञान करके और ज्ञेय को जानने के नयों के अंश को जानकर, फिर उस आत्मा के अन्तर में जाना। आहाहा! **सदैव उसके विचार,...** देखो। सदैव उसका विचार रखना। **चिन्तवन में लगे रहना चाहिए।** आहाहा! धुन लगे न उसकी, तब आत्मा की ओर बारम्बार उसका झुकाव रहा ही करे। ऐसी अन्तर में धुन लगनी चाहिए। तब उसे आत्मा का सम्यग्दर्शन होता है। ऐसी बात है, बापू!

लो, जीव अधिकार पूरा हुआ।

अब अजीव द्वार। अब अजीव की व्याख्या। जीव के सामने अजीव कैसा कहलाता है?

●●●

२. अजीवद्वार

काव्य - १

अजीव अधिकार वर्णन करने की प्रतिज्ञा (दोहा)

जीव तत्त्व अधिकार यह, कह्यौ प्रगट समुझाय।
अब अधिकार अजीवकौ, सुनहु चतुर चित लाय।।१।।

शब्दार्थ:-चतुर=विद्वान। चित=मन। लाय=लगाकर।

अर्थ :- यह पहिला अधिकार जीवतत्त्व का समझाकर कहा, अब अजीवतत्त्व का अधिकार कहते हैं, हे विद्वानो! उसे मन लगाकर सुनो!।।१।।

काव्य-१ पर प्रवचन

जीव तत्त्व अधिकार यह, कह्यौ प्रगट समुझाय।
अब अधिकार अजीवकौ, सुनहु चतुर चित लाय।।१।।

यह जीव का अधिकार पहले कहा। '**कह्यौ प्रगट समुझाय**' प्रगट समझाकर बताया है। '**अब अधिकार अजीवकौ, सुनहु चतुर चित लाय।**' हे चतुर पुरुषों! विद्वान पुरुषों! चित्त लगाकर—मन लगाकर सुनो। समझ में आया?

'**मंगलाचरण-भेदज्ञान द्वारा प्राप्त पूर्णज्ञान की वन्दना।**' नीचे श्लोक है पहला।

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्,
आसन्सारनिबद्धबन्धनविधिध्वन्साद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराम-मनन्त-धाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं,
धीरोदात्त-मनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत्।।१।।

आह्लाद करता हुआ, आनन्द का अनुभव करता हुआ ज्ञान उदय होता है। उसका यह पद है। पहला श्लोक था, उसका यह पद है।

★ ★ ★

काव्य - २

मंगलाचरण—भेदविज्ञान द्वारा प्राप्त पूर्ण ज्ञान की वन्दना (सवैया इकतीसा)

परम प्रतीति उपजाय गनधरकीसी,
अंतर अनादिकी विभावता विदारी है।
भेदग्यान दृष्टिसौं विवेककी सकति साधि,
चेतन अचेतनकी दसा निरवारी है।।
करमकौ नासकरि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिएमैं हरखि निज उद्धता सँभारी है।
अंतराय नास भयौ सुद्ध परकास थयौ,
ग्यानकौ विलास ताकौं वंदना हमारी है।।२।।

शब्दार्थ:-प्रतीति=श्रद्धान। विभावता=से यहाँ मिथ्यादर्शन का प्रयोजन है। विदारी=नष्ट की। निरवारी=दूर की। हिएमैं=हृदय में। हरखि=आनन्दित होकर। उद्धता= उत्कृष्टता। विलास=आनन्द।

अर्थ:-गणधरस्वामी[१] जैसा दृढ़ श्रद्धान उत्पन्न करके, अनादि काल से लगे हुए अन्तरंग का मिथ्यात्व नष्ट किया और भेदज्ञान की दृष्टि से ज्ञान की शक्ति सिद्ध करके जीव-अजीव का निर्णय किया, पश्चात् अनुभव का अभ्यास करके कर्मों को नष्ट किया तथा हृदय में हर्षित होकर अपनी उत्कृष्टता को सम्हाला, जिससे अन्तरायकर्म नष्ट हुआ और शुद्ध आत्मा का प्रकाश अर्थात् पूर्णज्ञान का आनन्द प्रगट हुआ। उसको मेरा नमस्कार है।।२।।

काव्य-२ पर प्रवचन

परम प्रतीति उपजाय गनधरकीसी,
अंतर अनादिकी विभावता विदारी है।

---

१. आत्मानुशासन में आज्ञा आदि दस प्रकार के सम्यक्त्वों में से गणधर स्वामी के अवगाढ़ सम्यक्त्व कहा है।

भेदग्यान दृष्टिसौं विवेककी सकति साधि,
चेतन अचेतनकी दसा निरवारी है।।
करमकौ नासकरि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिएमैं हरखि निज उद्धता सँभारी है।
अंतराय नास भयौ सुद्ध परकास थयौ,
ग्यानकौ विलास ताकौं वंदना हमारी है।।२।।

अजीव अधिकार शुरु करते हुए, सम्यग्ज्ञान आनन्दसहित प्रगट हुआ, उसे यहाँ वन्दन और आदर करते हैं। '**परम प्रतीति उपजाय गणधरकीसी।**' आहाहा! क्या कहते हैं? भगवान आत्मा परम शुद्ध चैतन्यधाम, अनन्त गुण का विश्राम आतमराम के सन्मुख होकर, विकल्प, निमित्त और एक समय की अवस्था से विमुख होकर, स्वभाव पूर्णानन्द प्रभु ऐसा जो आत्मा, उसके सन्मुख होकर उसे प्रतीति हो, सम्यग्दर्शन हो। कैसा? गणधर जैसा। जैसा गणधर को समकित (होता है), वैसा समकित। अवगाढ़ समकित लिखा है। उस ओर लिखा है। नीचे लिखा है, देखो। **गणधरस्वामी के अवगाढ़ सम्यक्त्व कहा है....** नीचे लिखा है। उस पृष्ठ पर। गणधर की उपमा दी है न! समझ में आया?

आत्मानुशासन में गणधर महाराज तीर्थंकर के दीवान, वजीर, प्रधान .... उन्हें अवगाढ़ समकित कहा है। ऐसा... '**प्रतीति उपजाय गणधरकीसी**' अहो! भगवान आत्मा अनाकुल शान्ति का धाम सुखरूप है। अन्यत्र कहीं विकल्प में सुख नहीं, शान्ति नहीं, ऐसे अपने आनन्द के धाम को अनुभव में लेकर उसकी प्रतीति-श्रद्धा करना। अर्थात् वह श्रद्धा गणधर जैसी होती है। आहाहा! कहो, समझ में आया? अजीव से जीवस्वभाव को भिन्न जानकर, परिपूर्ण अपने परमात्मा परमस्वरूप से ध्रुव विराजमान, उसके सन्मुख होकर ऐसी प्रतीति हो कि गणधर जैसी प्रतीति समकिती को होती है, ऐसा कहते हैं। ऐसी उपमा दी है। कहो, समझ में आया?

गणधरस्वामी जैसा दृढ़ श्रद्धान उत्पन्न करके.... ऐसा। गणधर जैसा दृढ़ श्रद्धान। दृढ़ श्रद्धान अर्थात् आत्मा का अनुभव, प्रतीति, वह दृढ़ श्रद्धान। ऐसे भगवान सच्चे और आत्मा, ऐसा नहीं। आत्मा अखण्ड आनन्दस्वरूप, उसका आनन्द का स्वाद लेकर

उसमें प्रतीति होना, इसका नाम प्रतीति गणधर जैसी कहने में आती है। यह तो भगवान सच्चे, नौ तत्त्व सच्चे, लो हमारा समकित। धूल भी समकित नहीं, सुन न! समझ में आया? '**परम प्रतीति उपजाय**' नयी उपजाये, ऐसा है न? सम्यग्दर्शन तो नया उत्पन्न होता है। मिथ्यादर्शन तो अनादि का है। '**परम प्रतीति उपझाय गणधरकीसी**'—गणधर जैसी प्रतीति उपजाता है। कहो, समझ में आया?

'**अंतर अनादिकी विभावता विदारी है**'... देखो, यहाँ विभाव शब्द से मिथ्यात्व कहा है। श्रीमद् में आता है कहीं विभाव के मिथ्यात्व के अर्थ में।

मुमुक्षु : त्यों ही विभाव अनादि का, ज्ञान होता दूर होय।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह, यह। 'त्यों ही विभाव अनादि का, ज्ञान होता दूर होय।' विभाव अर्थात् मिथ्यात्व है। वह यहाँ विभाव अर्थात् मिथ्यात्व। आता है उसमें? 'कोटि वर्ष का स्वप्न भी जागृत होत शमाय, त्यों विभाव अनादि का ज्ञान होत दूर होय।' अर्थ की खबर नहीं होती, रटते-हाँकते रखते हैं। स्वरूपचन्दभाई! पहले अभ्यास किया होगा तुमने भी यह। 'कोटि वर्ष का स्वप्न भी जागृत होत शमाय, त्यों विभाव अनादि का ज्ञान होत दूर होय।' देखो, वहाँ ज्ञान कहा, भाई! आहाहा!

'**अंतर अनादिकी विभावता विदारी है।**' राग, पुण्य, दया-दान के विकल्प, वे मेरे और मुझे लाभदायक, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उसे अन्तर आनन्दकन्द प्रभु की—अपनी दृष्टि करने से, उस मिथ्यात्व का जिसने विदारण कर दिया है, फाड़कर भिन्न कर दिया, ऐसा कहते हैं और सम्यग्दर्शन उत्पन्न किया। उस विकारी का व्यय किया और प्रतीति उत्पन्न की कहा, ध्रुव तो त्रिकाल ज्ञायकभाव है। त्रिकाली ज्ञायकभाव अनन्त आनन्द का कन्द, उसकी प्रतीति उपजायी, वह नयी पर्याय, मिथ्यात्व का नाश किया और ध्रुव का आश्रय त्रिकाल है, उसे यहाँ समकिती और ज्ञानी और धर्म की दशा की शुरुआत हुई, ऐसा कहने में आता है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३२, फाल्गुन शुक्ल ६, बुधवार, दिनांक ०३-३-१९७१
अजीवद्वार पद २, ३, ४

अजीव अधिकार है न।

परम प्रतीति उपजाय गनधरकीसी,
अंतर अनादिकी विभावता विदारी है।
भेदग्यान दृष्टिसौं विवेककी सकति साधि,
चेतन अचेतनकी दसा निरवारी है।।
करमकौ नासकरि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिएमैं हरखि निज उद्धता सँभारी है।
अंतराय नास भयौ सुद्ध परकास थयौ,
ग्यानकौ विलास ताकौं वंदना हमारी है।।२।।

क्या कहते हैं? क्या कहते हैं? '**परम प्रतीति उपजाय गणधरकीसी**' गणधर जो तीर्थंकर के वजीर, धर्म (में) प्रधान हैं। उन्हें जैसी श्रद्धा है, वैसी श्रद्धा, यह आत्मा (ऐसे) जड़ के विकल्प से भिन्न करके (करना)। अजीव अधिकार है न! पुण्य-पाप के विकल्प वे सब अजीव हैं। विभावमात्र अजीव है। शरीर, वाणी, मन तो अजीव है, परन्तु शुभ और अशुभ उपयोग है, वह भी विभाव अजीव है। उससे भिन्न करके अन्तर... अनादि से विभावता वेदन में आती है। 'मैं तो आनन्द और ज्ञान स्वरूप हूँ' यह बात तो अलौकिक और अपूर्व है। आत्मा आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वरूप वह जीव और पुण्य-पाप के भाव, वे अजीव। दोनों को भिन्न करके '**परम प्रतीति उपजाय**' गणधर जैसी। '**अंतर अनादिकी विभावता विदारी है।**' राग का भाव परलक्ष्यी जो विभाव, उसे अन्तर की अनादि से विभाव (के साथ) एकताबुद्धि है, उसे विदारी अर्थात् नाश कर दिया। कहो, यह करने का है।

जीव और अजीव, (उसमें) उसे (जीव को) अजीव से भिन्न करके आत्मा का अनुभव करना। '**भेदग्यान दृष्टिसौं**' भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द के स्वभावस्वरूप कि जो जीवस्वरूप है और पुण्य-पाप के विकल्प जो अजीव और दु:खरूप है। उसे

भेदज्ञान करके (अर्थात्) दोनों को भिन्न करके... '**भेदग्यान दृष्टिसौं विवेककी सकति साधि**'—राग और विकल्प से भिन्न स्वभाव की शक्ति का साधन हुआ। कठिन बातें, भाई! देखो, यह धर्म! ...धर्म किस प्रकार करना? है न अन्दर? अर्थ में भी ऐसा है, देखो! '**भेदज्ञान की दृष्टि से ज्ञान की शक्ति सिद्ध करके**'—अर्थ में है। '**भेदग्यान दृष्टिसौं विवेककी सकति साधि।**' आत्मा चैतन्यज्योति आनन्दस्वरूप को पुण्य-पाप के राग से भिन्न करके और भेदज्ञान की शक्ति के साधन से आत्मा का—चैतन्य का अनुभव करना। शब्द तो बहुत थोड़े और भाव तो बहुत बड़े हैं। समझ में आया?

'**चेतन अचेतनकी दसा निरवारी है**' दूर की। भगवान आत्मा शान्त अविकारी स्वभाव, वह चैतन्यस्वरूप है। और पुण्य-पाप का विकल्प, वह अजीव विभावस्वरूप है, उसे दूर करके... स्वभाव से विभाव को अन्तर में स्वभाव का आश्रय लेकर दूर करना, इसका नाम भेदज्ञान और सम्यग्ज्ञान है, इसका नाम ज्ञानकला है। ऐसी बातें! आहाहा! '**करमकौ नासकरि**' अचेतन है न, यहाँ उसकी व्याख्या। भगवान आत्मा जागती ज्योति चैतन्यस्वभाव से भरपूर, उसे पुण्य-पाप के भाव से भिन्न करके चैतन्य का अनुभव करने से कर्म का नाश होता है। कहो, समझ में आया?

'**करमकौ नासकरि अनुभौ अभ्यास धरि**' पश्चात् भी भिन्न करके भी अनुभव का अन्तर में अभ्यास करके, आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अभ्यास करके, '**हिएमें हरखि।**' आत्मा के आनन्द के अनुभव में आनन्दित होकर... देखो, यह धर्म! कठिन धर्म, भाई! कहो, भीखाभाई! अब इसमें क्या करना? कहाँ से देना? आहाहा! '**हिएमें हरखि।**' आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसे जब विभाव अर्थात् अजीव से भिन्न किया अर्थात् ज्ञानस्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आनन्दित होकर... दु:खी होकर नहीं—ऐसा कहते हैं। यह सब अपवास और क्रिया कष्ट में बहुत दु:ख होवे न, वह कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं। वह कष्ट तो राग है, आर्तध्यान है।

कहते हैं कि भगवान आत्मा अन्दर चैतन्य दल आनन्द प्रभु पड़ा है वह। आहाहा! अरे! इसे क्यों बैठता नहीं न! वह विश्वास में आता नहीं इसे। अनादि से राग और

अल्पज्ञपने के जोर में इसे, पूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा है, इस बात में इसकी दृष्टि नहीं जाती। समझ में आया? आहाहा! '**हिएमैं हरखि निज उद्धता सँभारी है।**' अपना उत्कृष्ट स्वच्छ स्वभाव। उद्धता अर्थात् स्वभाव। उत्कृष्ट... ज्ञान और आनन्द का जिसका उत्कृष्ट अर्थात् ऊँचा में ऊँचे अन्तर स्वभाव, उसे **उद्धता संभारी**—उसका अनुभव करके। समझ में आया?

'**अंतराय नास भयौ**' अर्थात् स्वरूप के अनुभव में विघ्नरूप जो राग की एकता आदि अस्थिरता थी, वह नाश होने पर **शुद्ध आतम प्रकाश हुआ**। चैतन्य जलहल ज्योति से जलहल जगा। जगमग ज्योति से वह चैतन्य भगवान, राग के और पुण्य के विकल्प से भिन्न पड़कर, जो राग से 'मैं' हूँ, ऐसा अज्ञानरूप से जागता और प्रकाशता था, वह राग की पर्यायबुद्धि छोड़कर अन्तरबुद्धि में आया। तो कहते हैं कि '**सुद्ध परकास थयौ,**' ज्ञान की शुद्धता आनन्दसहित जहाँ प्रगट हुई। आहाहा! भारी धर्मक्रिया! पोपटभाई! प्रतिक्रमण करना हो तो घर में आकर बिछावट करके कर डालें। लो, 'इच्छामि पडिक्कमणुं ईरिया...' वह खोटा उपदेश है। आहाहा! बापू! तूने कभी प्रतिक्रमण किया नहीं, यह कहते हैं। विभाव में से विमुख होना और स्वभाव में आना, इसका नाम प्रतिक्रमण है। समझ में आया? ऐई लड़कों! यहाँ बातें नहीं होती, हों! अन्दर आ जाओ अन्दर बाहर से... बड़े लड़कों को ध्यान रखना चाहिए।

'**ग्यानकौ विलास ताकौ वंदना हमारी है।**' ओहो! प्रभु आत्मा अपनी ज्ञान की शुद्धि और समृद्धि से जहाँ उछला और जिसकी दशा में पूर्ण आनन्द और ज्ञान प्रगट हुआ, ऐसा ज्ञान का, आनन्द का '**विलास ताकौ वंदना हमारी है।**' उसे मैं वन्दन अर्थात् नमस्कार करता हूँ। सब भाषा ग्रीक-लेटिन (अटपटी) जैसी लगे इसे। ऐई प्रकाशदासजी! वह अणुव्रत करना, महाव्रत पालना, यह करना, सीधा-सट्ट अज्ञान। आहाहा! वह तो सब अज्ञान है।

मुमुक्षु : अणुव्रत और महाव्रत की व्याख्या कहाँ आती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : महाव्रत की खबर किसे है? अणुव्रत किसे कहे जाते हैं? महाव्रत किसे कहना? आहाहा! परन्तु महाव्रत तो बड़े पुरुष पालन करें, उसे महाव्रत कहते हैं।

मुमुक्षु : ....न पाले उसे बड़ा कैसे कहना?

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू! परन्तु तू जगा नहीं, वहाँ मुड़ना उसमें, वह कहाँ से आया? स्वयं चैतन्यमूर्ति परमात्मा स्वरूप है। परमात्मा के स्वरूप में और प्रगट परमात्मा के शक्तिरूप में कुछ अन्तर नहीं है। आहाहा! '**ग्यानकौ विलास...**' यहाँ तो अजीव अधिकार है न! पुण्य-पाप के अजीव भाव से भिन्न करके स्वभाव की शरण ली, तब इसे ज्ञान का विलास अर्थात् आनन्द प्रगट होता है। अजीव के पुण्य-पाप के भाव में था, तब तक उसे दुःख होता था, दुःखी था। समझ में आया? अरे, भारी सूक्ष्म! शुभ-अशुभ भाव में था, वहाँ तक दुःखी था। उनसे भिन्न पड़कर भगवान जैसा है वैसा शुद्ध उपयोग में प्रकाशित हुआ। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं कि '**ग्यानकौ विलास...**' यह ज्ञान का, आनन्दित होकर आनन्द का अनुभव कर, ऐसा कहते हैं।

दो शब्द आये थे न। हरखि... '**हिएमैं हरखि**'। यह आनन्द है, परन्तु आनन्दित होकर आनन्द का अनुभव कर, ऐसा। दुःखी होकर आनन्द का अनुभव कर, ऐसा नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : सुखी हो तो जन्म का अन्त आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका कहाँ अनुभव? दुःख का अनुभव है परन्तु दुःखी कहाँ (मानता) है? ऐसा कि बहुत कष्ट पड़े ना। बहुत कष्ट पड़े, उसे धर्म बहुत हो।

मुमुक्षु : धूल भी नहीं। पापबन्ध है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिये कहते हैं। यह अपवास—बपवास बहुत करे, तपस्या लगी हो, गला सूखा हो, चैत्र महीने की धूप पड़ती हो...

मुमुक्षु : आकुलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : आकुलता? पानी पीता नहीं, गला सूखा हो तो भी, रोटियाँ खाता नहीं, ऐसा का ऐसे निभाता है २४ घण्टे।

मुमुक्षु : आकुलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आकुलता है राग की, वहाँ कहाँ निर्जरा और धर्म था? समझ में आया?

यहाँ तो '**ग्यान विलास ताकौ वंदना**' अकेला चैतनय पूर्ण जगा, ऐसा कहना है। अजीव से भिन्न पड़कर आत्मा के भान की जागृतदशा में आकर अनुभव करते-करते, स्थिर करते राग का सर्वथा नाश होकर अकेली चैतन्यज्योति जागृत हुई। कहो, समझ में आया? पहले से अन्त तक की बात ले ली है। विकल्प की जाति है परसन्मुख के झुकाववाली, उससे भिन्न पड़कर स्वरूप-सन्मुख की दृष्टि का अनुभव हुआ, तब उसे ज्ञान का विलास जागृत हुआ। परन्तु अभी पूर्ण अनुभव करते... करते... करते... करते जब राग सर्वथा जाये और ज्ञानस्वभाव सर्वथा विकास को प्राप्त करे, उसे पूर्ण ज्ञानी परमात्मा कहते हैं। ऐसे ज्ञान को वन्दना—आदर करता हूँ, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

एक कलश हुआ। (कलश) दूसरा। '**श्रीगुरु की पारमार्थिक शिक्षा**' दूसरा कलश नीचे है। आहाहा! **विरम किमपरेणाकार्य-कोलाहलेन...** पुण्य-पाप के भाव, वे तो अकार्य है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

विरम किमपरेणाकार्य-कोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुन्सः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः।।२।।

उसका पद्य। यह कलश था।

★ ★ ★

काव्य - ३

श्रीगुरु की पारमार्थिक शिक्षा (सवैया इकतीसा)

भैया जगवासी तू उदासी व्हैकैं जगतसौं,
एक छ महीना उपदेस मेरौ मानु रे।
और संकलप विकलपके विकार तजि,
बैठिकैं एकंत मन एक ठौरु आनु रे।

तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ,
तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे।
प्रापति न व्है है कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही व्हैहै प्रापति सरूप यौंही जानु रे।।३।।

शब्दार्थ:-जगवासी=संसारी। उदासी=विरक्त। उपदेश=सिखापन। संकलप विकलप (संकल्प-विकल्प)=राग द्वेष। विकार=विभाव परिणति। तजि=छोड़के। एकंत (एकांत)=अकेले में, जहाँ कोई आहट उपद्रव आदि न हो। ठौरु=स्थान। घट=हृदय। सर=तालाब। मधुकर=भौंरा। सुवास=अपनी सुगंधि। प्रापति (प्राप्ति)=मिलना। व्हैहै=होगी। सही=सचमुच। यौंही=ऐसा ही।

अर्थ:-हे भाई! संसारी जीव! तू संसार से विरक्त होकर एक छह महीने के[१] लिये मेरी सीखापन मान, और एकान्त स्थान में बैठकर राग-द्वेष की तरंगे छोड़के चित्त को एकाग्र कर, तेरे हृदयरूप सरोवर में तूं ही कमल बन और तूं ही भौंरा बनकर अपने स्वभाव की सुगंध ले। जो तूं यह सोचे कि इससे कुछ नहीं मिलेगा, सो नियम से स्वरूप की प्राप्ति होगी; आत्मसिद्धि का यही उपाय है।।३।।

विशेष:-यह पिण्डस्थ[२] ध्यान है। अपने चित्तरूप सरोवर में सहस्र दल का कमल कल्पित करके प्राणायाम किया जाता है, जिससे ध्यान स्थिर होता है और ज्ञानगुण प्रगट होता है।।३।।

काव्य-३ पर प्रवचन

'भैया जगवासी तू उदासी व्हैकैं जगतसौं, एक छ महीना उपदेस मेरौ मानु रे।'

'भैया जगवासी तू उदासी।' वापस कवि है न इसलिए भाषा भी ऐसी ही आवे।

---

१. यहाँ पाठ में जो छह महीना कहा है सो सामान्य कथन है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल है, शिष्य को मार्ग में लगाने की दृष्टि से जघन्य और उत्कृष्ट काल न बताकर छह महीने के लिये प्रेरणा की है। छह महीने में सम्यग्दर्शन उपजे ही उपजे ऐसा नियम नहीं है।

२. पिण्डस्थ ध्यान संस्थानविचय ध्यान का भेद है, पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इस तरह चार प्रकार का संस्थानविचय ध्यान होता है।

भैया, ऐसा कहकर कहते हैं। **जगवासी**—जग में रहा हुआ, राग में रहा हुआ, संसार में रहा हुआ, उसे जगवासी कहते हैं। '**उदासी व्हैकैं जगतसौं,**' परन्तु जगत शब्द से विकल्प और राग से लेकर जगत से विमुख हो। आहाहा! '**एक छ महीना उपदेस मेरौ मानु रे।**' एक छह महीने मेरा उपदेश मान। छह महीने लढण कर अन्दर। समझ में आया?

और बादाम का तेल निकाले न बादाम का तेल। लसोटे। दो-चार लसोटा मारकर फिर पानी पीने उठे, वहाँ सब तेल पी जाये, फिर पृथक् तो पड़े नहीं। समझ में आया? और दो-चार लसोटा मारकर फिर बातें करने लगे कोई आया हो, उसके साथ। और वह कब तेल निकले बाहर? परन्तु बराबर लसोटे। हमारी काठियावाड़ी भाषा है न यह। लसोटवुं अर्थात् बराबर घिसना। लगातार घिसे। ऐसे छह महीने एक बार आत्मा की ओर के लक्ष्य को घिस। यह तो सब बोल आये थे न आठ-दस। कोई अध्यवसाय को कर्म माने, जीव माने—उनके यह कलश हैं।

मुमुक्षु : २९ बोल का कचरा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई अध्यवसाय को जीव माने, कोई राग को माने, कोई उसको माने, कोई राग का कर्तापने का अनुभाग जीव है, ऐसा इत्यादि। (समयसार गाथा ५० से ५५)। यह सब बोल हैं, उनका यह कलश है।

'**एक छ महीना उपदेस मेरौ मानु रे।**' छह महीने तो मेरा उपदेश मान, कहते हैं। यह तो मध्यम बात की है। सम्यग्दर्शन तो अन्तर्मुहूर्त में होता है, न हो तो अनन्त काल में भी नहीं होता। परन्तु मध्यम बात करके, इसके कठिन न लगे, इसलिए जरा विश्राम रखा है इस बात को। '**और संकलप विकलपके विकार तजि**' —और आत्मा के स्वभाव की अन्तर्दृष्टि के अनुभव के अतिरिक्त जो कुछ संकल्प-विकल्प को छोड़ दे, वे **तजि...** दुनिया का कर दूँ, दुनिया को सुना दूँ, दुनिया को समझा दूँ—यह सब संकल्प-विकल्प छोड़।

'**और संकलप विकलपके विकार तजि, बैठिकैं एकंत मन एक ठौरु आनु रे।**' आहाहा! है? देखो। **तू संसार से विरक्त होकर....** संसार से विरक्त का अर्थ—रागरूपी

विकल्प जो है, वह संसार है। ऐसे स्त्री, पुत्र छोड़कर बाहर बैठ जाये, इसलिए संसार छोड़ा है—ऐसा नहीं है। आहाहा! जिसे अभी पंच महाव्रत के विकल्प के राग के साथ भी एकताबुद्धि है, वह पक्का संसारी है। समझ में आया?

कषाय और काया के साथ एकत्वबुद्धि, आता है न! आस्रव और अजीव—दो। प्रवचनसार। आस्रव और अजीव। पुण्य आदि के परिणाम, वे आस्रव हैं, शरीर आदि वह अजीव है। दोनों में जिसकी एकत्वबुद्धि है, वह तो पक्का संसारी है। भले बाह्य त्यागी होकर नग्न मुनि होकर घूमता हो, तो भी वह पक्का संसारी है। आहाहा! कठिन व्याख्या लगे। कितना सहन करे बेचारे, बाह्य वैभव में, स्त्री-पुत्र में, सुविधा खाने-पीने की (छोड़कर)। यह गर्म-गर्म दाल, भात, रोटी, सब्जी, ओसामण (उसकी) ममता छोड़कर साधु हो। तो कहते हैं कि 'तू संसारी है।' ले! वे तो छूटे हुए ही पड़े हैं। छोड़ने का अभिमान है। वे तो छूटे ही थे। तू तो राग में एकत्वरूप से बँधा हुआ था, वह संसार है। आहाहा! समझ में आया?

परम स्वभाव भगवान आत्मा को राग के उदयभाव की एकता, वह संसार है। उससे विरक्त होकर (पुरुषार्थ करना)। भाषा तो सरल है। परन्तु अन्दर विरक्त होना, वह पुरुषार्थ अनन्त अपेक्षित है। ऐई! '**संकलप विकलपके विकार तजि, बैठिकैं एकंत मन एक ठौरु आनु रे**।'—मन को आत्मा की ओर मोड़। '**एक ठौरु आनु**'—एक आत्मा आनन्दस्वरूप, उसकी ओर मोड़। समझ में आया? भाई ने लिखा है न रमेशभाई ने। नहीं? उस कागज में आया है न, 'मनना मृगलाने पाछा वाळजो रे लोल।' मूल व्याख्यान में से तब बनाया है। 'मनना मृगलाने पाछा वाळजो रे लोल, जोडजो आत्म सरोवर साथ, अे तने आतम सुख मळशे अमुला रे लोल।' तुझे आत्मा का आनन्द प्रचुर मिलेगा।

व्याख्यान में आया था न तो (पद्य में) रच दिया। कहो, समझ में आया? बाईयों का राग है न वह रासडा का, रासडा का राग। महिलायें गाये न रासडा, वह राग है यह। लोल... लोल... करके। समझ में आया? नहीं भाई? महिलायें गाये न रासडा, तब ऐसा बोले लोल रे लोल करके। उसने ऐसा ही जोड़ दिया। वह उसे श्वास को मेहनत न पड़े,

देशी बोलने से। अन्दर श्वास में पद्धतिसर श्वास चाहिए तब मिली रहे और देशी चले। **'बैठिकैं एकंत मन एक ठौरु आनु रे।'** लो, यह करने का है। ओहोहो! पूरा जगत। यही संकल्प-विकल्प का विकार से, विकल्प से लेकर पूरी दुनिया, वह तुझसे भिन्न और उससे तू भिन्न। आहाहा!

'तैरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ' तेरे हृदय में सरोवर, ज्ञान सरोवर भरा है भाई! आहाहा! आनन्दसरोवर में पड़ा है प्रभु तू! तू आनन्दसरोवर है। आहाहा! सवेरे उसमें भी आया, नहीं? .... तब अभी कहाँ से आया? ... क्या कहा? कि एक छह महीने मेरा उपदेश मान (ऐसा) आचार्य कहते हैं। भगवान आत्मा... **'तैरौ घट सर तामैं'**—तेरे शरीर के अन्दर में चैतन्य सरोवर भरा है। आहाहा! आनन्द का सरोवर है वह। समझ में आया? **'तैरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ'** भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान का सरोवर है, वह तू स्वयं कमल है। उसकी सुगन्ध तू ले। अरे... अरे... गजब बात! जेठाभाई! अरे भगवान! तूने पुण्य और पाप के संकल्प-विकल्प के भाव की सुगन्ध जहर की ली है। समझ में आया? तीसरा श्लोक है न, वह चलता है।

'तैरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ, तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे।' आहाहा! क्या कहते हैं? तेरे अन्तर हृदय सरोवर में भगवान अन्तर आनन्दमूर्ति प्रभु तू है, उस हृदय सरोवर में कमल, ऐसा अन्दर कमल वन है। आनन्द के पाक का वह सब, भगवान! पूरा वन है। उसे **तू ही भँवरा बनकर...** तू ही भँवरा होकर उसकी सुगन्ध ले। समझ में आया? आहाहा! **तू ही भौंरा बनकर.... 'भँवरा'** अर्थात् भमरो (भँवरा का गुजराती शब्द)। **अपने स्वभाव की सुगन्ध ले।** भगवान आत्मा सच्चिदानन्द—सत्+चिद्+आनन्द स्वरूप शुद्ध ज्ञानघन, वह आत्मसरोवर। उस सरोवर में तू अन्दर एकाग्र हो, वह कमल, उसकी सुगन्ध तू ले। इसका नाम धर्म कहा जाता है। कठिन ऐसी सब बातें! समझ में आया?

भाई ने डाला है न, रमेश ने डाला है। 'सरोवर कांठे रे मृगला तरस्या रे लोल, दोडी हांफी झांझवाना जळने रे काज, अरेरे! साचा वारि रे अने ना मळे रे लोल।' वहाँ बना बींछिया। प्रेमचन्दभाई के पुत्र का पुत्र है न वह कारकून रमेश, रमेश। उसने गायन बनाये। सात दिन रहे न बींछिया। सात दिन में गायन बनाकर लाया था। उसके बाप

को—दादा को तो ऐसा था, ऐसा कि यह किसी के बनाये हुए रटता होगा। ऐसा कि वह 'कमल' नाम है न। उसका नाम रमेश है, परन्तु 'कमल' उपनाम रखा है। समझे न? वह कागज देना एक-दो। तुम्हारे... उसने बनाया। 'दोडे हांफी झांझवाना जळनी रे काज, अरेरे! साचां वारि अेने ना मळे रे लोल।' वारि अर्थात् पानी। ऐ देवानुप्रिया! यह लिया है या नहीं? लिया न! यह दिया न! नहीं दिया? लो! नारद रह गये। कहो, समझ में आया? 'अरेरे! साचां वारि रे अेने ना मळे रे।'

देखो, यह सरोवर। चैतन्य सरोवर। आनन्द का नाथ, उसे छोड़कर पुण्य-पाप के मृगजल के जल में भटका, वह वहाँ सच्चा पानी तुझे नहीं मिलेगा। समझ में आया? क्या कहा? यह खाने की सुविधा और वहाँ विकल्प में रुका, कहते हैं कि वहाँ सच्चा पानी नहीं। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : आत्मा में है न? वह ऐसा कहता है कि आत्मा वहाँ है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा है, उसकी खबर कहाँ है, उसकी? आहाहा!

मुमुक्षु : सोनगढ़ में ही आत्मा है? अन्यत्र नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यहाँ न बोले इतना, तुम्हारे पास बोले थोड़ा-थोड़ा। समझ में आया? देखो, वह यह सरोवर। चैतन्य भगवान वस्तु है न पदार्थ। सच्चिदानन्द स्वरूप—सत् अर्थात् शाश्वत, चिद् अर्थात् ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का भरपूर भण्डार प्रभु है। कैसे बैठे? कभी स्मरण नहीं किया न! बाहर की धूल-धमाल और पुण्य और पाप के संकल्प और विकल्प की आड़ में उसे—भगवान को देखने के लिये निवृत्त नहीं हुआ। आहाहा! समझ में आया?

'अे मनना रे मृगलाने पाछा वाळजो रे लोल।' रासडा का राग (लय)। 'जोडी द्यो आतम सरोवर आज, अेने मळशे आतम सुख अमुला रे लोल।' भगवान! तू तो अतीन्द्रिय आनन्द के सरोवर से भरपूर वस्तु है। अरे! उस वस्तु की ओर जा और यह पुण्य-पाप के विकल्प मृगजल की दौड़ में दौड़ नहीं। हिरण जैसा नहीं हो। हिरण मृगजल के जल में जाते हैं, परन्तु वहाँ जल—पानी नहीं मिलता। इसी प्रकार अज्ञानी पुण्य और पाप के विकल्प में जाता है, वहाँ पानी—आत्मा की शान्ति तुझे नहीं मिलती।

समझ में आया? यह बोर्डिंग-बोर्डिंग के पैसे उगाहना, यह सब विकल्प, यह मृगजल का पानी है, ऐसा कहते हैं। बोर्डिंग वह कॉलेज में... वहाँ यह खास आते थे बहुत समय से... प्रेम से। कहो, समझ में आया? आहाहा!

अरे भगवान! ऐसा मनुष्य देह, उसमें तेरी चीज़ क्या है, उसे समझने की कोशिश—प्रयत्न किया नहीं, सब धूल और धाणी है भाई! समझ में आया? सरोवर, आतम सरोवर। देखो, यह यहाँ आया। '**तैरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ**' आहाहा! भगवान आत्मा... यह बाल गोपाल शरीर के मुर्दे पड़े शरीर के, उसमें अमृत भगवान विराजता है। आता है न? 'मृतक कलेवर में अमृत भगवान मूर्च्छित हो गया है।' यह तो मृतक कलेवर—सड़ा हुआ चमड़ा है। अमृत सरोवर भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द के अमृतस्वरूप से भरपूर, मृतक कलेवर में मूर्च्छित। अमृतमूर्ति मृतक कलेवर में मूर्च्छित। यह दुःख का सरदार, बापू! दुःख का वेदन है, भाई! आहाहा! समझ में आया?

'**तैरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ**'—वह सरोवर भी तू और उसका कमल भी तू! उसकी खिलावट में तेरा कारण है। '**तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे।**' तू मधुकर अर्थात् भँवरा होकर अन्दर आनन्दसरोवर के कमल का तू भँवरा होकर सुवास ले, भाई! यह पुण्य-पाप के संकल्प-विकल्प की दुःवास में जहर की वासनायें तो तूने अनन्त काल की है, वह कोई नयी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? '**तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे।**' '**भैया जगवासी तू उदासी व्हैकैं जगतसौं, एक छ महीना उपदेस मेरौ मानु रे।**' ऊपर पहली लाईन है। उसमें ऊपर है भैया... एक छह महीना मैं कहता हूँ वह बात कर न, भाई! यह होली तो सब की है, वह अनन्त बार। समझ में आया?

'**प्रापति न व्है है कछु ऐसौ तू विचारतु है**' अरे रे! यह वस्तु कैसे मिले? ऐसा तू विचार करता है, ऐसा तू रहने दे, भाई! तेरी चीज़ तेरे पास है, वह नहीं छिपेगी। तू अन्तर में सावधान होकर जायेगा तो तुझे मिल जायेगी। आहाहा! क्या कहते हैं यहाँ? अजीव अधिकार है न! अर्थात् पुण्य-पाप के भाव जो शुभ-अशुभ हैं, उसमें उसकी प्राप्ति नहीं, उनसे रहित प्राप्ति कैसे होगी? ऐसा न मान। उसके रहित का फल (मोक्ष) वह प्राप्ति तुझे होगी। आहाहा! समझ में आया? कठिन, भाई! ऐसी धर्म की व्याख्या कैसी? वह तो कहे, पैसा खर्च करो, दान करो, दया करो, व्रत पालो, अपवास करो,

कॉलेज बनाओ, पैसेवाले से पैसा उगाहो, लो। चन्दा करके हमने पाँच लाख उगाहे, लो, कुछ लाभ तो मिलेगा या नहीं हमको?

मुमुक्षु : मिथ्यात्व का मिल गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिल गया यह राग है, वह आकुलता का लाभ मिला। समझ में आया?

'**प्रापति न व्है है कछु**' कहते हैं, **जो तू यह सोचे कि इससे कुछ नहीं मिलेगा...** ऐसा रहने दे। आहाहा! **सो नियम से प्राप्ति होगी।** क्या कहते हैं? आहाहा! बहुत संक्षिप्त शब्द में भाव को भरा है। भगवान अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है, अनादि-अनन्त है, शाश्वत् वस्तु है और उसमें शान्ति और आनन्द आदि शक्तियाँ शाश्वत् पड़ी हैं। वह कहते हैं, न प्राप्त हो, ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा कहते हैं। भाई! तुझे यह क्या हुआ है तुझे? मैं मुझे प्राप्त होऊँगा या नहीं? मैं मुझे प्राप्त हो सकूँगा या नहीं? यह क्या हुआ है? भाई! कहो, समझ में आया या नहीं? देवानुप्रिया!

मुमुक्षु : आत्मा की शंका करे, आत्मा स्वयं ही आप।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और अलग बात हुई। यह तो आत्मा के अस्तित्व का नाश हो जायेगा। यह आत्मा की शंका, वह तो आत्मा है या नहीं, उसकी बात है। यह तो आत्मा ऐसा है, उसकी प्राप्ति हुए बिना तुझे रहेगी नहीं। वाँचा है न, इसलिए रखे कहीं।

कहते हैं कि '**प्रापति न व्है है कछु ऐसौ तू विचारतु है**' भगवान! क्या हुआ तुझे यह? आहाहा! 'मैं' नहीं, परन्तु 'मैं' नहीं, वहाँ ही तू है, ऐसा निर्णय हुआ। 'मैं' नहीं, इसका निर्णय किसने किया? 'मैं' नहीं, वह किस भूमिका में 'मैं' नहीं, ऐसा निर्णय हुआ? चैतन्य की भूमिका में 'मैं' नहीं, वहाँ 'मैं' हूँ, ऐसा निश्चित हो गया यह तो। समझ में आया? उसकी कला तो सरल है, परन्तु इसने कला सुनी नहीं और उसे लक्ष्य में लिया नहीं। आहाहा! साधु हुआ, बाबा हुआ, यति हुआ, मर गया क्रिया कर-करके सूख गया। कहो, प्रकाशदासजी! नंगे पैर चले, गर्म पानी पीवे, लोंच कराया, भेड़ करावे ऐसा। आहाहा! भाई! इस चीज़ से तो यह चीज़ अलग है। आहाहा!

यह तो सहज आनन्दमूर्ति प्रभु आत्मा है। वह दु:खरूप नहीं, विकल्परूप नहीं,

अजीवरूप नहीं। उसे अजीव से भिन्न करके और तेरे आनन्द के स्वभाव के सरोवर में तू कमल होकर (और) तू (ही) भँवरा होकर उसकी सुगन्ध ले। आहाहा! उस आनन्द की वास का सुवास है। अन्तर स्वभाव में ध्रुव अतीन्द्रिय आनन्द भरा है, उसकी सुवास ले। ऐसे बाहर में नहीं कहते? कि हमारे इसकी बहुत सुवास है। परन्तु धूल भी सुवास नहीं वहाँ। इज्जत कहे उसे सुवास कहते हैं न! इसकी बहुत सुवास है। ऐसा कि जहाँ हो वहाँ इसकी महिमा होती है। मूर्ख जैसे भी पागल उसकी महिमा करे, वह सुवास कैसी कहलाये? ऐ पोपटभाई! पागल जैसे लोगों से अभिनन्दन लेना उनका। समझ में आया? आहाहा! समझ में आया? हाँ, बहुत जानता है, हों! बहुत आता है, हों! पागल जैसे उसकी परीक्षा करके उसे अच्छा कहे। भाई! तेरे अच्छेपन की बातें दूसरी है, प्रभु! आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहना चाहते हैं कि पुण्य-पाप का भाव है न, उसमें सुख नहीं, उसमें दुःख है, वह अजीवभाव है। इस जागती ज्योति का वह भाव नहीं। आहाहा! तो जैसे शरीर से भिन्न है, वैसे पुण्य-पाप की वृत्तियाँ उठती हैं, वे भी अजीव हैं, उनमें चैतन्य की जागृति का अभाव है, इसलिए उनसे भिन्न, ऐसी स्वरूप की दृष्टि करने से प्राप्त होगा या नहीं? छोड़ दे शंका। होगा ही! समझ में आया? '**प्रापति न व्है है कछु ऐसौ तू विचारतु है, सही व्हैहै प्रापति सरूप यौंही जानु रे**।' देखो, **सौ नियम से स्वरूप की प्राप्ति होगी आत्मसिद्धि का यही उपाय है**। इस ओर अर्थ है। देखो यह उपाय। कहो, समझ में आया? संकल्प-विकल्प, दया, दान, व्रत, भक्ति? यह सब उपाय नहीं। तूने माना, वह नहीं। आहाहा! समझ में आया?

विशेष : नीचे यहाँ डाला है। **यह पिण्डस्थ ध्यान है**। पिण्डस्थ अर्थात् इस शरीररूपी पिण्ड में आत्मा भिन्न है न, उसका ध्यान, ऐसा। यह ध्यान की व्याख्या की है, ऐसा कहा है। पिण्ड अर्थात् शरीर। पिण्डे वह ब्रह्माण्डे और ब्रह्माण्डे वह पिण्डे। यह भगवान शरीर पिण्ड में प्रभु चैतन्य ज्योति विराजता है, वह तू है! आहाहा! एक सेर वजन बढ़े वहाँ प्रसन्न हो, जरा अच्छा कहने से फूल जाये। अरे! उसे यह बात कैसे बैठे? पोपटभाई! पाँच-पच्चीस लाख मिले, उसे दुनिया कहे, आहाहा! परमेश्वर ने दिया और खाकर भोगे और फिर दान भी करे वापस।

मुमुक्षु : कमाना भी जाना और खर्च करना भी जाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : कमाना भी जाना और खर्च करना भी जाना। वह मनुष्य मरे न... 'जीना भी जाना और मरना भी जाना' ऐसा कहे।

मुमुक्षु : दूसरों से सेवा न करावे....

पूज्य गुरुदेवश्री : सेवा न करावे, मरते एकदम मर जाये वह। जल्दी-जल्दी मर जाये। रोटियों के समय मरे तो दिक्कत आवे। परन्तु छह-सात बजे मर गया हो न फिर नहा-धोकर आवे और रोटियाँ समय पर मिले। भाई! उसने जीना भी जाना और मरना भी जाना। क्या अपने को कुछ मेहनत पड़ी नहीं। रात्रि का जागरण करना नहीं पड़ा। रमेशभाई! यह सब स्वार्थ के पुतले ऐसा बोलते हैं, हों! मरने के बाद।

जीना कहाँ जाना था? भान भी नहीं कि क्या आत्मा है। आत्मा आनन्दस्वरूप को जीवन में उसकी ज्योति में आनन्द प्रगट करके जिया, वह जीवन है। धूल का जीवन, वह जीवन कैसा? उसने तो आत्मा के जीवन का नाश कर दिया है। आहाहा! कहो, भीखाभाई! लड़के हुए, पैसे हुए, इज्जत हुई, मकान हुए। बापू! उसकी तो....

मुमुक्षु : आकुलता खड़ी हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब वह तीस रुपये वेतन और कहाँ दस-दस हजार की आमदनी हो, बीस-बीस हजार की, उसकी उसमें तो कुछ (गिनती नहीं होती)। कहो, समझ में आया?

अपने चित्तरूप सरोवर में सहस्त्र दल का कमल कल्पित करके ...यह डाला। **प्राणायम किया जाता है, जिससे ध्यान स्थिर होता और ज्ञानगुण प्रगट होता है।** यह तो वह वस्तु ऐसी है।

मुमुक्षु : निमित्त की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ओहो! चैतन्य भगवान वस्तु है न! वस्तु है तो उसकी शक्ति—स्वभाव—गुण होते हैं न! वह उसका अनन्त-अनन्त संख्या से गुण हैं। अभी ४७ शक्तियों का व्याख्यान हुआ न! ऐसी अनन्त शक्तियाँ आत्मा में हैं। अनन्त शक्ति का

सागर आत्मा, उसमें उसका जो कमल उगे, उसकी दृष्टि पड़ने पर उसकी उग्रता-जागृति हो। उसकी सुगन्ध का स्वाद तू ले, ऐसा कहते हैं।

कनुभाई! गजब धर्म ऐसा यह तो! अभी तक तो सस्ता था, उसे कर डाला महँगा, ऐसा कितने ही कहते हैं। जेठाभाई! गर्म पानी पीये, उपधान किये, वह कुछ किया, लो। अब कहते हैं कि वह धर्म नहीं। जेठाभाई! भगवान को जगाये बिना तेरी क्रिया की, वह सब खोटी है। आहाहा! चौथा पद, कलश तीसरा। कलश है न नीचे। यहाँ नीचे किया है नीचे (फुटनोट है)। **यहाँ पाठ में जो छह महीना कहा है।** नीचे नोट है। **सो सामान्य कथन है।** छह महीना यह उपदेश मान, ऐसा कहा है न। छह महीने एक ओर बैठकर आत्मा के संकल्प-विकल्प छोड़कर उसमें ध्यान कर।

'सम्यक्दर्शन की प्राप्ति का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त। आत्मानुभव तो अन्तर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट के अन्दर हो जाये। उत्कृष्ट काल अनन्त। न हो तो अनन्त काल में भी न हो, परन्तु हो ऐसा। अनन्त काल में भी हो, ऐसा लेना है यहाँ। **शिष्य को मार्ग में लगाने की दृष्टि से जघन्य और उत्कृष्ट काल न बताकर छह महीने के लिये प्रेरणा की है। छह महीने में सम्यग्दर्शन उपजे ही उपजे, ऐसा नियम नहीं।** पुरुषार्थ करे तो होता है। काल की मर्यादा जानकर उसे (उपदेश दिया)।

भाई! एक ओर जैसे सबकी लगन लगायी है संसार की, वैसी आत्मा की लगन लगा एक बार धुन... धुन... धुन। समझ में आया? आनन्दस्वरूप को शोधने के लिये धुन लगा। यह धुन छह महीने कर तो तुझे आत्मा का भान हुए बिना रहेगा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : सामान्य कथन है....

पूज्य गुरुदेवश्री : सामान्य कथन है, वरना तो ऐसे अन्तर्मुहूर्त... अन्तर्मुहूर्त में... अन्तर्मुहूर्त (अर्थात्) एक समय में। एक समय में—समयान्तर में ज्ञान हो जाये पूर्ण (एकदम)। एक जिस समय में राग और पुण्य पर बाह्य दृष्टि है, उसे छोड़कर अन्तर्दृष्टि की, एक समयान्तर में आत्मभान हो जाये। आहाहा! परन्तु उसे गति और विधि की पद्धति आनी चाहिए। आहाहा! समझ में आया?

पिण्डस्थध्यान संस्थानविचय ध्यान का भेद है। वह पिण्डस्थ कहा था न! पिण्डस्थ अर्थात् इस शरीर में रहे हुए भगवान का ध्यान कर, ऐसा। इसलिए उसका नाम पिण्डस्थ कहा, ऐसा। **पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इस तरह चार प्रकार का संस्थानविचय ध्यान होता है।** आत्मा शरीर में रहा है, उसका ध्यान कर, वह **पिण्डस्थ** कहलाता है। **पदस्थ**—पाँच पद है न अरिहन्त, सिद्ध आदि, उनका ध्यान करे, वह पदस्थ कहलाता है। **रूपस्थ**—रूपी शरीर में रहा होने पर भी अरूपी का ध्यान करना, उसे रूपस्थ कहा जाता है। **रूपातीत**—शरीररहित का ध्यान करना, उसे रूपातीत कहा जाता है।

तीसरा कलश नीचे है। ५७ पृष्ठ पर।

चिच्छक्ति-व्याप्त-सर्वस्व-सारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी।।३।।

उसका पद चौथा है अन्दर।

★ ★ ★

काव्य - ४

जीव और पुद्गल का लक्षण (दोहा)

चेतनवंत अनंत गुन, सहित सु आतमराम।
याते अनमिल और सब, पुदगल के परिनाम।।४।।

शब्दार्थः-आतमराम=निजस्वरूप में रमण करनेवाला आत्मा। यातैं=इससे। अनमिल=भिन्न।

अर्थः-जीव द्रव्य, चैतन्यमूर्ति और अनन्त गुण सम्पन्न है, इससे भिन्न और सब पुद्गल की परिणति है।

भावार्थः-चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य आदि आत्मा के अनन्त गुण हैं और आत्मगुणों के सिवाय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वा शब्द, प्रकाश, धूप, चाँदनी, छाया,

अन्धकार, शरीर, भाषा, मन, श्वासोच्छ्वास तथा काम, क्रोध, लोभ, माया आदि जो कुछ इन्द्रिय और मन गोचर हैं, वे सब पौद्गलिक हैं।।४।।

काव्य-४ पर प्रवचन

चेतनवंत अनंत गुन, सहित सु आतमराम।
याते अनमिल और सब, पुदगल के परिनाम।।४।।

आहाहा! '**चेतनवंत अनंत गुन, सहित सु आतमराम**' यह अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि गुण से आत्मा सहित है। '**याते अनमिल और सब**' वह उससे अनमेल, पुण्य और पाप के भाव, वे आत्मा के स्वभाव से अनमेल भाव हैं। आहाहा! समझ में आया? 'अणमणता' ऐसे शब्द बहुत आते हैं इसमें, कलश टीका में आते हैं। कलश टीका में दो तीन जगह 'अणमणता।' यह भी उसमें से निकाला है न! उसमें एक-एक शब्द हो। कलश तीसरा। जीवद्रव्य तो चैतन्यमूर्ति भगवान है। जाननस्वभाव का नूर का पूर चैतन्य है।

'**याते अनमिल और सब पुद्गलके परिनाम।**' देखो, शरीर, वाणी जड़, वे तो अनमेल हैं, वे तो जड़ हैं। परन्तु चैतन्य के आनन्दस्वभाव के समक्ष, ज्ञान के ज्ञाता स्वभाव के समक्ष दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी अनमिलत—अनमेलवाले हैं। आहाहा! समझ में आया? सब निकाल दिया न! मूल पाठ में ऐसा है न, '**चिच्छक्ति-व्याप्तसर्वस्वसारो**' इतना जीव है। '**अतोऽतिरिकता सर्वेऽपि भावा**' यहाँ तो पुद्गल कह दिया है। ये पाँच महाव्रत के परिणाम, दया-दान के भाव, वे सब पुद्गल जड़ हैं। ऐ प्रकाशदासजी! अब महाव्रत को...

मुमुक्षु : सभी जड़।

पूज्य गुरुदेवश्री : है शब्द, देखो। **पुद्गलके परिनाम।** चौथा पद है। चौथा पद है न! सब पुद्गल के परिणाम कहे हैं। २९ बोल में से... आहाहा!

भगवान तो चैतन्यज्योति ज्ञान का कन्द प्रभु है, उस वस्तु को आत्मा कहते हैं। और पुण्य और पाप के व्रत-अव्रत के विकल्प उठें, शुभ-अशुभराग हो—वे सब

पुद्गल के परिणाम हैं, वे तेरे परिणाम नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम पड़े। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव पुद्गल के हैं, ऐसा कहते हैं। ऐई! षोडशकारण भावना... ऐई श्रीचन्दजी! षोडशकारण भावना भाय, दर्शनविशुद्धि... आता है न? कहते हैं, अरे भगवान! वह विकल्प है, वह तो राग है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव तो राग है। राग है, वह पुद्गल है। क्योंकि राग का बन्धन पुद्गल और पुद्गल का संयोग पुद्गल। उसमें कुछ चैतन्य-बैतन्य स्वभाव है नहीं। आहाहा! कठिन, जगत को भारी कठिन पड़े।

बाहर से मान लिया है न! यह व्रत किये और यह अपवास किये और यह पर्यूषण में आठ अपवास करे तो आहाहा! भारी निर्जरा हो, भारी अपवास करे तो। अप-वास है, तेरे उपवास कहाँ थे? उपवास तो आत्मा आनन्दस्वरूप के समीप में जाकर आनन्द की शान्ति का वेदन करे, उसे 'उपवास' कहते हैं, बाकी तो 'अपवास' है। यह क्रिया के राग की मन्दता का कदाचित् भाव हो तो भी वह अपवास—बुरा वास है। शुभभाव, वह आत्मा का स्ववशपना नहीं, वह परवशपना है। आवश्यक (अधिकार) में आता है न नियमसार (में)। आहाहा! संयमी होने पर भी, शुभभाव है वह परवशपना है, ऐसा शब्द दिया है वहाँ। ओहोहो!

पंच महाव्रत जैसे परिणाम, जिसे दुनिया ऐसा कहे कि आहाहा! बापू! पंच महाव्रत मेरु उठाया उसने तो। दीक्षा ले और न लिया जाये तो दीक्षा ले उसे अनुमोदन करे। घर से निकाले, क्या कहलाता है? शोभायात्रा। इतना तो लाभ लो। अपने घर में लड़के दीक्षा नहीं ले सकते। किसी के ने ली। खर्च करो दस हजार, घर से शोभायात्रा निकालो। वर में ले जाये.. लो, फलानाभाई के घर से, पोपटभाई के घर से शोभायात्रा निकली है। ओहोहो!

मुमुक्षु : पैसादार होवे तो निकाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका वरघोड़ा (शोभायात्रा) था? वर 'घोड़ा' है वह सब। वरजोवा है सब। आहाहा! उस वरघोड़ा की दीक्षा होती है... दीक्षा यह होती है... अरे बापू! तुझे दीक्षा क्या, उसकी खबर नहीं।

आत्मा ज्ञानसागर प्रभु अन्तर आनन्द की मूर्ति, उसे पुण्य-पाप के विकल्प के अजीव से भिन्न करके उसमें स्थिर होना, इसका नाम तो प्रथम सम्यग्दर्शन है। और फिर स्वरूप के आनन्द की रमणता में रमना, इसका नाम दीक्षा और चारित्र है। यह वस्त्र बदले और हो गया चारित्र। ऐ प्रकाशदासजी! यह बात नहीं थी तुम्हारे पकड़ने में। रह गया। आहाहा! वस्तु की खबर नहीं होती तुझे।

'याते अनमिल और सब' यह एक चैतन्यस्वरूप के ज्ञान, दर्शन, आनन्द के गुण सिवाय जितने विकल्प की वृत्तियाँ हों, सब आत्मा के स्वभाव से अनमेल भाव हैं। अनमेलता के कारण से उसे जीव नहीं कहते, उसे अजीव पुद्गल कहा जाता है। स्वरूपचन्दभाई! बहुत बापू... भाई! आहाहा! ऐसा मार्ग!

लोग कहते हैं कि ऐसा यह वीतराग ऐसा मार्ग कहते होंगे? यह वह क्या कौन कहते हैं? सामर्थ्य नहीं दूसरे की किसी की। सर्वज्ञ परमेश्वर और सन्त वीतरागी मुनि, इनके अतिरिक्त सामार्थ्य नहीं कि राग को जड़ कहे और पुद्गल कहे। महाव्रत के परिणाम को पुद्गल-जड़ कहे। आहाहा! राग है न वह! उससे पुद्गल के परिणाम हैं वे, लो। **अनन्त गुण सम्पन्न है, इससे भिन्न और सब पुद्गल की परिणति है।** वह तो पुद्गल की दशा है। ऐसे आत्मा के आनन्दस्वरूप, ऐसे अनन्त गुण में एकाकार होकर श्रद्धा प्राप्त करना और रमणता करना, इसका नाम धर्म है। बाकी धर्म-बर्म, व्रत, तप और ऐसे विकल्प में धर्म है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३३, फाल्गुन शुक्ल ८, गुरुवार, दिनांक ०४-३-१९७१
अजीवद्वार पद ४, ५, ६, ७

समयसार नाटक, चौथे पद का भावार्थ। कलश तीसरा है, उसका चौथा पद है। यह अजीव अधिकार।

चैतन्य जो आत्मा चैतन्य है... चेतन है आत्मा... आत्मा अन्दर। उसमें **चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि आत्मा के अनन्त गुण हैं।** उसमें अनन्त गुण है। आत्मा में चैतन्य के ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुण अनादि है। अनन्त गुणस्वरूप आत्मा है। **और आत्मगुण सिवाय...** जितने स्पर्श (आदि गुण) है... यह स्पर्श शरीर का, रस, गन्ध, वर्ण—रंग, शब्द—यह सब जड़ है, वह अजीव की सत्ता धराते हैं। प्रकाश, धूप, चन्द्र की चाँदनी, छाया, अन्धकार, शरीर, भाषा, मन और श्वास—यह सब अजीव है, वे आत्मा में नहीं। शरीर, भाषा और मन तथा यह श्वासोच्छ्वास जड़ है, अजीवतत्त्व है, जीव में वे नहीं। कहो, श्वास की क्रिया करना, वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं, ऐसी बात है।

मुमुक्षु : वह जड़ है, परन्तु आत्मा के आधीन नहीं, ऐसा उसमें नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसमें क्या हुआ? वह जड़ है, इसका अर्थ क्या हुआ? वह अजीव है। अजीव है, वह जीव से कुछ भी उसकी सत्ता नहीं होती। आहाहा! जगत को यह बात बैठना कठिन है। अजीवतत्त्व से जीवतत्त्व भिन्न बतलाना है न यहाँ। पहले जीव में अस्ति से बात की थी। अब जीव में यह नहीं... नहीं... नहीं, ऐसा करके जीव की बात बताते हैं। 'नहीं' का अर्थ यह कि जीव से उसमें कुछ नहीं होता। कर्ता-कर्म में ऐसा आता है, परन्तु यहाँ अस्तित्व बतलाना है न! आहाहा!

शरीर, वह आत्मा में नहीं, भाषा नहीं, मन नहीं और श्वासोच्छ्वास (नहीं)। वह सब अजीव है। अजीव की अस्ति में जीव की अस्ति नहीं। जीव की अस्ति में चैतन्य ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि गुण हैं। उसकी अस्ति में भाषा, मन, श्वास नहीं और भाषा, मन और श्वास में आत्मा नहीं। अब वह किसका करे? दूसरे का कर दे या नहीं

कुछ? जनकल्याण करे या नहीं आत्मा? कौन क्या करे? यह कहेंगे अभी विशेष। शरीर, भाषा, मन, श्वास, वे सब अजीव हैं। उस अजीव के कारण, उसमें सब परिणमन अर्थात् दशा हो रही है, जीव के कारण नहीं। परन्तु यह कामवासना, क्रोध, लोभ और कपट कि जो इन्द्रिय और मन के गम्य है। इन्द्रिय, मन के गम्य है पुण्य-पाप के विकल्प, काम, क्रोध आदि, वे भी पौदगलिक हैं। आहाहा! वे चैतन्य के नहीं, चैतन्य में नहीं, चैतन्य उनके आधार से रहा हुआ नहीं।

यह शरीर साधन है न धर्म करने में? शरीर न हो तो... आया था न एक बार कहीं, नहीं? विचार सके नहीं। ...अरे! पुद्‌गल न हो तो आत्मा विचार नहीं सकता। पुद्‌गल न हो तो कुछ काम नहीं कर सकता और पूरे दिन पुद्‌गल का ही संसार में सहारा है। आया था न। ....

मुमुक्षु : याद रखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : याद रखा न! उसके पास जा आये, है न? सबके पास चावल रख आये हैं।

मुमुक्षु : सब देवों को देख लिया....

पूज्य गुरुदेवश्री : देख लिया। आहाहा! भगवान! तेरी चीज़ ऐसी है कि जिसमें तो जानना-देखना और आनन्द भरा है। उस चीज़ में कोई रंग, गन्ध, रस, स्पर्श और यह भाषा, मन होने का कोई प्रसंग वहाँ अन्दर है नहीं।

मुमुक्षु : उसे सहकारी कारण तो प्रवचनसार में कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सहकारी का अर्थ क्या? जड़ है, बस। उसमें वह निमित्त कहलाता है। उसकी क्रिया हो, तब निमित्त है। इसका अर्थ कि उसमें नहीं और उससे होता नहीं। इसका यह अर्थ है। आहाहा! उपादान-निमित्त में आया था सवेरे, नहीं सज्झाय में? यहाँ तो उसने ऐसा कहा कि इन्द्रिय और मन के गम्य जितनी चीज़ है, वह सब पुद्‌गल पिण्ड है। पुण्य और पाप के भाव भी इन्द्रिय और मन से गम्य है, विभाव है, वे अजीव हैं।

मुमुक्षु : क्रोध, वह तो जीव में उत्पन्न....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उत्पन्न होता है, वह अज्ञानदशा में होता है, वस्तु में से (उत्पत्ति) नहीं है। ठीक कहते हैं सेठी। ऐसा कि उत्पन्न तो जीव में होता है काम-क्रोध आदि। जीवद्रव्य में नहीं, जीववस्तु के स्वभाव में नहीं। उसकी पर्याय में वह पौद्‌गलिकभाव है। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वरूप आनन्दस्वरूप है। उसका परिणमन होता है तो जानना-देखना और आनन्दरूप होता है। वह कहीं रागरूप हो, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। वह अज्ञानभाव से अंशबुद्धि में, पर्यायबुद्धि में स्वभावबुद्धि का अनादर करके अज्ञानरूप से विकार करे, वह उसकी चैतन्य की अशुद्धदशा है। स्वभाव की दृष्टि से देखें तो वह उसका कार्य नहीं है। आहाहा! समझ में आया? काम, क्रोध, लोभ, माया, मान, हर्ष-शोक आदि ये (सब) कुछ इन्द्रिय और मन गम्य हैं। यह सब अजीव—पुद्‌गल—अचेतन हैं। आहाहा!

चैतन्य का सागर भगवान आत्मा उसे यह विकल्प और शरीर, वाणी, मन और श्वास स्पर्शे ही नहीं हैं। ऐसी दृष्टि करना अन्तर चैतन्य में, चैतन्य को चैतन्य रूप का भाव है, उसे दृष्टि में लेना और वे भाव दृष्टि में से छोड़ देना... समझ में आया? उसका नाम जीव को जाना और जीव को माना और उसे आत्मज्ञान हुआ, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! यह चौथा (पद) हुआ। अब संस्कृत श्लोक चौथा। चौथा श्लोक, पद पाँचवाँ।

सकल-मपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं,
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इम-मुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्,
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम्।।४।।

इसका पद पाँचवाँ। **आत्मज्ञान का परिणाम**

★ ★ ★

काव्य - ५

आत्मज्ञान का परिणाम (कवित्त)

जब चेतन सँभारि निज पौरुष,
निरखै निज दृगसौं निज मर्म।
तब सुखरूप विमल अविनासिक,
जानै जगत सिरोमनि धर्म।।
अनुभौ करै सुद्ध चेतनकौ,
रमै स्वभाव वमै सब कर्म।
इहि विधि सधै मुकतिकौ मारग,
अरु समीप आवै सिव सर्म।।५।।

शब्दार्थः-पौरुष=पुरुषार्थ। निरखै=देखे। दृग=नेत्र। मर्म=असलियत। अविनासी=नित्य। जगत सिरोमनि=संसार में सबसे उत्तम। धर्म=स्वभाव। रमै=लीन होवे। वमै=कै करना (छोड़ना)। इहि विधि=इस प्रकार। मुकति (मुक्ति)=मोक्ष। समीप=पास। सिव (शिव)=मोक्ष। सर्म=आनन्द।

अर्थः-जब आत्मा अपनी शक्ति को सम्हालता है और ज्ञाननेत्रों से अपने असली स्वभाव को परखता है, तब वह आत्मा का स्वभाव आनन्दरूप, निर्मल, नित्य और लोक का शिरोमणि जानता है, तथा शुद्ध चैतन्य का अनुभव करके अपने स्वभाव में लीन होकर सम्पूर्ण कर्मदल को दूर करता है। इस प्रयत्न से मोक्षमार्ग सिद्ध होता है और निराकुलता का आनन्द निकट आता है।।५।।

काव्य-५ पर प्रवचन

जब चेतन सँभारि निज पौरुष,
निरखै निज दृगसौं निज मर्म।
तब सुखरूप विमल अविनासिक,
जानै जगत सिरोमनि धर्म।।

अनुभौ करै सुद्ध चेतनकौ,
रमै स्वभाव वमै सब कर्म।
इहि विधि सधै मुकतिकौ मारग,
अरु समीप आवै सिव सर्म।।५।।

आहाहा! बहुत मक्खन और बारीक बात सूक्ष्म। '**जब चेतन सँभारि नित पौरष,**' अनादि का पुण्य और पाप के राग—विकल्प, शरीर, वाणी को सम्हालता कि यह मैं हूँ, वह अज्ञान है। जब आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप में जाननस्वभाव, आनन्दस्वभाव, दृष्टास्वभाव—ऐसे स्वभाव को अपने पुरुषार्थ से सम्हालता है, ऐसा कहते हैं। देखो! कोई कर्म-बर्म मार्ग दे तो होता है, (ऐसा नहीं), वह तो पुरुषार्थ से यह ज्ञात होता है। समझ में आया? जैनधर्म की कला—पद्धति ही कोई अलौकिक है। लोक के पास इस प्रकार से कदरूप से रखी गयी है कि धर्म का रूप एक ओर रह गया।

भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द के स्वभाववाला तत्त्व, उसके स्वभाव-सन्मुख जाकर अपने स्वभाव को सम्हालता है अपने पुरुषार्थ द्वारा। अपना वीर्य जो पुरुषार्थ है, उसे स्वभाव-सन्मुख झुकाने से अपनी यादगिरी को सम्हालना। यह सम्हालना होता है। वर्तमान ज्ञान की दशा को और पुरुषार्थ की दशा को अन्तर में झुकाना, वह पुरुषार्थ। कहो, समझ में आया? कठिन भाई! '**जब चेतन सँभारि नित पौरष,**' अपना पुरुषार्थ, ऐसा कहते हैं न! **अपनी शक्ति को सम्हालना है....** लो।

'**निरखै निज दृगसौं निज मर्म।**' अपने ज्ञाननेत्र द्वारा अपना मर्म जो शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसे वह परख लेता है। आहाहा! निरखे... '**निरखै निज दृगसौं निज मर्म।**' निज दृग अर्थात् ज्ञाननेत्र। ज्ञान की निर्मल पर्याय—ज्ञाननेत्र, उसके द्वारा अन्तर में निरखे। '**निज दृग**' अपनी दृष्टि से ज्ञाननेत्र से निज मर्म (निरखे)। धर्म के असली स्वभाव को परखता है। मर्म अर्थात् शुद्ध चैतन्य का स्वभाव अस्ति—विद्यमानरूप से आनन्द और ज्ञानानन्द, उसके सन्मुख होकर जब पुरुषार्थ से आत्मा को याद करता है, तब अपने असली धर्मस्वभाव को परखकर पहिचान लेता है। आहाहा! दुनिया को बाहर से यह व्रत और अणुव्रत और यह और वह... अरे भगवान! यह व्रत और अणुव्रत

के विकल्प तो अचेतन हैं, जड़ पुद्गल है। आहाहा! और बात का सुलझाव करने में देर लगे लोगों को। आहाहा! अभी इसे जँचने में देरी लगे। अन्दर में जाने पर अनुभव करने में तो कितनी देरी लगे!

कहते हैं, '**निरखै निज दृगसौं निज मर्म**।' पुण्य और पाप के विकल्पों को सम्हालकर धर्म करता हूँ, ऐसा जो अज्ञान में मानता था, वह निज अन्तर ज्ञान के नेत्र द्वारा अन्तर में निरखने से धर्म का असली स्वरूप उसकी दृष्टि में धर्मी को आता है। कठिन बातें, भाई! समझ में आया? इस शुभ उपयोग को तो अचेतन कहा। आहाहा! अब यह साधन कहा।

मुमुक्षु : व्यवहार से।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। भगवान! क्या हो? यह नहीं, उसे उपमा दी न! अपना स्वभाव साधन करता है, तब वह शुभ उपयोग (उस-उस) भूमिका में किस जाति का होता है, ऐसा बतलाने के लिये उसे साधन की उपमा दी है। भाई! बात तो ऐसी है। आहाहा! समझ में आया?

'**तब सुखरूप विमल अविनासिक,**' भगवान आत्मा अपना स्वभाव अन्तर्मुख के पुरुषार्थ द्वारा धर्म के असली मर्म को अन्तर में परखने से सुखरूप विमल और अविनाशीरूप अनुभव करता है। मैं तो आनन्दरूप हूँ, अतीन्द्रिय आनन्दरूप हूँ, निर्मल हूँ, अविनाशी हूँ। सुख-आनन्द और ज्ञान उन कायम टिकनेवाले (द्वारा) अविनाशी हूँ, ऐसा धर्मी को स्वभाव के सम्हाल में—सम्हालने में—यादगिरि में ऐसा उसे स्वाद और ज्ञान की प्रगट दशा होती है। गजब धर्म की व्याख्या ऐसी! समझ में आया? बाहर में लगे, बाहर में कैसा लगे लोगों को... अणुव्रत पालन करो। भाई! अणुव्रत क्या चीज़ होगी भाई! तुझे खबर नहीं। वह विकल्प-वृत्ति उठती है कि यह अणुव्रत... वह विकल्प है, वह तो राग है भाई! वह तेरे चैतन्य का आभास उसमें तुझे दिखता है, वह चैतन्य है नहीं। आहाहा!

कहते हैं, '**जब चेतन सँभारि तब सुखरूप विमल अविनासिक,**' भान में आवे, ऐसा कहते हैं। है न शब्द **जब... तब वह आत्मा का स्वभाव आनन्दरूप, निर्मल,**

नित्य... जब सम्हाले तब उस चैतन्य का भान ऐसा होता है, कहते हैं। सम्हाले तो... समझ में आया? जड़-चैतन्य की भिन्नता भासित होने पर भगवान आत्मा आनन्दमय, निर्मल ज्ञानमय और कायम टिकता तत्त्व अविनाशी, ऐसा धर्म का स्वभाव धर्मी को भासित हो, तब उसे धर्म कहा जाता है। कठिन काम! कहो, इसमें उपधान और सब तप कहाँ गये? पहली भूमिका में तो वह आवे न? होवे या नहीं? पहली (भूमिका) किसे कहना? पहली ही यह कहलाती है। सर्वज्ञ परमात्मा वीतरागदेव, उन्होंने जो आत्मा को कहा, वैसा आत्मा अन्दर देखना चाहे... जब देखे, तब उस आत्मा के आनन्द और ज्ञान का भान उसे आवे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कहो, पोपटभाई!

देखो! '**जब चेतन सँभारि निज पौरुष, निरखै निज दृगसौं निज मर्म। तब सुखरूप विमल अविनासिक, जानै जगत सिरोमनि धर्म।**' जगत का शिरोमणि मैं आत्मा हूँ, ऐसा उसे भान हो। कहो, समझ में आया? विकल्प है दया-दान-व्रत का, उससे भिन्न शिरोमणि आत्मा का धर्म भिन्न है। आहाहा! कहो, पण्डितजी! उसमें यह व्यवहार कहाँ आया? अरे! व्यवहार तो भिन्न रह गया, भगवान! आहाहा! उसे तो यहाँ अचेतन—पुद्गल—अजीव कहा। आहाहा! वह अजीव—अचेतन इस चैतन्य को मदद करे? आहाहा! कठिन काम है, बापू! परन्तु जन्म-मरण मिटने के उपाय ऐसे ही होते हैं न!

चौरासी के अवतार—घानी में पिलता है। जन्म-जन्म में दुःखी होकर घूमता है। '**जन्म दुखं जरा दुखं जराए मरणानि अहो विषै संसारे जत किसंतिजंतुणो।**' जन्म के दुःख, मरण के दुःख, जरा के दुःख, रोग के दुःख... अहो दुःखो संसारो। जहाँ क्लेश में पड़ा जीव क्लेश चित्त को अनुभव करता है, वहाँ उसमें आत्मा नहीं। भगवान आत्मा ऐसे क्लेश के भाव की वृत्तियों से अत्यन्त भिन्न है और अनादि का अन्तर की यादगिरि स्वभाव को भूला हुआ, उसे सम्हालने पर आनन्द, ज्ञान और अविनाशी ऐसा धर्म का भान उसे होता है। **सिरोमनि धर्म...** वापस ऐसा लिया। उसने (लिया कि) शिरोमणि जानता है। लोक का शिरोमणि अपने को जाने, ऐसा। आहाहा!

'**अनुभौ करै सुद्ध चेतनकौ,**' फिर आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप का अनुभव

कायम बनाये रखे। यह करने का और यह धरने का। अरे... अरे! वे कहें, यह ठीक, करने-धरने का कुछ नहीं। ऐसा बोलते थे आगरा में एक पण्डित थे पण्डित। बारस... चैत्र शुक्ल त्रयोदशी नहीं थी, नहीं? बारस थी। बारस थी। तेरस को तो रवाना हो गये थे आगे। लोग तो बहुत... बहुत हजारों लोग। एक पण्डित खड़ा हो गया व्याख्यान पूरा होने पर। 'बड़ा आनन्द है, करना-धरना कुछ नहीं, बड़ा आनन्द है।' अरे भगवान! आगरा।

अरे प्रभु! यह करना-धरना नहीं? भाई! राग के विकल्प से भिन्न प्रभु को पालना और उसमें भाव को धार रखना, यह करना-धरना नहीं?

मुमुक्षु : यही करना-धरना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा क्या है? पण्डितजी! वह आगरा का पण्डित था। क्या नाम, नाम क्या? नाम था कुछ। लम्बे थे। इतने अधिक लोगों में दूसरा तो क्या कहे वह? सुनने तो सब बहुत लोग आये हुए वहाँ तो। कहे, 'बड़ा आनन्द है, करना-धरना कुछ नहीं।' चन्दुभाई! भगवान! यह करना अर्थात् ऐसा कुछ विकल्प करना या क्रिया करना। वह करना और उसे धारना, ऐसा। भाई! विकल्प और क्रिया जड़ की, वह तुझमें है ही नहीं। अरे! कैसे बैठे? अनन्त काल से इसने इस बात को बैठाया नहीं। आहाहा!

कहते हैं, '**अनुभौ करै सुद्ध चेतनकौ**' शरीर, वाणी, मन का अस्तित्व है। पुण्य-पाप के विकल्पों की अस्ति है। इस चैतन्य की अस्ति में उनकी गन्ध नहीं। उसकी अस्ति में तो ज्ञान, आनन्द, शान्ति—ऐसे स्वभाव का अनुभव करके और... '**सुद्ध चेतनकौ**' देखो, '**अनुभौ करै सुद्ध चेतनकौ**' अशुद्ध परिणाम—विकल्प को छोड़कर, शुद्ध चैतन्य का अनुभव करे। '**रमै स्वभाव वमै सब कर्म**' '**रमै स्वभाव वमै सब कर्म**' अपने निज आनन्द में रमे तो कर्म और राग-द्वेष वमे। भगवान आनन्दमूर्ति प्रभु में यदि रमे तो पुण्य-पाप के विकल्प को वमे। आहाहा! भाई! मार्ग तो यह है, हों! ठगा गया है...।

ऐसे मिले हैं न! परोसना ऐसा किया है न इसने। पत्थर रख गये बर्तन में।

मुमुक्षु : सोने का वर्क लगाकर।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोने का वर्क लगाकर। सोने नहीं... एक ऊँट का अण्डा होता है न! उस अण्डे पर जरा सा शक्कर चुपड़े और इतने-इतने लड्डू लगे। ऊँट का अण्डा। अण्डा क्या, वह क्या कहा?

मुमुक्षु : लींडा।

पूज्य गुरुदेवश्री : लींडा, लींडा। ऊँट का लींडा। इतने-इतने लींडा होते हैं न बड़े। जरा ऊपर शक्कर... परोसा। प्रसन्न हो गया, तोड़े वहाँ लाद। आहाहा! इसी प्रकार शुभ की क्रिया के रंग चढ़ाकर परोसा इसे कि देखो, यह धर्म है। धूल भी नहीं, सुन न! तोड़, वहाँ विकार, धूल, जड़ है उसमें तो। अब ऐसा आता है, हों! ऐसे... रेवड़ी। रेवड़ी... नहीं होती? तिल की रेवड़ी। इतनी-इतनी तिल की रेवड़ी। हाँ, परन्तु बड़े इतने-इतने पिण्ड होते हैं उसके, हों!

हमारे दुकान पालेज में थी न! साथ में हमारे उमराला का एक कासिमभाई था, वह करता वहाँ। उमराला का कासिमभाई था, वह करता। सब देखा हुआ वहाँ। जायें तो घर के सब बहुत प्रसन्न हों। (कहे), देखो, अपने गाँव के सेठिया हैं। बड़े रेवड़ी के बड़े... इतने लम्बे-लम्बे... फिर उसके टुकड़े करे। ऐसी की ऐसी रेवड़ी और शक्कर खिलावे। इसी प्रकार यह लींडा को शक्कर खिलावे। अरे... अरे! आहाहा! ऐसे इस धर्म के नाम से शुभभाव दया, दान और व्रत, वह तो लींडा है। उसे धर्म के नाम से सिर पर चढ़ाया। ले, यह धर्म। अरे भगवान! ठगा गया है, हों! परन्तु वह अच्छा लगे, हों! कहनेवाले ऐसे मिले न? हाँ, भाई हाँ! यह आत्मा ऐसा है और उसमें फिर अनुभव करना। कहीं अता-पता हाथ नहीं आता, वहाँ कहे धर्म ऐसे होता है। ऐ पोपटभाई! बापू! मार्ग तो यह है, भाई!

‘**रमै स्वभाव वमै सब कर्म**’ कर्म का नाश हो जाता है, (जब) आत्मा अपनी रमणता में आवे। वह जितना रमे, उतने कर्म का नाश (होता है)। दूसरी कोई बाह्य क्रियाकाण्ड से कर्म का नाश होता है, ऐसा नहीं है। ‘**इहि विधि सधै मुकतिकौ मारग**’ देखो। इस प्रकार से मुक्ति का मार्ग साधा जा सकता है। बाकी दूसरे प्रकार से मुक्ति का

मार्ग कहे तो वह (सच्चा) मार्ग है नहीं। है ? **इस प्रयत्न से मोक्षमार्ग सिद्ध होता है।** ऐसा कहा। विधि (शब्द) है न ? बाकी इस रीति से—ऐसे प्रयत्न से—स्वभाव-सन्मुख के प्रयत्न से—अनुभव से—स्वभाव में रमने से कर्म का नाश होता है, यह उसकी विधि है। यह मुक्ति का मार्ग ऐसे सधता है। आहाहा! परन्तु कठिन काम!

वे रात्रि में कहते थे। एक व्यक्ति वृद्ध आये थे न वृद्ध। लड़के महिमा करते थे। बहुत वृद्ध थे। यह भोगीभाई के पिता के भाई, बड़े भाई। ऐसा कहते थे कि सिद्धगिरि का नाम आवे वहाँ कूदते हैं, ऐसा कहे। अभी पैर वैसा हो गया है।

मुमुक्षु : लंगड़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : लंगड़ा हो गया है। अरे भगवान! सिद्धगिरि तो आत्मा है यहाँ। अनन्त सिद्ध की दशा का समूह संग्रहालय, संग्रहालय आत्मा है। आहाहा! अनन्त सिद्ध की दशायें जो हैं, ऐसी अनन्त-अनन्त सिद्ध की दशाओं का संग्रहालय आत्मा है। आहाहा! उस सिद्धगिरि के ऊपर जा, तेरी सिद्धि होगी। बाकी उस सिद्धगिरि में जाकर कहे यात्रा की, जाओ कल्याण होगा। ठगा गया है, भाई!

हाँ। उसमें आया नहीं था योगसार में ? 'तन मन्दिर में जीव जिन...' तन मन्दिर में जीव जिन। शरीर में भगवान जिनस्वरूप और तीर्थ है। निज तीर्थ को जाने नहीं और बाहर के तीर्थ में भटकाभटक करे।

मुमुक्षु : मुझे तो हास्य उपजता है, ऐसा आचार्य कहते हैं। हँसी आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हँसी आती है। हाँ, हाँ, आचार्य कहते हैं। बड़ा चक्रवर्ती जैसा माँगे मूर्ति से। भान होने के बाद का शुभ विकल्प होता है, वह अलग बात है। समझ में आया ? परन्तु भान न हो कि मैं कौन हूँ। सच्चिदानन्द प्रभु आनन्द का नाथ सिद्धगिरि तो मैं हूँ। कहो, भीखाभाई! क्या होगा यह सब ?

यह व्यवहार होता है, जब तक पूर्ण वीतरागता न हो। परन्तु वह कोई चीज़ नहीं। चीज़ तो भगवान आनन्द का नाथ प्रभु निर्विकल्प स्वभाव के ऊपर आरूढ़ हो, यह इसने तीर्थ की यात्रा की। प्रकाशदासजी! अरे यह! एक ओर मन्दिर बनाना और एक ओर वापस ऐसा कहे। अरे भगवान! सुन न भाई! कौन बनावे ? भाई! वह तो

शुभभाव होता है, इसलिए पर के ऊपर लक्ष्य जाता है (और) उस-उस प्रकार के शुभभाव के प्रसंग वहाँ होते हैं। बाकी वस्तु तो अन्तर में आरूढ़ हो, तब वह मुक्ति का मार्ग साधे।

'**अरु समीप आवै सिव सर्म**' मोक्षरूपी लक्ष्मी नजदीक आवे। '**सिव**' अर्थात् मोक्ष का, '**सर्म**' अर्थात् सुख। कहो, **निराकुलता का आनन्द निकट आता है। सर्म...** है न सुख। पूर्ण आनन्द सिद्ध परमात्मा की (दशा) ऐसी अपनी दशा, ऐसे अन्तर स्वभाव सन्मुख की रमणता से पूर्ण आनन्द की दशा नजदीक में आती है। वह निकट में परमात्मा होगा, परन्तु इस विधि से है। समझ में आया? आनन्द समीप आता है, लो। है न? नजदीक आवे। उसमें क्रम कहाँ रह गया नजदीक में आवे उसमें?

मुमुक्षु : उसमें क्रम आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐ देवानुप्रिया! क्रमबद्ध कहाँ आया इसमें।

मुमुक्षु : उस समय में होने का था, वह आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भाषा हुई, क्रमबद्ध उसमें कहाँ आया? यहाँ तो समीप आवे, ऐसा कहा है। इसका अर्थ हुआ कि आत्मा के स्वभाव-सन्मुख हो तो उसे पर्याय प्रगट होने का काल ही अल्प होता है, ऐसा कहते हैं। पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होने का काल ही कोई कुछ अल्प होता है।

ऐसे '**समीप आवै सिव सर्म**' आनन्द का उफान अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ पर्याय में पूर्ण होकर प्रगट होगा, उसे मोक्ष नजदीक है, ऐसा कहते हैं। अब दूर है नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी इस प्रकार से न! यह आत्मा के स्वभाव सन्मुख देखे, उसे जो-जो देखा (वीतराग ने) वह-वह उसे देखने में आवे।

मुमुक्षु : परन्तु मात्र आत्मा ही याद रखना पड़े न!

पूज्य गुरुदेवश्री : रखे, उसमें क्या भला हुआ? 'जो-जो देखी वीतराग ने, सो-

सो होसी वीरा, अनहोनी कबहू न होसी, काहे होत अधीरा।' परन्तु इसका अर्थ क्या? जो वीतराग ने देखा, तो वीतराग और सर्वज्ञ पद उसकी प्रतीति में आया? आये बिना देखा कहाँ से माना?

'जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा।' यह सर्वज्ञ पर्याय, वीतरागदशा और देखा वह—यह सब प्रतीति में आवे, तब उसे बात बैठी कहलाये या ऐसा का ऐसा बोले, उसमें बैठी कहलाये? आहाहा! वे देखते हैं। देखते हैं तो वे। ऐसा तो... आहाहा! वीतरागभाव जिसके एक समय की पर्याय में आया और सर्वज्ञभाव जिसकी पूर्ण दशा एक समय में प्रगट हुई, उसने देखा। परन्तु यह भाव है, वह प्रतीति में आवे, तब 'उन्होंने देखा' सच्चा माने न? तो वह भाव जहाँ बैठाने जाये तो उसे स्वभाव—ज्ञायकस्वभाव की ओर सन्मुख हुए बिना वह भाव किसी प्रकार बैठता नहीं। समझ में आया? आहाहा!

यह पाँचवाँ पद हुआ। चौथा कलश और पाँचवाँ पद। अब, '**जड़ चेतन की भिन्नता**' पाँचवाँ कलश है नीचे।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुन्सः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ।।५।।

★ ★ ★

काव्य - ६

जड़-चेतन की भिन्नता (दोहा)

वरनादिक रागादि यह, रूप हमारौ नांहि।
एक ब्रह्म नहि दूसरौ, दीसै अनुभव मांहि।।६।।

शब्दार्थः-ब्रह्म=शुद्ध आत्मा। दीसै=दिखता है।

अर्थः-शरीर सम्बन्धी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि वा राग-द्वेष आदि विभाव सब अचेतन हैं, ये हमारे स्वरूप नहीं हैं; आत्म-अनुभव में एक ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ नहीं भासता।।६।।

काव्य-६ पर प्रवचन

वरनादिक रागादि यह, रूप हमारौ नांहि।
एक ब्रह्म नहि दूसरौ, दीसै अनुभव मांहि।।६।।

'**वरनादिक रागादि यह**' वर्ण आदि जड़ अत्यन्त स्पष्ट और रागादि अचेतन सूक्ष्म।

आहाहा! देखो। अरे! यह बातें, बात की बातें घिस गयी। बात रह गयी और ... चढ़ा दिया सर्वत्र। आहाहा! बापू! उसमें भव का अन्त नहीं आता। वह दुनिया महिमा करे और दुनिया चढ़ा दे सिर पर, वह वहाँ शरणभूत नहीं होता। समझ में आया? **शरीर सम्बन्धी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि....** वर्णादि का है न! २९ बोल का था पहले। रंग, गन्ध, रस, स्पर्श सब जड़, उसके साथ राग और पुण्य-पाप के भाव भी जड़, लो! **राग-द्वेष आदि विभाव सब अचेतन है।** जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह अचेतन। यह महाव्रत का और अणुव्रत का विकल्प उठता है, वह अचेतन। आहाहा!

जगत को, अन्तर में क्या चीज़ है... यह उसके अचेतन से भिन्न... अजीव अधिकार है न। वे सब अजीव हैं। आहाहा! कहो, सेठी! उत्पन्न तो होता है आत्मा की पर्याय में।

मुमुक्षु : आत्मा की पर्याय है ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आत्मा की पर्याय वास्तव में निश्चय से है ही नहीं। पुद्गल की पर्याय है। आहाहा!

मुमुक्षु : उस पर्याय को पुद्गल का सम्बन्ध जो हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्बन्ध जो हो गया, वह पुद्गल का ही है। आहाहा! समझ में आया? किसे? जिसे राग और विकल्प से भगवान आत्मा की भिन्नता भासित हो, उसे। ऐसे भिन्नता भासित हुए बिना (कहे कि) राग पुद्गल का है, पुद्गल का चाहे जैसे हो, हमारे क्या? मोह नाचो तो नाचो। ऐ देवानुप्रिया!

दृष्टि है स्वभाव से विरुद्ध। अनुभव दृष्टि नहीं और राग तथा विकल्प पर दृष्टि

और कहे, मोह नाचो तो नाचो। परन्तु कहाँ से ? नाचनेवाला भिन्न किये बिना नाचो कहाँ से आया ? समझ में आया ? आहाहा ! ऐसा मार्ग है, भाई ! दो-चार-दस-पच्चीस-पचास लाख की पूँजी हो, इकलौता लड़का हो, ६० (वर्ष) की उम्र हो गयी हो, (लड़का) बीस वर्ष में विवाहित हुआ हो, विवाह होकर जहाँ छह महीने हुए और ऐसा (निदान) हुआ कि इसे तो केंसर है अन्नदानी में। आहाहा! और उस केंसर में सड़ता हो, अन्दर जले दु:ख, घर में छांव हो जाये। शान्त... शान्त... कृत्रिम शान्ति दिखाई दे। उदास... उदास...

अरे! परन्तु यह कन्या पाँच लाख लेकर आयी है न! इस वर के विवाह समय दस लाख खर्च किये थे न! अरे! बीस वर्ष का युवक जिसके बाल काले, अभी सफेद फूटे नहीं। मुश्किल से अभी मूंछें निकली हैं। आहाहा! इकलौता पुत्र हो और वह मरे (या) मरने की तैयारी ऐसे हो जाये, अन्तिम श्वास हों। देखो, उस घर में दशा। उदास... उदास... कहीं हर्ष का प्रसंग न दिखाई दे कहीं। दिखायी दे ?

मुमुक्षु : वह पर के साथ एकत्वबुद्धि।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! नहीं, नहीं, यह बात नहीं। दूसरी बात चलती है यहाँ ऐसे। यहाँ तो कहते हैं कि ऐसी स्थिति में उसे कहीं भी, उदास के अतिरिक्त हर्ष का प्रसंग नहीं आता, ऐसा।

इसी प्रकार आत्मा में राग-द्वेष आदि मर गये हैं और आत्मा चैतन्यज्योति है। ऐसा जहाँ जागकर देखा, वहाँ सब उदास... उदास... उदास... वैराग्य से उदास। वह अज्ञान से उदास थे। समझ में आया ? भरे घर में सब अच्छा न लगे उस समय। इकलौता पुत्र हो और ऐसा सब भरा हो और १२-१२ महीने से तो लाड़ के लड्डू खिलाये हों न! आता है न पहले ऐसा था। अब तो कहाँ... अब तो एक दिन में... चार-चार दिन में विवाह किया हो। चार-चार, पाँच दिन नौ बार जीमाते थे पहले। नौ बार में वह बरसी तप बरसी... तप क्या परन्तु बरसी...

मुमुक्षु : बारोठी।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहलाता है ? बरोठी... बरोठी... बरोठी करे और फिर

एक दिन अधिक देना पड़े वापस। आहाहा!

देखो, यह उत्साह का होंश बजती हो वहाँ। श्मशान के उत्साह की उमंग हैं वे सब। उसमें वह मरने पड़े न हाय... हाय..! अरे! हमारे सब साधन हमने किये वे व्यर्थ गये। हमारी सेवा-टहलने कुछ काम नहीं किया बेटा! ऐसा करके फिर उसकी माँ रोये। किसका रोती है तू? रोनेवाली कब रहनेवाली है तू? अब सुन न! तुझे भी उस रास्ते जाना है। इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने पंथ में पड़ने पर पूरी दुनिया पर से उदासीन वैराग्य हो जाता है। समझ में आया? ऐसा यहाँ कहते हैं, देखो न। वर्णादि और राग-द्वेष आदि।

मुमुक्षु : दोनों आ गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु ऐसा भगवान सर्वज्ञ ने परमेश्वर ने देखा, ऐसे आत्मा के अनुभव की अनुभव में प्रतीति आयी, वहाँ कहते हैं कि वह सब जड़—अचेतन है। आहाहा! यह व्यवहार रत्नत्रय अचेतन। आहाहा! यह भगवान की भक्ति और गुरु की भक्ति का भाव अचेतन। आहाहा! बापू! तेरा रास्ता निराला है, भाई! समझ में आया? अरे! शास्त्र के पठन भी सब मूर्खाई जैसा है, उसमें कुछ सार नहीं। सवेरे नहीं आया? शास्त्रपाठी भी मूर्ख है। वह शास्त्रपाठ तो वह विकल्प और परलक्षी है, उसमें आत्मा कहाँ आया? आहाहा! आत्मा तो उस परलक्षी ज्ञान के भाव से भी (भिन्न है)। वास्तव में तो वह अचेतनभाव है, लो। चेतन हो तो साथ में आनन्द चाहिए। वह आनन्द नहीं है, इसलिए अचेतन है। आहाहा! समझ में आया?

'**वरनादिक रागादि यह, रूप हमारौ नांहि। एक ब्रह्म नहि दूसरौ**' मैं तो यह आनन्दमय आत्मा ब्रह्मस्वरूप हूँ। आहाहा! ब्रह्म चिह्नेसो ब्राह्मणा, बाकी सब अब्राह्मणा। आहाहा! भगवान ब्रह्मानन्द प्रभु.... **आत्मानुभव के एक ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ नहीं भासता,** देखो! आहाहा! आत्मा का अनुभव होने पर अर्थात् जैसा है, वैसा ज्ञान में आकर प्रतीति होने पर, रमणता होने पर, कहते हैं कि वहाँ तो अकेला ब्रह्मानन्द प्रभु आत्मा है, दूसरी कोई चीज़ है नहीं। आहाहा! व्यवहार का भी अभाव, निमित्त का भी

अभाव, महा प्रभु का सद्भाव। बातें बाकी बहुत बड़ी परन्तु हों! आहाहा!

इसे ऐसा लगे, ऐसी बात होती है कहीं? पहले तो धर्मी पहला धर्म कैसे करता होगा? चलनगाड़ी चले तो फिर चलते-चलते सीखे न चलन (गाड़ी) में। लड़के को वह नहीं देते चलनगाड़ी लकड़ी की? फिर छुड़ा दे। इसी प्रकार पहले चलनगाड़ी तो दो। चलनगाड़ी ही यह है, सुन न! आहाहा! भगवान आत्मा के सन्मुख होकर अनुभव करना, वही उसकी चलनगाड़ी, अब चलने लगा। करते-करते केवलज्ञान को पायेगा। आहाहा! समझ में आया? भारी कठिन काम! बाहर में दिखाई दे... ऐसा आता है न, परमार्थ वचनिका में नहीं? आगम की क्रिया बाहर दिखती है। आता है न? परमार्थ वचनिका में। ऐसा कि आगम की क्रिया व्यवहार, व्रत, यह खाना-पीना, व्रत, आगम पद्धति दिखती है और आत्मा का व्यवहार अनुभव, वह भी सूक्ष्म पड़े, कहते हैं, वहाँ तो। आहाहा! समझ में आया?

'एक ब्रह्म नहि दूसरौ'—एक ब्रह्म स्वयं, हों! सब होकर एक ब्रह्मात्मा, ऐसा नहीं। अकेला चैतन्य भगवान ज्ञान का सूर्य, आनन्द का सागर, शुद्ध अभेद चीज़, उस पर दृष्टि पड़ने से अनुभव में अकेला आत्मा होता है, दूसरी चीज़ होती नहीं। उस अनुभव को धर्म कहते हैं। आहाहा! कितने ही कहते हैं कि इन सोनगढ़वालों ने समकित बहुत महँगा किया। और ऐसा कहते हैं कितने ही।

मुमुक्षु : सस्ता मिले तो भले ले आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भाई! सोनगढ़वालों का और फलाने का—समकित के ऐसे दो प्रकार कहाँ हैं? जहाँ व्यवहारसमकित, वह समकित नहीं, वहाँ फिर दूसरा प्रकार कहाँ से आया? आहाहा! अनाकुल आनन्द... इसे कैसे बैठे? कुछ गन्ध भी आयी न हो, सुनने में आया न हो, विचार में आवे नहीं। ऐसा बड़ा पदार्थ अन्दर, आहाहा! क्या बात करते हैं यह?

दस-दस मण के पत्थर चढ़ाये होंगे पालीताणा ऊपर, काम हुआ होगा तब, नहीं? शत्रुंजय। अब उसे—चींटी को कहे कि यह बड़े पत्थर उठानेवाले उठाकर सिर पर यह मन्दिर बनाये। नहीं, यह तो ऐसे कि ऐसे बड़े दस-दस मण के पत्थर, ऐसा।

उसे बैठे नहीं, उसे—कीड़ी को। आहाहा! यह दस मण के पत्थर ऊपर चढ़ते होंगे? कहते हैं। यह तो ऊपर होंगे कहीं। नीचे से क्या चढ़े? इसी प्रकार जिसके हृदय संकीर्ण—अल्प है, उसे यह बात कहे... आहाहा! ऐसा आत्मा? अनन्त आनन्द की बर्फी जहाँ पड़ी है, कहते हैं कि आहाहा! अनन्त-अनन्त बेहद जिसका ज्ञान स्वभाव है। ज्ञान की हद नहीं, ऐसे स्वभाववाला तत्त्व एक ही दृष्टि में आने पर उसे आत्मधर्म क्या है, उसका भान होता है। बाकी कोई चीज़ उसमें है नहीं। कहो, समझ में आया? इस पर दृष्टान्त देते हैं। छठवाँ कलश।

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित् तदेव तत्स्यान्न कथञ्चनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथञ्चनासिम्।।६।।

देह और जीव की भिन्नता के ऊपर दृष्टान्त।

★ ★ ★

काव्य - ७

देह और जीव की भिन्नता पर दृष्टान्त (दोहा)

खांड़ो कहिये कनककौ, कनक-म्यान-संयोग।
न्यारौ निरखत म्यानसौं, लोह कहैं सब लोग।।७।।

शब्दार्थ:-खांड़ो=तलवार। कनक=सोना। न्यारौ=अलग। निरखत=दिखता है।

अर्थ:-सोने के म्यान में रखी हुई लोहे की तलवार सोने की कही जाती है; परन्तु जब वह लोहे की तलवार सोने के म्यान से अलग की जाती है, तब लोग उसे लोहे की ही कहते हैं।

भावार्थ:-शरीर और आत्मा एकक्षेत्रावगाह स्थित हैं। सो संसारी जीव भेदविज्ञान के अभाव से शरीर ही को आत्मा समझ जाते हैं। परन्तु जब भेदविज्ञान में उनकी पहिचान की जाती है, तब चित्चमत्कार आत्मा जुदा भासने लगता है और शरीर में आत्मबुद्धि हट जाती है।।७।।

काव्य-७ पर प्रवचन

खांड़ो कहिये कनककौ, कनक-म्यान-संयोग।
न्यारौ निरखत म्यानसौं, लोह कहैं सब लोग।।७।।

सोने की म्यान में लोहे की तलवार रखी हो, सब कोई ऐसा कहे कि सोने की तलवार... सोने की तलवार। सोने की तलवार नहीं, वह तो म्यान है। आहाहा! समझ में आया?

'**खांडो कहिये कनककौ, कनक-मयान-संयोग।**' लोहे की तलवार सोने की कही जाती है। है तो लोहे की तलवार। परन्तु सोने की म्यान के कारण से सोने की कही जाती है। **जब वह लोहे की तलवार सोने के म्यान से अलग की....** अक्षर में अन्तर पड़ गया है छापने में। तलवा... र उस ओर चाहिए, उसके बदले इकट्ठा ऐसा कर दिया है। ऐसा है न सर्वत्र? जुड़ गया है। सुधार लेना चाहिए। होगा। **लोहे की तलवार सोने के म्यान से अलग की जाती है।** वहाँ खींचकर ऐसे बाहर देखे, वह तो लोहे की है। समझ में आया? म्यान सोने की, इसलिए तलवार सोने की, ऐसा नहीं है। अत्यन्त भिन्न है।

श्रीमद् में भी आता है न...

मुमुक्षु : जैसे असि अरु म्यान....

पूज्य गुरुदेवश्री : 'जैसे असि अरु म्यान....' परन्तु इसके पहले? 'भासित देहाध्यास से आत्मा देह समान, पर वे दोनों भिन्न हैं ज्यों असि अरु म्यान।' परन्तु उस 'देह से भिन्न' के अर्थ में राग और द्वेष सब देह जड़ में जाते हैं। आहाहा! समझ में आया? 'भासित देहाध्यास से... भासित देहाध्यास से, आत्मा देह समान, पर वे दोनों भिन्न हैं, जैसे असि अरु म्यान।' तलवार और म्यान दोनों भिन्न, उसी प्रकार भगवान आत्मा और देह तथा राग दोनों भिन्न। अकेला देह नहीं लेना यहाँ। पुण्य-पाप के विकल्प भी सब देह—कार्मणशरीर में जाते हैं सब।

मुमुक्षु : दृष्टान्त तो साहेब बराबर समझ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त बराबर समझने के लिये... दृष्टान्त समझाने के लिये दृष्टान्त नहीं है। सिद्धान्त समझाने के लिये दृष्टान्त है। अब दृष्टान्त समझाने के लिये है या वह सिद्धान्त समझाने के लिये दृष्टान्त है? आहाहा! जैसे तलवार के ऊपर म्यान सोने की, इससे वह तलवार (सोने) की, ऐसा कहा जाता है। परन्तु जहाँ भिन्न करके देखे, तलवार तो लोहे की है। उसी प्रकार राग और द्वेष, शरीरवाला आत्मा कहलाता है, परन्तु वह आत्मा ऐसा है नहीं। राग और विकल्प के देह से भिन्न जानने से, वह तो लोहे की तलवार जैसा चैतन्य भिन्न है। आहाहा!

कहो, इन पुत्र-स्त्री के साथ तो सम्बन्ध नहीं, परन्तु राग के साथ भी सम्बन्ध नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? परन्तु सम्बन्ध बिना का है, (इसलिए) देखो न देह को ऐसे छोड़कर चले जाते हैं। आहाहा! पाल-पोसकर देह ऐसी की हो, नहला-नहलाकर ऐसे साबुन का वह करके... घर में उसका सब फर्नीचर इकट्ठा किया हो। उसके नाम का सब अलग-अलग हो और ऊपर वापस नाम हो। कोई चोरी कर ले जाये तो खबर तो पड़े, ऐसा।

मुमुक्षु : पता लग जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : पता लग जाये। नाम जाने ऐसा ऐसी... ... चला, कोई साथ आये नहीं। उसके नहीं थे, वे साथ में कहाँ से आवे? इसी प्रकार वास्तव में तो पुण्य और पाप इसके नहीं थे, वे साथ में कहाँ से आवे? वह पलटकर दूसरे विकल्प हों। वह कहीं इसकी मूल चीज़ नहीं है। आहाहा!

सोने के म्यान में रखी हुई लोहे की तलवार (सोने की कही जाती है) परन्तु जब वह लोहे की तलवार सोने के म्यान से अलग की जाती है, तब लोग उसे लोहे की कहे। लोग तो बाद में उसे कहते हैं कि यह तो लोहे की है, बापू! **शरीर और आत्मा एक क्षेत्रावगाह स्थित है....** एक क्षेत्र में इकट्ठे दिखते हैं। आहाहा! **तो संसारी भेदविज्ञान के अभाव से शरीर को ही आत्मा समझ जाते हैं....** संसारी को, राग और शरीर से भगवान चैतन्य भिन्न है, उसके भान के अभाव में **शरीर को ही आत्मा समझ जाते हैं....** शरीर ही मैं, राग भी मैं, पुण्य भी मैं, व्यवहार भी मैं। **परन्तु जब भेदविज्ञान में उनकी**

पहिचान की जाती है, तब चित्‌चमत्कार आत्मा जुदा भासने लगता है.... इसका नाम धर्म और इसका नाम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। आहाहा! **और शरीर में आत्मबुद्धि हट जाती है।** राग और पुण्य में आत्मबुद्धि हट जाये और भगवान चैतन्य आनन्द में आत्मबुद्धि हो जाये, तब राग से आत्मा भिन्न भासित हो, तब सच्चा ज्ञान और सच्चा दर्शन कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)